

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद एवं निहववाद की दार्शनिक
समस्याएँ एवं समाधान : एक अनुशीलन

A CRITICAL STUDY OF THE PHILOSOPHICAL PROBLEMS AND
SOLUTIONS OF GANADHARAVAD AND NINHAVAVAD AS
CONTAINED IN VISHESHAVASHYAKABHASHYA

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूँ
के जैनविद्या और तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग में
पीएच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

सत्र : 2005 - 2006

शोधार्थी
साध्वी विचक्षण श्री



निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन
निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ (राजस्थान) - 341 306

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद एवं निहववाद की दार्शनिक
समस्याएँ एवं समाधान : एक अनुशीलन

A CRITICAL STUDY OF THE PHILOSOPHICAL PROBLEMS AND
SOLUTIONS OF GANADHARAVAD AND NINHAVAVAD AS
CONTAINED IN VISHESHAVASHYAKABHASHYA

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूँ
के जैनविद्या और तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग में
पीएच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

सत्र : 2005 - 2006

शोधार्थी
साध्वी विचक्षण श्री



निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन
निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ (राजस्थान) - 341 306

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद एवं निहववाद की दार्शनिक
समस्याएँ एवं समाधान : एक अनुशीलन

A CRITICAL STUDY OF THE PHILOSOPHICAL PROBLEMS OF
GANADHARAVAD AND NINHAVVAD THEIR RESOLAUTION AS
CONCTAINED IN VISHESHAVASHYAKABHASHYA

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाइन्सूँ
के जैन विद्या और तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग में
पी एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

सत्र 2005-2006

शोधार्थी
साध्वी विचक्षण श्री



निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन
निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाइन्सूँ (राजस्थान) - 341 306

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद एवं निहववाद की
दार्शनिक समस्याएँ एवं समाधान : एक अनुशीलन

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनू
के जैन विद्या और तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग में
पी एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

सत्र 2005—2006

शोधार्थी
साध्वी विचक्षण श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

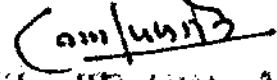
निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू (राज.) 341—306

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है, कि साध्वी श्री विचक्षण श्री जी द्वारा प्रस्तुत "विशेषावश्यक भाष्य के गणधरवाद एवं निह्वववाद की दार्शनिक समस्याएँ एवं समाधान : एक अनुशीलन" विषयक शोध प्रबन्ध मेरे निर्देशन में तैयार किया गया है, मैंने उनके शोध कार्य के लेखन को समय-समय पर शाजापुर में एवं उदयपुर जाकर देखा है और उचित संशोधन के लिये निर्देश भी दिये हैं। मेरी दृष्टि में यह शोधकार्य उनका मौलिक कार्य है और इसे किसी अन्य विश्व विद्यालय में पी.एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनू की पी.एच.डी. उपाधि हेतु परीक्षणार्थ अग्रसरित करता हूँ।


प्रो. सागरमल जैन

संस्थापक

प्रमुख विद्यापीठ शाजापुर

प्रो. सागरमल जैन
संस्थापक, निर्देशक
प्राच्य विद्यापीठ,
मध्यप्रदेश

भूमिका

भारत की पावन भूमि दर्शनों की जन्म-स्थली एवं क्रीड़ा स्थली है। आदिकाल से ही इस पुण्यभूमि पर आध्यात्मिक चिन्तन और दार्शनिक विचारधारा की पावन गंगा बहती चली आ रही है। वैदिक, बौद्ध और जैनप्रभृति अनेक दार्शनिक विचारधाराएँ यहीं पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई हैं। इनकी चिन्तनधारा हिमालय के श्रृंगों से भी ऊँची, समुद्र की गहराई से भी अधिक गहन तथा आकाश से कहीं अधिक विस्तृत है।

भारतीय दर्शन जीवन दर्शन है, इसमें भी जैन चिन्तनधारा का अनुपम स्थान है, जिसमें आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक तथा कर्म-पुनर्जन्म आदि दार्शनिक तत्त्वों पर गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। जैन दर्शन का चिन्तन अनेकान्त दृष्टि से युक्त है। उसने समग्र पदार्थों को अनेकान्त दृष्टि से देखा है और स्याद्वाद की भाषा में उसकी व्याख्या की है। सत्य की व्याख्या किसी एक नय से नहीं हो सकती, वह अनन्तधर्मा है। जितने दर्शन हैं, उतने ही सत्य के रूप बन गए हैं, पर जैनदर्शन का अध्ययन हमें संपूर्ण सत्य की दिशा में आगे ले जाता है और दर्शन के आकाश में छाए हुए कुहासे में देखने की क्षमता देता है। भगवान महावीर ने तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेकान्तदृष्टि का समग्रतः उपयोग किया और वे दार्शनिक संतुलन स्थापित करने में सफल भी हुए। उन्हीं आचार्यों की कड़ी में मणि समान विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता "आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण" हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से विभिन्न दर्शनों में प्रतिभासित होने वाले विरोधों में समन्वय स्थापित किया और गहनतम समस्याओं का सरलता से स्पष्टीकरण किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के ग्यारह अध्यायों में विशेषावश्यकभाष्य में निहित गणधरवाद व निहनववाद की दार्शनिक समस्याओं का अन्य दर्शनों के चिन्तन सहित मूल्यांकन किया है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि गणधरवाद में गणधर जिन जिज्ञासाओं को लेकर उपस्थित हुए थे उन्होंने अपना समाधान पाने के बाद महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, इससे विपरीत निहनव महावीर की दार्शनिक मान्यताओं के प्रति शंका उपस्थित करते हैं और महावीर के संघ से बहिर्भूत हो जाते हैं, इस प्रकार एक वर्ग जो महावीर के चिन्तन से सहमति प्रकट करता और दूसरा वर्ग असहमति जताता है। इस प्रकार दोनों

वर्ग दो विरोधी ध्रुवों पर स्थित हैं, अतः दो विरोधी दृष्टिकोणों को शोध का आधार बनाना समुचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु किसी भी दर्शन की परिपूर्णता दोनों ही पक्षों को समन्वित करने पर ही सम्भव होती है। यही कारण रहा होगा कि विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद के पश्चात् निहनववाद की चर्चा की है।

पुनः चाहे तो गणधर हो, या निहनव हो, दोनों के मन में कहीं न कहीं शंका रही हुई है, इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य में इन शंकाओं के समाधान का प्रयत्न किया गया है। वह जैनदर्शन को गहनता व समग्रता से समझने के लिए आवश्यक था, इसलिए हमने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन दोनों ही पक्षों को लेकर उनकी शंकाओं के जो समाधान विशेषावश्यकभाष्य में दिये गए हैं, उनका प्रस्तुतिकरण और समीक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यह शोध कार्य इसलिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है कि आज तक इन दार्शनिक समस्याओं और जैनदर्शन की दृष्टि से किये गए समाधानों को न तो विद्वदजगत् में प्रस्तुत किया है और न ही जनसाधारण में। विषय के महत्त्व को इसी आधार पर समझा जा सकता है कि – आधुनिक युग में “रेने देकार्त” ने आत्मा के अस्तित्व के लिए जो यह तर्क दिया था, “मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।” हमें यही तर्क विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में गौतम गणधर की शंका का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने दिया था।

इस प्रकार आज से 2500 वर्ष पूर्व जो चिन्तन जैन दार्शनिकों ने दिया था, आज नवीन दर्शन में उसी का पुनः प्रस्तुतिकरण देखा जाता है, इस दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी संदर्भ में जमालि निहनव के क्रियमाण अकृत की समीक्षा करते हुए महावीर ने जो क्रियमाण कृत की अवधारणा प्रस्तुत की, वह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि चाहे हम भाषा के क्षेत्र में Present Continuous का प्रयोग करते हैं, किन्तु वर्तमान तो एक क्षण का ही होता है, उसमें किसी क्रिया की निरन्तरता सम्भव नहीं है। अतः हम यह देखते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद और निहनववाद के प्रकरण में अनेक दार्शनिक गुत्थियों को प्रस्तुत कर सुलझाने का प्रयास किया गया है।

यह बात वर्तमान युग में भारतीय व पाश्चात्य चिन्तकों के समक्ष आना आवश्यक है। अतः इस शोध प्रबन्ध में किये गए विश्लेषण से न केवल जैन चिन्तकों के दार्शनिक गाम्भीर्य का ज्ञान होगा, अपितु दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदानों को भी सम्यक् रूप से समझा जा सकेगा। शोध प्रबन्ध का अध्याय क्रम इस प्रकार है –

प्रथम अध्याय में जैन आगम व व्याख्यासाहित्य का परिचय दिया गया है, इस अध्याय से यह ज्ञात होगा कि जैन आगम साहित्य कितने विशाल रूप में उपलब्ध हैं।

द्वितीय अध्याय में आत्मा के अस्तित्व पर चिन्तन किया गया है। समग्र चिन्तन का मूल केन्द्र ही आत्मा है। यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो कर्म—परलोक—मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः जीव अस्तित्व सिद्धि व स्वरूप का चिन्तन दार्शनिक तथा वैज्ञानिक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

तृतीय अध्याय में कर्म के अस्तित्व व प्रकारों का अध्ययन किया है, क्योंकि जगत् की विभिन्नता व विचित्रता सहेतुक है। उस हेतु को विभिन्न दर्शन अनेक नामों से अभिहित करते हैं, किन्तु जैनदर्शन में उसे “कर्म” कहा गया है।

चतुर्थ अध्याय में आत्मा और शरीर की भिन्नता को प्रतिपादित किया गया है। इस अध्याय में पाश्चात्य दार्शनिकों की विचारधाराओं का भी विषयानुकूल विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में शून्यवाद की समीक्षा गई है, जिसमें विशेष रूप से ब्राह्मार्थ की सत्ता स्थापित कर पंचभूतों का अस्तित्व उजागर किया गया है।

षष्ठम अध्याय में इहलोक—परलोक संबंधी तत्कालीन मान्यताओं तथा जैन सिद्धान्त सम्मत मान्यता का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय बन्धन—मुक्ति के संदर्भ से जुड़ा है। बन्ध आवरण है, मुक्ति निरावृत्त अवस्था है, दोनों एक—दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी हैं। जब तक बन्धन है, तब तक मुक्ति नहीं है, अतः बन्धन के स्वरूप व बन्ध के कारणों तथा मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

अष्टम अध्याय में पुण्य—पाप की चर्चा की गई है। इसमें पुण्य—पाप के स्वरूप व उनकी समानताओं और भिन्नताओं का जैन कर्म—सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में विशद विवेचन किया गया है।

नवम अध्याय में पुनर्जन्म, परलोक जैसे संप्रत्यय जो आधुनिक युग का चर्चास्पद एवं विवादास्पद विषय है, वह भी जीव से ही संबंधित है, उस पर चिन्तन किया गया है। आत्मा के अस्तित्व तथा कर्म की सत्ता मान लेने पर पुनर्जन्म व परलोक की सत्ता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। इसी अध्याय में स्वर्ग एवं नरकलोक के अस्तित्व को भी सिद्ध किया गया है।

दशम अध्याय में निह्नवों के व्यक्तिगत वादों की समीक्षा की गई है। निह्नवों के संघ में रहकर के अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए कई तर्क प्रस्तुत किये।

एकादश अध्याय उपसंहार रूप में है। इसमें शोध के विवेच्य विषय का संक्षिप्त निष्कर्ष दिया गया है।

अनुसंधित्सु
साध्वी विचक्षण श्री

आभार

श्रमण जीवन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है। इस जीवन का लक्ष्य ही है – श्रुतज्ञान की आराधना करते-करते परमज्ञान को प्राप्त करना। श्रुतज्ञान के आराधकों का जिनशासन में विशिष्ट स्थान है। उन आराधकों में डा. सागरमल जी जैन का नाम विद्वद्गणों में ज्योतिर्मय नक्षत्र की तरह है। वर्ष 2002 में प्राकृत साहित्य में एम.ए. करने के बाद ऐसे विषय पर शोधकार्य करने के भाव जागृत हुए, जिसका जैन सिद्धान्त के अध्ययन में विशेष महत्त्व हो।

डा. साहब ने विशेषावश्यकभाष्य का नाम सुझाया जो जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। उसमें भी गणधरवाद व निहनववाद की दार्शनिक समस्याएँ, जिनको लेकर भारतीय दर्शनों में भी गम्भीर विवेचना हुई है। ऐसे विषय पर कार्य करना उपयुक्त समझकर डा. साहब के निर्देशन में ही शोधकार्य की प्रस्तावित रूपरेखा (Synopsis) तैयार की। तत्पश्चात् शोध कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वास्थ्य की प्रतिकूलता होते हुए भी डा. साहब ने अनुभवपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण सुझावों को विशेष आत्मीयता के साथ दिये, जिससे मेरे शोध को नई दिशा मिली। सरल-सहज स्वभाव तथा सादा जीवन-उच्च विचार के धनी डा. साहब, जो सुदीर्घ अनुभवी विद्वान हैं, उनके निर्देशन में शोध कार्य करने का मुझे हर्ष और गर्व है।

मूल प्रेरक के रूप में मेरी श्रद्धा के केन्द्र आराध्यदेव पूज्य आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्रमुनि मा., जो उच्चकोटि के साहित्यकार थे, साथ ही मेरे शिक्षा-दीक्षागुरु हैं, उन्होंने मुझे सदैव यही प्रेरणा दी कि जीवन में प्रमाद नहीं करना, सतत् ज्ञानार्जन करते रहना, ऐसे भगवन् की असीम कृपा रही, उन्हीं के शुभ-आशीर्वाद व स्नेहपूर्ण कृपा से यह शोधकार्य सम्पन्न हुआ है।

उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी, आगम व जैनदर्शन के गम्भीर रहस्यों के ज्ञाता, उनकी पूर्ण कृपा रही, उनके आशीर्वाद व ज्ञानदृष्टि से मेरा कार्य सफल हुआ, उन्होंने मुझे शोध-सहयोगी सामग्री पर पूर्ण रूप से मार्गदर्शन किया।

परमपूज्यनीया, शासनज्योति, महाश्रमणी गुरुणी जी श्री पुष्पवती जी के असीम आशीर्वाद से तथा उनके वरदहस्त से स्पर्शित होकर ही मैं अनुसन्धान के अथाह सागर से किनारा पा सकी हूँ।

श्रमण संघीय सलाहकार पू. श्री दिनेशमुनि जी मा. का सहयोग अविस्मरणीय है। उनके परिश्रम से ही मुझे डा. सागरमल जी जैन का निर्देशन उपलब्ध हो सका। साथ ही बालयोगी "द्विपेन्द्रमुनि जी" व मेरी कल्याणों को साकार करने वाले "पुष्पेन्द्रमुनि जी" का सहयोग चिर स्मरणीय रहेगा।

गुरुभगिनी पूज्यनीया प्रिदर्शना जी, किरणप्रभा जी मा., रत्नज्योति जी एवं अर्पिताश्री की अन्तःस्पर्शी प्रेरणा एवं उत्साह भरे अनुग्रह के प्रति सर्वोपरि कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के निर्देशन व सहयोग के रूप में डा. डी.एस. बया सा. का मार्गदर्शन महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने मुझे एम.ए. में अध्ययन करवाया फलस्वरूप मेरा विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान रहा, तथा शोधकार्य में समय-समय पर आवश्यकतानुसार पथ-प्रदर्शन किया, उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

बाल्यकाल से ही मेरे प्रेरणास्रोत व मेरे जीवन को संस्कारित करने वाले जन्मदाता माताश्री रतनबाई जी एवं पिताश्री जिनेन्द्रकुमार जी चौरड़िया तथा भ्राता द्वय सर्वश्री रणजीत व अजीतजी का आभार प्रकट करना तो उनके प्रति धृष्टता ही होगी। उनके स्नेह व उपकार की स्मृति ही मेरा अमूल्य धरोहर है।

डा. तेजसिंह जी गौड़, श्रीमती नलिनी बहन, डा. दिलीप जी धींग, के अतिरिक्त भी ज्ञात-अज्ञात अनेक शुभेच्छुकों की अनुशंसा स्मृति पटल पर सदैव रहेगी। उन सभी के प्रति आन्तरिक सदिच्छाएँ व्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिए जिन-जिन ग्रन्थों को पढ़ा, जिन पुस्तकों के संदर्भ लिए, जिन्होंने मेरे शोध पथ को सुलभ बनाया, उन सभी के लेखकों, संपादकों, प्रकाशकों की हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय व 'आचार्य देवेन्द्रमुनि शोध संस्थान' उदयपुर के सेवाभावी कार्यकर्ता तथा व्यवस्थापक श्री डुंगरसिंह जी खमेशरा का सक्रिय सहयोग एवं

'प्राच्य विद्यापीठ, शाजौंपुर' का भी सहयोग प्राप्त हुआ, अतःएव उनके प्रति भी मैं हार्दिक धन्यवाद प्रकट करती हूँ।

रमेश जी पालीवाल, जिन्होंने शोध प्रबन्ध का टंकण व कम्प्यूटर टाईपिंग, सेटिंग अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से समयबद्धता के साथ किया, अतः उनका आभार प्रकट करना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ।

साध्वी विचक्षण श्री

विषय – अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

जैन आगम एवं आगमिक व्याख्या साहित्य	1 - 73
(क) आगम— अंगसूत्र एवं उपांगसूत्र	2
(ख) मूल—सूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक और व्याख्या साहित्य	25
(ग) शौरसेनी आगम तथा व्याख्या साहित्य	40
(घ) आगम व्याख्या साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का स्थान, विषयवस्तु व कर्ता का परिचय	49
(ङ) विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद व निहनववाद का महत्त्व	57
(च) गणधरवाद एवं निहनववाद की दार्शनिक समस्याओं का सामान्य परिचय	61

द्वितीय अध्याय

जैन आगम में आत्मा एवं उसके अस्तित्व की समस्या और समाधान	74 - 132
(क) आत्मा के अस्तित्व की समस्या	74
(ख) भारतीय दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारने और नकारने वाले मत	77
(ग) विशेषावश्यकभाष्य में इन्द्रभूति गौतम की जीव के अस्तित्व विषयक शंकाएँ	79
(घ) गणधरवाद में आत्म—अस्तित्व की सिद्धि	89
(ङ) जैन आगमों में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने वाले विभिन्न संदर्भ	92

तृतीय अध्याय

गणधरवाद में कर्म की सत्ता की समस्या और उसकी समीक्षा	133 - 173
(क) कर्म की सत्ता को मानने का हेतु	133
(ख) जगत् वैचित्र्य के विभिन्न कारण	134
(ग) विशेषावश्यकभाष्य में कर्म के अस्तित्व के संबंध में समस्या तथा समाधान	137
(घ) जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ एवं स्वरूप	146
(ङ) भारतीय दर्शन में कर्म समीक्षा	164
	170

चतुर्थ अध्याय

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की समस्या और उसका समाधान	174 - 213
(क) भूमिका	174
(ख) विशेषावश्यकभाष्य में आत्मा और शरीर की अवधारणा	176
(ग) आत्मा और शरीर के संबंध को लेकर विभिन्न दार्शनिक अवधारणाएँ	189
1 जैन दर्शन की अवधारणा	189
2 बौद्ध दर्शन की अवधारणा	199
3 सांख्य दर्शन में आत्मा-शरीर की अवधारणा	201
4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा और शरीर	201
5 उपनिषदों में आत्मा-शरीर	203
6 गीता का दृष्टिकोण	204
7 पाश्चात्य दर्शन में आत्मा व शरीर की अवधारणा	205
समीक्षा (उपसंहार)	211

पंचम अध्याय

भूतों के अस्तित्व एवं नास्तित्व की समस्या और शून्यवाद की समीक्षा	214 - 248
(क) भूमिका	214
(ख) शून्यवाद समर्थक तर्कों की समीक्षा और विशेषावश्यकभाष्य के प्रकाश में निराकरण	215
(ग) शून्यवाद विविध दर्शनों में	231
(घ) शून्यवाद के समर्थन में तर्क	234
(ङ) शून्यवाद के विपक्ष में तर्क	242
(च) शून्यवाद की स्याद्वाद से तुलना	244
समीक्षा	246

षष्ठम अध्याय

इहलोक का परलोक से सादृश्य या वैदृश्य का समीक्षात्मक अध्ययन (स्वभाववाद की समीक्षा)	249 - 282
(क) भूमिका	249
(ख) विशेषावश्यकभाष्य में सादृश्य और वैदृश्य की धारणा और उसका निराकरण	250
(ग) सादृश्य का समर्थक स्वभाववाद की समीक्षा	263

(घ)	इहलोक व परलोक के वैचित्र्य का आधार – कर्मसिद्धान्त	267
1	ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म	268
2	उपनिषद में कर्म और पुनर्जन्म	269
3	बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	269
4	योग दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	270
5	न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	271
6	गीता में कर्म और पुनर्जन्म	272
7	जैन दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म	273
	समीक्षा	280

सप्तम अध्याय

बन्धन और मुक्ति की समस्या और उसका समाधान		283 - 347
(क)	भूमिका	283
(ख)	विशेषावश्यकभाष्य में बन्ध की समस्या और समाधान	285
(ग)	विशेषावश्यकभाष्य में मोक्ष/निर्वाण की समस्या और समाधान	291
(घ)	जैन एवं जैनेत्तर दर्शन में बन्ध का स्वरूप	312
1	जैन दर्शन में बन्ध का स्वरूप व बन्ध हेतु	312
2	उपनिषदों में कर्मबन्ध का कारण	315
3	बौद्ध दर्शन में कर्मबन्ध का कारण	316
4	न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्मबन्ध का कारण	317
5	मीमांसा दर्शन में कर्मबन्ध का कारण	317
6	सांख्य योग दर्शन में कर्मबन्ध का कारण	318
7	गीता में बन्ध का कारण	319
8	जैन दर्शन में बन्ध का कारण	319
(ङ)	विभिन्न दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप	328
1	उपनिषदों में मोक्ष	329
2	न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष	330
3	सांख्य-योग दर्शन में मोक्ष	331
4	बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा	333
5	गीता में मोक्ष का स्वरूप	336
6	जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप	337

अष्टम अध्याय

पुण्य और पाप की समस्या और उसका समाधान	348 - 382
(क) भूमिका (पुण्य और पाप)	348
(ख) विशेषावश्यकभाष्य में पुण्य-पाप की अवधारणा – शंका और समाधान	349
(ग) जैन कर्मसिद्धान्त में पुण्य-पाप प्रकृतियों का स्वरूप	359
1 पुण्य और पाप आश्रव के रूप में	361
2 पुण्य और पाप बन्ध के रूप में	370
(ङ) अन्य दर्शनों में पुण्य-पाप की चर्चा	376
समीक्षा	380

नवम अध्याय

परलोक के अस्तित्व सम्बन्धी समस्या और उसका समाधान	383 - 434
(क) भूमिका	383
(ख) विशेषावश्यकभाष्य में परलोक, स्वर्ग तथा नरक की अवधारणा	385
1 मैतार्य जी की परलोक संदर्भ में समस्या	385
2 मौर्यपुत्र की देवलोक सम्बन्धी शंका व समाधान	396
3 अकम्पित जी की नरकलोक सम्बन्धी शंका व समाधान	402
(ग) जैन दर्शन में पुनर्जन्म सम्बन्धी चर्चा	406
(घ) जैनेतर दर्शन परलोक व पुनर्जन्म संदर्भित चर्चा	414
1 चार्वाक दर्शन में पुनर्जन्म व परलोक	415
2 बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म व परलोक	416
3 न्याय-वैशेषिक दर्शन में पुनर्जन्म व परलोक	419
4 वेद-उपनिषदों में पुनर्जन्म व परलोक	419
5 गीता में पुनर्जन्म व परलोक	423
6 सांख्य दर्शन में पुनर्जन्म व परलोक	425
7 योग दर्शन में पुनर्जन्म व परलोक	426
(ङ) वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्जन्म व परलोक की अवधारणा	426
(च) आत्मा की परिणामी नित्यता	429
समीक्षा	432

दशम अध्याय

विभिन्न निहनवों और उसकी दार्शनिक स्थापनाओं की समीक्षा	435 - 472
(क) निहनव का स्वरूप	435
(ख) जमालि के बहुरतवाद नामक सिद्धान्त की स्थापना और उसकी समीक्षा	437
(ग) तिष्यगुप्त की चरमप्रदेशी जीव की अवधारणा और समीक्षा	444
(घ) आषाढभूति का अव्यक्तवाद और उसकी समीक्षा	449
(ङ) अश्वमित्र का समुच्छेदवाद और उसकी समीक्षा	451
(च) आर्य गंग का द्विक्रियाउपयोगवाद और उसकी समीक्षा	456
(छ) रोहगुप्त का त्रैराशिकवाद और उसकी समीक्षा	460
(ज) गोष्ठामाहिल का अबद्धिकवाद और उसकी समीक्षा	467

एकादश अध्याय

उपसंहार	473 - 490
---------	------------------

परिशिष्ट

491 - 503

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय जैन आगम एवं आगमिक व्याख्या साहित्य

जैन आगम साहित्य

जैन धर्म—दर्शन और संस्कृति रूपी सूरम्य प्रासाद वीतराग—सर्वज्ञ तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर आधारित है। प्रकारान्त में उसी को जैन वाङ्मय की अभिधा से अभिहित कर सकते हैं। जैन वाङ्मय से तात्पर्य समस्त सुत्तागम (श्रुत—आगम), अत्थागम (अर्थ—आगम) एवं तदुभयागम रूप शास्त्रों से हैं। सर्वज्ञ अर्थात् सभी को जानने वाले, वे आत्मदृष्टा होने के साथ—साथ विश्वद्रष्टा भी हैं, जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं, वे तत्त्वज्ञान का यथार्थ रूप से निरूपण करते हैं। उनकी वाणी में वीतरागता सन्निहित है। एतदर्थ उनकी देशना सर्वथा निर्दोष रूप होती है, किञ्चित भी दोष की सम्भावना नहीं रहती है।¹

वैदिक परम्परा में स्थान जो वेद का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाइबल का है, ईस्लाम धर्म में जो स्थान कुर—आन का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम—साहित्य का है।²

महत्त्व

जैन आगम साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान—विज्ञान का अक्षय भण्डार है। जैनागमों का तलस्पर्शी अध्ययन करने से सहज ही परिज्ञात होता है कि यहां न केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन में विचरण किया गया है और न अन्य मत मतान्तरों का खण्डन ही किया गया है। अपितु जैन आगमों में जीवन का सजीव एवं सार्थक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया है। जीवनोत्थान की संप्राण प्रेरणा प्रदान की गई है, आत्मा की शाश्वत सत्ता को उद्घोषित किया है और उसकी विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। संयम—समता, तप—जप और त्याग—विराग से जीवन को दीप्तिमान करने का पावन सन्देश दिया है।

¹ डा. पद्मचन्द्र मुणोत, जिनवाणी, सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल, वर्ष 59, अंक 1-4, पृ. 45

² देवेन्द्रमुनि, जैन आगम मनन और मीमांसा, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, 1977, पृ. 4

अर्थागमों के उद्गाताओं ने न केवल एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर आत्म तत्त्व की विवेचना की और न ही आश्रमों में रहकर, कंदमूल खाकर जीवन जगत् की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है, किन्तु उन्होंने सर्वप्रथम मन की मलिनता का प्रक्षालन किया, आत्मा को अध्यात्म के पावक में तपा कर स्वर्ण के सदृश्य निखारा। पंचमहाव्रतों की उत्कृष्ट साधना की, सुदीर्घकालीन तप आराधना की और अन्ततः घातिकर्मों को मूलतः नष्ट कर आत्मा में निहित अनन्त शक्तियों के संदर्शन भी किये। उसके अनन्तर उन्होंने सर्व जीवों की रक्षार्थ एवं कल्याणार्थ देशना भी प्रदान की। इसी विवक्षा के आधार पर जैनागमों में जिस प्रकार आत्मसाधना का वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध वर्णन—विवरण उपलब्ध होता है, उतना अन्य साहित्य में कथमपि संभव नहीं है। वेदवाङ्मय में आध्यात्म प्रधान चिन्तन अल्पमात्रा में है, लोक चिन्तन अधिक है, उपनिषद् में आध्यात्मिक चिन्तन है पर सर्वसाधारण के लिए उसे समझ पाना दुरुह है, क्योंकि उसमें ब्रह्मवाद व आध्यात्मिक विचारणा अधिक गम्भीर है। पर जैनागमों में दर्शन और जीवन, आचार और विचार, भावना और कर्तव्य का जैसा समीचिन समन्वय हुआ है, वैसा अन्य साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। अतः एव आगमों की महत्ता अपने आप में अपूर्व है, अनुपम है।¹

परिभाषा

जैन वाङ्मय का प्रचुर प्राचीन विभाग जैन आगम साहित्य है, प्रस्तुत आगम साहित्य त्रिविध रूप से प्रश्रुत है जो इस प्रकार है — सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम रूप है। वीतराग तीर्थंकर स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।

आगम शब्द — 'आड' उपसर्ग और 'गम' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' का अर्थ है समन्तात् अर्थात् पूर्ण और 'गम्' धातु का अर्थ ज्ञान, गति या प्राप्ति है।

आगम शब्द की व्युत्पत्ति — जो समग्रतः ज्ञानमय है अथवा ज्ञान में गमन करे किवा जो ज्ञान की प्राप्ति का आधार हैं, वे आगम कहलाते हैं।²

जैनेत्तर परम्परा में आगम —

तंत्र वाङ्मय में — लक्ष्मीतंत्र में निर्दिष्ट है कि अनादिकाल से गुरु—शिष्य परम्परा से जो आगत शास्त्र हैं, वे आगम हैं।

¹ देवेन्द्रमुनि, जैन आगम मन्त्र और मीमांसा, तारक गुठ जैन ग्रन्थालय, 1977, पृ. 1

² जैन आगम, वही, पृ. 5

रुद्रयामलतंत्र में बताया है – परम शिव के मुख से उत्पन्न एवं गिरिजा मुख से आगत ज्ञान आगम हैं।¹

योग दर्शन में आगम – योग दर्शन में स्वीकृत तीन प्रमाणों में आगम तीसरे प्रमाण के रूप में स्वीकृत है।²

वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी के अनुसार – तत्त्वदर्शन एवं कारुण्यादि से संवलित आप्त द्वारा दृष्टया अनुमति अर्थ भी आगम है।

सांख्यदर्शन के अनुसार – आप्त वचन को आगम कहते हैं और दोषों से जो रहित है उसको आप्त कहते हैं, क्योंकि दोष से रहित व्यक्ति सत्यपूर्ण बोलता है।³

जैन परम्परा में आगम

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में आगम की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त हैं –

1. आगम तीर्थंकर वाणी है – नियमसार में यह बताया है कि जो तीर्थंकर के मुख से समुद्भूत है, वह आगम है।⁴
2. आगम वीतराग वचन है – राग-द्वेष रहित पुरुषों के द्वारा उद्गीर्ण वचन आगम है।⁵

पंचास्तिकाय में भी कहा है – “वीतराग सर्वज्ञप्रणीत षड्रव्यादि सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं सत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भव्यते।”

वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित षड्रव्य एवं सप्ततत्त्वादि के सम्यक श्रद्धानपूर्वक ज्ञान का तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र का इस प्रकार भेद विज्ञान या रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित है, उसको आगम कहते हैं।⁶

हेय और उपादेय रूप से चार वर्गों का समाश्रयण कर तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों का जो निरूपण करता है, वह आगम है।

¹ वाचस्पत्यम्, रुद्रयामलतंत्र, प्रथमखण्ड, पृ. 616

² प्रत्यक्षावुमानागमः प्रमाणानि, योगसूत्र, 1/7

³ सांख्यसूत्र, 1/101

⁴ नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य), गाथा 8

⁵ “आगमो वीतरागवचनम्” धर्मरत्नबोध, स्वोपज्ञवृत्ति, पत्र 57

⁶ पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति, 173-225

जो तत्त्व आचार्य परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है –
“आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः।”

जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है अथवा विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुत कहलाता है।¹

सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।

आगम एव य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं।। – विशेषावश्यक भाष्य।²

नियुक्तिकार भद्रबाहु का मन्तव्य है – “तप-नियम रूप ज्ञान वृक्ष के उपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्यात्माओं के बोध के लिए ज्ञानपुष्पों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट में उन सकल कुसुमों को आत्मसात कर प्रवचन माला गुंथते हैं अर्थात् सूत्ररूप में गुंथित करते हैं।”³

आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लेख है कि – “अत्थं भासइ अरहा, सुतं गन्थन्ति गणधरा निउणं” तीर्थंकर केवल अर्थरूप में देशना देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं।⁴

इस प्रकार सर्व परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जैनागमों की प्रामाणिकता तीर्थंकरों की वीतरागता एवं सर्वज्ञता (सर्वार्थ साक्षात्कारित्व) के आधार पर है।

आगमों का वर्गीकरण

1. जैनागमों का सर्वाधिक प्राचीनतम वर्गीकृत रूप समवायांग में प्राप्त है। वहां आगम साहित्य को पूर्व और अंग के रूप में विभाजित किया है।⁵

पूर्व – श्रमण भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह ‘पूर्व’ कहा गया है।
पूर्व 14 हैं।

अंग – जैन परम्परा में ‘अंग’ शब्द का प्रयोग गणिपिटक के अर्थ में प्रयुक्त है,⁶
वस्तुतः गणधर (गणि) द्वारा रचित ग्रन्थ ‘अंग’ कहलाते हैं। 12 अंग हैं –

- | | | |
|-------------|----------------|------------------|
| 1. आचारांग | 2. सूत्रकृतांग | 3. स्थानांग |
| 4. समवायांग | 5. भगवती | 6. ज्ञाताधर्मकथा |

¹ “आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः” भाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 87

² विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 559

³ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 89/90

⁴ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा, 192

⁵ समवायांग, समवाय 14

⁶ दुवालसज गणिपिडगे, समवायांग प्रकीर्णक, समवायसूत्र 88

7. उपासकदशा 8. अन्तकृतदशा 9. अनुत्तरोपपातिक
10. प्रश्नव्याकरण 11. विपाक, और 12. दृष्टिवाद

2. आगमों का द्वितीय वर्गीकरण देवद्विगणि क्षमाश्रमणवर्ती है। उन्होंने आगमों को अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य – इन दो भागों में विभक्त किया है।¹

अंगप्रविष्ट – जो गणधर के द्वारा सूत्ररूप में निबद्ध होता है या जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट है, उसे अंग प्रविष्ट कहते हैं।

अंगबाह्य – जो स्थविर या आचार्यकृत हो, वह अंगबाह्यश्रुत है। निष्कर्षतः जो अंगप्रविष्ट से भिन्न है वह अंगबाह्य है।

3. आर्यरक्षित ने विषय-सादृश्य की दृष्टिकोण से समग्र आगमों को चतुर्विध भागों में विभक्त किया है –

- | | |
|-----------------|------------------|
| 1. चरणकरणानुयोग | 2. धर्माकथानुयोग |
| 3. गणितानुयोग | 4. द्रव्यानुयोग |

व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप होते हैं –

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. अपृथक्त्वानुयोग | 2. पृथक्त्वानुयोग |
|--------------------|-------------------|

4. आगमों का सबसे उत्तरवर्ती चतुर्थ वर्गीकरण है –

- | | | | |
|--------|----------|------------|--------|
| 1. अंग | 2. उपांग | 3. मूल, और | 4. छेद |
|--------|----------|------------|--------|

अर्द्धमागधी आगम साहित्य

जैन आगम साहित्य की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है।²

अर्द्धमागधी –

अर्द्धमागधी का सामान्यतया यह अर्थ है कि वह भाषा, जो शौरसेनी और मागधी बोले जाने वाले क्षेत्र के बीच के भाग में बोली जाती थी। अर्थात् अर्द्धमागधी वह भाषा है, जिसमें मागधी और शौरसेनी दोनों का समन्वित रूप हो। एक अर्थ यह भी है कि जिसमें मागधी के आधे लक्षण मिलते हों, वह अर्द्धमागधी है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य श्वेताम्बर शाखा के स्थानकवासी, मूर्तिपूजक और तेरापंथी परम्पराओं को मान्य है। यही कारण है कि आगमों की संख्या भिन्न-भिन्न है। अंगों को सभी स्वीकार करते हैं पर अंगवाह्य सूत्रों में भिन्नता है। आगमों की

¹ जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि, पृ. 12

² अर्द्धमागधी भाषाएँ धम्ममाइक्खड्ड, समवायांग सूत्र, पृ. 60

संख्या को लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मतभेद है, कोई 84 मानते हैं तो कोई 45 आगम मानते हैं तो कितने ही 32 मानते हैं।

स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा 32 आगम को प्रमाणभूत मानते हैं। मूर्तिपूजक समाज इन बत्तीस आगमों के साथ दस प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिर्शीथ और पिण्डनिर्युक्ति को मिलाकर 45 आगम मानता है, किन्तु कुछ परम्पराएं इनमें निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि को मिलकार 84 आगम भी मानती हैं।

अंगसूत्र

यह स्पष्ट तथ्य है कि श्रुत-साहित्य का अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में जो विभाजन हुआ है। उसका स्पष्टीकरण भी करना प्रासंगिक होगा। श्रुत पुरुष के रूप में एक महनीय और मननीय कल्पना की गई है। जैसे किसी पुरुष का शरीर बहुविध अंगों का समवाय है, उसी के सदृश श्रुत पुरुष के भी अंग-उपांग कल्पित हुए हैं। श्रुत पुरुष के दो चरण, दो जंघाट, दो उरू, दो गान्नाध शरीर के अग्र का भाग, शरीर का पश्चात्वर्ती भाग, दो भुजाएं, गर्दन और मस्तक, यों कुल मिलाकर द्वादश अंग होते हैं। इनमें श्रुत पुरुष के अंगों में जो प्रविष्ट हैं, सन्निविष्ट है, अंगत्वेन विद्यमान है। वे आगम श्रुत-पुरुष अंग में अभिहित है, अंग आगम हैं। इस परिभाषा के अनुसार द्वादश आगम श्रुत पुरुष के अंग ये हैं - आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगी। ये वे आगम हैं, जो अर्थरूप में तीर्थकर प्ररूपित हैं। शब्द रूप में गणधर-ग्रथित है। यों इनका स्त्रोत तत्त्वतः तीर्थकर-सम्बद्ध है। निष्कर्ष यह है कि जिन आगमों के संदर्भ में श्रोताओं का और पाठकों का तीर्थकर प्ररूपित के साथ गणधर ग्रथित शाब्दिक माध्यम द्वारा सम्बन्ध बनता है, वे अंग प्रविष्ट आगम हैं। उनके अतिरिक्त आगम अंग बाह्य के रूप में स्वीकृत हुए, जो अंग बाह्य आगम है, वे द्वादश है, जिनकी उपांग संज्ञा हैं, वे इस प्रकार हैं - औपपातिक, राजप्रशनीय आदि। यद्यपि अंग बाह्य आगमों के कथ्य अंगों के अनुरूप होते हैं। अंशतः विरुद्ध नहीं होते हैं। किन्तु प्रवाह परम्परया वे तीर्थकर भाषित के सीधे सम्बद्ध नहीं हैं। स्थविर रचित हैं।¹ यथार्थता यह है कि श्रुत पुरुष के संदर्भ में कल्पना-सौष्टव और सज्जा-सौष्टव का सुन्दर-संगम परिदृष्ट होता है। स्थविर कृत अंग बाह्य आगमों में से

¹ उत्तराध्ययनसूत्र, डा. राजेन्द्रमुनि, पृ. 13

इन द्वादश सूत्र को उपांग—श्रेणी में अन्तर्भाव कर लेने से अन्य आगमों की अपेक्षा इनका महत्त्व अधिक समझा जाता है।

सूत्रकृतांग

आचारांग प्रभृति आगम श्रुत पुरुष के अंग स्थानीय होने से ये अंग कहलाते हैं।¹ वे शाश्वत सत्त्यों से सम्बन्धित होने के कारण ध्रुव एवं शाश्वत माने जाते हैं। जैन परम्परा में ये गणिपिटक कहे जाते हैं। जब तक आचारांग आदि अंग साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था, तब तक भगवान महावीर के पहले पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुत राशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से जानी जाती थी। जब आचार प्रभृति ग्यारह अंगों का निर्माण हो गया तब दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थान दे दिया गया और पूर्व साहित्य को भी उसका ही अंग मान लिया गया।

आचारांग सूत्र

आचारांग में श्रमणाचार की आचार संहिता का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा — “अंगाणं किं सारो — आचारो।” समूचे अंग सूत्रों का सार आचारांग सूत्र है।² इसमें आचार—विचार, ध्यान—समाधि आदि समग्र विषयों का चिन्तन बीज रूप में समाहित है। यही प्रमुख कारण है कि तीर्थंकर भगवान सर्वप्रथम आचारांग का और उसके पश्चात् शेष अंगों का प्रवर्तन करते हैं।³ यह आगम दो श्रुत स्कन्धों में विभक्त है — प्रथम श्रुत स्कन्ध में 9 अध्ययन है तथा द्वितीय श्रुत स्कन्ध पांच चूलिकाओं में विभक्त है, इनमें से चार चूलिकाएँ आचारांग सूत्र में हैं किन्तु पांचवी चूलिका अत्यधिक विस्तृत है, एतदर्थ आचारांग से पृथक् रूप में स्थापित है जो वर्तमान में निशीथसूत्र के नाम से जानी जाती है।

आचारांग में मुख्यरूप से मूल्यात्मक चेतना की अतिशय अभिव्यक्ति है, इसका मुख्य लक्ष्य अहिंसात्मक समाज की संरचना के लिए व्यक्ति को प्रेरित करना है, जिससे समाज में सुख और शान्ति के बीज का वपन हो सके। आचारांगसूत्र में अध्यात्म की मूल नींव ‘आत्मवाद’, ‘आत्मविवेक’ और ‘आत्मशुद्धि’ के विविध अमोघ उपायों का वर्णन है — जैसे

¹ जैनागम मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, पृ. 11

² आचारांग नियुक्ति, गाथा 16

³ आचारांग नियुक्ति, गाथा 8

'अस्थि मे आया' मेरी आत्मा है, वह पुनर्जन्म लेने वाली है, इस सूत्र में उसकी सम्पूर्ण विषय वस्तु का भाष्य होता है।

सूत्रकृत की दार्शनिकता तर्क प्रधान है, बौद्धिक है, जबकि आचारांग की दार्शनिकता अध्यात्म-प्रधान है। यह दार्शनिकता औपनिषदिक शैली में गुम्फित है, अतः इसका सम्बन्ध प्रज्ञा की अपेक्षा श्रद्धा से अधिक है। आचारांग का पहला सूत्र दर्शनशास्त्र का मूल बीज है — आत्मजिज्ञासा और इसके प्रथम श्रुतस्कंध का अन्तिम सूत्र है — भगवान महावीर का आत्म-शुद्धि मूलक पवित्र चरित्र और उसका आदर्श। आत्म-दृष्टि, अहिंसा, समता, वैराग्य, अप्रमाद, निःस्पृहता, निःसंगता, सहिष्णुता, आचारांग के प्रत्येक अध्ययन में इनका स्वर मुखरित है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में मात्र श्रमण के आचार का प्रतिपादन ही नहीं है, बल्कि वह समत्व, अचेलत्व व मानसिक पवित्रता से ओत-प्रोत है। इस प्रकार यह सूत्र दर्शन, अध्यात्व व आचार की त्रिपुटी है।

इस आगम के प्रति अध्ययन में सम्यक्ज्ञान, सम्यकदर्शन और सम्यकचारित्ररूप मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन मिलता है, क्योंकि जीव जब आत्मा को सम्यक् रूपेण समझ लेता है तब वह उसे मुक्त करने के उपायों को सम्यक् प्रकार से जानने का सार्थक प्रयास करता है। और उसे संसार के प्रगाढ़ बन्धनों का परिज्ञान हो जाता है।¹ तभी आचारांग सूत्र में निर्दिष्ट हैं — पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि, तुम स्वयं ही तुम्हारे मित्र हो, बाहर मित्र ढूँढने का प्रयत्न मत करो।

आचारांगसूत्र में समसामायिक धर्म साधना का व्यापक विवेचन है और जो भगवान महावीर के समत्वमूलक सिद्धान्त पर आधारित है। जितनी धर्म साधना उच्च वर्ण वाला व्यक्ति कर सकता है उतनी ही निम्न वर्ण वाला भी कर सकता है, उनका यह यथार्थ कथन प्रस्तुत सूत्र में निबद्ध है — "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ"।

इस आगम का प्रत्येक सूत्र और प्रत्येक शब्द अपनी अर्थ विवक्षा से एक शास्त्र है। इसमें प्रतिपादित ध्यान, समाधि, अनुप्रेक्षा, भावना, अप्रमाद, कषायविषय, तितिक्षा, कर्मलाघव आदि ऐसे विषय हैं जिस पर चिन्तन करने से जीवन में दिव्यता, भव्यता का शताधिक स्वर्णिम प्रकाश प्राप्त होता है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व ज्येष्ठत्व एवं श्रेष्ठत्व के शिखर पर समारूढ़ हो जाता है।

¹ श्रीचन्द्र जी सुयणा, जिन्वाणी, वही, पृ. 99

सूत्रकृतांग सूत्र

इसमें सूत्रों के द्वारा तत्त्वबोध सूचन किया गया है, एतदर्थ इसकी संज्ञा सूत्रकृत है। मौलिक दृष्टि से यह आगम भगवान महावीर से सूत्र अर्थात् उत्पन्न है तथा यह सूत्र रूप से गणधर के द्वारा कृत है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है। इस आगम में स्व समय और परसमय का वर्णन है। यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16 व द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्ययन हैं।¹

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अन्य मतों का निरसन किया गया है जैसे – पंचमहाभूत वाद का मत है कि – पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर रूप में परिणत होने के कारण चैतन्य की उत्पत्ति इसी से होती है, जिस प्रकार गुड-महुआ आदि के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस वाद का निरसन करते हुए कहा गया है कि शरीर के घटक रूप पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती, अचेतन गुण वाले पदार्थों के संयोग से चेतन गुण वाले तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती।²

इसी प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवाद अनात्मवाद का रूप है, जब तक शरीर है तब तक ही जीव है और शरीर के विनष्ट होने पर जीव भी नष्ट हो जाता है, पर यदि ऐसा संभव है तो ऐसी स्थिति में मोक्षप्राप्ति के लिए किये जाने वाले ज्ञान-दर्शन-संयम-व्रत आदि निष्फल हो जायेंगे।³ वेदान्तवादी ब्रह्म के अतिरिक्त सब पदार्थों को असत्य मानते हैं, यह एकात्मवाद है। सांख्य मतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद यह मानता है कि पदार्थ हर क्षण बदलता रहता है।

आजीविकों का सिद्धान्त नियतिवाद है, जिसमें उत्थान-बल, वीर्य आदि कुछ नहीं है सब भाव सदा से नियत है। अज्ञानवादी अज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं।⁴ जैन दर्शन इन सब मतों एवं वादों का संयुक्तिक निरसन करता है।

मुख्य रूप से सूत्रकृतांग सूत्र का सार इन चार वाक्यों में समाहित है –

1. बन्धन के स्वरूप को जानो
2. बन्धन को तोड़ने का पुरुषार्थ करें

¹ अशोककुमार जैन, जिनवाणी, वही, पृ. 104

² सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/11-12, पृ. 26

³ सूत्रकृतांगसूत्र, मधुकरमुनि, वही, पृ. 25

⁴ वही, गा. 28, उदे. 12, पृ. 31

3. बन्धन किसे बताया है? और
4. इसे कैसे तोड़ा जा सकता है?'

इस तरह दार्शनिक विचारधारा को आध्यात्मिक साधना के साथ जोड़कर जीवात्मा को सत्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप त्रिरत्न समन्वित रूप में मोक्ष के अवरोधक कर्मबन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र सफल उपाय है। इस उपाय को आत्मसात् करने पर ही कर्मबन्धन से मुक्ति सम्भव है।

स्थानांग सूत्र

यह स्थानांग सूत्र जैन संस्कृति का विश्वकोष है, इसमें एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव, पुद्गल आदि की बहुविध स्थितियाँ वर्णित हैं। इसमें इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, दर्शन, आचार, परा मनोविज्ञान आदि शताधिक विषय संकलित हैं।

इस सूत्र की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें चारों अनुयोगों का समावेश है। इसमें द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 426 सूत्र हैं। विभिन्न कथाओं के संकेत एवं संक्षिप्त उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिससे इसमें कथानुयोग की झलक भी मिलती है। इस सूत्र के 10 अध्ययन हैं और एक ही श्रुतस्कन्ध है।

संग्रहनय की अपेक्षा जीव चैतन्यगुण है। व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्येक जीव अलग-अलग है। इसमें ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से भी जीव तत्त्व का विभाजन किया है। पर्याय की दृष्टि से एक ही तत्त्व अनन्त अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्थानांग में संख्या की दृष्टि से जीव-अजीव प्रभृति द्रव्यों का मूलस्पर्शी विवेचन उपलब्ध है।²

इस सूत्र में एक विषय का दूसरे विषय के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक विषय का विस्तार से विवेचन करने की अपेक्षा संख्या के आधार पर विषयों का संकलन किया गया है। इसमें कोष की शैली अपनाई गई है। स्थानांगसूत्र में मानवीय स्वभाव का परिचय देने वाले सूत्र सर्वाधिक हैं। कहीं वृक्षों से, कहीं वस्त्रों से, कहीं पक्षी, फल, बादल, कुम्भ आदि से समानता करते हुये शताधिक रूपों में मानवीय

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा 1

² जैन आगम मन्त्र और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि, पृ. 100

वृत्तियों के वैविध्य का वर्णन किया गया है।¹ इस प्रकार स्थानांग सूत्र में जीवन के समग्र पहलुओं पर प्रकाश प्रक्षिप्त किया गया है।

समवायांगसूत्र

समवायांग भी जैन सिद्धान्त का विशिष्ट कोष है। सामान्य स्तरीय जनता को जैनधर्म से सम्बन्धित विषयों का बोध इसके द्वारा हो जाता है। इसमें जीव-अजीव प्रभृति पदार्थों का विवेचन या समवतार है, अतः इस आगम का नाम समवाय है।²

आचार्य देववाचक ने समवायांग की विषयवस्तु को इस रूप में प्रस्तुति दी है -

1. जीव, अजीव, लोक, अलोक एवं स्वसमय, परसमय का समावेश।
2. एक से लेकर शत-सहस्र पर्यन्त की संख्या वाले विषयों का निरूपण।
3. द्वादशांग गणिपिटक का परिचय।³

प्रस्तुत आगम में तीनों लोकों के जीव आदि समस्त पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक परिचय दिया है। इसमें तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि से संदर्भित वर्णन के साथ-साथ अपेक्षा द्रव्य के रूप में जीव-अजीव, धर्म-अधर्म आदि का निरूपण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का तथा काल की दृष्टि से समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम और पुद्गलपरावर्तन पर्यन्त विचार किया गया है। भाव की विवक्षा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, वीर्य आदि जीव के भावों अर्थात् मनोदशाओं तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श संस्थान आदि अजीव की विभिन्न अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है।⁴

इस प्रकार समवायांग जिज्ञासुओं और अन्वेषणकर्ताओं के लिए शोधपूर्ण तथ्यों एवं महत्वपूर्ण कथ्यों का महतोमहियान निधान है। किं बहुना, यह वह आगमरत्न है जो वस्तुविज्ञान, जैनसिद्धान्त और जैन इतिहास की सुपाठ्य सामग्री से परिपूर्ण है।

¹ तिलकधर शास्त्री, जिनवाणी, आगम विशेषांक, वही, पृ. 142

² समवायांगवृत्ति, पत्र 1

³ नन्दीसूत्र, सू. 83

⁴ श्री धरमचन्द जैन, जिनवाणी, वही, पृ. 142

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र

व्याख्याप्रज्ञप्ति का अपर नाम भगवतीसूत्र भी है। यह सूत्र शाब्दिक दृष्टि से विराटकाय रूप है। प्रश्नोत्तर शैली की दृष्टि से प्रस्तुत आगम में विषयवस्तु की विविधता है। इसमें अनेक दार्शनिक समस्याओं का समाधान भी प्राप्त है। साथ ही इसमें प्राणीशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, गणित, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, खगोल, मनोविज्ञान आदि अनेक विषयों पर प्रयोगी एवं उपयोगी विवेच्य सामग्री उपलब्ध है।

समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में 36,000 प्रश्नों का समाधान है। समग्र प्रश्नों का उत्तर भगवान महावीर द्वारा दिया गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में 41 शतक तथा अनेक उद्देशक हैं।

प्रस्तुत आगम में श्रमण भगवान महावीर के स्वयं के जीवन का, उनके शिष्यों, गहरथ-उपासकों का अन्य तीर्थिकों और उनकी मान्यताओं का सविस्तृत परिचय प्राप्त होता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, लोक स्वसमय-परसमय आदि के विषय में सूक्ष्मतम विवेचन विद्यमान है। ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक संघ के आचार्य मंखलि गोशालक, जमालि, शिव-राजर्षि आदि के प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ति, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अणगार आदि के प्रकरण भी बहुत ही मननीय हैं।

इस आगम में महाराजा कुणिक और महाराजा चेटक के मध्य जो महाशिलाकंटक और रथमुशलसंग्राम हुए थे, उन युद्धों का अतिशय मर्मस्पर्शी वर्णन संप्राप्त है, जो उस समय का सबसे महा युद्ध था। गणित की दृष्टि से पार्श्वपत्तीय गांगेय अणगार के गणधर गौतम के साथ हुए प्रश्नोत्तर भी अत्यन्त मूल्यवान हैं। इस विराट विश्व में जो विविधता दृष्टिगत होती है वह जीव और पुद्गल के संयोग से है। इस आगम में जीव और पुद्गल का जितना सुविशद विश्लेषण किया गया है उतना किसी अन्य आगम में अनुपलब्ध है।¹

इस प्रकार प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत आगम स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रस्थित होता है।

¹ जैन आगम मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि जी, वही, पृ. 126

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

जिसके द्वारा धर्म का कथन किया गया हो वह ज्ञाताधर्मकथा सूत्र है। कथा और दर्शन का यह एक संगम सूत्र है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ऐतिहासिक और दृष्टान्त रूप दोनों प्रकार की कथाएँ हैं।

जहाँ मल्ली, द्रोपदी, मेघकुमार, तथा थावच्चापुत्र की कथाएँ ऐतिहासिक हैं वहाँ तुम्बे, कछुए आदि की कथाएँ रूपकशैली में प्रस्तुत हैं। इसी प्रकार जिनपाल एवं जिनरक्षित की कथा, सुषमा की कथा कल्पनाप्रधान यथार्थपूर्ण कथाएँ हैं। जहाँ मयूरी के अण्डों के दृष्टान्त से श्रद्धा और धैर्य के फल को प्रकट किया है वहाँ कछुओं के उदाहरण से संयमी और असंयमी साधक के परिणामों को प्रदर्शित किया है। रोहणी कथा से पाँच महाव्रतों की रक्षा की और अभिवृद्धि की प्रेरणा मिलती है।¹ उदकजात कथा में जल शुद्धि की प्रक्रिया द्वारा एक ही पदार्थ के शुभ-अशुभ दोनों रूपों को व्यक्त किया है।

ज्ञाताधर्मकथा पशु कथाओं के लिए उद्गम सूत्र में परिगणित है। इस सूत्र में हस्ति, अश्व, खरगोश, कछुए, मयूर, मैदक आदि को कथाओं के पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृति के अन्य कतिपय पक्ष भी उल्लेखित हैं, जैसे विभिन्न कलाओं और विद्याओं में पुरुषों की 72 कलाओं का विस्तृत वर्णन इसमें उपलब्ध है। सामाजिक सेवा और पर्यावरण संरक्षण के अन्तर्गत नन्द मणिकार की कथा से ज्ञात होता है कि उसने समाज के सभी वर्गों के लिए वापी का निर्माण करवाया था और वहाँ सर्व प्रकार की सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई थी। यहां तक कि चिकित्साकेन्द्र भी निर्मित किये गये थे। इस प्रकार उस समय की आर्थिक व भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन इस शास्त्र में मिलता है। दृष्टान्तों के माध्यम से आध्यात्मिक शिक्षाओं को सहज, सरल और सरस शैली में निरूपित किया है।

उपासकदशांगसूत्र

उपासकदशांगसूत्र धर्मकथानुयोग के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें प्रभु महावीर युगीन दस उपासकों का पवित्र चरित्र अंकित है। उपासक शब्द जैन गृहस्थ के लिए तथा

¹ प्रेमसुमन जी जैन, जिनवाणी (आगम विशेषांक), वही, पृ. 179

दशा शब्द दश की संख्या का वाचक है। इसमें श्रमणोपासक की जीवन चर्या सम्पूर्णतया वर्णित है।

जैन धर्म में साधना की दृष्टि से धर्म का वर्गीकरण दो रूपों में प्रस्तुत किया है – 1. आगार, 2. अणगारधर्म। अणगार धर्म में सभी पाप प्रवृत्तियों का तीन करण— तीन योग से त्याग करना होता है जबकि आगारधर्म में कुछ अंशों में मर्यादा तथा छूट (आगार) रहती है। आगार धर्म का पालन करने वाला श्रमणोपासक कहलाता है। इसमें आनन्द, कामदेव, चुलनिपिता आदि ऐसे दस उपासकों का वर्णन है, जिन्होंने प्रभु महावीर का उपदेश श्रवण कर अपना जीवन सार्थक किया। इस सूत्र में वर्णित सभी श्रावक प्रतिष्ठित, समृद्धिशाली एवं बुद्धिशाली थे। उनका जीवन अनुशासित, व्यवस्थित एवं धर्मनिष्ठ था। इसमें आनन्द की स्पष्टवादिता, कामदेव की दृढ़ता और सहनशीलता, कुण्डकौलिक की सैद्धान्तिक पटुता, सकड़ाल की मिथ्यात्वी देव—गुरु—धर्म के प्रति निःस्पृहता आदि की चर्चा तथा श्रावकों के अनेक गुणों का उल्लेख है।

सभी श्रमणोपासक धन—वैभव, मान—प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से सुखी थे, किन्तु उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में भौतिक सभी सुखों को त्यागकर पौषधशालाओं में एकान्त में बैठकर श्रावकधर्म उत्कृष्ट प्रतिमाओं को अंगीकृत करते हुए अपने जीवन को सार्थक किया। इस सूत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है – चार ज्ञान से सम्पन्न गौतमगणधर का आनन्द श्रावक से क्षमा—याचना करने के लिए जाना। निश्छल विनयधर्म का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार यह अंगसूत्र श्रावक—श्राविकाओं के लिए ज्योतिस्तम्भ के रूप में मार्गदर्शक है।

अन्तकृद्दशासूत्र

प्रस्तुत आगम की अभिधा से पूर्णतः प्रकट है कि जन्म—मरण की परम्परा का मूलतः उच्छेद करने वाली परम—पावन आत्माओं का वर्णन है, इसके अध्ययन भी 10 हैं, एतदर्थ वर्णन—निष्पन्न नाम अन्तकृत दशा है। जन्म—मरण की परम्परा का अन्त करने वाली पवित्र आत्माओं का वर्णन होने से “अन्तकृत” और इसके प्राचीन संस्करणों में दस अध्ययन होने से इसे “दशा” कहा जाता है, इसका नाम “अन्तकृद्दशा” है।

इसमें श्रीकृष्ण वासुदेव की महारानियों के द्वारा एवं राजा श्रोणिक की काली आदि 10 रानियों के द्वारा विशिष्ट तपश्चर्याओं के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन है।

जहाँ गजसुकुमार और अतिमुक्तक कुमार जैसे श्रमणों के तेजस्वी व्यक्तित्व इसमें विर्णित हैं, वहाँ श्रेष्ठी सुदर्शन, अर्जुनमाली आदि के आख्यानों का मार्मिक और रोमांचकारी वर्णन है जो सम्पूर्ण जैन संस्कृति के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

अन्तकृद्दशासूत्र के आठ वर्ग हैं, आठ वर्गों में राजा, राजकुमारों, रानियों और श्रेष्ठियों के दीक्षित जीवन का वर्णन है तथा उनके द्वारा कृत तपस्या का अत्यधिक हृदय स्पर्शिनी विवेचना है।¹ प्रस्तुत आगम में कर्मयोगी श्रीकृष्ण का बहुमुखी व्यक्तित्व निहारा जा सकता है, जहाँ माता-पिता के प्रति भक्ति है वहाँ भगवान अरिष्टनेमी के प्रति अनन्य निष्ठा है। एक ओर युद्ध क्षेत्र में वज्र से कठोर दिखलाई देते हैं वहीं दूसरी ओर सेवा व अनुकम्पा के क्षेत्र में उनका हृदय फूल से कोमल दिखाई देता है।² अतिमुक्तक कुमार की घटना से यह सिद्ध है कि साधना की दृष्टि से वय की प्रधानता नहीं है, बच्चा हो या बूढ़ा, हर व्यक्ति साधना के मार्ग पर चल सकता है।

अर्जुनमाली के प्रसंग में बताया है कि – हत्यारा और खूनी अर्जुन भी सत्संग व सदबोध से मुनि बन गया। प्रस्तुत आगम में विविध कथाओं के माध्यम से सरल एवं मार्मिक दृष्टि से उन विविध तपश्चर्याओं का विवेचन किया गया है, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी आत्म विशुद्धि करके जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। यह वह आगम है जो भौतिकता के महादूर्ग पर आध्यात्मिक विजय पताका फहरा देता है।

अनुत्तरोपपातिकदशा

जिन साधकों ने अपने तपोमय जीवन से अनुत्तर विमान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देव विमानों में उपपात (जन्म) किया उसको अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है।³ अनुत्तरोपपातिकों के साधनानुप्राणित जीवन का सजीव वर्णन इस सूत्र में उपलब्ध है एतदर्थ इसका नाम "अनुत्तरोपपातिक दशा" रखा गया है। यह आगम वर्तमान में तीन वर्गों में विभक्त है, जिनमें 33 महान व्यक्तियों के जीवन का सुन्दर एवं संप्रेरक वर्णन है।

धन्यकुमार जैसे श्रेष्ठी ने 32 इभ्यकन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया, किन्तु जब त्यागने का प्रश्न आया तब एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया। उनके द्वारा जो तपश्चर्या

¹ नन्दीसूत्र, 88, अट्ठवग्गा, अट्ठउद्देशणकाला

² पी.एम. चौरडिया, जिनवाणी (आगम विशेषांक), वही, पृ. 204

³ श्वेता जैन, जिनवाणी (आगम विशेषांक) वही, पृ. 216

की गई उससे उनका शरीर अस्थिपंजर सा हो गया। प्रस्तुत आगम में उनके प्रत्येक अंग को विविध उपमाओं से उपमित किया है। भगवान महावीर द्वारा उनको तपसाधना को प्रशंसित किया है और राजा श्रेणिक के द्वारा पृच्छा करने पर धन्यमुनि को 14 हजार मुनियों में सर्व श्रेष्ठ के रूप में महिमामंडित किया है।

सर्व साधकों ने अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह निष्ठापूर्वक किया। फलस्वरूप वे अपने ध्येय को प्राप्त करने में सफल हुए। इस आगम में उस समय की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थितियों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह आगम ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रश्नव्याकरण

यह आगम द्वादशांगी का दसम अंग है। प्रश्नव्याकरण का अर्थ है – प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् संकथन। प्राचीन प्रश्नव्याकरण में विद्याओं एवं मंत्रों का समावेश था, किन्तु भविष्य में इनका दुरुपयोग न हो इस आशंका से वे सब विद्याएँ इस आगम में से बहिर्गत कर दी गईं और उनके स्थान पर आश्रव और संवर के वर्णन विषय में प्रस्तुत किया गया।¹

इस आगम के दो श्रुतस्कन्ध हैं – आश्रवद्वार और संवरद्वार। प्रत्येक श्रुतस्कन्ध के पांच-पांच अध्ययन हैं। तन के रोग एक जन्म में ही पीड़ा देते हैं किन्तु मन के रोग अर्थात् आस्रव द्वार तो जन्म-जन्मान्तरों तक आत्मा को संतप्त करते हैं।

प्रथम खण्ड में यह बताया गया है कि हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच आस्रव द्वारों के निमित्त से जीव प्रति समय कर्म रूपी रज का संचय करके चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आस्रव द्वारों के निरोध रूप में पांच संवर द्वार निरूपित हुए हैं। श्रमण धर्म – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप है, जब साधक मन, वचन, काया रूप त्रिगुप्ति से संयुक्त होकर श्रमण धर्म का आचरण करता है तब कर्मों का आस्रव, आगमन अवरूद्ध हो जाता है। जहाँ आश्रवतत्त्व जन्म-मरण रूपी भव-परम्परा की वृद्धि का मुख्य कारण है वहीं संवर तत्त्व शुद्ध आत्मदशा प्राप्ति का प्रमुख हेतु है। इस प्रस्तुत आगम में प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों

¹ षण्होत्तिपुच्छ, षड्वयणं वागरणं प्रत्युत्तामित्यर्थः, आ. हरिभद्र, नन्दीवृत्ति

मार्गों को पूर्णतः स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है। मोक्षार्थी साधक के लिए यह ज्ञान आवश्यक है, अतः इस आगम की अपनी अलग विलक्षण विशेषता है।

विपाकदशा

इस आगम में सुकृत और दुष्कृत कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है, अतः इसका नाम विपाकदशा है। प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं और प्रत्येक में दस-दस अध्ययन हैं।¹ विपाकदशा यह वस्तुतः अन्वर्थ संज्ञा है। यह नामकरण अर्थ की अनुकूलता से रखा गया है। और इसी से वर्णित विषय की प्रतीति भी स्पष्टतः हो जाती है। यह वह सूत्र है जिसमें विपाक अर्थात् कर्मफल का वर्णन है। कर्मफल का वर्णन और विवरण भी उभय रूप से उपलब्ध होता है। प्रथम सिद्धान्त रूप से है और द्वितीय कथानकों के माध्यम से है। कर्मफल भी दो प्रकार से हैं, सुखरूप भी है और दुःखरूप भी है। यथार्थता यह है कि यह आगम एक ऐसा आदित्य है जो सर्वतोभावेन प्रकाशमान है। इस सूत्र के प्रत्येक अध्याय, प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक शब्द, प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अर्थ और उसके निगूढ आशय वस्तुवृत्त्या व्यापक से व्यापक, ससीम से असीम और लघीयान से महियान है। किं बहुना यह आगम अपने स्वरूप में उपमान है और प्रतिमान भी है।

कर्मसिद्धान्त जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, इसी सिद्धान्त को उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत आगम में सरलता से समझाया गया है, कि किस प्रकार सत्कार्य करने से सुख की तथा दुष्कर्म करने पर दुःख की प्राप्ति होती है। जो माँस भक्षण, वेश्यागमन करता है तथा दीन दुखियों को पीड़ित करता है अन्याय और अत्याचार करता है, उसे विभिन्न यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, और जो दान-सेवा या धर्मादि कार्य करते हैं उन्हें नाना प्रकार की ऋद्धियाँ-समृद्धियाँ मिलती हैं। मृगापुत्र, उज्जितक, देवदत्त आदि के कथानकों में पाप के परिणाम सुन कर जहां रोमांचित हो जाते हैं वहीं दूसरी ओर सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी कुमार के वर्णन में जीवन पुण्य के प्रभाव से जो सुख-वैभव का दिग्दर्शन कराया।²

¹ जिमवाणी (जैनागम विशेषांक), श्री जम्बूकुमार जैन, वही, पृ. 235

² जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, पं. वेचरदास दोशी, पृ 256

विपाकसूत्र में पाप और पुण्य की गुरु-ग्रन्थियों को सरल उदाहरणों द्वारा उद्घाटित किया है तथा गुपात्रदान की गहता बताते हुये दान की विधियां बतायी हैं कि किस प्रकार दान देना चाहिए।

इस आगम की अभिधा से स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम में विविध दृष्टियों का विवेचन है, एतदर्थ यथानाम तथातथ्य दृष्टिवाद है।

भोग-विलास, इन्द्रिय विषयों के सुख जीव के लिए मीठे जहर के समान है, अतः जीवन को धर्मसंस्कारों से या शुभाचरण से भावित किया जाए तो दुःख की घड़ियों का सामना नहीं करना पड़ता है तथा कर्मबन्ध से बचा जा सकता है, यही तथ्य विशेषरूप से इस आगम में बताया गया है।

दृष्टिवाद सूत्र

यह बारहवां अंग है। इसमें विभिन्न दर्शनों एवं नयों का निरूपण है।¹ जिसमें विविध दृष्टियों का विवेचन है, उसे दृष्टिवाद कहा जाता है।² यह काल प्रवाह में विलुप्त हो चुका है। इस आगम की अभिधा से स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम में विविध दृष्टियों का विवेचन है, एतदर्थ यथानाम तथातथ्य 'दृष्टिवाद' है।

दृष्टिवाद को पंचविध विभाग में वर्गीकृत किया गया है यथा – परिकर्म, सूत्र, पूर्व, अनुयोग और चूलिका।³

प्रथम परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और गणित विधा का विवेचन था। द्वितीय सूत्रविभाग में नयो अर्थात् मतों की विवेचना की हुई थी। तृतीय पूर्व विभाग में 14 पूर्व समाहित थे, जिनका संक्षेप में उल्लेख इस रूप में है –

1. उत्पादपूर्व – द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद की प्ररूपणा।
2. अग्रायणीयपूर्व – द्रव्य-पर्याय और जीव विशेष के अग्रपरिमाण का वर्णन।
3. वीर्यप्रवाद पूर्व – सकर्म तथा निष्कर्म जीव के वीर्य विशेष का वर्णन।
4. अस्तित्वास्तित्वाद पूर्व – प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व और परस्वरूप से नास्तित्व का प्रतिपादन।

¹ स्थानांगवृत्ति, अण 14, उद्दे. 1

² प्रवचनसारोद्धार द्वार 144

³ नन्दीसूत्र, के किं तं हिठिवाए?.....

5. ज्ञानप्रवादपूर्व – ज्ञान के भेद-प्रभेदों का विवेचन।
6. सत्यप्रवाद पूर्व – सत्यवचन एवं संयम के स्वरूप का वर्णन।
7. आत्मप्रवादपूर्व – आत्मा के स्वरूप और उसकी व्यापकता तथा आत्मा के ज्ञातृत्व/भोक्तृत्व से सन्दर्भित विवेचना।
8. कर्मप्रवाद पूर्व – अष्टकर्मों की प्रकृतियों, स्थितियों एवं उसके परिणामों का संकथन।
9. प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व – प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण।
10. विद्यानुप्रवाद पूर्व – अनेक अतिशय सम्पन्न विद्याओं एवं उपविद्याओं और उनकी साधना की प्रज्ञापना।
11. अबन्ध्यपूर्व – ज्ञान-तप आदि सत्कृत्यों को शुभ फल देने वाले और असत्कृत्यों को अशुभ फलदायक बताते हुए वर्णन।
12. प्राणायुपूर्व – आयु और प्राण के भेदों की विस्तार से प्ररूपणा।
13. क्रियाविशालपूर्व – भौतिक कलाओं और आध्यात्मिक क्रियाओं का विश्लेषण।
14. लोकबिन्दुसार पूर्व – विशिष्ट लब्धियों का सर्वांगपूर्ण वर्णन।

चतुर्थ विभाग 'अनुयोग' प्रथमानुयोग तथा गंडिकानुयोग रूप है। – प्रथमानुयोग में तीर्थकरों के पंचकल्याण का व गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती व महापुरुषों का ऐतिहासिक चरित्र चित्रण। पंचम चूलिका विभाग यन्त्र, तन्त्र एवं मंत्र सम्बन्धी सिद्धियों का वर्णन था।

इस प्रकार दृष्टिवाद बहुत ही अतीव विशाल और महत्त्वपूर्ण अंग था। किन्तु अब केवल अतीत के अंचल में समाहित हो गया है। वर्तमान में यह दृष्टिवाद विलुप्त है।

उपांगसूत्र

उपांग सूत्र वे हैं जो अंगों में कथित अर्थ का स्पष्ट बोध कराते हैं, वे उपांग कहे जाते हैं। ये स्थविर कृत होते हैं।¹ द्वादश अंगों की रचना होने के पश्चात् श्रुतपुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की स्थापना की गई। जिस क्रम से अंगों की संख्या है उसी के अनुसार उपांगों की संख्या है, इसी तथ्य की स्वीकृति दी गई है, जैसे कि

¹ जिनवाणी, (जैनागम विशेषांक), देवेन्द्रमुनि जी, पृ. 16

ग्यारह अंगों में प्रथम अंग आचारांग है, वैसे ही बारह उपांगों में प्रथम उपांग औपपातिक सूत्र है, इस प्रकार व्यवस्था की गई है।

औपपातिकसूत्र

प्राचीन जैन साहित्य का प्रथम उपांग है औपपातिकसूत्र। इसके दो अध्याय हैं – प्रथम समवशरण और द्वितीय उपपात। देव और नारकों के उपपात – जन्म अथवा सिद्धगमन का वर्णन होने से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है।¹

चम्पानगरी, राजा कुणिक व तत्कालीन राज्य व्यवस्था, कला ऋद्धि, सिद्धि तथा वनखण्ड के वर्णन आदि की दृष्टि से यह आगम अन्य आगमों के लिए संदर्भ स्वरूप माना गया है। भगवान महावीर के संपूर्ण शरीर का शब्दचित्र इस आलंकारिक दृष्टि से वर्णित है कि जितने भी उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, प्रभृति, अलंकार हैं वे इस वर्णन के सामने निस्तेज प्रतीत होते हैं। वानप्रस्थ एवं परिव्राजक परम्पराओं का उल्लेख इस आगम में विस्तार से किया गया है।

इसमें अम्बडपरिव्राजक की श्रावकधर्म की साधना, उनकी अरिहन्त देव के प्रति दृढ़ता का वर्णन तथा अन्त में समाधिमरण के द्वारा ब्रह्मदेवलोक में उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उपपात के साथ केवलीसमुद्घात का विस्तृत वर्णन करते हुए सिद्ध अवस्था का विवेचन करते हुए श्रमण जीवन और स्थविर जीवन का सार संक्षेप बताया है। इस प्रकार यह आगम ज्ञान-दर्शन, चारित्र एवं तपस्वी साधकों के लिए मननीय एवं आचरणीय है।

राजप्रश्नीयसूत्र

यह प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध कथा प्रधान आगम है। सूत्रकृतांग सूत्र का उपांग सिद्ध करते हुए आचार्य मलयगिरी ने लिखा कि – सूत्रकृतांग में क्रियावादी, आत्मा को मानने वाले, अक्रियावादी, आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले, के जो मत हैं उनमें से अक्रियावादी के रूप में राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से प्रश्न किये हैं इसलिए इसका नाम “राजप्रश्नीय” सूत्र है।²

¹ औपपातिकसूत्र, अभयदेववृत्ति, उद्धृत - जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 246

² जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 207

प्रश्नोत्तर के माध्यम से 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' का खण्डन कर के 'जीव और शरीर' की भिन्नता का समर्थन किया गया, इसी दृष्टि से यह दार्शनिक आगम है।

इस आगम के पूर्वार्द्ध में महाप्रभु महावीर के दर्शनार्थ प्रथम देवलोक का सूर्याभ देव ऋद्धि सहित उपरिथत होता है तथा उत्तरार्द्ध में राजा प्रदेशी और केशी श्रमण इन दोनों के मध्य में आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व जैसे प्रश्न पर प्रश्नोत्तर शैली में गंभीर विचारणा होती है, और अन्ततः राजा प्रदेशी आस्तिक से नास्तिक बन जाता है, श्रावक धर्म को भी आत्मसात कर लेता है, इतना ही नहीं रानी सूर्यकान्ता अपने पतिदेव राजा से संतुष्ट की स्थिति नहीं रही, परिणामस्वरूप उसने राजा को विषपान करा ही दिया, ऐसी स्थिति में राजा शरीर के प्रति ममता का परिहार कर लेता है, और समता को अंगीकृत कर लेता है।

जीवाजीवाभिगमसूत्र

जीव एवं अजीव का वर्णन करने के कारण इस सूत्र का नाम जीवाजीवाभिगम है। अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर एवं इन्द्रभूति गौतम के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में जीव-अजीव के भेद-प्रभेदों पर विशद चर्चा हुई। उस चर्चा को आचार्य ने सूत्रबद्ध किया है।

जैन दर्शन में नव तत्त्व मान्य है – जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इनमें से दो तत्त्व मुख्य हैं – जीव और अजीव। शेष सात तत्त्व इन दोनों तत्त्वों के संयोगी और वियोगी रूप हैं। जैन चिन्तनधरा का आरम्भ आत्मतत्त्व से होता है और अन्त मोक्ष में हो जाता है।

प्रस्तुत आगम में नौ प्रतिपत्तियाँ हैं – प्रतिपत्ति का अर्थ है प्रतिपादन। संसारवर्ती जीवों के प्रकार के सम्बन्ध में नौ प्रतिपत्तियाँ बताई गई हैं। मूलतः यह उल्लिखित है कि जीव राग-द्वेष, मोह-क्षोभ प्रभृति वैभाविक परिणतियों में जब परिणत हो जाता है तब वह चतुर्विध गतिरूप सांसारिक अवस्थाओं का अनुभव करता है, जन्म-जन्म और मृत्युजन्म दुःख-क्लेश की अनुभूति भी कर लेता है, इन्हीं तथ्यों पर इस आगम के 9 प्रतिपत्तियों में विशद वर्णन है।¹

¹ जिन्वाणी (जैनागम विशेषांक), श्री प्रकाश सालेचा, वही, पृ. 261

प्रस्तुत आगम में सांस्कृतिक और साहित्यिक इन दोनों दृष्टियों से वर्णन उपलब्ध है। कला, युद्ध, उद्यान, वापी, प्रसाधनघर आदि का सरस व साहित्यिक वर्णन है। यह आगम स्थविरकृत है।

प्रज्ञापनासूत्र

जिस आगम में विशिष्ट प्रकार से 'ज्ञापन' अर्थात् निरूपण किया जाता है तथा व्यवस्थित रूप से जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराने वाला होने से यह आगम प्रज्ञापना कहा जाता है।¹ इसके कर्ता आर्यश्याम है। प्रज्ञापना में 36 विषयों का निर्देश है। प्रकरण को 'पद' नाम दिया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना प्रश्नोत्तर शैली के रूप में हुई है।

जीव-अजीव को मूल आधार बनाकर जीव के भेद-प्रभेद तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों की आयु, श्वासोच्छ्वास, आहार, सुख-दुःख आदि का वर्णन है। इसमें जीव से सम्बन्धित समग्र विषयों का वर्णन है, जैसे कषाय, लेश्या, इन्द्रिय कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि का भी सुन्दर निरूपण किया गया है। अंगसाहित्य में भगवतीसूत्र का जैसा स्थान है वैसा स्थान उपांग में इस सूत्र का है। यह भी एक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष है। साहित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास और भूगोल के अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं।

अन्त में समुद्घात के विषय में विस्तार से वर्णन है कि योग-निरोध के बाद शैलेषी अवस्था प्राप्त होती है, तत्पश्चात् आत्मा मुक्त हो जाती है।

जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति

यह पांचवा उपांग सूत्र है। इसमें एक अध्ययन और सात वक्षस्कार हैं। वक्षस्कार का अभिप्राय प्रकरण से है।

जैन भूगोल तथा प्रागैतिहासिककालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति का विशेष महत्त्व है। जैन भूगोल का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि आत्मा को अपनी विगत-आगत-अनागत यात्राओं का ज्ञान हो जाय, और उसे यह भी ज्ञात हो जाये कि इस विराट विश्व में उसका मौलिक स्थान कहाँ है?²

¹ जैन आगम : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 226

² जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 297

इस आगम में कालचक्र, चक्रवर्ती, विजययात्रा का आद्योपान्त विवेचन है, तीर्थंकर जन्म कल्याणक तथा सूर्य चन्द्र व नक्षत्रों का विस्तृत वर्णन है। जैन दृष्टि से सृष्टिविद्या के बीज इसमें उपलब्ध हैं। तीर्थंकर ऋषभ का प्रागैतिहासिक जीवन-चरित्र भी इसमें मिलता है।

सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति

यह षष्ठम उपांग है, इसमें सूर्य आदि ज्योतिषचक्र का वर्णन है। इसमें एक अध्ययन व 20 प्राभृत हैं। इसी प्रकार सातवें उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति में भी चन्द्र आदि ज्योतिषचक्र का वर्णन है, इसका भी एक अध्ययन और 20 प्राभृत हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित, ज्योतिषशास्त्र पर गहराई से विचार किया गया है, पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें चन्द्र एवं सूर्य के आकार, तेज, गतिक्रम, उदय, अस्त, संवत्सरों के आदि अन्त, भूमि से ऊँचाई का, चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण आदि विषयों पर विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मूलभूत मान्यताओं का संकलन किया है। इनके विषय की प्राचीन वेदांग-ज्योतिष के साथ तुलना की जा सकती है। मूर्हत शास्त्र की दृष्टि से ये दोनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्र हैं।¹

निरयावलिकासूत्र (कल्पिका)

इस आगम में नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन होने से इसे "निरयावलिका" कहते हैं।² प्राचीन मगध का इतिहास जानने के लिए यह उपांग अत्यन्त उपयोगी है। इस उपांग में 10 अध्ययन हैं।

इसमें मूलतः मगध नरेश श्रेणिक एवं उनके पुत्र अजातशत्रु कुणिक का एवं अन्य पुत्रों का जीवन परिचय पूर्णतया उपलब्ध है। भगवान महावीर कालीन महायुद्ध - रथमूसल संग्राम अथवा महाशिला कंटक संग्राम का विस्तार से वर्णन है।

राजा श्रेणिक की रानियाँ जब पुत्र वियोग का वृत्तान्त सुनती हैं तब वे संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का अनुभव कर दीक्षित हो जाती हैं, समग्र कर्मों का क्षयकर

¹ जैन आगम : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 269

² जिनवाणी, वही, पृ. 311

मुक्त हो जाती हैं। इन सब तथ्यों का मार्मिक रूपेण विवेचन है। इस तरह यह उपांग सूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कल्पावतंसिकासूत्र

इस सूत्र में राजा श्रेणिक के 10 पौत्रों की कथाएँ वर्णित हैं, जिन्होंने अपने भावों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया था, अर्थात् कल्प में जा कर उत्पन्न हुए, इसी कारण इसका नाम कल्प + अवतंसिका अर्थात् कल्पावतंसिक रखा गया है।¹

जीवन शोधन की प्रक्रिया का विश्लेषण, व्रताचरण आदि की उपयोगिता जीवन में कितनी अधिक है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है, जब पिता नरकगामी बन जाता है तब पुत्र को स्वर्ग प्राप्ति न हो ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा का अपने उत्थान और पतन का दायित्व स्वयं पर निर्भर करता है, वास्तविकता यह है कि स्वयं कर्ता – स्वयं भोक्ता इस सूत्र को कदापि और कथमपि नकारात्मक रूप में नहीं लिया जा सकता है।

इस आगम में महाव्रतों के पालन में आत्म-शुद्धि से आत्मसिद्धि तक की प्रक्रिया प्रतिपादित है।

पुष्पिकासूत्र

इस आगम के दस अध्ययन हैं – श्रोताओं और अध्येताओं को कथाओं के माध्यम से स्वसमय और परसमय का ज्ञान दिया है। सोमिल ब्राह्मण की तपरचर्या का वर्णन है, जो काल-कवलित होकर देवलोक में जन्म लेता है। बहुपुत्रिका देवी की कथा के द्वारा यह बताया गया है कि –रागादि भावों से जीव कष्टापन्न होता है। इन कथाओं में कुतूहल की प्रधानता है। सभी आख्यानों में वर्तमान जीवन पर उतना प्रकाश नहीं डाला गया है जितना उनके परलोक जीवन पर है। सांसारिक मोह, ममता और माया का सजीव चित्रण किया है। पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त का समर्थन सर्वत्र मुखरित होता है।

इस प्रकार इस उपांग सूत्र में मानव जीवन में साधना की प्रधानता देते हुए मोह-ममता से विमुक्त होने का सन्देश है।

¹ जिनवाणी, वही, पृ. 312

पुष्प चूलिका सूत्र

इसमें भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित हो शिथिलाचारीणी श्रमणियों की कथाओं का वर्णन है। जब आत्मा दीक्षित हो जाती है तब उसका ध्यान शरीर शुद्धि की अपेक्षा आत्मशुद्धि की ओर लगाना चाहिए, स्वकीय वस्त्र प्रक्षालन की अपेक्षा जीवन रूपी चादर के प्रक्षालन में नियोजित होना चाहिए, इसी प्रक्रिया के माध्यम से जब भी उसकी भवस्थिति पक जाती है तब वह आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। भूता आर्या के उदाहरण द्वारा उक्त तथ्य को स्पष्ट किया है, यदि कोई पूर्वोक्त तथ्य से अपने आपको पृथक करता है उसे अपने जीवन के अंत में आलोचना कर लेना चाहिए?

वण्हदशा

यह उपांग सूत्र है। इसमें निषधकुमार आदि वृष्णिवंशीय द्वादश कुमारों का वर्णन प्रत्येक अध्ययन में किया गया है, एतदर्थ इसके इस सूत्र के दस अध्ययन हैं। वे बारह राजकुमार भगवान् अरिष्टनेमि के उपदेशों को आत्मसात कर दीक्षित हुए, कर्मों का क्षय करने का उपक्रम भी किया है, इसमें पौराणिक तत्त्वों की प्रधानता है। इस आगम में हरिवंश और वृष्णिवंश की उत्पत्ति के विषय में विशद वर्णन है। वृष्णिवंश पूर्व में हुआ, उसके पश्चात् हरि नामक पुरुष के प्रभाव से इस वंश का नामकरण हरिवंश पड़ा। तीर्थंकर अरिष्टनेमि का कतिपय दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण वर्णन है।¹

मूलसूत्र

जिन आगमों में मुख्यरूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों, महाव्रत, समिति-गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमणचर्या में मूलरूप से सहायक बनते हैं तथा जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।² मूलसूत्र यह एक साभिप्राय संज्ञा है जिसका आशय इस रूप में है कि जिन आगमों में श्रमण के आचार सम्बन्धी मूलगुणों, चारित्र और महाव्रत के पोषक किंवा अनुजीवी समिति-गुप्ति, भावना प्रभृति का निरूपण है। आशय यह है कि जो श्रमणचर्या में मूलरूप से सहायक हैं, जिन आगमों का अध्ययन श्रमणों-श्रमणी के लिए अनिवार्य है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।

¹ जैन आगम : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 278

² जैन आगम: वही, पृ. 22

मूलसूत्र संख्या की दृष्टि से चतुर्विध हैं — उत्तराध्ययन, आदि। इनमें जो विषय वर्णन है, उस दृष्टि से उन्हें अपेक्षाकृत मूलसूत्र कहना उचित है, जैन धर्म और दर्शन का मूलभूत आधार — सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्त्प। इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार — अनुयोगसूत्र, नन्दीसूत्र, दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्र। इन चारों में क्रमशः सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्प का वर्णन और विवरण है, इसी दृष्टि से इन आगमों को मूलसूत्र की अभिधा से अभिहित किया है, ऐसा मेरा विनम्र अभिमत है।

स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय मूलसूत्र 4 मानते हैं — 1. उत्तराध्ययन, 2. दशवैकालिक, 3. नन्दीसूत्र व 4. अनुयोगद्वार, जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा छह मूलसूत्र मानती है उनमें महानिशीथ एवं जीतकल्प को लिया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र

भगवानी महावीर ने पावापुरी में निर्वाण प्राप्त करते समय अन्तिम प्रवचन के रूप में उत्तराध्ययनसूत्र का उपदेश दिया था। उत्तर शब्द का अर्थ है — श्रेष्ठ, उत्तम। इसके एक-एक अध्ययन उत्तम और श्रेष्ठ हैं, इसलिए उत्तराध्ययन कहा जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र पूर्ण रूप से अध्यात्मशास्त्र है। दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ इसमें बहुत से आख्यानों का वर्णन है। इसमें जीव, अजीव, कर्मवाद, षटद्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है। यह आगमन केवल धर्मकथानुयोग का प्रतिपादक है अपितु उक्त अनुयोगों के अतिरिक्त तीनों अनुयोगों का सुन्दर संगम है। इसके अर्थ प्ररूपक भगवान महावीर हैं जबकि उन अर्थों को सूत्रबद्धकर्ता के रूप में है। इस अपेक्षा के आधार पर अंग बाह्य आगमों में रखा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र चतुर्विध मूलसूत्र में एक ऐसा आगम है जो अपने विषय-वस्तु की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उत्तर और अध्ययन इन दो शब्दों के योग से उत्तराध्ययन शब्द निष्पन्न हुआ है।¹

जिस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के 36 पद हैं उसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र के 36 अध्ययन हैं, इस आगम को विषयवस्तु की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया गया है।

¹ जैन आगम साहित्य, मन्त्र और मीमांसा, वही, पृ. 290

1. उपदेशात्मक – अध्ययन 1, 3, 4, 5, 6, 10
2. धर्मकथात्मक – अध्ययन 7, 8, 9, 12, 13, 14, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 25 और 27।
3. आचरणात्मक – अध्ययन 2, 11, 15, 16, 17, 24, 26, 32, 35।
4. सिद्धान्तात्मक – अध्ययन 28, 29, 30, 31, 33, 34, 36।¹

इसमें धर्म, दर्शन, इतिहास व तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक परम्पराओं का समावेश हो जाता है।

दशवैकालिकसूत्र

दशवैकालिक प्रस्तुत आगम की अनवर्थकता इस रूप में है कि यह नाम दस और वैकालिक इन दो शब्दों के योग से निर्मित हुआ है। इसमें जो 'दस' शब्द हैं, वे अध्ययनों की संख्या के सूचक हैं, हमें ऐसा तथ्य भी स्वीकार्य है कि आचार्य शय्यंभव ने आगम साहित्य में से जो-जो विषयवस्तु संकलित की है, जब यह संकलन पूर्ण हुआ तब विकाल रहा हो, इसी आशय से इसका नामकरण भी दशवैकालिक रखा गया है। यह सोच भी तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है। इसके रचयिता श्रुतकेवजी आर्य शय्यंभव हैं। इसमें मुनियों के आचार-विचार का निरूपण है।² इसमें चरण और करण दोनों का अनुयोग है – अर्थात् मूलगुण³ और उत्तरगुण⁴ दोनों का अन्तर्भाव है।

आध्यात्मिक साधना की पूर्णता और सम्पन्नता के लिए श्रद्धा और ज्ञान ये दोनों पर्याप्त नहीं हैं। किन्तु उसके लिए आचरण भी आवश्यक है क्योंकि सम्यक् आचरण के अभाव में आध्यात्मिक परिपूर्णता नहीं आ पाती है। इसमें आचरण सम्बन्धी निरूपण विशेष रूप से किया गया है।

यह आगम दस अध्ययन और दो चुलिकाओं में विभक्त है, इसकी विषयवस्तु प्रत्येक श्रमण के लिए श्रेयस्कर है। प्रथम अध्ययन में श्रमण के लिए यह सूचना है कि आहार विधि का किस रूप में ज्ञाता बने, द्वितीय अध्ययन में श्रमण को कामराग से बचने के लिए रथ और राजीमति का प्रसंग दिया है। तीसरे अध्ययन में साधु के लिए जो

¹ जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), पृ. 320

² जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 363

³ चरणमूलगुणाः, प्रवचनसारोद्धार, गाथा 552

⁴ करणं उत्तरगुणाः, प्रवचनसारोद्धार, गाथा 553

आचरण योग्य नहीं है, उसका निर्देश है। चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का, पाँचवें अध्ययन में श्रमण की भिक्षाचर्या का वर्णन है। छठे अध्ययन में आचार—गोचर सम्बन्धी विवेचन की गई है, जबकि सातवें अध्ययन में श्रमण के द्वारा कौनसी भाषा प्रयोग्य है, और कौन सी भाषा अप्रयोग्य रूप है, यह बताया है। आठवें अध्ययन में आचार धर्म के प्रति निष्ठावान बनने की प्रेरणा दी है, नवें अध्ययन में विनय सम्बन्धी वर्णन है जिसके अन्तर्गत समाधियों की चर्चा है, अन्तिम अध्ययन में भिक्षु के जीवन और दिनचर्या के बारे में विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह वह आगम है जिसमें श्रमणाचार का सजीव चित्रण हुआ है।

नन्दीसूत्र

जिससे प्रमोद, हर्ष या आनन्द प्राप्त हो, उसे नन्दी कहते हैं अर्थात् जिसे प्राप्त करके आत्मा को आनन्द हो वह नन्दीसूत्र कहलाता है।¹ इस सूत्र में आत्मा की गरिमामय भाव—समृद्धि रूप पंचविध ज्ञान का सांगोपांग वर्णन है। इसकी रचना देववाचकगणी ने की है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इसे आगम क्यों माना जाए, समाधान है कि प्रस्तुत आगम समग्र आगमों का स्रोत सर्वज्ञ तीर्थंकर की अर्थरूप से आगत आगमिक वाणी है अतः परम्परा से यह आप्त वचन है।²

नन्दीसूत्र में पांच ज्ञानों का विस्तृत स्वरूप प्रतिपादित है। “पढमं नाणं तओ दया” इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। इसमें प्रत्यक्षज्ञान तथा परोक्षज्ञान की चर्चा की गई है। नन्दीसूत्र का आगम साहित्य में विशेष महत्त्व रहा है। इसी सूत्र के आधार पर कतिपय आचार्यों ने दर्शन प्रधान ग्रन्थों की रचना की है जिसमें ज्ञान सम्बन्धी विषय—वस्तु इसी से ली गई है।

अनुयोगद्वारसूत्र

शब्द तथा अर्थ के योग को अनुयोग कहते हैं। ‘अनु’ उपसर्ग सहित ‘योग’ शब्द से अनुयोग निष्पन्न है। सूत्र या शब्द के अनुकूल अनुरूप अर्थात् सुसंगत संयोग अनुयोग है।³

¹ मूलसूत्र एक परिशीलन, आचार्य देवेन्द्रमुनि, पृ. 264

² मूलसूत्र एक परिशीलन, वही, पृ. 268

³ धम्मकहाणुओगो, मुनि कन्हैयालाल जी कमल, पृ. 3

कषायपाहुड़ में उल्लेख है कि – अर्थ के जानने के उपायभूत अधिकार को अनुयोगद्वार कहते हैं।¹ आर्यराक्षित ने इस सूत्र की रचना की है। इस आगम में मंगलाचरण के रूप में पंचज्ञान बताया है तदनन्तर श्रुतज्ञान के उद्देश्य, समुद्देश्य, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति का संकेत कर आवश्यक अनुयोग पर सर्वांगीण प्रकाश डाला है। आवश्यकसूत्र की व्याख्या करते हुए साधक, साधना और साध्य की त्रिपुटी के रहस्य को उद्घाटित किया है। इसमें सभी विषयों को नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों से घटित किया है।

उपक्रम निक्षेप शैली की प्रधानता एवं भेद-प्रभेदों की प्रचुरता होने से यह आगम अन्य आगमों से दुरुहपूर्ण है तथापि यह जैन दर्शन के रहस्य को समझने के लिए अतिशय उपयोगी है।

छेदसूत्र

सामायिक चरित्र स्वल्पकालीन भी तथा यावत्जीवन भी होता है, छेदोपस्थापनीय चरित्र जीवन पर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्धी छेदोपस्थापनीय चरित्र से है। इसी चरित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सम्बन्धी सूत्रों को छेद सूत्र कहा गया। दशा-श्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथश्रुत ये प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत सम्भावना है कि उससे छिन्न अर्थात् पृथक करने से इन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।²

छेदसूत्रों को उत्तम श्रुत माना गया है, जिनदासगणी महत्तर ने स्वयं यह प्रश्न किया कि – छेदसूत्र उत्तम क्यों है? तदनन्तर स्वयं ने ही उसका समाधान करते हुए कहा – छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चरित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ इन्हें उत्तम श्रुत माना गया है। स्थानकवासी परम्परा में चार छेदसूत्र माने गये हैं। मूर्तिपूजक परम्परा 6 छेदसूत्र मानती है।³

दशाश्रुतस्कंध

दशाश्रुतस्कंध का नाम करण दस अध्ययनों के कारण है। प्रथम दशा में 20 असमाधिस्थान, दूसरी दशा में 21 सबलदोष, तृतीय में 33 आशातनाएँ, चौथी दशा में आठ

¹ कषायपाहुड़, 3/3/22

² जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा, आ. देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 346

³ निशीथभाष्य, 6/84 की चूर्णि

गणि-सम्पदा, पांचवी में चित्त रामाधि के 10 बोल, षष्ठम में श्रावक की एकादश प्रतिमा, सप्तम दशा में भिक्षु की 12 प्रतिमा के उल्लेख हैं। अष्टम दशा में जो निरूपण है उसे वहां से पृथक करण करके कल्पसूत्र के नाम से स्थापित किया है। नवम दशा में महामोहनीय कर्म-बन्ध के कारण और दसवी दशा में 9 निदानों का निषेध है।¹

इस प्रकार इसकी विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण है और मुनि जीवन की साधना से सम्बद्ध है। योग साधना की दृष्टि से भी चित्त को एकाग्र करने के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है तथा उपासक प्रतिमा और भिक्षु प्रतिमा, श्रावक एवं श्रमण की उत्कृष्ट साधना के उच्चतम मापदण्ड के रूप में आशातना और सबलदोष इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन है। गणि सम्पदा में आचार्य पद पर विराजित मुनि के अन्तरंग व बहिरंग व्यक्तित्व की योग्यताओं का निरूपण है।

बृहकल्पसूत्र

इस सूत्र का छेद सूत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सूत्र में श्रमणों के आचार विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, प्रायश्चित आदि पर गहन चिन्तन है। बृहकल्प सूत्र में 6 उद्देश्यक हैं एवं 81 अधिकार हैं।

साधु-साध्वियों के संयम के साधक एवं बाधक स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का विवेचन प्रस्तुत है। प्रथम उद्देश्यक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियों के निवास का विस्तृत वर्णन है, द्वितीय उद्देश्यक में निवास व विहार करने के नियम प्रतिपादित हैं, तृतीय उद्देश्यक में साधु और साध्वियों को एक दूसरे के समीप आगमन व पहुंचने की मर्यादा का समुल्लेख है। प्रायश्चित और आचार विधि का निरूपण चतुर्थ उद्देश्यक में है। पंचम उद्देश्यक भोजन-पान संदर्भित नियमों का निरूपण है। षष्ठम उद्देश्यक में दुर्वचन बोलने का प्रतिषेध है तथा साधु साध्वियों को किस प्रकार और किस अवस्था में परस्पर सहयोग देना चाहिए, इसका बोध कराया गया है।²

आचार्यों ने इसमें विस्तृत रूप से समाचारी और कल्पाकल्प का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से इस सूत्र का नाम बृहत्कल्प है। इस सूत्र के रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने गये हैं।

¹ जिनवाणी, (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 396

² त्रीणि छेदसूत्राणि, आ. देवेन्द्रमुनि, ब्यावर, पृ. 12-13

व्यवहारसूत्र

व्यवहार शब्द 'वि' एवं 'अव' उपसर्ग पूर्वह 'हृ' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। 'वि' उपसर्ग विविधता का सूचक है, 'अव' सन्देह का द्योतक है, 'हृ' धातु हरने के अर्थ में प्रयुक्त है। इन सभी के योग से व्यवहार शब्द की संरचना हुई है। अन्य मत के अनुसार ऐसा स्पष्ट है कि – जिसमें विविध संशयों का हरण होता है, वह व्यवहार है। इसमें संभवतः 300 सूत्र हैं तथा 10 उद्देशक हैं।¹

प्रथम उद्देशक में निष्कपट और सकपट आलोचक, एकल विहारी साधु आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों पर प्रकाश डाला गया है, द्वितीय उद्देशक में साधुओं के पारस्परिक व्यवहार आदि विषयों पर विवेचन है, तृतीय उद्देशक में आचार्य में होने वाली योग्यता का निर्देश है। इस तरह साधुओं व साध्वियों की आचार संहिता की परम्परा निर्दिष्ट है।

निशीथसूत्र

छेद सूत्रों में निशीथसूत्र का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। निशीथ आचारांग की पांचवी चूला है। इसमें 20 उद्देशक हैं। 19 उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान तथा बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया प्रतिपादित है।

जैन साधना में दो मार्ग हैं – उत्सर्ग और अपवाद। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ है – बाल, वृद्ध, श्रान्त और ग्लान श्रमण को भी संयम का, जो शुद्धात्म तत्त्व का साधन होने से मूलभूत है, उसका छेद जिस प्रकार न हो, उस प्रकार संयत का ऐसा अपने योग्य अतिकठोर आचरण ही आचरना, उत्सर्ग मार्ग है।²

संयम के साधनभूत शरीर का छेद जिस प्रकार न हो, उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना अपवाद है।

इसमें इन दोनों मार्गों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त दोष सेवन एवं वैयक्तिक परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग दिया जाता है। विशेष रूप से हिंसा चोरी, मैथुन-सेवन को पाप मानकर उन्हें त्याज्य रूप बताया है। इनके

¹ प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, वही, पृ. 192

² छेदसूत्र, एक परिशीलन, आचार्य देवेन्द्रमुनि, पृ. 79

अतिक्रम—व्यतिक्रम एवं अतिचार की शुद्धि, आलोचना एवं निन्दा के अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार के सेवन का प्रायश्चित्त निशीथसूत्र में विशेष रूप से प्रतिपादित है।

आवश्यकसूत्र

‘आवश्यक’ जैन साधना का मूल प्राण है। यह जीवन—शुद्धि और दोष परिमार्जन का सूत्र है। आवश्यक अपनी आत्मा के परीक्षण करने का एक उत्तम उपाय है। आत्मा जिस साधना और आराधना से शाश्वत सुखों का अनुभव करें, कर्ममल को नष्ट कर सम्यक्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य रूप अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करें, वह आवश्यक है। जो साधन आवश्यक रूप से करने योग्य है, वह आवश्यक है।

आचार्य मलयागिरी कहते हैं — “ज्ञानादिगुणानाम् आसमान्ताद् वश्याइन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात् तद्आवश्यकम्”¹ गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से पूर्ण रूप से वासित करे अर्थात् गुणों से युक्त करे वह ‘आवश्यक’ है। जो गुणों की आधारभूमि हो, वह ‘आवश्यक’ है। आवश्यक सूत्र के 6 प्रकार बताये गये हैं — 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग एवं 6. प्रत्याख्यान।

सामायिक में समभाव की साधना की जाती है। चतुर्विंशतिस्तव में चौबिस तीर्थकरों की स्तुति की जाती है। स्तुति से साधक को आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है तथा मिथ्या अहंकार नष्ट हो जाता है। वन्दना में गुरुओं को नमस्कार किया जाता है जिससे भक्ति और बहुमान प्रकट होता है। प्रतिक्रमण के द्वारा दोषों की आलोचना होती है, यह अशुभयोग से शुभयोग की ओर लौटने का उपक्रम है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता का त्याग किया जाता है। प्रत्याख्यान में आहार आदि का त्याग किया जाता है, यह संयम की साधना में दीप्ति पैदा करता है।

इस प्रकार यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

प्रकीर्णक साहित्य

जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रकीर्णक को परिभाषित करते हुए नन्दीसूत्र के चूर्णिकार ने कहा है — प्रकीर्णक एक पारिभाषिक शब्द

¹ जिनवाणी (जैनआगम विशेषांक), वही, पृ. 441

प्रयोग है जिसके अन्तर्गत परिगणित प्रत्येक ग्रन्थ में प्रायः एक विशिष्ट विषयवस्तु सुरसंहत है, जो आगमसूत्रों के अनुसार प्रतिपादित है।¹

समवायांग सूत्र में ऋषभदेव के 84 हजार शिष्यों द्वारा 84 हजार प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना करने का उल्लेख है जबकि भगवान महावीर के 14 हजार शिष्यों द्वारा 14 हजार प्रकीर्णक होने चाहिये, जबकि वर्तमान में केवल 22 प्रकीर्णक उपलब्ध हैं। स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में भी कतिपय प्रकीर्णकों के नाम उपलब्ध हैं, व्यवहारसूत्र में 19 प्रकीर्णकों की सूची है।

नन्दीसूत्र में आगमों के कालिक और उत्कालिक इन दो विभागों में प्रकीर्णकों का उल्लेख है। वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या दस जानी जाती है।

1. **चतुःशरण** – अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवलीप्ररूपित धर्म ऐसे चार शरण माने गये हैं इसलिए इसे चतुशरण कहा है।²
2. **आतुरप्रत्याख्यान** – बालमरण और पण्डितमरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है। इन दोनों प्रकीर्णकों के रचयिता वीरभद्र (दसवीं शती) हैं। एक प्राचीन आचार्यकृत आतुरप्रत्याख्यान भी है।
3. **महाप्रत्याख्यान** – इस प्रकीर्णक में समाधिमरण का प्रतिपादन है। दुश्चरित्र की निन्दा, सच्चरित्रात्मक व्रतों, भावनाओं एवं आराधनाओं पर बल दिया गया है।
4. **भक्तपरिज्ञा** – भक्तपरिज्ञा में इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण भेदों का स्वरूप प्रतिपादित है तथा मन को वश में करने के लिए अनेक सार्थक दृष्टान्तों का प्रयोग है।
5. **तन्दुलवैचारिक** – इसमें जीव की गर्भावस्था, आहारविधि, बालजीवन, क्रीड़ा, आदि अवस्थाओं का वर्णन है। सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति कितने तन्दुल (चावल) खाता है, इस संख्या पर विशेष रूप से चिन्तन करने के कारण से इसका नाम तन्दुलवैचारिक रखा है।

¹ जिनवाणी (जिनागम विशेषांक), वही, पृ. 460

² प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वही, पृ. 197

6. **संस्तारक** — इसमें साधु के लिए अन्त समय में तृण का आसन अर्थात् संस्तारक ग्रहण कर समाधिमरण का वरण करने की विधि बताई है। इसमें समाधिमरण करने वाले अनेक मुनियों के दृष्टान्त हैं।
7. **गच्छाचार** — इस ग्रन्थ में गच्छ में रहने वाले आचार्य तथा श्रमण—श्रमणियों के आचार के स्वरूप का वर्णन है। जो असदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है, वह भव वृद्धि करता है और जो सदाचारी श्रमण गच्छ में रहता है वह अपने जीवन का उत्कर्ष करता है, परिणामस्वरूप संसार सागर से तिर जाता है।
8. **गणिविद्या** — यह ज्योतिष विद्या का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुन आदि के विषय में विचार किया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रयोगी और उपयोगी है।
9. **देवेन्द्रस्तव** — इसमें 32 इन्द्रों के निवास, भवन, विमान, ऊँचाई वर्ष तथा अवधिज्ञान के क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में वर्णन है।
10. **मरणसमाधि** — यह विषयवस्तु की दृष्टि से बृहद् है। इसमें आराधक, आराधना, आलोचना, संलेखना, क्षमायाचना आदि 14 द्वारों से समाधिमरण की विधि बतायी गई है। अनित्य—अशरण आदि द्वादश भावनाओं पर प्रकाश डाला है। इन दस प्रकीर्णकों के अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक और भी हैं जैसे चन्द्रवेध्यक, वीरस्तव, तित्थोगाली अजीवकल्प, सिद्धपाहुड़ आदि।¹

इन सभी प्रकीर्णकों में जीवन—शोधन की विविध प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। जीवन में निर्मलता व पवित्रता इनके पठन में आती हैं।

अर्द्ध मागधी आगमों का व्याख्या साहित्य

आगम साहित्यों के सुस्पष्टीकरण व विशदीकरण के लिए वाङ्मय की रचना की गई है। आगम संकलन के साथ आचार्यों ने उन पर व्याख्या साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इस व्याख्या साहित्य को निम्न पंचविध कोटि में विभक्त किया है —

1. निर्युक्ति, 2. भाष्य, 3. चूर्णि, 4. टीका और 5. टब्बा

¹ जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 388-402

निर्युक्ति

सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बतलाने वाली व्याख्या का नाम निर्युक्ति है।¹ भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से निर्युक्तियाँ सर्वाधिक प्राचीन हैं। निर्युक्तियाँ प्रायः गाथाओं में होती हैं। इनमें ग्रन्थ की विषयवस्तु का संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने निम्न 10 निर्युक्तियों की रचना की थी –

1. **आवश्यक निर्युक्ति** – इसमें आवश्यक सूत्र के सामायिकादि 6 अध्ययनों की पद्यबद्ध प्राकृत व्याख्या है तथा ऋषभदेव एवं महावीर प्रभु का जीवन चरित्र विस्तार से वर्णित है।
2. **दशवैकालिक निर्युक्ति** – 371 गाथाओं में अनेक लौकिक व धार्मिक कथाओं एवं सूक्तियों के द्वारा दशवैकालिक सूत्र के अर्थ को स्पष्ट किया है।
3. **उत्तराध्ययन निर्युक्ति** – प्रत्येक अध्ययन की विषयवस्तु का निक्षेप के साथ विवेचन किया गया है। इसमें 607 गाथाएँ हैं।
4. **आचारांग निर्युक्ति** – यह निर्युक्ति आचारांग सूत्र के दोनों श्रुत स्कंधों पर आधारित है। इसमें 347 गाथाएँ हैं।
5. **सूत्रकृतांग निर्युक्ति** – सूत्रकृतांग के पदों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गई है। इसमें 205 गाथाएँ हैं।
6. **दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति** – यह निर्युक्ति दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। इससे इसके प्रत्येक अध्ययन पर चिन्तन किया गया है।
7. **बृहत्कल्प निर्युक्ति** – श्रमण-श्रमणियों के आचार-विचार, आहार-विहार का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर, सहज एवं सरल शैली में वर्णन है।
8. **व्यवहार निर्युक्ति** – इसमें भी आचार और व्यवहार का विवेचन है।²

इसी प्रकार और भी निर्युक्तियाँ मिलती हैं, जैसे – संसक्तनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति, गोविन्द निर्युक्ति, आराधना निर्युक्ति और ऋषिभाषित, सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति संप्रति अनुपलब्ध है।

¹ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 83

² जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 476

भाष्य

निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को विस्तार से प्रकट करने के लिए प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्मित हुई, वे भाष्य के नाम से विश्रुत हैं। भाष्य साहित्य में प्राचीन अनुश्रुतियों, लौकिक कथाओं और श्रमणों के परम्परागत आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है, निम्न आगम ग्रन्थों पर भाष्य उपलब्ध हैं –

- | | | |
|---------------------|--------------|-----------------|
| 1. आवश्यक | 2. दशवैकालिक | 3. उत्तराध्ययन |
| 4. बृहत्कल्प | 5. पंचकल्प | 6. व्यवहार |
| 7. निशीथ | 8. जीतकल्प | 9. औधनिर्युक्ति |
| 10. पिण्डनिर्युक्ति | | |

भाष्यकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और संघदासगणि ये दो मूर्धन्य विद्वान हुए हैं। विशेष्यावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य से रचयिता जिनभद्र एवं बृहत्कल्पभाष्य, पंचकल्पभाष्य के निर्माता संघदासगणि हैं।

उत्तराध्ययन भाष्य – यह भाष्य शान्तिसूरि द्वारा निर्मित है। इसमें विशेष रूप से बोटिक की उत्पत्ति, पुलाक बकुश आदि निर्ग्रन्थों के स्वरूप पर विशद रूपेण विश्लेषण है।

दशवैकालिक भाष्य – इसमें 63 गाथाएँ हैं, इसमें हेतु-विशुद्धि एवं मूलगुण व उत्तरगुणों का प्रतिपादन है।

बृहत्कल्पभाष्य – इसके प्रणेता संघदासगणि हैं। इसमें जैन श्रमणों के आचार-विचार का सूक्ष्मतम एवं तार्किक विवेचन किया गया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का अपना विशेष महत्त्व है।

पंचकल्पभाष्य – यह पांच कल्पों में विभक्त पंचकल्पनिर्युक्ति का व्याख्यानरूप है। प्रव्रज्या के योग्य और अयोग्य व्यक्तियों का साधुओं के विचरण योग्य आर्य क्षेत्र का भी वर्णन है।

व्यवहारभाष्य – इसमें व्यवहार में दोषों की संभावना को दृष्टि में रखते हुए प्रायश्चित्त पर उनके अर्थ, भेद, निमित्त आदि की दृष्टि से व्याख्या की गई है।

जीतकल्पभाष्य – इसमें आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत – इन पांचों प्रकार के व्यवहारों का विवेचन किया है। जो व्यवहार आचार्य परम्परा से प्राप्त है, वह जीत व्यवहार है।

विशेषावश्यकभाष्य – इसमें जैन आगमों के समस्त मौलिक एवं मार्मिक विषयों की चर्चा है। इसमें न केवल जैन मान्यताओं का निरूपण है अपितु इतर भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का समीक्षा, खण्डन आदि भी किया गया है। गणधरवाद एवं निहनववाद उपलब्ध है।¹

ओघनिर्युक्ति भाष्य और पिण्डनिर्युक्तिभाष्य – इन दोनों में श्रमणधर्म पर विवेचन किया गया है।

चूर्णि साहित्य

जैन आगमों की प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णियाँ कहलाती हैं। कुछ चूर्णियों के रचयिता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं।

नन्दीचूर्णि – यह चूर्णि मूलसूत्र के अन्तःस्तल को स्पर्श करती है, इसमें मुख्यत्वेन ज्ञान के स्वरूप की चर्चा है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमभावित्व का समर्थन किया है।

अनुयोगद्वार चूर्णि – इसमें आवश्यकों पर विस्तार से प्रकाश डाला है, सप्तरस, नवरस आदि का भी इसमें सोदाहरण निरूपण है।

आवश्यकचूर्णि – इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन अंकित हैं, जिनका ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से महत्व है तथा इसमें षट्आवश्यक का वर्णन भी है।

दशवैकालिक चूर्णि – इस पर दो चूर्णियाँ हैं – प्रथम के कर्ता अगस्त्यसिंह स्थविर जबकि द्वितीय के कर्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। एक में दृष्टान्तों व कथाओं के माध्यम से मूलविषय को स्पष्ट किया है तथा दूसरी चूर्णि दशवैकालिक निर्युक्ति के आधार पर निर्मित है।

¹ जिनवाणी (जैनागम विशेषांक), वही, पृ. 480-481

इसी प्रकार उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि, जीतकल्पबृहच्चूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, बृहत्कल्प तथा दशाश्रुतरस्कन्ध चूर्णि आदि चूर्णियाँ हैं।

चूर्णिय साहित्य में ऐतिहासिक, सामाजिक एवं कलात्मक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। ये वे कृतियाँ हैं जो मानव समाजशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

टीका साहित्य

आगमों के स्पष्टीकरण हेतु टीका साहित्य की रचना की जाती है। टीकाओं की भाषा संस्कृत है, पर कथाओं में प्राकृत का प्रयोग दृष्टिगत होता है। व्याख्या साहित्य में टीका साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। इन टीकाओं के परिशीलन से सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर टीकाएँ निर्मित की हैं। आचार्य शीलांक ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर सार्थक टीकाएँ लिखी हैं।

शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर शिष्यहिता टीका का निर्माण किया है; द्रोणाचार्यसूरि ने ओधनिर्युक्ति व लघुभाष्य पर वृत्तियाँ लिखी हैं। आचार्य अभयदेवसूरि नवांगी टीकाकार थे, उन्होंने 9 अंगों पर टीकाएँ निर्मित की। वे नौ अंग-आगम निम्न हैं — स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र।

आचार्य मलयगिरी ने निम्न आगमों पर महत्वपूर्ण टीकाएँ प्रणीत की हैं — (1) भगवती सूत्र द्वितीयशतक वृत्ति (2) राजप्रश्नीयोपांगटीका, (3) जीवाभिगमोपांगटीका (4) प्रज्ञापनोपांगटीका (5) चन्द्रप्रज्ञप्ति उपांगटीका (6) सूर्यप्रज्ञप्ति उपांगटीका (7) नन्दी सूत्र वृत्ति (8) व्यवहारसूत्र वृत्ति (9) बृहत्कल्प पीठिकावृत्ति (10) आवश्यकवृत्ति (11) पिण्डनिर्युक्ति टीका (12) ज्योतिष्करण्डक टीका (13) धर्मसंग्रहणी वृत्ति (14) कर्मप्रकृतिवृत्ति (15) पंचसंग्रहवृत्ति (16) षडशीतिवृत्ति (17) सप्तिकावृत्ति (18) बृहत्संग्रहणीवृत्ति (19) बृहत्क्षेत्र समासवृत्ति (20) मलयागिरि शब्दानुशासन।

मल्लधारी हेमचन्द्र, नेमिचन्द्र सूरि ने आदि कई विशिष्ट विद्वानों ने भी टीकाएँ संरचित की हैं।

आधुनिक युग में जैननाचार्य घासीलाल जी म. ने 32 आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाओं की रचना की है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी आचारांग और भगवतीसूत्र पर संस्कृत में भाष्य लिखे हैं। आचार्य देवेन्द्रमुनिजी ने कल्पसूत्र पर हिन्दी भाषा में सटीक विवेचना निर्मित की है।

टब्बा साहित्य

जब टीकाओं की भाषा आगम रसिकों की समझ से परे हो गयी, तब जनहित की दृष्टि से आगमों के अर्थ को स्पष्ट करने वाली लोकभाषा में रचित संक्षिप्त टीकाएँ बनायी गयी, जिन्हें टब्बा कहा गया।

स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंह जी ने कई आगम-ग्रन्थों पर टब्बे निर्मित किये।

टब्बों के अनन्तर अनुवादयुग प्रारम्भ हुआ। आगम-साहित्य का अनुवाद मुख्य रूप से तीन भाषाओं में उपलब्ध होता है — 1. अंग्रेजी, 2. गुजराती और 3. हिन्दी।

अंग्रेजी अनुवाद — जर्मन विद्वान डा. हर्मन जैकोबी ने आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद किया। अभ्यंकर ने दशवैकालिक का अंग्रेजी अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग, विपाक और निरयावलिकासूत्र के अंग्रेजी अनुवाद हो चुके हैं।

गुजराती अनुवाद — आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान पण्डित बेचरदासजी दोशी ने भगवतीसूत्र, राजप्रश्नीय, ज्ञाताधर्मकथा और उपासकदशांगसूत्र के अनुवाद प्रकाशित किये हैं।

पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने स्थानांग, समवायांग का संयुक्त अनुवाद प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के विद्वान् मुनिवरों ने सुन्दर अनुवाद किये हैं — जैसे आगमप्रभावक पुण्यविजयजी मा. ने नन्दी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि आगमों के अनुवाद तथा प्रस्तावनाएँ लिखीं, जो महत्त्वपूर्ण हैं।

हिन्दी अनुवाद — आचार्य अमोलकऋषिजी ने 3 वर्ष के स्वल्प समय में 32 आगमों का हिन्दी अनुवाद कर महान श्रुत सेवा की।

पू. आचार्य आत्मारामजी म. ने आचारांग, अनुत्तरोपपातिक, उत्तराध्ययन, स्थानांग, अन्तकृतदशांग, अनुयोगद्वार प्रभृति आगमों पर हिन्दी में विस्तार से विवेचन लिखा है जो सरल, सुगम व आगम रसिकों को आगम के मर्म को समझाने में अतीव उपयोगी है।

पू. श्री हस्तीमल जी मा.सा. ने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्न-व्याकरण आदि आगमों पर हिन्दी अनुवाद किये।

प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमुनिजी ने आचारांग का, ज्ञानमुनिजी ने विपाकसूत्र का, उपा. कन्हैयालालजी मा. 'कमल' ने ठाणांग व समवायांग का, अनुवाद व विवेचन आधुनिक भाव, भाषा व शैली में किये हैं। मुनि कन्हैयालाल जी मा. ने आगम साहित्य को चार अनुयोगों में पृथक्करण करके महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

आ. देवेन्द्रमुनि जी कल्पसूत्र पर शोधप्रधान विवेचन लिखा। आ. महाप्रज्ञ (नथमलमुनि) ने कई आगमों का अनुवाद तथा समीक्षात्मक विवेचन लिखा।¹

शौरसेनी साहित्य —

भगवान महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधी को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था, जिससे गौतम गणधर द्वारा गुंफित द्वादशांगी की भाषा भी अर्धमागधी थी। तत्पश्चात् महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृत के ही भेद हैं, उन भाषाओं में जैनाचार्यों ने साहित्य की संरचना की।

श्वेताम्बर आगम साहित्य जहाँ अर्धमागधी प्राकृत में है वहीं दिगम्बर परंपरा के जैनागम शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार द्वादशांगी का विच्छेद हो गया, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष रहा है, जो वर्तमान में षट्खण्डागम के रूप में विद्यमान है।

षट्खण्डागम —

“षट्खण्डागम” आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की महत्त्वपूर्ण रचना है। छः खण्डों में विभक्त होने से यह ग्रन्थ षट्खण्डागम के नाम से जाना जाता है। इसके 6 खण्ड निम्नानुसार हैं —

¹ जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, आचार्य देवेन्द्रमुनि, पृ. 559-555

1. **जीवस्थान** – इस खण्ड में जीव के भेद-प्रभेदों का विशेषरूप से वर्णन दिया गया है।¹
2. **क्षुद्रकबन्ध** – “जे ते बन्धगा णाम तेसिमिमो णिद्वेसो” सूत्र से प्रारम्भ होने वाले इस खण्ड में बन्धक अधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान नामक चार अनुयोगों में बन्ध का निरूपण है। लघु होने के कारण इस भाग को “क्षुद्रक” कहा जाता है।
3. **बन्धस्वामित्वविचय** – बन्ध के स्वामी का विचार किया गया है कि कौन सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणा में सम्भव है।
4. **वेदनाखण्ड** – कर्मों की वेदना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा किस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य रूप होती है, इसका विवेचन किया गया है।
5. **वर्गणाखण्ड** – विपाक अथवा अनुभव कराने वाले पुद्गल स्कन्ध ही बन्धनीय होते हैं और वे वर्गणारूप हैं, इसका विवेचन है। तथा
6. **महाबन्ध** – इस खण्ड में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध का विस्तृत वर्णन है।

प्राणी यदि कर्मों के स्वरूप को समझ लेता है तब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ, वह सावधान रहता है, जिससे गाढ़ कर्मों का बन्ध नहीं हो पाता अपितु कर्मों को विनष्ट करने में तत्पर रहता है तथा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यही षट्खण्डागम का मूलभूत प्रतिपाद्य विषय है।

कषायपाहुड़

कषायपाहुड़ का उद्गम दृष्टिवाद नामक द्वादशम अंग से है। ज्ञानप्रवाद नामक पांचवे पूर्व की दसवीं वस्तु के ‘पेज्जदोष’ नामक तृतीय प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई। इसके रचयिता आचार्य गुणधर हैं।²

अष्टविध कर्मों में सर्व प्रधान मोहनीयकर्म है, उसके दो भेद हैं – दर्शनमोह और चारित्र मोह। चारित्रमोह के भेद कषाय, नोकषाय आदि हैं। इस ग्रन्थ में मोहनीय कर्म का

¹ (क) डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृतभाषा व साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वही, पृ. 202

(ख) शास्त्री, कैलाशचन्द्र जी, जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 59-60

² मेहता, मोहनलाल, जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, वही, पृ. 89

ही विवेचन है, मोहनीय कर्म की सत्ता बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण आदि का विशद वर्णन है।

इस लोक में सूक्ष्मतम कर्मपुद्गल परमाणु आपूरित हैं, वे इस जीव की कायिक, वाचिक या मानसिक प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर कषाय से आत्मा से बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म से कषाय और कषाय से कर्मबन्ध की यह परम्परा अनादि है।

इस ग्रन्थ के षोडश अधिकार हैं, 8 अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म का विभिन्न दृष्टियों से विवेचन और अन्तिम अष्ट अधिकारों में आत्म परिणामों के शिथिलीकरण मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का निरूपण भी है।

कुन्दकुन्दाचार्य का साहित्य —

जैन आगम-साहित्य को चार भागों में बांटा गया है — द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग। जिसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्वों का कथन हो, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैसे दिगम्बर परम्परा में चरणानुयोग विषयक साहित्य को रचने का आद्य श्रेय आचार्य गुणधर तथा भूतबलि-पुष्पदन्त को प्राप्त है, वैसे ही द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य की रचना करने का श्रेय कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त है।

दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् उनका नाम विशेष आदर से लिया जाता है। कौण्डकुन्दपुर में जन्मे कुन्दकुन्द का नाम पद्मनन्दि था, उन्होंने संयम लेकर विशिष्ट साधना की, तत्पश्चात् श्रुतदेवता की आराधना कर महत्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की। उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है —

प्रवचनसार —

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन अधिकार हैं जिनमें ज्ञानतत्व, ज्ञेयतत्व और चरणतत्व का वर्णन है।

ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय—अतीन्द्रियसुख, शुभ—अशुभ और शुद्धोपयोग की महत्ता तथा इन्द्रिय जन्य सुख की हेयता को विशेष रूप से बतलाते हुए मोह क्षय करने की हृदयस्पर्शिनी प्रक्रिया बतलाई है।¹

ज्ञेयाधिकार में द्रव्य—गुण—पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, चेतना के प्रकार का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए जीव का लक्षण, कर्म और जीव का सम्बन्ध बताया है।

चरणाधिकार में श्रामण्य के चिन्ह, श्रमणों के 28 गुण व अन्तरंग—बहिरंग छेद, मुनि का आचरण आदि अनेक विषयों को युक्तिपूर्वक बतलाया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ आत्मद्रव्य, अन्यद्रव्यों से उसका भेद एवं चरणानुयोग का यथार्थ स्वरूप समझने में साधन है।

समयसार —

“समयसार” आचार्य कुन्दकुन्द का सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों का अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह “समयसार” है। इसमें भेद—विज्ञान का निरूपण हुआ है।² समय दो प्रकार का है — स्वसमय और परसमय। जो जीव रत्नत्रय में स्थित है वह स्वसमय और जो पौद्गलिक कर्मजन्य भावों में स्थित है वह परसमय है। यह ग्रन्थ 10 अधिकारों में विभाजित है —

प्रथम जीवाधिकार में शरीर से भिन्न आत्मा की स्वतंत्र स्थिति निरूपित है -- निश्चय नय से आत्मा ज्ञान—दर्शनमय अरूपी है, यह सब संसर्ग पुद्गल जन्य है।

द्वितीय अजीवाधिकार में अजीव का स्वरूप व जीव—अजीव का वर्गीकरण किया है। आगामी अधिकारों में आश्रव—बन्ध, संवर—निर्जरा और मोक्ष का क्रमशः विवेचन किया है। दसवाँ अधिकार सबका निचोड़ रूप है, इसमें जीव को ज्ञानयुक्त मानते हुए लिंग और वेश को सर्वोपरि नहीं मानकर कर्मों का आवरण हटने पर वह शुद्ध चैतन्ययुक्त बन जाता है, यह प्रतिपादित है।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर किया है।

¹ शास्त्री, कैलाशचन्द्र जी, जैनसाहित्य का इतिहास, पृ. 220-221

² जैनागम साहित्य मनन और मीमांसा, आ. देवेन्द्रमुनि, पृ. 581

पंचास्तिकाय —

प्रस्तुत ग्रन्थ में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच अस्तिकायों का निरूपण होने से इसका नाम 'पंचास्तिकाय' है।¹

यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है — प्रथम अधिकार में द्रव्य—गुण—पर्यायों पर चिन्तन है। द्वितीय अधिकार में सप्त पदार्थों का वर्णन कर मोक्ष मार्ग में जाने के लिए ज्ञान—दर्शन चारित्र्य रूप साधनों को प्रकाश मान किया है तथा व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से मोक्ष के सम्बन्ध में विचारणा की गई है।

इस तरह यह कृति द्रव्यों के स्वरूप को समझने के लिए अतिशय उपयोगी है। इस ग्रन्थ पर अमृतचन्द्र, जयषेण, ज्ञानचन्द्र, ब्रह्मदेव और मल्लिषेण जैसे मनीषि विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं कि बहुना, इससे भी ग्रन्थ की महत्ता स्वतः ही सुस्पष्ट है।

नियमसार —

जो कार्य नियमतः किया जाना चाहिए, वह नियम कहलाता है। वह नियम ज्ञान—दर्शन और चारित्र्य स्वरूप है। इसमें 'परमात्म' तत्व का अवलम्बन लेने का उपदेश दिया गया है।² एतदर्थ इसका नामकरण 'नियमसार' है।

इस ग्रन्थ में सम्यकज्ञान और सम्यकदर्शन के विषयभूत आप्त, आगम और तत्व पर चिन्तन करते हुए जीवादि छह द्रव्यों का वर्णन किया गया है। प्रसंगानुसार पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, रूप व्यवहार चारित्र्य का भी निरूपण कर परमेष्ठी पदों पर चिन्तन किया है। आत्मशोधन की दृष्टि से प्रतिक्रमण—प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त आदि की विचारणा करते हुए शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में सविस्तृत विवेचन है।

इस ग्रन्थ पर पद्मप्रभ मल्लधारी ने टीका की संरचना की है।

अष्टपाहुड

अष्टपाहुड कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। जैसा कि इसके नाम से परिस्पष्ट है, यह ग्रंथ निम्न आठ प्राभृती में निबद्ध है।

¹ जैनागम साहित्य मनन और मीमांसा, वही, पृ. 583

² जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4, पृ. 154

1. **दर्शनपाहुड़** – इसमें धर्म के मूलगूत सम्यग्दर्शन का विवेचन किया है। सम्यग्दर्शन से परिभ्रष्ट व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त नहीं हो पाता है। इस ग्रंथानुसार सम्यक्त्व-विषयसुख का विरेचक और समस्त दुःखों का नाशक है। इसमें 36 गाथाएँ हैं।
2. **चारित्तपाहुड़** – इसमें चारित्र एवं उसके प्रकारों के सम्बन्ध में प्ररूपणा की है। सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं – सम्यक्त्वाचरण चारित्र तथा संयमाचरण चारित्र। इस पाहुड़ में दो प्रकार के चारित्रों के भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।
3. **सुत्तपाहुड़** – जैसे सूत्र अर्थात् धागा, धागे से युक्त सुई गुम नहीं होती, वैसे ही श्रुत का ज्ञाता संसार में भटकता नहीं है। इसमें श्रुतज्ञान के महत्व एवं सूत्रों की उपादेयता का निरूपण है तथा द्वादशांग एवं अंगबाह्य रूप श्रुत का वर्णन है।
4. **बोधपाहुड़** – इसमें आयतन-चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या आदि का विवेचन किया गया है।
5. **भावपाहुड़** – भाव अर्थात् परिणाम की विशुद्धि। गुण और दोष दोनों का मूल स्रोत भाव है। बाह्य परिग्रह के परित्याग का लक्ष्य भी भावशुद्धि ही है। चित्त शुद्धि के अभाव तप भी सिद्धि में प्रदान नहीं करता है। अतः इस प्राभृत में भाव की प्रधानता पर बल दिया गया है।
6. **मोक्षपाहुड़** – इस प्राभृत में आत्मतत्त्व विवेचन, बन्धकारण एवं बन्धनाश का निरूपण, आत्म-ज्ञान की विधि, रत्नत्रय का स्वरूप एवं परमपद की प्राप्ति का वर्णन है। इसमें आत्मा के (बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा) तीन प्रकारों का निरूपण है।
7. **लिंगपाहुड़** – लिंग पाहुड़ में श्रमणलिंग रूप मुनिधर्म का निरूपण किया गया है, भावलिंग रूप साधुता से रहित द्रव्यलिंग व्यर्थ है, इस प्रकार इसमें लिंग को द्रव्य और भावरूप से विवेचित किया है।
8. **शीलपाहुड़** – इस प्राभृत में शील का महत्व प्रतिपादित है। शील के द्वारा ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का निरूपण है। जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप को शील के अन्तर्गत ही परिगणित किया है।

शिवाय की भगवती आराधना —

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवाय हैं। इसे आराहणा अथवा 'मूलाराहणा' भी कहते हैं। यह आठ परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का निरूपण है। यह ग्रन्थ मुख्यतया मुनिधर्म का प्रतिपादन करता है।¹

प्रस्तुत ग्रन्थ में मरण के विविध भेदों का वर्णन है, जिसमें पण्डितमरण को श्रेष्ठ बताया गया है। भावनाधिकार में तपोभावना, श्रुतभावना, सत्य व धृतिबलभावना का निरूपण है। आर्यिकाओं के संघ में रहने के अनेक नियमों का प्रतिपादन किया है। मार्गणा अधिकार के आचार-जीतकल्प का उल्लेख है। कहा गया है कि बाह्य-आचरण के साथ-साथ जो अन्तरंग आचरण को विशुद्ध नहीं रखता है वह बगुले के समान है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में पण्डितमरण की प्राप्ति के लिए की जाने वाली आराधना का सुन्दर निरूपण है।

'अपराजिताचार्य' ने इस ग्रन्थ पर विजयोदया टीका की रचना की है तथा पं. आशाधर ने "मूलाराधनादर्पण" नामक टीका की रचना की है।

वट्टकेर का मूलाचार —

मूलाचार ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं। वट्टकेर जिसका शाब्दिक अर्थ वह व्यक्ति जिसकी वाणी समाज को सदाचार एवं सन्मार्ग में प्रवृत्त कर देती है।²

मूलाचार में मुनियों के आचार का निरूपण है। इसकी अनेक गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भक्तपइण्णा और मरणसमाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में मिलती हैं। इस ग्रन्थ में 12 अधिकार और 1252 गाथाएँ हैं।

इसमें श्रमणों की आचार संहिता का सुव्यवस्थित, सुविस्तृत एवं सर्वांगीण विवेचन किया गया है, जिससे मुनि, दीक्षा-धारण के मूल उद्देश्य को प्राप्त करें। यह ग्रन्थ आगमिक विषयों को समझने और विशेषतः मुनियों के आचार को जानने के लिए अतिशय उपयोगी है।

¹ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 4, वही, पृ. 282

² प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वही, पृ. 232

आचार्य नेमिचन्द्र का साहित्य –

आचार्य नेमिचन्द्र अत्यधिक प्रभावशाली और सिद्धान्तशास्त्र के विशिष्ट मर्मज्ञ विद्वान् थे। इसी विशेषता के कारण उन्हें सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि से अलंकृत किया था। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

1. **गोम्मटसार** – यह दो भागों में विभक्त है – (1) जीवकाण्ड, तथा (2) कर्मकाण्ड। जीव काण्ड में जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है यथा – प्राण, पर्याप्ति, संज्ञा, लेश्या-गुणस्थान आदि तथा कर्मकाण्ड में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।
2. **त्रिलोकसार** – इस ग्रन्थ में करणानुयोग का वर्णन है। इसमें सामान्य लोक, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और नर-तिर्यकलोक का वर्णन है। देव-मनुष्य-तिर्यच व अधोलोक में रहने के स्थान, उनकी आयु तथा परिवार का विस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ में त्रिलोक की रचना सम्बन्धी ज्ञातव्य विषय है।
3. **लब्धिसार** – आत्मशुद्धि के लिए पंचलब्धि आवश्यक हैं, उनमें से करण-लब्धि की प्रधानता है, इसके प्राप्त होने पर जीव को मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसके तीन अधिकार हैं – (1) दर्शनलब्धि (2) चरित्रलब्धि (3) क्षायिकलब्धि। इन तीनों अधिकारों में आत्मा की शुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि के सम्बन्ध में चिन्तन किया है।
4. **क्षपणासार** – इस ग्रन्थ में कर्मों को क्षय करने की विधि का निरूपण किया है।
5. **द्रव्यसंग्रह** – यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। समस्त विषय को – जीवाधिकार, सप्तपदार्थनिरूपणाधिकार, मोक्षमार्गाधिकार इन तीन अधिकारों में विभक्त कर दिया गया है। द्रव्य, अस्तिकायों और तत्त्वों को संक्षेप में समझने के लिए यह ग्रन्थ विशेषतः उपयोगी है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा –

इसके रचयिता स्वामी कार्तिकेय हैं। इस ग्रन्थ में 'अधुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव-संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। प्रसंगवश सात तत्त्वों का दान के भेद व विधियों का वर्णन है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है, बार-बार वैराग्यमूलक चिन्तन करना। सांसारिक भावों से

विरति के लिए 12 अंगुप्रेक्षाओं का आश्रय लिया जाना चाहिये। आचार का स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया का निरूपण भी किया गया है।

शौरसेनी आगमों का व्याख्यासाहित्य —

शौरसेनी आगमग्रन्थों पर भी महत्वपूर्ण टीकाएँ संस्कृत-मिश्रित प्राकृत भाषा में निर्मित हुई हैं। विषयानुक्रम और विस्तार की दृष्टि से ये टीकाएँ स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में अपना स्थान रखती हैं।

धवलाटीका —

षट्खण्डागम पर निर्मित यह सबसे महत्वपूर्ण टीका है। टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन हैं।¹ यह टीका दो भागों में विभक्त है। (1) वीरसेनाचार्य द्वारा निर्मित प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाग, तथा (2) टीका में उद्धृत प्राचीन पद्यमय उद्धरण। यह टीका 72 हजार श्लोक परिमाण से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताएँ निम्नानुसार हैं—

1. षट्खण्डागम के सूत्रों का मर्मोद्घाटन करने के साथ कर्म सिद्धान्त का विस्तार से निरूपण किया है।
2. दर्शनशास्त्र की अनेक मौलिक मान्यताओं का समावेश हुआ है।
3. लोक के स्वरूप विवेचन में नवीन दृष्टिकोण की स्थापना की गई है।
4. अन्तर्मुहूर्त के सम्बन्ध में नवीन मान्यता दी गई है।
5. सम्यक्त्व के स्वरूप का विवेचन है। सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामों की वृद्धिनात विशुद्धि और उसके द्वारा शुभ प्रकृतियों का क्रमशः बन्धविच्छेद, सत्त्वविच्छेद, उदयविच्छेद का विवेचन है।
6. आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी धर्म-कथाओं के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है।
7. गुणस्थान का विवेचन किया गया है।

विषयों की बहुलता एवं काव्यशास्त्रीय तर्कप्रधानशैली के कारण यह ग्रन्थराज विश्वकोष के समान अद्वितीय है।

¹ प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वही, पृ. 216-217

जय-धवलाटीका —

आचार्य वीरसेन ने कषायपाहुड़ पर जयधवला टीका लिखना प्रारम्भ किया था, 20 हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखने के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् इस कार्य को उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया, उन्होंने 40 हजार श्लोकों की रचना की। इस प्रकार इस टीका का विस्तार 60 हजार श्लोक प्रमाण है।

इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नानुसार हैं —

1. राग-द्वेष का विस्तृत विवेचन इस दृष्टि से किया है जिससे व्यक्ति दूर रहे।
2. कर्मसिद्धान्त का गहन एवं सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है।
3. सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की स्थितियों का निरूपण है।
4. जीव की संख्या का विभिन्न प्ररूपणाओं द्वारा विवेचन किया गया है।¹

विशेषावश्यकभाष्य का सामान्य परिचय —

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण रचित विशेषावश्यक भाष्य एक अद्वितीय एवं अप्रतिम ग्रन्थ है। आगम व्याख्या साहित्य के सम्बन्ध में निर्युक्तियां, चुर्णियाँ तथा टीकाएँ निर्मित हुई हैं, अनेक मनिषी आचार्यों ने व्याख्या साहित्य की सर्जना की है, परन्तु जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की यह सारस्वत संरचना जैन परम्परा के आचार-विचार से सम्बन्धित बहुविध विषयों को संस्पर्श करती है तथा आगमिक दृष्टिकोण से तर्क पुरस्कार समाधान भी प्रस्तुत कर देती है। यह संभावित दर्शनान्तरों के मन्तव्यों की समालोचना करने वाला एक बृहदाकार ग्रन्थ है।

आगमिक व्याख्या साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का स्थान व महत्त्व

समग्र जैन आगम साहित्य में 'आवश्यक सूत्र' एक महत्त्वपूर्ण आगम है। यद्यपि प्राचीन पद्धति के अनुसार आवश्यक सूत्र को अंगबाह्य उत्कालिक सूत्रों में गृहित किया है किन्तु इसमें श्रमणाचार और श्रावकाचार की उन आवश्यक क्रियाओं का निरूपण किया गया है जिनकी उन्हें प्रतिदिन आवश्यकता होती है। इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम 'आवश्यकसूत्र' रखा गया।

¹ प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, नैमिचन्द्र शास्त्री, वही, पृ. 218

जैन आगमों में आवश्यकसूत्र की सर्वप्रथम प्राकृत गद्य व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्र के रूप में प्राप्त होती है। वह आवश्यकसूत्र की व्याख्या का ही एक रूप है। आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने आगमों पर जो निर्युक्तियां निर्मित की हैं, उनमें आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति का विशिष्ट स्थान है।

आवश्यकसूत्र के छः अध्ययन हैं, उनमें प्रथम अध्ययन 'सामायिक' है। आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी के मतानुसार "सामायिक" समग्र श्रुतज्ञान का मूल है और समग्र श्रुतज्ञान का सार चारित्र में और चारित्र का सार मोक्ष में निहित है।¹

सामायिक में समता की प्रधानता है और समता आत्मस्थिरता है और आत्म-भाव में स्थिर रहना ही चारित्र है। आत्म-स्थिरता रूप चारित्र सिद्धों में भी होता है, किन्तु सिद्धों में क्रियात्मकरूप-चारित्र नहीं है, वहाँ निश्चय चारित्र है।

आवश्यक का यह प्रथम भेद यथार्थ अर्थ में क्षीर-समुद्र है, जो इसमें स्नान कर लेता है, वह श्रावक भी श्रमण के सदृश्य हो जाता है, इसके समक्ष विराट विश्व की सम्पदा भी हेय है, तुच्छ है और नगण्य है।

भगवान महावीर ने केवलज्ञान होने पर सर्वप्रथम अर्थतः उपदेश सामायिक का ही दिया, गणधरों ने भी अपनी शंकाओं के निरसन के पश्चात् सर्वप्रथम सामायिक चारित्र को आत्मसात किया। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र में सामायिक को प्राथमिकता दी गई है। सामायिक की इस अपूर्व महत्ता और अनुपम मूल्यवत्ता को सलक्ष्य में रखकर जैन परम्परा के मनिषी आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आवश्यक सूत्र में प्रतिपादित सामायिक अध्ययन और उसकी निर्युक्ति को लक्षित कर विशेष्यावश्यकभाष्य नामक एक अलौकिक बृहदाकार ग्रन्थ शिरोमणि की प्राकृत भाषा में पद्यात्मक शैली में संरचना की।

आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेष्यावश्यकभाष्य की संरचना जैनागमों के मन्तव्यों को अकाट्य तर्क की कसौटी पर कसा है और इसमें तत्कालिन तार्किकों की सप्राण जिज्ञासा को प्रशान्त किया है। जिस प्रकार वेद वाक्यों के तात्पर्य के अनुसन्धान के लिए मीमांसा-दर्शन की रचना हुई, उसी प्रकार जैनागमों के अभिप्राय को प्रकट करने के लिए जैन-मीमांसा के रूप में आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेष्यावश्यक भाष्य की अमर रचना की।

¹ आवश्यकनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामी, गाथा 93

यथार्थ अर्थ में यह वह ग्रन्थ है जो जैनज्ञानमहोदाधि के रूप में रूपायित है इस कथन में अणु मात्र भी भावुकता व अतिशयोक्ति नहीं है। जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने में इस ग्रन्थ को जो एकमात्र श्रेय प्राप्त है, वह इस ग्रन्थ के बहुविध प्रकरण इस स्तर पर हैं, जो स्वतंत्र ग्रन्थ के समान हैं, जैसे — पांच ज्ञान चर्चा, गणधरवाद, निन्दववाद, नयाधिकार, नमस्कारप्रकरण, सामायिक विवेचन, तथा अन्य कई प्रकरण हैं।

इस प्रकार जैन आगमिक व्याख्या-साहित्य में विशेषावश्यक भाष्य का न केवल महत्वपूर्ण अपितु गौरवपूर्ण स्थान है।

ग्रंथकर्ता का परिचय —

जैन परम्परा के इतिहास में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का अपना गौरवपूर्ण स्थान है। यह स्थान इसलिए है कि उन्होंने जैन साहित्य को समृद्ध करने में मूल्यवान, प्राणवान और अर्थवान योगदान दिया है। भारतवर्ष के विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेताओं में जब-जब भी मौखिक और संरचना के क्षेत्र में दर्शन जैसे विषय पर वाक्युद्ध अथवा रचनायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तब उन सभी के समक्ष सर्वप्रथम आचार्य जिनभद्र जैन प्रतिमल्ल के स्थान पर प्रतिष्ठित हुए। आपश्री की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि उन्होंने दर्शन के सामान्य स्तरीय तत्त्वों के विषयों में ही तर्कवाद का आधार नहीं लिया, किन्तु जैनदर्शन की प्रमाण-प्रमेय सम्बन्धी सामान्य-असामान्य सर्व तथ्यों के विषय में तर्कवाद का प्रचुर प्रयोग कर दार्शनिक क्षितिज पर जैनदर्शन को सर्वतंत्र स्वतंत्र रूप में ही नहीं, प्रत्युत स्वतंत्र समन्वित रूप में सहस्रकिरण दिनकर के रूप में रूपायित किया है। उनकी तर्कशैली में निर्मित युक्तियाँ इतनी अधिक व्यवस्थित हैं कि अष्टम शताब्दीकालीन युगप्रधान महान दार्शनिक हरिभद्र तथा द्वादशम शताब्दी में समुत्पन्न आगमों के सर्वथा समर्थ टीकाकार मलयगिरी भी ज्ञान चर्चा में उन युक्तियों को आधारभूत के रूप में स्वीकार करते हैं। सप्तम शताब्दी में आचार्य जिनभद्रगणि ने सम्पूर्ण रूपेण प्रतिमल्ल का कार्य ऐतिहासिक रूप से सम्पन्न किया है जिससे जैनाचार्यों की मणिमाला गौरवान्वित हो उठी है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख भी विस्मयजनक ही नहीं, अपितु खेद-खिन्न रूप है कि उस युग के सर्वमान्य महतो-महीयान आचार्य के विषय में जीवन से संदर्भित आवश्यक सत्य तथ्य भी संप्रति उपलब्ध नहीं है। वे कब हुए? और किनके शिष्य थे? इस

सम्बन्ध में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं। उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा उनके आधार पर लिखे गये विवरणों को देखकर ही बाद के आचार्यों ने उचित महत्व देकर आचार्य परम्परा में सम्मिलित करने का प्रयास किया।

आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति शक संवत् 531 में लिखी गई तथा वल्लभी के एक जैन मन्दिर में समर्पित की गई। प्रति से प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध वल्लभी से होना चाहिए। अकोटा गांव से प्राप्त हुई दो प्रतिमाओं के आधार पर फलित होता है कि उनके कुल का नाम निवृत्तिकुल था, और उन्हें वाचनाचार्य कहा जाता था। नवांगकृति संशोधक द्रोणाचार्य, सूराचार्य, गगर्षि, दुर्गर्षि, उपभितिभवप्रपंचकथा रचनाकार सिद्धार्थि जैसे प्रभावशाली आचार्य इसी निवृत्ति कुल से सम्बद्ध रहे, निवृत्ति कुल का सम्बन्ध वज्रसेन के शिष्य निवृत्ति से रहा है। निवृत्तिकुल कैसे प्रसिद्ध हुआ इसके लिए जिस कथानक का आधार लिया जाता है वह निम्नानुसार है —

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि क्षमाश्रमण और वाचनाचार्य इन दानों में अर्थ की दृष्टि से भिन्नता नहीं है। वाचनाचार्य के स्थान पर जिनभद्र के लिए क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है।

भगवान महावीर के 17वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए उन्होंने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और ईश्वरी के चार पुत्रों को दीक्षा दी थी, उनके नाम थे — नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधन। आगे जाकर इनके नाम से भिन्न-भिन्न चार परम्पराएँ प्रचलित हुईं।

जैसलमेर भण्डार से पुरातत्त्ववेत्ता मुनि श्री जिनविजय जी को विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति प्राप्त हुई, उस प्रति के अन्त में दो गाथाएँ हैं, उनमें लिखा है कि भाष्य का रचनाकाल वि.सं. 666 है। विशेषावश्यक भाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है, इस प्रकार उनका उत्तरकाल वि.सं. 650—666 के मध्यवर्ती होना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र की निम्न 9 रचनाएँ प्राप्त होती हैं —

1. बृहत्संग्रहणी,
2. बृहत्क्षेत्रसमास
3. विशेषणवती

4. जीतकल्प,
5. जीतकल्पाभाष्य
6. अनुयोगद्वार चूर्णि, तथा
7. ध्यानशतक
8. विशेषावश्यक भाष्य,
9. विशेषावश्यक भाष्य – स्वोपज्ञवृत्ति

इन सब तथ्यों के अतिरिक्त उनके जीवन से सम्बन्धित और कोई विशेष प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं, तथापि उनके गुणों का वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है। जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेन गणि भी अपनी चूर्णि के प्रारम्भ में आ. जिनभद्र के गुणों का वर्णन करते हैं तथा आचार्य हेमचन्द्र ने 'उपजिनभद्र क्षमाश्रमण व्याख्यातारः' कहकर जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण के प्रति विशेष आदर भाव प्रकट किया है एवं व्याख्याकार आचार्यों में उनको उत्कृष्ट बताया है।

विशेषावश्यक भाष्य की विषय वस्तु

जिनभद्रगणि ने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रन्थों की रचना की, उन ग्रन्थों में विशेषावश्यकभाष्य सर्वाधिक गरिमापूर्ण संरचना है। यह वह रचना है जिसमें विषयवस्तु सविस्तृत वर्णित है, यह अतिस्पष्ट है कि जिन विषयों का निरूपण जैन परम्परा से संदर्भित अन्य ग्रन्थों में नहीं है, वह इसमें समग्रत है।¹

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य निर्मित हुए हैं – (1) मूल भाष्य (2) भाष्य और (3) विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य संक्षिप्त हैं किन्तु यह विशेषावश्यकभाष्य पूर्ववर्ती दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्तुत भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर हैं। इसमें 3603 गाथाएँ हैं। इसमें विषयवस्तु इस रूप से सविस्तृत प्रतिपादित है –

1-3 ग्रन्थकर्ता ने सर्वप्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है, उसके अनन्तर आवश्यक के फल के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए ज्ञान और क्रिया के संदर्भ में विवेचना की है। श्रेष्ठ कार्य में विघ्न उपस्थित न हो इस के दृष्टि से मंगल विधान किया है। मंगलशब्द पर निक्षेप दृष्टि से गहन चिन्तन हुआ है। ज्ञान भावमंगल है, अतः पांच

¹ जैनागम साहित्य मन्त्र और मीमांसा, वही, पृ. 462-468

ज्ञानों का विश्लेषण किया है कि पांच ज्ञानों में मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं और अवधि, मनःपर्यव और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

4. पंचज्ञान की चर्चा करने के पश्चात् चतुर्थद्वार समुदयार्थ द्वार प्रारम्भ किया है — मति—अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान परबोध में समर्थ है अतः उसका अनुयोग अर्थात् श्रुतज्ञान का सविस्तृत रूप से विवेचन किया है। नामनिक्षेप की दृष्टि से 'आवश्यक' के सम्बन्ध में चिन्तन किया है।

5-6 पंचम द्वार में सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की विशेष व्याख्या है, जिस प्रकार 'आकाश' सब द्रव्यों का आधार है, उसी प्रकार सामायिक सर्व गुणों का आधार है। किसी महानगर में प्रवेश करने के लिए अनेक द्वार होते हैं, वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार द्वार हैं। षष्ठम द्वार में भेद—प्रभेद प्रतिपादित हुए हैं।

इसके पश्चात् उपोद्घात है — तीर्थकरों व गणधरों को नमस्कार करके तीर्थ की परिभाषा प्रस्तुत की है। (निर्युक्ति की परिभाषा कर — सूत्र के निश्चित अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है)। सामायिक का महत्व व लाभ बताते हुए कहा है कि सामायिक के द्वारा आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों की स्थिति न्यून हो जाती है।

7-8-9 कषाय के उपशम और क्षय की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए भाष्यकर ने उपमश्रेणी और क्षपकश्रेणी का स्वरूप वर्णन किया है।

सामायिक चारित्र का उद्देश्य, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल पुरुष, कारण प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम् कतिविधि, कस्य, कुत्र केषु, कथम, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविराहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन और निरुक्ति इन 26 द्वारों से वर्णन किया है।

10. दसवें निर्गम द्वार में सामायिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य ने भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों की चर्चा की है।

ग्यारह गणधर, जिन्होंने महाप्रभु महावीर से अपनी—अपनी शंकाओं का निरसन किया और एक ही दिन में उनके श्रीचरणों में अपने शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये।

उन एकादश विद्वानों के नाम तथा शंकाओं की विषय—वस्तु इस प्रकार है —

- (1) इन्द्रभूति : आत्मा का अस्तित्व
- (2) अग्निभूति : कर्म की सत्ता पर शंका
- (3) वायुभूति : आत्म-शरीर का सम्बन्ध
- (4) व्यक्तजी : शून्यवाद व भूतवाद निरसन
- (5) सुधर्माजी : इहलोक और परलोक की समानता-विचित्रता
- (6) मण्डिकजी : बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व
- (7) मौर्यपुत्रजी : देवों का अस्तित्व
- (8) अंकपिता : नारकों का अस्तित्व
- (9) अचलभ्राताजी : पुण्य-पाप का स्वतंत्र अस्तित्व
- (10) मैतार्यजी : परलोक का अस्तित्व है या नहीं?
- (11) प्रभासजी : निर्वाण की सिद्धि पर शंका?

11. ग्यारहवें समवतार द्वार में आचार्यजी ने चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के पृथक्करण की चर्चा की है, यह सब वर्गीकरण आचार्य आर्यरक्षित ने किया, तत्पश्चात उन्होंने पुष्पमित्र को आचार्य का महत्वपूर्ण पद प्रदान किया, जिसे गोष्ठामाहिल ने अपना अपमान समझा और संघ से पृथक् होकर नई मान्यताओं का प्रचार प्रारम्भ किया। यही गोष्ठामाहिल सातवें निह्नव के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढभूति, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल इन निह्नवों का वर्णन किया है।
12. बाहरवें द्वार का नाम अनुमत है - निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से कौनसी सामायिक मोक्षमार्ग का कारण है? इसका विचार करना, अनुमत है।
13. किं द्वार में सामायिक क्या है? जीव है अथवा अजीव? विस्तृत रूप से सामायिक द्रव्य अथवा गुण है, इस पर विवेचन किया है।
14. चौदहवें कतिविध द्वार में सामायिक तीन प्रकार की बतायी है - सम्यक्त्व-सामायिक, श्रुत-सामायिक और चारित्र-सामायिक।
15. कस्य द्वार में सामायिक कौन कर सकता है - जो आत्मा, संयम, नियम तथा तप में स्थित है, वही कर सकता है। इसका विवरण है।

- 16-17 कुत्र द्वार में सामायिक के विभिन्न द्वारों पर चर्चा की है तथा केषु द्वार में सामायिक किन द्रव्यों और पर्यायों में होती है, इस पर विशेष स्पष्टीकरण किया है।
- 18-19 कथं द्वार में सामायिक का काल कितना है, इस पर चिन्तन किया है तथा सम्यक्त्व और श्रुत की सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति 66 सागरोपम है, जबकि देशविरति और सर्वविरति की पूर्वकोटि देशोन है। इसी तरह 'कति' द्वार भी है।
20. सान्तरद्वार में एक बार सामायिक से च्युत होने पर पुनः कब प्राप्त होती है, उस अन्तर को बताया है।
- 21-23 अविरहित द्वार में अविरह काल का निरूपण है। भव द्वार में कौनसे सामायिकधारी कितने भव करते हैं, यह बतलाया है। प्रथम बार अथवा छोड़े हुए का पुनर्ग्रहण कितनी बार होता है, यह आकर्ष द्वार में वर्णित है। सम्यक्त्व सामायिकयुक्त प्राणी सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है, इस तरह स्पर्शनद्वार में विविध प्रकार से स्पर्शना का वर्णन है।
24. अन्तिम द्वार का नाम निरूक्ति है, जिसमें प्रत्येक सामायिक के प्रकारों पर चिन्तन किया है जिसमें सिद्ध भगवान का सुख व सिद्धिगमन क्रिया का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात 'करेमिभन्ते' आदि सामायिक के मूल पदों पर विचार किया गया है।¹

प्रस्तुत ग्रन्थ का सामग्री पटल जहाँ व्यापक है, विराट है, वहीं जैनविद्या से संदर्भित सक्षम पहलुओं का भी अन्तर्भाव इस रूप में रूपायित है कि जिससे ग्रन्थ का मनिषी आचार्य की तार्किक क्षमता, बौद्धिक कुशाग्रता, प्रत्युग्र प्रतिभा की अपरिमित तेजस्विता प्रतिपादन-प्रवणता पर अभिव्यक्ति की पारंगतता पदे-पदे परिदृश्यमान है, परिलक्षित है। एतदर्थ यह वह ग्रन्थ है जिससे हम बहुविध विवक्षाओं के आधार पर शीर्षरथ ग्रन्थ किं वा ग्रन्थ - गौरव के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए धन्यता की अनुभूति करते हैं।

¹ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, डा. मोहनलाल मेहता, वही, पृ. 15-17

विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद व निहनववाद का महत्व एवं स्थान

‘गणधर’ शब्द का अर्थ है – लोकोत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण को धारण करने वाले तथा तीर्थंकर के प्रवचन को सर्वप्रथम सूत्र रूप में संकलित करने वाले महापुरुष।¹ तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थंकर) द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान का द्वादशांगी रूप में संग्रथन करते हैं, उनके धर्म-संघ के विभिन्न गणों की देख-रेख करते हैं, अपने-अपने गण के श्रमणों को आगम-वाचना देते हैं, वे गणधर कहे जाते हैं।

अनुयोग द्वार सूत्र में भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम नामक प्रमाण-भेद में बताया गया है कि गणधरों के सूत्र आत्मगम्य होते हैं। दूसरे शब्दों में वे सूत्रों के कर्ता हैं।

गणधरवाद – इन्द्रभूति गौतम आदि उन 11 वैदिक विद्वानों के संशय समाधानों का वस्तुनिष्ठ संकलन है, जो सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर के पट्ट शिष्य बनने अर्थात् गणधरपद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व प्रचण्ड वादी के रूप में अपने प्रकाण्ड पांडित्य प्रदर्शन एवं भगवान की सर्वज्ञता का परीक्षण किं वा पराजित करने की असीम आकांक्षा से उनके समवशरण में उपस्थित हुए थे।²

ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त 24 तीर्थंकर हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में गणधर हुए पर उनकी संख्या अलग-अलग है। किन्तु तीर्थंकर भगवान महावीर के 9 गण और ग्यारह गणधर थे जिनका नामोल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

गणधरवाद का महत्व

भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधर थे। ये सभी अपने समय के वैदिक परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान थे तथा अपने अपूर्व ज्ञान के अहं से मण्डित थे अर्थात् ज्ञान के अहं से ग्रथित थे। ये सभी किसी न किसी एक विषय के संशय से ग्रसित थे, शंकाग्रस्त विषयों का वे कोई समाधान नहीं खोज पाये थे।

जिस समय ये ग्यारहों विद्वान अपनी-अपनी विपुल शिष्य-सम्पदा के साथ मध्यमपावा में आर्य सोमिल द्वारा आयोजित एक विराट यज्ञ के लिए अन्य विद्वानों के साथ उपस्थित थे, उसी समय भगवान प्रभु महावीर का आगमन वहाँ हुआ। देवताओं द्वारा एक

¹ भगवान महावीर एक अनुशीलन, आचार्य देवेन्द्रमुनि, प्र. परिशिष्ट 7

² मिला प्रकाश खिला बसन्त, आ. जयन्तसेनसूरि, पृ. 1-5

भव्य विराट एवं अलौकिक समवशरण की रचना की गई। भगवान महावीर समवशरण में विराजे, उनकी धर्म-देशना का प्रवाह प्रारम्भ हुआ। देशना श्रवण करने के लिए आकाश मार्ग से देव-देवियों का आगमन होने लगा। आकाश मार्ग से देव-देवियों का आगमन देख इन्द्रभूति गौतम आदि गर्व से फूले नहीं समाये। वे समझे कि देवगण उनके यज्ञ में आ रहे हैं। किन्तु जब देवगण आगे निकल गए तब वे विस्मित हो गए। उनके अहं को आघात लगा, इन्द्रभूति गौतम यह सह नहीं पाए, और वे सर्वज्ञ महावीर को चुनौती देने जा पहुंचे।

“आओ इन्द्रभूति गौतम, आओ।” सर्वज्ञ प्रभु ने उनको नाम से सम्बोधित किया तो उनका आश्चर्य द्विगुणित हो गया, सोचने लगे कि — मेरा नाम कैसे ज्ञात है? तत्काल स्वयं ने ही समाधान भी कर लिया — मैं प्रख्यात विद्वान हूँ, मुझे सब जानते हैं। इसमें क्या आश्चर्य करना? पुनः भगवान ने सम्बोधित किया — हे गौतम! तुम चिरकाल से आत्मा के संदर्भ में शंकाशील हो? यह सुनकर गौतम के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। गौतम ने कहा — हाँ, मुझे शंका है।”

तत्पश्चात् भगवान महावीर ने गौतम के मन की शंकाओं का समाधान किया। वे गर्वगलित हो गए। वे जिनकी परीक्षा लेने आये थे, जिनको चुनौती देने आये थे, उनके चरणों में समर्पित हो गये। अपने शिष्यों के साथ सामायिक प्रभृति चारित्र अंगीकार कर भगवान का शिष्यत्व स्वीकार किया तथा भगवान महावीर ने प्रधान शिष्य बने।

इसी प्रकार अग्निभूति आदि अन्य विद्वान भी क्रमशः भगवान की सेवा में आकर अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर अपने-अपने शिष्यों के साथ भगवान का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त तथा सुधर्मा के	500—500 शिष्य
मण्डित, मौर्यपुत्र के	350—350 शिष्य
अकम्पित, अचलभ्राता, मैतार्य तथा प्रभास के	300—300 शिष्य

इस प्रकार भगवान की प्रथम वाणी को श्रवण कर चार हजार चार सौ शिष्य प्रतिबुद्ध हुए।

भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में गणधरों की शंकाओं का क्रम प्रस्तुत किया है किन्तु उन्होंने संक्षेप में ही इतिश्री कर दी। अथैतिक रूप में जैसी अपेक्षित सामग्री चाहिए, वैसा कुछ भी नहीं है किन्तु जो कुछ है वह महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने यह नहीं व्यक्त किया कि गणधरों के मन में चतुर्विधवेद के किस वाक्य को लेकर उस विषय में कैसे संशय हुआ? भगवान ने उनका क्या समाधान किया? प्रभु महावीर ने वेद पद का क्या अर्थ किया? निर्युक्ति में इस विषय की अवगति नहीं मिलती है। केवल वादों की सूचना मात्र है। आचार्य जिनभद्र ने इस सूचना के आधार पर वाद विषयक सम्पूर्ण विचारों में तारतम्य संस्थापित कर विशेषावश्यक भाष्य के उत्तरार्द्ध में पूर्वोत्तर पक्ष की व्यवस्थित प्रणाली का अनुसरण करके गणधरवाद की संरचना की।

गणधरवाद में आगमों के तलस्पर्शी अध्ययन के फलस्वरूप तत्कालीन दार्शनिकों द्वारा विशेषतः चर्चित विषयों को गणधरों की शंकाओं में सम्मिश्रित करके आत्मवाद और कर्मवाद तथा उनके विरोधी वाद, अनात्मवाद और अकर्मवाद के विषय में जैन दर्शन के अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण एवं स्याद्वादशैली से समाधान प्रस्तुत है।

गणधरवाद में समन्वय प्रधान भावनाओं का संदर्शन होता है। भगवान महावीर सर्वप्रथम तर्क द्वारा और तदनन्तर वेदवाक्यों का यथार्थ परक अर्थ करके उनका समाधान संप्रस्तुत करते हैं, यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः दार्शनिकों के विषय में यह स्पष्टतः देखा जाता है कि जब उन्हें अपनी मान्यता का प्रतिपादन करना होता है, वे प्रतिपक्षी के मत के खण्डन में ही उलझ जाते हैं और अपने सम्मुख अपनी परम्परा को ही प्रमाणभूत रखते हैं। ऐसी स्थिति में चर्चा के अन्त में दोनों वहीं के वहीं रहते मात्र द्रविड़ प्राणायाम होता है। किन्तु गणधरवाद में प्रतिपक्षी को पराजित करने की अपेक्षा विजयश्री अधिगत की भावना नहीं है अपितु प्रतिपक्षी को सदबुद्धि प्रदान करने का संलक्ष्य प्रमुख है। आचार्यश्री की यह अभिरूचि जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त के अनुरूप है। यह गणधरवाद आकार की दृष्टि से जितना लघु रूप है उससे अधिक उतना ही प्रकार के रूप में विलक्षण— विशेषताओं से परिमण्डित भी है। आचार्यश्री जी ने शंका—समाधान के रूप में जो प्रस्तुति दी है, वह सर्वथा संस्कृति का विषय भी है।

विषयवस्तु का सुस्पष्टीकरण और विशदीकरण के संदर्भ में इतना ही अभिव्यक्त किया जा सकता है कि बिन्दु में सिन्धु समाहित है, जब यह युक्तिपूर्ण युक्ति इस विषय

में अक्षरशः घटित होती है, तब ऐसा उद्भासित होता है कि 'सर्वे सौरभम्' जैसा भावपूर्ण इसी के संग अनुप्राणित एवं अनुप्रीणित है।

इस प्रकार 'गणधरवाद' श्रमण भगवान महावीर की ऐतिहासिकता को आकार देने वाला, साकारता का सफलीभूत सांस्कृतिक शास्त्रीय विवरण है। 'गणधरवाद' वैदिक संस्कृति के विशद् वेद-उपनिषद् के उद्गारों से समलंकृत है और श्रमण संस्कृति के समुद्घोषों से सम्पन्न है।

आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य में 'गणधरवाद' की स्थापना कर जैन दार्शनिक तथ्यों को समुचित रूप से उजागर किया, इसलिए दार्शनिक जगत में 'गणधरवाद' का एक गरिमापूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है।

निहनववाद

निहनव जैन परम्परा का एक परिभाषित शब्द है। निहनव अर्थात् अभिनिवेश के कारण आगम प्रतिपादित तात्विक परम्परा से प्रतिकूल अर्थ कर्ता है। निहनव मिथ्यादृष्टि का ही एक विद्रुप प्रकार है। सामान्य मिथ्यात्वी और निहनव इन दोनों में यह पर्याप्त अन्तर है कि सामान्य मिथ्यात्वी तो जिनेश्वर देव के वचनों पर श्रद्धान नहीं करता है, यदि वह जिनेश्वर देव के कथनों को जब स्वीकार करता है तब मिथ्या रूप में श्रद्धान कर लेता है।¹ यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं करता है किन्तु यथार्थ को भी अन्यथा रूप में स्वीकार कर लेता है।

मनिषी आचार्य जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक के एकादशम द्वार समवतार पर विवेचन करते हुए स्पष्टतः कहा कि आर्यरक्षित ने आगमों की वक्तव्यता को सुरक्षित रखते हुए आगमिक विषयों को चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप में पृथकीकरण किया। तत्पश्चात् पुष्यमित्र को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जिसे गोष्ठामाहिल ने अपना अपमान समझा और संघ से पृथक होकर नवीन मान्यताओं का प्रचार प्रारम्भ किया। यही गोष्ठामाहिल सातवें निहनव के रूप में विद्रोही बना। इसी क्रम में आचार्य ने पूर्वकालीन में हुए 6 निहनवों की भी चर्चा की है।

¹ जैनआगम साहित्य, मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि, वही, पृ. 467

प्रथम निह्नव जमालि ने बहुरतवाद की प्ररूपणा की, द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिकवाद की चर्चा की, तृतीय निह्नव आचार्य आषाढ़ द्वारा अव्यक्तवाद की संस्थापना की गई। चतुर्थ निह्नव अश्वमित्र ने सामुच्छेदिकवादको प्रस्तुत किया, पंचम निह्नव गंग ने एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है, इसका प्रतिपादन किया, षष्ठम निह्नव ने त्रैराशिक मत की निरूपन की तथा सप्तम निह्नव गोष्ठामाहिल ने – जीव और कर्म का बन्ध नहीं होता, इस प्रकार उन्होंने अबद्ध सिद्धान्त की प्ररूपणा की है।

प्रथम निह्नव भगवान महवीर के केवलज्ञान की प्राप्ति के चतुर्दश वर्ष पश्चात् हुआ तथा कालान्तर में छः निह्नव और हुए। निह्नववाद के द्वारा उनके जैन सिद्धान्त विरुद्धमतों का परिज्ञान होता है तथा उनके मत अधिक दोषपूर्ण थे, उसका विस्तृत वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से विशेषावश्यक भाष्य में निह्नववाद की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है।

गणधरवाद व निह्नववाद की दार्शनिक समस्याओं का सामान्य परिचय

गणधरवाद में प्रतिपाद्य समस्त विषयों की पृष्ठभूमि में वेद और उपनिषदों के विविध विचारों का प्रवाह प्रवहमान है। इसमें आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन विषयवस्तुओं को केन्द्र में रखकर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचारणा की गई है।

यह सुनिश्चित है कि इन्द्रभूति गौतम आदि गणधरों के ज्ञान में न्यूनता नहीं थी, किन्तु दृष्टि पर एक ऐसा आवरण था, जो एकान्तिक आग्रह से बद्धमूल था, जिससे वेद, उपनिषद आदि चतुर्दश विद्याओं का पारगामी प्रकाण्ड पांडित्य प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी वे अपने आपको किसी घनीभूत अन्धकार में इतस्ततः परिभ्रमण जैसा अनुभव कर रहे हैं।

सर्वज्ञ—सर्वदर्शी भगवान महावीर से उनकी स्थिति प्रछन्नरूप नहीं थी, महाप्रभु के निर्दाष वचनों से उनका एकान्तिक कदाग्रहों की श्रंखला छिन्न—भिन्न हो गई थी। परिणामतः उन्हें अनेकान्त दृष्टि का प्रकाश प्राप्त हुआ और स्वात्मलक्षी मार्ग प्राप्त हुआ।

इन्द्रभूति और वायुभूति जी का सन्देह

1. इन्द्रभूति गौतम के अन्तर् मन में यह सन्देह था कि आत्मा है या नहीं? क्योंकि वेदों और उपनिषदों में आत्मा और जीव के संदर्भ में जो चिन्तन है वह जैन-दर्शन से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत है। आत्मा सम्बन्धी संशयद्वय उपस्थित हुए : प्रथम 'जीव का अस्तित्व है या नहीं?' और द्वितीय 'जीव शरीर से भिन्न है या नहीं?' इन्द्रभूति की शंका का स्पष्टतः मन्तव्य है कि जीव का अस्तित्व किसी प्रमाण से स्वयं सिद्ध नहीं है और वायुभूति की शंका का प्रधान आधार यह है कि जीव का स्वरूप कैसे माना जाए? शरीर को ही जीव क्यों न स्वीकार कर लिया जाये?

तत्कालीन दार्शनिकों में आत्मा और ब्रह्म एक गुरु-गम्भीर तथा विकट जटिल विषय था। चार्वाकादि कुछ दार्शनिकों के मन्तव्य पांच महाभूतों के सम्मिलन से आत्म तत्त्व की निष्पत्ति मानते थे। उनका अभिमत था कि शरीर के विनष्ट होने पर आत्मा स्वतः नष्ट हो जाता है, पर इन सबसे जब आत्मा की स्वतंत्रता विषयक जिज्ञासा का समुचित समाधान नहीं हुआ, तब वैचारिक मिथ्या क्रान्ति की धारा अग्रगामी होती हुई देहात्मवाद से चिदात्मवाद तक आ पहुंची।¹

सर्वप्रथम देहात्मवाद का विचार उद्भूत हुआ कि कोई भी जीव को शरीर से पृथक् करके नहीं बता सकता है। जब चिन्तकों को भूत अर्थात् देह को आत्मा मानने पर संतुष्टि नहीं हुई तब उनका ध्यान प्राणशक्ति पर केन्द्रित हुआ। निद्रावस्था में भी प्राण निरन्तर गतिशील हैं, तब प्राण को ही आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया। परन्तु चिन्तकों ने यह अनुभव किया कि यदि प्राण स्वरूप में प्रतिष्ठित इन्द्रियां जब आत्मा है तब मन के सम्पर्क के बिना ज्ञान क्यों नहीं कर पाती है? जबकि मन की धारा कहां से कहां पहुंच जाती है? तब उन्होंने मन को आत्मा के रूप में संज्ञा दी। तैत्तिरीय उपनिषद में आत्मा को प्राणमय ही माना गया है।²

दार्शनिक समुदाय ने जब मन को आत्म तत्त्व के रूप में स्वीकृति दी तब भी उन्हें अन्तःस्तोष नहीं हुआ क्योंकि इन्द्रिय एवं मन दोनों ही भौतिक हैं। ये दोनों स्वयं कुछ नहीं कर पाते, अतःएव उनका कोई न कोई अभौतिक संचालक तत्त्व अवश्य होना चाहिए, इस

¹ सूत्रकृतांगसूत्र 1/1/1, पृ. 7-8, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

² तैत्तिरीय उपनिषद, 2-3/1, "प्राणमयादन्योऽन्तरात्मा मनोमयः"

तत्व पर चिन्तन करने की ओर अग्रसर हुए तब वे प्रज्ञा के स्तर पर पहुंच गये और उन्होंने प्रज्ञा को आत्मा के नाम से अभिहित किया।¹

प्रज्ञा को आत्मा स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी एक प्रश्न उद्बलित करता रहा कि प्रज्ञा का एक रूप तो वस्तु विज्ञप्ति रूप है, संवेदनरूप है, अनुकूलभोग इष्ट है, वह आत्मा को सुख रूप होता है उसकी चरम स्थिति आनन्द है तब वे दार्शनिक 'आनन्द' को आत्मा के रूप मानने लगे। उनके अभिमतानुसार आनन्द ही आत्मा है।²

परन्तु अभी तक भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान व अन्वेषण करना शेष था। आनन्द को आत्मा मान लेने पर भी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि आनन्द की अन्तरात्मा क्या है? आनन्द गुण है, अतःएव उसका आधार आनन्द से भिन्न होना चाहिए, फलस्वरूप चिन्तनधारा अग्रगामी हुई तब सभी दार्शनिकों ने कहा — देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, प्रज्ञा और आनन्द से भी जो अतीत है, वह आत्मा है। इस विचार ने आत्मा को 'चिद्रूप' में उपस्थित किया।³

इस प्रकार आत्मा सम्बन्धी विचारणा से स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनेक विचित्रताओं, अनेक मान्यताओं एवं पूर्वापर विरोधी विचारों का ऐसा उहापोह हो रहा था कि आत्मा के सम्बन्ध में किसी भी निर्णय पर पहुंचना दुरुहपूर्ण रहा था।

आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध में एक ओर 'जडात्मक अद्वैत' और दूसरी ओर 'चैतनात्मक अद्वैत' इन दोनों ध्रुवों के मध्य इन्द्रभूति गौतम जैसे वेदज्ञों की प्रज्ञा किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पा रही थी, अन्ततः आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? यह प्रमाणों से सिद्ध होता है या नहीं होता? इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम एवं वायुभूति के मन में जो संशय थे, भगवान महावीर ने उसका समाधान किया।

अग्निभूति की शंका

गणधरवाद में जीव के पश्चात् कर्म पर मुख्य रूप से विचार किया गया है।

वेदकालीन जन सामान्य से लेकर दिग्गज महर्षियों ने भी मनुष्यों में और अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों में विद्यमान विचित्रता व विविधता का अनुभव किया था। उन्होंने

¹ कौषीतकी उपनिषद, 3/2/3-3 "प्राणेरिम प्रज्ञात्मा"

² तैत्तिरीय उपनिषद, 2-5-1

³ वही, 2-6

इसके मूल कारण को अन्तस्तत्त्वों की अपेक्षा बाह्य तत्त्वों को ही प्रमुख मानकर संतोष का अनुभव कर लिया था। सृष्टि की उत्पत्ति के कारण के रूप में प्रजापति जैसे तत्व की कल्पना की थी। मनुष्य जाति में विद्यमान शरीर की विचित्रता, सुख-दुख, बौद्धिकक्षमता एवं अशक्तिजन्य वैचित्र्य के प्रमुख कारण की खोज में कोई सार्थक प्रयत्न नहीं किया गया था।

वेदों से लेकर ब्राह्मणकाल तक यही मान्यता सुस्थिर रही कि मनुष्यों को सुखी होना या प्रसन्न रहना है तब देवों की स्तुति करनी चाहिए। सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष इनमें से कोई एक अथवा इन सभी के संयोग समुदाय को विश्व-वैचित्र्य के कारणों के रूप में मान्यता देने का उल्लेख है।¹

कालवादी केवल काल को ही सब कुछ मानते थे, मनुष्य को जो सुख-दुख प्राप्त होते हैं वे काल के द्वारा प्राप्त होते हैं। प्रकृति के सर्व नियम काल के अनुसार संचालित हैं। स्वभाववाद का स्पष्टतः उद्घोष है कि इस सृष्टि का ईश्वर आदि कोई नियंत्रक नहीं है, और न कोई इस जगत की विचित्रता का हेतु है, सब सहज स्वाभाविक है। यदृच्छावाद का कथन कि कारण के अभाव में कार्य सम्पादित होते हैं। नियतिवाद की मान्यता है कि संसार के जितने भी कार्य होते हैं, वे सब नियति के अधीन हैं। मनुष्य को शुभ-अशुभ कर्म भी नियति के प्रभाव प्राप्त होते हैं।

इन सर्व वादों के होने पर भी विश्व-वैचित्र्य के विषय में कुछ निर्णय नहीं हो सका, किंतु कहीं-कहीं उपनिषदों में संसार और कर्म - अदृष्ट के विषय में उल्लेख मिलता है। वैदिक दर्शन में सर्वप्रथम आत्मा की शारीरिक, मानसिक क्रिया को ही कर्म स्वीकार किया गया, लेकिन उसके बाद यज्ञानुष्ठानों को कर्म रूप में मान्यता दी गई। तब पुनः प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ये अस्थायी अनुष्ठान तत्काल नष्ट हो जाते हैं, तब अपना फल स्वयं कैसे दे सकते हैं? अतः मीमांसा दर्शन ने अपूर्व पदार्थ की संकल्पना की। इस प्रकार प्राचीन काल से ही विश्व-वैचित्र्य के कारणों को जानने की उत्कट उत्कंठा रही। वेदों में इन प्रश्नों के समाधान के लिए ब्रह्म ईश्वर, प्रजापति, आदि की कल्पना की गई, उपनिषदों में कालादि को माना गया है। तथापि जिज्ञासा पूर्ववत् बनी रही। आर्य

¹ श्वेताश्वतर उपनिषद्
कालः स्वभावोनियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष रति चिन्त्यम्।

अग्निभूति वेद-वेदान्तों के विशिष्ट ज्ञाता थे।¹ किन्तु कर्म के विविध उल्लेखों को जानकर उन्हें शंका हुई कि वास्तव में कर्म का अस्तित्व है या नहीं? तब भगवान महावीर ने एतद्विषयक शंका समाधान किया।

मण्डितपुत्र की शंका

गणधरवाद में कर्म सिद्धान्त विचार के संग आत्मा के बन्धन और मोक्ष के संदर्भ में भी गहन चिन्तन प्रस्तुत है। और यह भी स्पष्ट है कि सभी भारतीय दर्शनों ने बन्ध और मोक्ष को भी स्वीकृति दी है। परन्तु इस विषय में भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ अभिव्यक्त हुई हैं। समस्त दर्शनों ने अविद्या, मोह, अज्ञान एवं मिथ्याज्ञान को बन्ध के कारणों के रूप में माना, इसके अतिरिक्त विद्या और तत्त्वज्ञान को मुक्ति प्राप्ति का हेतु स्वीकृत किया गया है। कहीं कर्म की प्रधानता है, कहीं तत्त्वज्ञान की प्रमुखता है। छान्दोग्यउपनिषद् में स्पष्टतः उल्लेख है कि - अनात्म-देहादि को मानना असुरों का ज्ञान है क्योंकि उससे आत्मा पर के वशीभूत हो जाती है, इसी अज्ञान का नाम 'बन्ध' है और उससे निवृत्ति 'मोक्ष' है। न्याय दर्शन के भाष्य में ऐसा संदर्भ है कि 'मिथ्याज्ञान ही मोह' है। सांख्यदर्शन में समुल्लेख है कि 'अनात्मा में आत्म बुद्धि करना ही बन्ध है'।

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा इन दोनों का बन्ध कब हुआ, यह तथ्य उपनिषदों में प्राप्त नहीं होता है। कर्म और आत्मा इन दोनों के साथ सम्बन्ध अनादिकाल से है या नहीं? यह शंका सहजरूपेण उपस्थित है क्योंकि उपनिषद् सम्मत् विविध सृष्टि-प्रक्रिया में जीव की सत्ता ही सर्वत्र अनादि सिद्ध नहीं होती है तब पुनः आत्मा और अनात्मा के सम्बन्ध को अनादि रूप में स्वीकृत करने का तथ्य कैसे प्राप्त हो सकता है? जबकि जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और अनात्मा के सम्बन्ध को अनादि मानना अनिवार्य है। उपनिषद् के टीकाकारों द्वारा यह तथ्य मान्य है ब्रह्म और माया का जो सम्बन्ध है, वह अनादिकालीन है।

इस प्रकार विविध मान्यताओं के कारण षष्ठम गणधर को बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व पर शंका हुई।

¹ गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 118

मण्डित पुत्र एवं प्रभास की शंकाओं का निर्देश—

मोक्ष और निर्वाण के विषय में कतिपय अभिमत हैं —

मोक्ष अर्थात् — अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना। मुक्तात्मा के स्वरूप के विषय में उपनिषद् साहित्य में ब्रह्म को चैतन्य के साथ-साथ आनन्द स्वरूप भी माना है, नैयायिकों ने ईश्वर में आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु मुक्तात्मा में नहीं। बौद्धों ने निर्वाण में आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है। नैयायिक-वैशेषिक के अभिमत में मुक्तात्माओं के ज्ञान-दर्शन ये दो नहीं होते।

ऐसा उल्लेख भी है कि — मोक्षावस्था इन्द्रियग्राह्य नहीं है, वचनगोचर नहीं है, मनोग्राह्य नहीं है तथा तर्कग्राह्य भी नहीं है। कठोपनिषद् में भी कहा है — वाणी-मन अथवा चक्षु से इनकी प्राप्ति कदापि संभव नहीं है, इसे केवल सूक्ष्म बुद्धि से गृहित किया जा सकता है। महात्मा बुद्ध निर्वाण और मोक्ष विषयक जैसे गम्भीर प्रश्नों पर मौनस्थ हो जाते थे। उपनिषद् वाङ्मय में ब्रह्मदशा का निरूपण नेति-नेति के रूप में हुआ।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत-प्ररूपणा हुई है एतदर्थ मण्डित पुत्र को बन्ध और मोक्ष के विषय में शंका हुई और श्री प्रभास जी को निर्वाण के अस्तित्व के विषय में जब शंका हुई तब तीर्थंकर प्रभु ने कतिपय युक्तियों और प्रयुक्तियों के द्वारा उनकी शंकाओं का समुचित समाधान किया।

सुधर्मा, मौर्यपुत्र, अकम्पित, मैतार्य जी की शंकाओं का दिग्दर्शन:

परलोक अर्थात् — मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाला लोक। मृत्यु के पश्चात् जीव की जो गति होती है, उसमें मनुष्य और तिर्यञ्च योनियां चाक्षुष प्रत्यक्ष हैं, किन्तु देव, प्रेत, नारक ये तीनों अप्रत्यक्ष (दृश्य न) हैं इसी दृष्टि से उन्होंने परलोक के सम्बन्ध में शंका की जाती है।¹

गणधरवाद में जीव और कर्म के पश्चात् परलोक के अस्तित्व का विचार किया गया है। जैसे कि पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को इहभव-परभव के सादृश्य-वैसादृश्य के विषय में, सप्तम गणधर मौर्यपुत्र को देव के संबंध में, अष्टम गणधर अंकपित को नरक के परिप्रेक्ष्य में तथा दशम गणधर मैतार्य को परलोक के अस्तित्व के परिपार्श्व में शंकाएँ थीं।

¹ गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 150

कर्म और परलोक एक-दूसरे से संदर्भित है। जब किसी ने वस्त्र सिलाई की क्रिया प्रारम्भ तब यह क्रिया जिस क्षण पूर्ण हुई तब सिला हुआ वस्त्र प्रत्यक्षतः दृष्टिगत है, यह प्रत्यक्ष क्रिया का फल-साक्षात् है किन्तु यह इतना स्पष्ट है कि प्रत्येक क्रिया का फल तत्काल प्राप्त नहीं होता, इस तथ्य की पुष्टि इस रूप में है कि जिस प्रकार भूमि में बीजारोपण भी हुआ किन्तु वृष्टि नहीं हुई तत्सम्बन्धी जो परिश्रम हुआ वह धूलधसरित हो गया। उसी प्रकार सदाचारी को दुःख और दुराचारी को सुख मिलता है, इससे परलोक का सम्बन्ध जुड़ता है। यदि सदाचार सुख और दुराचार दुःख का कारण है तो सदाचारी को उसके सदाचार के फलस्वरूप सुख और दुराचारी को दुराचार के कारण दुःख साक्षात् और तत्काल क्यों नहीं मिलता? इत्यादि प्रश्नों से जब मनुष्य कर्म के बारे में विशेष विचार करने लगा, तब कर्म साक्षात् क्रिया मात्र नहीं, परन्तु अदृष्ट संस्कार रूप भी है, ऐसी कल्पना आई और उसके साथ परलोक पुनर्जन्म का संबंध जुड़ गया। मनुष्य के सुख-दुःख का आधार सिर्फ उसकी प्रत्यक्ष क्रिया मात्र नहीं, किन्तु जो क्रिया संस्कार या अदृष्ट रूप में उसकी आत्मा के साथ संबद्ध है, वह भी है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष सदाचारी होने पर भी मनुष्य पूर्व जन्म के दुराचार का फल दुःखरूप और प्रत्यक्ष दुराचारी होने पर भी पूर्व जन्म के सदाचार का फल सुखरूप में भोगता है। तथापि वेद वाङ्मय में परस्पर विचारणाओं की विपरीतता दृष्टिगोचर है क्योंकि कतिपय विचारक भूत समुदाय से चैतन्य की उत्पत्ति स्वीकार करते थे। उनकी स्पष्टतः मान्यता थी कि जब भूतों के नाश होता है तब चैतन्य का भी नाश हो जाता है एतदर्थ हम परलोक को क्यों मानें? भूतों से भिन्न रूप में मानते जब तब वह अनित्य है - जैसे अरणि से उत्पन्न अग्नि नश्वर रूप है। इसी प्रकार परलोक परिप्रेक्ष्य में विविध मन्तव्य हैं अतः इस प्रकार यह शंका हुई।

उसी प्रकार प्राणी जैसा इस भव में है, वैसा ही परभव में भी होता है अथवा नहीं है? क्योंकि एक स्थल पर वेदों में ऐसा संदर्भ है कि "पुरुषोभूतः सतपुरुषत्वमेवाश्रुते, पशवः पशुत्वम्" और अन्य प्रसंग में 'शृगालो वै एवं जायते' यः स्तपुरिषो दह्यते। ऐसा उल्लेख भी है जीव का भवान्तर में वैसादृश्य सम्भव है अथवा सदृश्य ही रहता है।¹ इस रूप में विरोधी विचारों के द्वारा शंका का उद्भव हुआ।

¹ विशेषावश्यकभाष्य, उत्तरार्द्ध

वैदिक परम्परा में देवों और देवलोक की कल्पना प्रचुर प्राचीन अवश्य है। परन्तु प्राणी जब देहमुक्त हो जाता है अर्थात् मरण का वरण कर लेता है तत्पश्चात् परलोक है, उक्त विचार का समर्थन सुदीर्घ काल के पश्चात् प्राप्त हुआ। वेदों में वर्णित अधिकांश देव प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर कल्पित है। सर्वप्रथम अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थ को देव रूप में स्वीकृत किया किन्तु उसके बाद अन्य देवों की परिकल्पना की गई, जैसे वरुण आदि कुछ ऐसे देवता है जिनका क्रिया के साथ सम्बन्ध है। जैसे – त्वष्टा, धाता, विधाता आदि। मनुष्य के भावों में देवत्व का आरोपण किया गया और उसी आधार पर देवों की कल्पना की गई, जैसे कि मनु, श्रद्धा। पशुओं में दधिका में देवी भाव का आरोपण किया गया, जड़ पदार्थों में पर्वत, नदी आदि में देवत्व प्रतिष्ठि हुआ। उक्त देव अनादिकाल से है अथवा नहीं है, तत्संदर्भ में वेद-वाक्य में मतमतान्तर है।

स्वर्ग के सम्बन्ध में कल्पना को इस रूप में आकार दिया गया कि इस लोक में मनुष्य जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं, वे मर कर स्वर्ग में जाते हैं। इसी प्रकार विष्णु अथवा वरुणलोक की कल्पना भी की गई है। परन्तु प्राचीन ऋग्वेद में पापीजनों के लिए नरक जैसे स्थान के विषय में विचार नहीं किया गया। अपितु उनके सर्वथा नाश के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है। उपनिषदों में ऐसा स्पष्टतः संदर्भ है कि – 'वे अन्धकार से आवृत हैं, उनमें आनन्द का लेश मात्र भी नहीं है।' कहीं पर 'नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति' वाक्य से नरक का अस्तित्व माना है तो दूसरी तरह 'नहवै प्रेत्य नारकः' इस वाक्य से नारको के अस्तित्व को अस्वीकार भी किया गया है। इस तरह नरक एवं देव के अस्तित्व के बारे में उनका सन्देह होना स्वाभाविक था।

व्यक्तजी की शंका का आधार पंचभूत—

व्यक्त की यह शंका थी कि पंचभूत है या नहीं? क्योंकि वेदों का एक वाक्य है कि "स्वप्नोपमं वै सकलमित्येषे ब्रह्मविधिरंजमा विज्ञेयः" अर्थात् सम्पूर्ण जगत् एक स्वप्न के सदृश्य है, संसार में भूतों जैसी कोई वस्तु का सदभाव नहीं है किन्तु अन्य ओर वेद में पृथ्वी देवता, आपो देवता इत्यादि वाक्य भी विद्यमान हैं, जिनसे पृथ्वी आदि भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में उन्हें सन्देह हुआ।

जब हम इन एकादश शंकाओं का मुख्य एवं गौण इन दोनों दृष्टि से वर्गीकरण करते हैं तो यह परिज्ञात होता – 1. जीव का अस्तित्व 2. कर्म का अस्तित्व 3. बन्ध का

अस्तित्व 4. निर्वाण का अस्तित्व 5. भूत का अस्तित्व 6. परलोक का अस्तित्व। ये छः मुख्य और छः अवान्तर शंकायें हैं यदि इन छः शंकाओं को संक्षिप्त में वर्गीकृत करते हैं तब जीव, महाभूत और कर्म इन त्रिविध रूपों में समाहित किया जा सकता है। जीव और कर्म के सहयोग से ही प्रपंच है और इनका वियोग होने पर जीव का मोक्ष होता है — बन्ध के तरतम्य के आधार से देव, नारक, परलोक, पुण्य—पाप की विचारणा की जाती है।

इस रूप में वेदज्ञों के मन में जो शंकाएँ उत्पन्न हुईं और बद्धमूल हुईं उनका उद्भव वेदों एवं उपनिषदों का प्रमुख—कारण वेद और उपनिषद में उपलब्ध मतमतान्तर है।

निह्नववाद की दार्शनिक समस्याएँ

निह्नव वह व्यक्ति विशेष है जो किसी महापुरुष के सिद्धान्त को मानता हुआ भी किसी विशेष विषय में विरोध उपस्थित करता है और सत्यपूर्ण तथ्य को प्रछन्न कर देता है तदनन्तर वह व्यक्ति एक अलग मत का प्रवर्तक बन कर जनता जनार्दन को भ्रमित कर देता है।¹ भगवान महावीर के शासन में सात निह्नव हुए।

1. जमालि प्रथम निह्नव है, उसने बहुरतवाद का निरूपण किया। उसने एक बार शिष्यों को शय्या बिछाने की आज्ञा दी, कुछ समय पश्चात् शिष्य से पूछा कि संस्तारक बिछा दिया? शिष्य ने शय्या बिछाते—बिछाते उत्तर दिया कि — हाँ, हो गया है, जबकि संस्तारक बिछाया जा रहा था। तब उसने सोचा कि जब तक क्रिया पूर्ण नहीं हो तब तक उसे कृत या निष्पन्न कैसे कहा जा सकता है? यदि उसी समय उसे निष्पन्न कह दिया जाये तब शेष क्रिया व्यर्थ रूप सिद्ध होगी? प्रत्येक क्रिया की सम्पन्नता के लिए कतिपय क्षणों की आवश्यकता होती है, अतः भगवान महावीर का जो सिद्धान्त 'क्रियमाणकृत' है वह झूठा है, इस तरह बहुरतवाद की प्ररूपणा हुई।²
2. द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिक मत की स्थापना की। एकदा वह आत्मप्रवादपूर्व के अध्ययन में तल्लीन था कि, उसमें पढ़ा कि — दो, तीन संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशों में यदि एक भी प्रदेश न्यून हो तब उसे जीव नहीं कहा

¹ जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भाग 2 (भैरोंदान जी सेठिया)

² जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, वही, पृ. 190

जा सकता हैं। परन्तु तिष्यगुप्त ने इसका अभिप्रेत अभिप्राय नहीं समझा। मिथ्यात्वोदय के दुष्प्रभाव ने ऐसा चक्र घुमाया कि उसके मन में विपरीत धारणा हुई— एक प्रदेश भी जीव नहीं है, इसी प्रकार संख्यात—असंख्यात प्रदेश भी जीव नहीं है, अन्तिम एक प्रदेश के बिना सब निर्जीव है, अतः वही एक जीव है जो जीव को पूर्ण बनाता है, इसके अतिरिक्त समस्त प्रदेश अजीव है। इस तरह प्रादेशिकवाद की प्ररूपणा की।¹

3. तृतीय निहनव की अवधारणा अव्यक्तवाद के रूप में है। श्वेतांबिका नगरी में आषाढ नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उनके अनेक शिष्य योग साधना में लीन थे, आचार्य अकस्मात् रात्रि में मृत्यु प्राप्त कर देव हुए, उन्हें योगसंलग्न शिष्यों पर दया आई और वे पुनः अपने मृतशरीर में प्रविष्ट हुए और योग साधना समाप्त होने पर शिष्यों को कहा कि मुझे क्षमा करना, मैंने असंयति होकर आपसे सविधि वन्दना करवाई। तब उन शिष्यों के मन में शंका उत्पन्न हुई कि संयत कौन और असंयत कौन है? यह निश्चय करना वस्तुतः कठिन है, अतःएव किसी को वन्दना नहीं करनी चाहिए, उन्होंने परस्पर में वन्दना करना छोड़ दिया, इस तरह प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष जीवाजीवदि तत्वों में संदेह होना स्वाभाविक था। इस प्रकार अव्यक्तवाद की प्ररूपणा हुई।²
4. चतुर्थ निहनव 'अश्वमित्र' हुए, जिनका अभिमत था — सामुच्छेदिकवाद। समुच्छेद का अर्थ है — जन्म होते ही अत्यन्त नाश। वह अनुप्रवादपूर्व का अध्ययन कर रहा था, उसमें वर्णन आया कि वर्तमान समय के नारक द्वितीय समय में विच्छिन्न हो जायेंगे, इसी प्रकार वैमानिकादि भी है। उसके मन में शंका हुई कि यदि इस प्रकार उत्पन्न होते ही जीव नष्ट हो जाता है तब वह कर्म का फल कब भोगता है? क्योंकि सभी जीव उत्पन्न होते ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं। इस तरह वह एकान्त समुच्छेद का प्रचार करने लगा।³
5. पंचम निहनव 'गंग' ने द्विक्रियावाद का निरूपण किया। एकदा वह नदी पार कर रहा था, वह खल्वाट् था जिससे उसका मस्तिष्क जल रहा था किन्तु नदी का

¹ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, वही, पृ. 190

² जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, वही, पृ. 191

³ पर्युषण साधना, साध्वी राजीमति, वही, पृ. 275

जल उण्डा होने से पैरों में शीतलता का अनुभव हो रहा था। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से उसके मन में विचार आया कि सूत्रों में वर्णन है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन हो सकता है, किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं – शीत व उष्ण का अनुभव हो रहा है। अनुभव के विपरीत होने से शास्त्रवचन यथार्थ नहीं है। इस प्रकार वह अपलाप करता हुआ द्वैक्रियावाद की प्ररूपणा कर बैठा।¹

षष्ठम निहनव 'रोहगुप्त' ने त्रैराशिक मत का निरूपण किया। इस मत का अर्थ है – जीव, अजीव और नोजीव – इस प्रकार तीन राशियों का सद्भाव।

उस समय अरंजिका नगरी में पोट्टशाला परिव्राजक आया हुआ था, उसने चुनौती दी कि कोई विद्वान मुझे पराजित नहीं कर सकता। रोहगुप्त ने सगर्व चुनौती स्वीकार की। तब पोट्टशाला ने दो राशियों की स्थापना की, रोहगुप्त ने उसे परास्त करने के लिए एक तीसरी राशि 'नोजीव' की स्थापना की। जब उसने गुरु के सामने अथैति वृत्तान्त सुनाया तो गुरु ने प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा, पर वह मिथ्या अभिनिवेश के कारण अपनी विचारधारा को तिलांजलि देने को तत्पर नहीं हुआ, अन्ततः उसने और त्रैराशिक मत की प्ररूपणा की।²

सप्तम निहनव गोष्ठामाहिल ने अबद्विकवाद का निरूपण किया। उसने इस मान्यता का प्रचार किया कि जीव और कर्म इन दोनों का बन्ध नहीं होता अपितु स्पर्शमात्र होता है। एकदा आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र शिष्यों को कर्मबन्धाधिकार की स्वाध्याय कर रहे थे। उसमें ऐसा वर्णन आया कि – जीव के साथ कर्मों का संयोग तीन प्रकार का होता है – स्पृष्ट, बद्धस्पृष्ट, और निकाचित। 'स्पृष्ट कर्म' स्थिति को बिना प्राप्त हुए बिना जीव से अलग हो जाता है— जैसे शूष्क भित्ति पर विद्यमान धूल। 'बद्धस्पृष्ट कर्म' कुछ समय पाकर विलग होते हैं, जैसे – लिप्त भित्ति पर संश्लिष्ट रज कण। जो कर्म निकाचित है वह जीव के साथ एकत्व को प्राप्त कर लेता है, कालान्तर में उदय में जाता है।

गोष्ठामाहिल यह सुनकर कहने लगा कि – जब ऐसा कथन है तब जीव और कर्म कभी अलग नहीं होने चाहिए, क्योंकि वे एकरूप हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में

¹ पर्युषण साधना, साध्वी राजीमति, वही, पृ. 276

² जैन साहित्य का बृहद्इतिहास, भाग 3, वही, पृ. 193

कर्मबद्ध जीव को कदापि मोक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह सदैव कर्म से आबद्ध रहेगा। अतःएव वास्तव में जीव और कर्म इन दोनों का बन्ध नहीं मानना चाहिये, केवल जीव और कर्म का स्पर्श ही मानना चाहिए। इस प्रकार वह अबद्धिकवाद का प्रचार करने लगा।

इस प्रकार इन सातों निह्नवों के मन में जो-जो शंकाएं उद्भूत हुई वे मिथ्यापूर्ण अभिनिवेश से समुत्पन्न हैं। इन्हें निह्नव इसलिए कहा गया कि इनका मत भगवान् महावीर के मत से आंशिक रूप से भिन्न था।

उपसंहार

जैन साहित्य में आगम-साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष की पावन धरा पर दो संस्कृतियों का अमृत प्रवाह प्रवहमान है — प्रथम, श्रमण और द्वितीय वैदिक। वैदिक संस्कृति के मूलभूत ग्रन्थ वेद हैं जिन्हें श्रुति भी कहा जाता है। श्रमण धारा का एक प्रमुख अंग जैन-परम्परा भी है, उसके आधार जैन स्वरूप ग्रन्थ जैन आगम साहित्य हैं। जैन आगमों के लिए 'श्रुत' शब्द का प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृति वेदों को अपौरुषेय मानती है, जबकि श्रमण (जैन) संस्कृति आगमों को सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट रूप में स्वीकार करती है।

जैन परम्परा में विशाल और विस्तृत श्रुत साहित्य है, यह इस अध्ययन से परिज्ञात हो जाता है। दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा इस श्रुत साहित्य को भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाती है। भाषा अथवा वर्ग में भिन्नता अवश्य है तथापि भाव तो वही है, जो सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। मूल रूप में सिद्धान्त एक ही है। इन दोनों परम्परा के मान्य ग्रन्थों में आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप आदि विषयों पर चर्चा विस्तार से प्राप्त होती है।

श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान गणधर सुधर्मा स्वामी के द्वारा सूत्रबद्ध द्वादशांगी का है वही स्थान दिगम्बर परम्परा में "पुष्पदन्त" व "भूतबलि" द्वारा रचित षट्खण्डागम और "गुणधर" द्वारा रचित कषायपाहुड़ का है। मूल साहित्य के बाद व्याख्या साहित्य भी प्रचुर मात्रा में निर्मित हुआ है, क्योंकि आगमों में कतिपय विषय ऐसे हैं जिनकी व्याख्या करना जनता-जनार्दन की ज्ञानवृद्धि के लिए आवश्यक हो जाता है। एतदर्थ मनीषि आचार्यों ने अपनी प्रतिभानुसार निर्युक्ति, चूर्णी, टीका व भाष्य की सारस्वत संरचना की।

उन्हीं मनीषि आचार्यों की मणिमाला में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को सुमेरु स्थानीय महत्त्व प्राप्त है। जिन्होंने आवश्यक सूत्र के 'सामायिक' विषयवस्तु पर 'विशेषावश्यकभाष्य' जैसा ग्रन्थ प्रणीत किया। इस भाष्य में उन्होंने उन शंकाओं को समाहित किया जो इन्द्रभूति प्रभृति वैदिक विद्वानों की थीं, जिसे गणधरवाद के नाम से जाना जाता है।

प्रस्तुत प्रथम अध्याय में सम्पूर्ण जैन आगम-साहित्य के संक्षिप्त परिचय रेखाओं के साथ गणधरों के मन में निहित शंकाओं का सामान्य परिचय दिया गया है तथा निहनवों की विरुद्ध प्ररूपणाओं के संदर्भ में स्पष्टतः निर्देश दिया है।

इस प्रकार यह परिस्पष्ट है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का यह प्रथम अध्याय जिस रूप में मेरे द्वारा आलिखित है वह यथार्थ अर्थ में ऐसा आभासित होता है कि यह प्रथम अध्याय शोध-ग्रन्थ रूपी सूरम्य प्रासाद का स्वर्णमय मंगल-स्वरूप प्रवेशद्वार है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय जैन आगम में आत्मा एवं उसके अस्तित्व की समस्या और उसका समाधान

आत्मा के अस्तित्व के प्रति शंका क्यों?

मानव मन में एक प्रश्न सदा से उठता रहा है कि—आत्मा क्या है? उसका अस्तित्व है या नहीं? चेतन तत्व के रहस्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति मनुष्य में अति आरम्भ से रही है। व्यक्ति सामान्य रूप से यह नहीं समझ पाता है कि—जब वह मैं शब्द का प्रयोग करता है तब वह “मैं” किसका प्रतिनिधित्व करता है? क्या “मैं” का अभिप्राय उच्चारणकर्ता के शरीर से है? अथवा “मैं” शरीर से भिन्न कोई अन्य तत्व है? व्यक्ति जब इतना समझ लेता है तब यह शरीर “मैं” नहीं है। किन्तु अन्ततः यह “मैं” कौन है? यह जिज्ञासा मूर्तिमान रहती है।

आत्मा के अस्तित्व के प्रति शंका का मूल कारण जैन और वैदिक दोनों ही परम्परा के धर्मग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारने व नकारने वाले मतों और वक्तव्यों का पाया जाना है। संक्षेप में ये धर्म—ग्रन्थ और इनमें उल्लिखित मत निम्नानुसार है :—

जैन आगम ग्रन्थों में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानने वाले मत

पंचमहाभूतवाद

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच महाभूत हैं। ये पांच महाभूत सर्वलोकव्यापी एवं सर्वजन—प्रत्यक्ष होने से इसी दृष्टि से महान् है। इस विश्व में इनके अस्तित्व को कोई नकार नहीं सकता है, पांच भूतों से भिन्न आत्मा नामक तत्व परलोक में जाने वाला, सुख—दुःख का भोक्ता कोई अन्य पदार्थ नहीं है। पृथ्वी आदि जो पांचमहाभूत हैं, ये शरीर रूप में परिणत होते हैं तत्पश्चात् इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होती है।¹

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा 7-8, प्रथम अध्ययन, मधुकर मुनि, ब्यावर, पृ. 20

तज्जीवतच्छरीरवाद

प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आप में सम्पूर्ण है, पूर्णतः शक्तिमान है, किन्तु जब शरीर विनष्ट हो जाता है तब आत्मा भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि शरीर रूप में परिणत पंचमहाभूतों से चैतन्य प्रकट होता है, अतःएव उनके अलग-थलग होने पर वह चैतन्य भी क्षीण हो जाता है, शरीर के साथ चैतन्य विनाश का कारण यह है कि शरीर से बाहर निकल कर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्षतः दृष्टिगत नहीं होता।¹

चतुर्धातुकवाद

इनका मन्तव्य है कि जगत् में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु ही सर्वस्व है। ये इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु एक साथ मिलकर जगत् को उत्पन्न करते हैं, धारण करते हैं और पोषण करते हैं, इन्हीं से जगत् की उत्पत्ति होती है। यही जब एकाकार होकर शरीररूप में परिणत होते हैं, तब इनकी जीव संज्ञा होती है। चारों धातुओं से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। “धातु-धातुकमिदं शरीरम् न तदव्यतिरिक्तं आत्माऽस्तीति।”²

पंचस्कन्धवाद

असत् कार्यवादी बौद्ध मत के अनुसार रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच ही स्कन्ध हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मा नामक स्कन्ध नहीं है। न स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है। उस आत्मा को साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई निर्दोष चिह्न भी गृहीत नहीं होता है, जिससे कि अनुमान द्वारा आत्मा सिद्ध हो सके। जब प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा आत्मा सिद्ध नहीं है तब दूसरे प्रमाणों से कैसे सिद्ध हो सकती है?³

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा 11-12, वही, पृ. 25-26

² वही, गाथा 18, वही, पृ. 37

³ वही, गाथा 17, वही, पृ. 35

आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत करने वाले मत

आत्माद्वैतवाद

उत्तर भीमांसावादी वेदान्ती अद्वैतब्रह्म को मानते हैं, उनका प्रधान सिद्धान्त है कि— “सर्व खल्विदं ब्रह्म, नेह नानारित् किंचन”¹ अर्थात् इस जगत में सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, उसके अतिरिक्त नाना दिखाई देने वाली वस्तुएं कुछ नहीं हैं। चेतन, अचेतन (पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ) जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके ब्रह्म रूप हैं। सभी प्राणियों के शरीर में जो भूतकाल में रहा है, भविष्य में रहेगा, वह एक ही ब्रह्म आभासित हो उठता है। आत्मा एक ही है और वह अद्वितीय है।

आत्मषष्ट्वाद

इस जगत में पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश तथा आत्मा ये षट्विध पदार्थ हैं। ऐसा मन्तव्य वेदवादी, सांख्य और वैशेषिक इन तीनों का है। ये आत्मा को आकाश के समान सर्वव्यापी तथा अमूर्त होने के कारण नित्य रूप में मानते हैं, तथा पृथ्वी आदि पांचमहाभूत भी स्वरूप से विनाशी नहीं हैं, एतदर्थ उनके मत में ये भी नित्य हैं।²

नियतिवाद

इस मत के अनुसार सभी जीव अपना-अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। यह बात प्रत्यक्ष-अनुमान एवं युक्तियों से सिद्ध होती है। जब तक पृथक्-पृथक् आत्मा नहीं मानी जायेगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दुःख भी नहीं भोग सकेगा।

इसी प्रकार आजीवक मत वाले आत्मा को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसमें पुरुषार्थ अर्थात् स्वतन्त्रतापूर्वक, कुछ करने की शक्ति का अभाव मानते हैं।

यद्यपि जैन आगम ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने और अस्वीकार करने वाले दोनों मत हैं। किन्तु इन्द्रभूति गौतम मूलतः वैदिक परम्परा विद्वान् है अतः उनकी शंका का मूल कारण है वैदिक साहित्य। वैदिक साहित्य में भी आत्मा के अस्तित्व और अनस्तित्व सम्बन्धी वचन मिलते हैं।

¹ ब्रह्मसूत्र, सूत्रकृतांग विवेचन, पृ. 24

² सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा 15, वही, पृ. 32

वैदिक परम्परा में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकारने वाले व नकारने वाले दोनों मतों का विवरण निम्नानुसार है :-

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व न मानने वाले मत

उनका कथन है कि— इन्द्रियों के द्वारा जो दृष्टिगत होता है वही संसार है, उसके अतिरिक्त पुण्य-पाप, परलोक कुछ भी नहीं है। भट्ट ने लिखा है कि "विज्ञानधन एवेतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, प्रेत्यसंज्ञास्ति।"

अर्थात् विज्ञानधन स्वरूप यह आत्मा पंचभूतों से उत्पन्न होता है, और भूतों के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले मत

वेदवाङ्मय में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है "न हि वे सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीर वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" सशरीरी को प्रिय-अप्रिय, सुख और दुःख का वियोग नहीं होता और अशरीर को प्रिय-अप्रिय-सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।

"अग्निहोत्रं जुहुयात्-स्वर्गकामः" स्वर्ग की इच्छा रखने वाले अग्निहोत्र (यज्ञ) करें।

ऋग्वेद में भी कहा गया है कि

"इमं जीवेभ्यः परिधि दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतत्"¹

यजुर्वेद में भी जीव के अस्तित्व को बताने वाला सूत्र है—

"न वाऽउ एतन्त्रियसे न रिष्यसि"²

अथर्ववेद में भी—

"आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।

जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये।"³

इसी प्रकार अन्य वैदिक ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व के बारे में बताया है —
ताण्ड्य महाब्राह्मण ग्रन्थ में—

¹ ऋग्वेद 10/18/4

² यजुर्वेद 25/44

³ अथर्ववेद 9/5/30

“यो मे आत्मा या मे प्रजा ये मे पशवस्तैरहं मनोवाचं प्रसीदामि।”¹

उपनिषदों में आत्मा के अस्तित्व सूचक प्रमाण है—

“एष हि दृष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।। स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।”²

कठोपनिषद में— इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धि-बुद्धेरात्मा महान पर।।³

ऐतरेयोपनिषद में— “सोऽस्यात्मात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ऽथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रत्यन्नेव पुनर्जायते।।”⁴

भगवद्गीता में— “न जायते म्रियते वा कदाचि — न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः”

अजो नित्यः शाश्वतोऽपुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।⁵

इस प्रकार वैदिक साहित्य में आत्मा के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनों सम्बन्धी सन्दर्भ देखकर गौतम के मन में यह शंका उठना स्वाभाविक था कि आत्मा की सत्ता है या नहीं?

इन्द्रभूति गौतम इसी शंका को लेकर महावीर के समक्ष उपस्थित हुए थे। आचारांग में इसका संकेत मिलता है।

आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में यही जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है — कं अहं आसी? “मैं” कौन था? यह पद आत्मा सम्बन्धी शंका का सूचक है।⁶

धर्म और दर्शन का उदगम आत्मा जिज्ञासा से हुआ है। इसी प्रकार उपनिषदों का आरम्भ भी आत्मा की जिज्ञासा से हुआ, जब नचिकेता यम के समक्ष आत्मतत्त्व को जानने की उत्सुकता प्रकट करता है तब यम उसको आत्मतत्त्व का रहस्य बतलाते हैं।

मानव की इस सहज जिज्ञासा प्रवृत्ति का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यह चेतन तत्व ही है जो “मैं” को लक्ष्य में रखकर अभिव्यक्त होता रहा है। यह विश्व भी बहुविध विचित्रताओं से आपूरित है। यह धरती, ये

¹ ताण्ड्य महाब्राह्मण 1/3/4

² प्रश्नोपनिषद 4/9

³ कठोपनिषद 5/3/10

⁴ ऐतरेयोपनिषद 2/4

⁵ गीता 2/2

⁶ आचारांग सूत्र, प्रथम अध्ययन (ब्यावर) सूत्र 1

समुद्र, ये विविध ऋतुक्रम, द्रुम-अंकुर, पुष्पपल्लव-फल और लताओं का यह वानस्पतिक वैभव वास्तव में क्या है? किसने इन सबको रचा, इसका कौन संचालक है? ऐसे विविध सहस्र: रहस्यात्मक प्रश्नचिह्न मानवमन में उद्भूत होते रहे हैं।

इन्द्रभूति गौतम इसी जिज्ञासा वृत्ति के प्रतिनिधि बनकर ही भगवान महावीर के समक्ष उपस्थित हुए थे। विशेषावश्यकभाष्य में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए महावीर और गौतम के नाम से इसी संवाद को प्रस्तुत किया गया है अग्रिम पृष्ठों में मैं उसे प्रस्तुत कर रही हूँ।

इन्द्रभूति गौतम की आत्मा के अस्तित्व विषयक शंकाएँ

इन्द्रभूति गौतम के मन में यह संदेह था कि जीव (आत्मा) किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है या नहीं? उनकी इस शंकारूपी बीज का विशेषावश्यक भाष्य के सामायिक द्वार के गणधरवाद में दार्शनिक दृष्टि से उठाया गया है, उनकी शंकाएँ निम्नानुसार हैं :-

जीव प्रत्यक्ष नहीं हैं— आत्मा का जब अस्तित्व है तब वह तत्वपत्र-पुष्प और पादप सदृश्य प्रत्यक्षतः दृष्टिगत होना चाहिए, किन्तु जीव प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं है एतदर्थ उसका अस्तित्व आकाश-कुसुम के सदृश्य सर्वथा रूपेण अभाव रूप है। यद्यपि 'परमाणु' भी चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं है, किन्तु वह जीव को संपूर्ण रूप से अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष अवश्य है, किन्तु जीव का तो कभी भी साक्षात्कार नहीं हो पाता। अतः जीव का सर्वथा अभाव मानना चाहिए।¹

अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं— अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष के साथ होता है। जिस पदार्थ का कदापि प्रत्यक्ष नहीं हुआ है ऐसी स्थिति में वह पदार्थ अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता। धूम और अग्नि धूम को पूर्व में देखा होता है तभी उसका सहज स्मरण रहता है। धूँए को देखते ही अग्नि का अनुमान किया जाता है। पर यहां जीव के किसी भी लिंग (हेतु) का लिंगी (साध्य) जीव के साथ संबंध पूर्वगृहीत नहीं है

¹ जीवो तुह संदेहो, पच्चक्खं जण्णघोष्पति घडो व्व।
अच्चंता पच्चक्खं च, णत्थि लोए अणुक्कं व।। विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1545

जिससे उस हेतु को पुनःरपि देखने पर उस सम्बन्ध का स्मरण हो, और जीव के अस्तित्व के विषय में अनुमान किया जा सके।¹

आगम प्रमाण से जीव का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं— आगम प्रमाण भी वस्तुतः अनुमान प्रमाण से अलग नहीं है। क्योंकि आगम के दो भेद हैं— दृष्टार्थ विषयक और अदृष्टार्थ विषयक। दृष्टार्थ विषयक आगम स्पष्टरूप से अनुमान है। जैसे 'कल्पवृक्ष' शब्द सुनते ही पूर्व में दृष्टिगत अमुक आकृति वाले पदार्थ के निश्चय का पुनः स्मरण होता है, उससे अनुमान कर लिया जाता है कि वक्ता क्या कहना चाह रहा है। परन्तु हमने कभी सुना ही नहीं कि जीव शरीर से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है तब दृष्टार्थ विषयक आगम से जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है।

स्वर्ग—नरक आदि पदार्थ अदृष्ट है अर्थात् परोक्ष है। अदृष्टार्थ विषयक आगम परोक्ष पदार्थों के प्रतिपादक वचनरूप होता है। स्वर्ग—नरक का प्रतिपादक वचन प्रमाण स्वरूप होता है क्योंकि वह चन्द्र ग्रहण आदि वचन के समान अविश्ववादी वचन वाले आप्त—पुरुष का वचन है किन्तु अदृष्टार्थ जीव के विषय में ऐसा अनुमान स्वरूप प्रमाण नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई भी आप्त पुरुष स्वयं सिद्ध नहीं है, जिसमें आत्म प्रत्यक्ष हो और उसके वचन प्रमाण भूत हो। एतदर्थ आगम प्रमाण के प्रकाश में जीव की सिद्धि सम्भव नहीं है।² तथा कतिपय आगम रूप में मान्य पुस्तकों में विभिन्न मन्तव्य परिलक्षित है— जैसे— चार्वाक शास्त्रों में कहा है कि— “जो कुछ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, उतना ही लोक है।”³ आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है अतः अभावस्वरूप है। किसी ऋषि ने उक्त तथ्य का प्रस्तुत उक्ति से समर्थन किया है— “इन भूतों से विज्ञानघन प्रकट होता है और भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।” महात्मा बुद्ध ने भी आत्मा का अभाव बताते हुए कहा है कि ‘रूप पुद्गल नहीं है।’ बाह्य दृश्यमान वस्तु जीव नहीं है।⁴ कहीं पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है जैसे कि— वेदों में उल्लेख है— सशरीर आत्मा को प्रिय—अप्रिय का अनुभव होता है, किन्तु शरीर रहित आत्मा को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श

¹ ण य सोऽणुमाणगम्मो, जम्हा पच्चक्ख पुच्चयं तं पि
पुच्चोवलद्ध सम्बध सरणत्तो, लिंगलिंगीण।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1550

² “णय जीव लिंगबन्धदरिसिणमभू जतो पुण सरतो।
तल्लिंग दरिसणत्तां जीवो सपच्चओ होज्जा”।। विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा-155

³ “एतवानेवं लोकोऽयं यावानिन्द्रिय गोचर” चार्वाकदर्शन,

⁴ “विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु दिवश्यति, बृहदारण्यक उपनिषद 2/4/12.

⁵ “न रूपं भिक्षवः! पुद्गलः, बौद्धत्रिपिटक

भी नहीं हो पाता।' तथापि यह कहा है कि "स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करें। ऐसा पूर्वापर-विरुद्ध वचन है इसके कारण आगम से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

उपमान प्रमाण से जीव की असिद्धि— विराट विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ आत्मा जैसा नहीं है जिसकी उपमा से आत्मा को उपमित किया जा सके। आत्मा के समान कोई पदार्थ न होने से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

अर्थापत्ति से जीव की असिद्धि— विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व उसी दशा में सिद्ध हो रहा है, जिससे आत्मा को माना जाए। अतः अर्थापत्ति द्वारा भी आत्मा की सिद्धि सम्भव नहीं है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में पूर्वोक्त शंकाओं का तर्कपूर्ण समाधान है—

पूर्वोक्त तर्कों का खण्डन व आत्मा के अस्तित्व का मण्डन—

भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम की उपर्युक्त शंकाओं का सयुक्तिक समाधान इस प्रकार किया—

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि— जिस प्रकार श्रवण द्वारा शब्द का प्रत्यक्षीकरण होता है उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष विज्ञान, अहंप्रत्यय, स्वसंवेदनादि के द्वारा होता है। जिस प्रकार शब्द को हस्तामलक वत् करतल पर रखकर दिखाया नहीं जा सकता है, तथापि वह श्रवण के द्वारा प्रत्यक्षरूपेण सिद्ध है तथा यह कहना कि शब्द का अस्तित्व नहीं है और प्रत्यक्ष बाधित है। उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी हस्तामलकवत् दिखाई नहीं देने पर भी विभिन्न प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध है, अतः यह कहना कि आत्मा नहीं है, यह कथन भी प्रत्यक्षतः—प्रत्यक्ष प्रमाण बाधित है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि इस प्रकार है—

¹ "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहति शक्ति अशरीरं वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः

संशयरूप विज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष हैं

जीव है अथवा नहीं? इस प्रकार का जो संशयरूप है, वही जीव है। क्योंकि जीव विज्ञानरूप होता है, जो हम संशय करते हैं वह ज्ञान के द्वारा ही करते हैं। जो विज्ञानरूप होता है, वह अपनी अनुभूतियों में स्वसंवेदित होता है, अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नहीं होता है। इस प्रकार संशयरूप से जीव प्रत्यक्ष है।¹

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

जिस प्रकार सुख-दुःख का अनुभव प्रत्यक्ष रूप में होता है, उसी प्रकार "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" प्रभृति वाक्यों में 'मैं' प्रत्यक्ष के द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। "मैं" का अभिप्राय इस सन्दर्भ में शरीर का बोध नहीं है। इस प्रकार "मैं" विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से स्वयं विशुद्धस्वरूप आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध होता है।²

अहं-प्रत्यय से आत्मा प्रत्यक्ष

'मैंने किया है' 'मैं करता हूँ' 'मैं करूँगा' इत्यादि प्रकार से तीनों काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है, उसमें 'मैं' पद का जो अहरूप ज्ञान होता है, वह आत्मप्रत्यक्ष ही है। निर्जीव पदार्थों में चेतना नहीं है एतदर्थ 'मैं पने' का अनुभव नहीं होता है। इस पार्थिव शरीर में भी 'मैं' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है अन्यथा मृतदेह में भी अहंप्रत्यय होना चाहिए। अतः एव अहंप्रत्यय से आत्मा की सिद्धि होती है।³

गुणों के प्रत्यक्ष से गुणी आत्मा का प्रत्यक्ष

आत्मा है क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष है। जैसे गुणी के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वैसे गुणी भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे कल्पवृक्ष परिलक्षित होता है क्योंकि उसमें रूपादि गुण हैं, उसी प्रकार आत्मा के स्मरणादि गुण प्रत्यक्ष रूप हैं अतः आत्मा (गुणी) भी प्रत्यक्ष हैं

¹ कर्मविज्ञान, भाग 1 आ देवेन्द्रमुनि, पृ. 11

² अहमस्मीत्येवदर्शनं स्पष्टदहं, प्रत्ययवेदनात्, शास्त्रवार्ता समुच्चय-1/79/80

³ "कतव कयेमि काहं, चाहमहं पच्चयादिमातोय।

अप्या सपच्चकरो, तिकालकज्जोवदेसाता।", विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1555

जब गुण गुणी से अभिन्न हो तब गुणदर्शन से गुणी का भी साक्षात् दर्शन हो सकता है। जैसे वस्त्र और रंग दोनों अभिन्न हैं इसलिए रंग के ग्रहण से वस्त्र का भी ग्रहण हो जाता है, वैसे ही यदि स्मरणादि गुण आत्मा से अभिन्न हैं तब स्मरणादि के प्रत्यक्ष से आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। जब गुणों को गुणी से भिन्न मानते हैं तब घट जैसे पदार्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा केवल रूप-रस आदि का ग्रहण होता है तब रूपादि को तो प्रत्यक्ष माना जायेगा, किन्तु रूपादि से भिन्न घट का तो प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पायेगा। ऐसी स्थिति उसका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा?

अतएव यह तथ्य स्वीकार्य है कि गुणी गुण से भिन्न नहीं है।¹

संशय का विषय होने से आत्मा की सत्ता सिद्ध

जिस विषय में संशय है वह वस्तु की विद्यमानता का सूचक है। जो वस्तु कहीं भी उपलब्ध नहीं हो, उसके विषय में कदापि किसी को संशय नहीं होता। जैसे—“यह ठूठ है अथवा पुरुष? इस प्रकार के संशय में दोनों ही वस्तुएं विद्यमान हैं यह आवश्यक नहीं कि संशयास्पद दोनों वस्तुएं, वहीं विद्यमान हो, अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध हैं। जैसे—गर्दभ के सिर पर श्रृंग न हो किन्तु गाय के सिर पर विद्यमान है। विश्व में श्रृंग का अभाव नहीं है। अतः संशय का विषय होने से आत्मा की सत्ता सिद्ध है।²

निषेध्य होने से जीव सिद्धि

“आत्मा नहीं है” इस कथन से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि आत्मा का पूर्णरूप से अभाव हो तब “आत्मा नहीं है” ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है। जैसे—विश्व में यदि कहीं भी कल्पवृक्ष की सत्ता नहीं है तो, यहां कल्पवृक्ष नहीं है” ऐसा वाक्य प्रयोग ही सम्भव नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार जीव का अभाव है तब “जीव नहीं है” ऐसा प्रयोग कदापि नहीं होता। वर्तमान में वह पदार्थ समक्ष नहीं है पर अन्यत्र तो कहीं न कहीं है तभी हम यह स्पष्टतः कह सकते हैं कि ‘कल्पवृक्ष नहीं है’। इसी प्रकार आत्मा नहीं है” ऐसा कथन करने पर यदि आत्मा यहाँ नहीं है, अन्यत्र कहीं उसका अस्तित्व स्वीकार्य होगा।

¹ अण्णोण्णो व गुणी होज्ज, गुणेहिं जति णाम सोण्णो।

णणु गुणमेतत्तग्गहणे, घेप्पति जीवो गुणी सक्खं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1559

² अत्थिच्चियते जीवो, संसयत्तो, सोम्म! याणु पुरिसो व्व।

जं संसिद्धं गोतम! तं तत्थण्णत्थ अत्थि धुवं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1571

इसी प्रकार “मैं नहीं हूँ” ऐसा मानसिक निर्णय ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि आत्मा नहीं है तो ऐसा विचार ही प्रादुर्भूत नहीं होता। अतः जो निषेध कर रहा है, वही आत्मा है।¹

संकलनात्मक ज्ञान करने वाली आत्मा है

सर्व इन्द्रियां केवल अपने-अपने विषय का परिज्ञान करती है जैसे कर्ण केवल शब्द सुनते हैं, चक्षु केवल दृश्य पदार्थों को देखती है, घ्राण केवल सूंघ सकती हैं, जिह्वा केवल स्वाद का अनुभव कर सकती है और स्पर्शन् केवल शीत-उष्ण अष्टविध स्पर्शों का परिबोध कर सकती हैं, किन्तु ये सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का परिज्ञान आत्मा की उपयोग शक्ति से ही करती है, अन्यथा नहीं। किसी भी इन्द्रिय में स्वयं में ऐसी क्षमता नहीं है, कि वह एकाकी ही अन्य इन्द्रियों के विषयों का युगपद् रूप से अनुभव कर सके।

अतःएव पूर्णतः प्रकट है कि ऐसी कोई शक्ति होनी चाहिए, जो एक साथ ही सुनना, देखना, सूंघना, चखना, स्पर्श करना आदि क्रियाएं कर सके, वह शक्ति आत्मा के अतिरिक्त और किसी में नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है— “प्राण का ग्रहण करने वाला वही है, मन का विचार करने वाला वही है, ज्ञान को जानने वाला वही है। यही दृष्टा यही श्रोता है, यही मन्ता है, और यही विज्ञाता है।”²

दूसरों के शरीर में आत्मा की सिद्धि

अपने शरीर में जैसे विज्ञानमय आत्मा है, वैसे ही दूसरों के शरीर में भी विज्ञानमय आत्मा है, क्योंकि जैसे हमें इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु विरक्ति होती है, वैसे ही दूसरों को भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से विरक्ति होती है। इसलिए हमारे शरीर के समान दूसरों के शरीर में भी आत्मा की सत्ता होनी चाहिए, यदि आत्मा नहीं है तब मसि-लेखन आदि अचेतन पदार्थों के समान उनकी भी क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं हो पायेगी।³

¹ “अत्थि अजीवविवक्त्रो, षडिसेधातोथडोऽघहस्सेव
पत्थि घडोत्ति व जीवात्थित्तपरे, पार्थसददोऽयं।” विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1573

² बृहदारण्यक उपनिषद्- 3/4/1-2

³ एवं चिय पस्देहेऽणुमाणत्तो, जीवमत्थित्ति।

अणुवित्ति-णिवित्तीत्तो, णिवित्तीत्तो, विण्णाणमयं सरुवे व्व।। विशेष्यावश्यकभाष्य, गाथा 1564

जब गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा कि— अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, तब भगवान ने इस प्रकार समाधान दिया— जिसका वर्णन विशेषावश्यक भाष्य के गणधरवाद में है।

अनुमान प्रमाण द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—

अनुमान से आत्मा का अस्तित्व

अनुमान प्रमाण में यह नियम एकान्त रूप से नहीं है कि साध्य के साथ हेतु का सम्बन्ध है जो पूर्व में प्रत्यक्षतः देखा हो, तब तदनन्तर हेतु देखने पर साध्य की सिद्धि हो जाती है। जैसे किसी व्यक्ति ने भूत-प्रेत को हर्षित-रूदित, हस्त-चरण की क्रिया करते हुए नहीं देखा तथापि उक्त लक्षणों को देखकर दूसरों के शरीर में भूत की विद्यमानता का अनुमान होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ किसी लिंग (हेतु या लक्षण) को पूर्व आत्मा के साथ किसी लिंग (हेतु या लक्षण) को पूर्व न देखने पर भी आत्मा का अनुमान होता है।¹

शरीर का कर्ता होने से आत्मा सिद्ध है

जो शरीर दृष्टिगत है, वह घड़े आदि के समान सादि और नियत आकार वाला है। जैसे घड़े का कर्ता कुम्भकार है, वैसे ही देह का भी कोई न कोई कर्ता होना चाहिए। जिसका कोई कर्ता नहीं होता, उसका आदि तथा आकार नहीं होता। जैसे कि मेरु पर्वत का आकार नियत है किन्तु आदि नहीं है, क्योंकि वह नित्य है। पर शरीर सादि एवं निश्चित आकार से युक्त है एतदर्थ कोई इसका भी कर्ता है। आत्मा कर्मों के कारण शरीर का कर्ता है।²

करणरूप इन्द्रियों का अधिष्ठाता : आत्मा

इन्द्रियां करण है, इसलिए उनका कोई न कोई अधिष्ठाता निश्चितरूपेण होना चाहिए। जैसे कि—कुम्भकार दण्ड-चक्र आदि कारणों का अधिष्ठाता होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं है, वह करण स्वरूप नहीं है, जैसे आकाश। इसी प्रकार श्रोत्रादि

¹ “जं चणलिंगेहि समंमणसि, लिंगी जतो पुस गहितो
संगं ससेण व समंण, लिंगतो तोऽणुमेयो सो।” विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1573

² वही, गाथा 1567 “देहसत्थि विधाता पतिणिचत्ताकास्तो घइस्सेव”।

इन्द्रियां करण है, उनका प्रेरक, जिनसे प्रेरणा पाकर इन्द्रियां अपना कार्य सम्पादित करती है, वही आत्मा है।¹

आदाता के रूप में आत्मा की सिद्धि

जब इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण अर्थात् (आदान) हो, तब इन्द्रिय और विषय के मध्य में ग्राह्य-ग्रहण-भाव सम्बन्ध होता है ग्रहीता अर्थात् आदाता भी कोई होना चाहिए। क्योंकि इन दोनों में आदान-आदेय भाव सम्बन्ध है। जैसे-सण्डासी और लोहे में आदान-आदेय सम्बन्ध होता है, तो उसे ग्रहण करने वाला आदाता-लौहकार होता है। इन्द्रिय और विषय के बीच कोई आदाता होना चाहिए है, वह आदाता अर्थात् ग्रहणकर्ता आत्मा है।²

शरीरादि के भोक्ता के रूप में आत्मा की अस्तित्व सिद्धि

जैसे- भोजन वस्त्रादि पदार्थ भोग्य होते हैं, और पुरुष उनका भोक्ता होता है। वैसे ही देह आदि भी भोग्य है एतदर्थ इनका भी कोई भोक्ता होना चाहिए। जिसका कोई भोक्ता नहीं है, वे खर-विषाण वत् भोग्य नहीं होते हैं। अतः शरीरादि का जो भोक्ता है, वही आत्मा है।³

शरीरादि संघातों का स्वामी आत्मा हैं

शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अंगोपांग आदि संघातरूप हैं, इसलिए इनका कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए। जैसे-‘गृह’ संघातरूप हैं, तब उसका स्वामी गृहपति होता है। इसी प्रकार शरीर प्रभृति संघातरूप वस्तुओं के समान प्रत्यक्ष रूप में है इसलिए उनके स्वामी का अनुमान अवश्य है, वह स्वामी आत्मा है।

अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में जीव की सिद्धि

हम देखते हैं कि संसार में समग्र पदार्थों का कोई न कोई प्रतिपक्षी होता है। जैसे घट का प्रतिपक्षी अघट। जब हम अघट कहते हैं तो घट रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है। अतः एव अघट का विरोधी घट अवश्य है। इसी प्रकार ‘अजीव’ कहने से

¹ “अवख्राणं च करणत्तो, दण्डातीणं कुलालोव्व”। वही, गाथा 1567

² “अत्थिदिंय विसयाणं, आदानादेय भावतोऽवस्सं।

कम्मर इयादाता, लोए, संदास लोहाणं”। वही, गाथा 1568

³ “भोक्ता देहादीणं भोज्जत्तणत्तो णरोव्व भन्तरस्स”। विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1569

उसके प्रतिपक्षी "जीवति द्रव्यभावप्रार्णेर्जीवः इति जीवः" उक्त व्युत्पत्ति सिद्ध शुद्ध 'जीव' पद का निषेध हुआ है।

जैसे— घनीभूत अन्धकार का प्रतिद्वन्द्वी प्रकाश, शीतलता का प्रतिद्वन्द्वी उष्णता है। इसी प्रकार जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई न कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिए। जो जड़ का विरोधी रूप है वही चेतन अथवा आत्मा है।¹

व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध

जीव (आत्मा) "अतति चतुर्विध गतिषु इति आत्मा" प्रस्तुत व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने से सार्थक अर्थात् अर्थवाला हैं। जिस पद का कोई अर्थ नहीं निकलता वह शुद्ध पद नहीं है। जैसे—डित्थ, उवित्थ आदि। किन्तु जीव पद का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है— शास्त्रों में जीव पद का अर्थ शरीरादि से भिन्न चैतन्य अथवा ज्ञान से युक्त जन्तु, प्राणी, भूत, सत्व, आत्मा, चेतन आदि है। इससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।² आगमों में भी आत्मा के कई नाम मिलते हैं, जैसे —

1. जीव, 2. प्राणी, 3. भूत, 4. सत्व, 5. विज्ञ, 6. चेता, 7. जेता, 8. रंगण, 9. हिण्डुक, 10. मानव, 11. कर्त्ता, 12. विकर्त्ता, 13. जन्तु, 14. यौनिक, 15. स्वयंभू, 16. देही, 17. ज्ञाता, 18. अन्तरात्मा।

लोकव्यवहार द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

शरीर में जब तक जीव आत्मा हैं, तब तक उसे 'यह जीवित हैं' ऐसा माना जाता है। किन्तु शरीर से जीव का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर कहा जाता है 'जीव चला गया, यह मर गया'। इस प्रकार के लोक व्यवहार में उच्चार्यमान वाक्यों में 'जीव' पद के द्वारा शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।³

¹ "संघातात्तत्तणत्तो, अत्थि य अत्थि घरस्सेव", वही, गाथा 1569

² "अत्थि अजीवविवक्खो, पडिसेव्वातो घडोऽघइस्सेव।

णत्थि घडोत्तिव, जीवत्थित्तपरो, णत्थिसद्दोयं"॥ वही, गाथा 1573

³ "असतो णत्थिणिसेथो, संजोगतिपडिसेधतो सिद्धं।

संजोगातिवउक्कंइपि, सिद्धमत्थंत्तरे णियत्तं॥ विशेषव्यावश्यक भाष्य, गाथा 1574

पर्यायों द्वारा आत्म द्रव्य की सिद्धि

'जीव' पद का अर्थ शरीरपरक नहीं है। क्योंकि जीव और शरीर दोनों के पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। जिन शब्दों के पर्यायों में भेद हैं तो उनके अर्थों में भी स्पष्टतः भेद हैं। जैसे-जीव के पर्यायवाची शब्द है- जन्तु, प्राणी, सत्व, आत्मा आदि। जबकि शरीर के पर्याय हैं- काया, गात्र, तन, देह, वपु, तन्तु आदि। इस प्रकार पर्याय की दृष्टि से भेद अवश्य है तथापि मूलतः अर्थ भेद नहीं है ऐसी स्थिति में संसार में वस्तुभेद नहीं हो पायेगा, निष्कर्ष यह है कि सब वस्तु एक समान हो जायेंगे। इसलिए 'जीव' शरीर संगी है, इसी दृष्टि से व्यवहार नय से शरीर को जीव कहा गया है, पर निश्चयदृष्टि से जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है। ऐसा न होने पर किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर ऐसा क्यों कहा जाता है कि-जीव चला गया अब शरीर को जला दो। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर और जीव के लक्षण भिन्न-भिन्न है। एक जड़ है जबकि अन्य चेतन। चेतनादि पर्यायों में परिणामशील जो द्रव्य हैं, वही वस्तुतः आत्मा हैं।¹

विशेषावश्यकभाष्य में आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा कथित उपदिष्ट वचन आगम कहलाता हैं। आप्त पुरुष-समग्र संशयों का निवारक तथा सत्यवादी होते हैं। आप्त पुरुषों द्वारा जो वचन व्यक्त आगम है, उनके यत्र-तत्र आत्मा के स्वरूप व अस्तित्व सिद्धि पर प्रकाश डाला गया है।² आचारांग सूत्र, स्थानांग सूत्र आदि में आत्मा का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन मिलता है।

अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

स्याद्धादसिद्धि में स्पष्टतः उल्लेख है कि धर्मादिकार्य की सिद्धि होने से उनका कर्तृत्व भी स्वतः सिद्ध होता है। धर्मादि से सुखरूप परिणाम परिदृश्यमान है एतदर्थ धर्मादि का कर्ता अवश्य होना चाहिए। वह कर्ता स्वयं आत्मा है।

इस प्रकार बहुविध प्रमाणों से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

¹ "अत्योदेहोच्चिय से तं णो पज्जायवयणभेतात्तो।
णाणादिगुणो य जत्तो, भणित्तो जीवो ण देहोत्ति।।" वही गाथा, 1576
² "जीवोऽस्थि वयो सच्चं, मत्त्वयणातोऽवसंसवयणंव।
सव्वण्णुवयणत्तो वा, अणुमतसव्वण्णु वयणं व।।" वही, गाथा, 1577

वेद वाक्यों के समन्वय से आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि

वेद ग्रन्थों में जीव के अस्तित्व के विषय में कतिपय वाक्य विन्यास हैं जिनके सम्यक् अर्थ न समझने से मन में सन्देह होता कि— वस्तुतः तत्त्व क्या हैं? और तत्त्व का तात्पर्य क्या है?

जैसे—“विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यासंज्ञास्ति” इस पद का सामान्य अर्थ यह है कि— पृथ्वी आदि भूतों के विज्ञान अंशों के समुदाय से विज्ञानघन समुद्भूत होता है। वही विज्ञानघन आत्मा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानादि गुणों से युक्त कोई आत्मा नहीं है, जो परलोक से आती है और न ही भूतों के नष्ट होने पर पुनः परभव में जाती है। अतः एव यह जीव पूर्वभव में अमुक स्वरूप में था और वहां से इस जन्म में आया है, और यहां से मरकर अमूक रूप में होगा, ऐसा कोई एक जीव के अस्तित्व की सूचक प्रेत्यसंज्ञा—परलोक व्यवहार में भी सम्भव नहीं है। अतः जीव का अस्तित्व केवल वर्तमान तक ही सीमित है। दूसरी ओर वेद वाक्य है कि—“न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिये प्रियाप्रियोरपहतिरास्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” इस वाक्य में जीव का अस्तित्व अभिव्यक्त होता है।

“अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” इस वाक्य से अग्नि होत्र आदि क्रिया का फल परभव में स्वर्ग बतलाया है, यह स्वर्ग—गमन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत किये बिना सम्भव नहीं हो सकता है।

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में श्रमण भगवान महावीर के श्री मुख से इन पदों का सम्यक् अर्थ प्रस्तुत किया गया है—

“विज्ञानघन एवैतेभ्यो” अर्थात् जीव ही विज्ञानघन है, विशेष—ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, जो ज्ञान—दर्शन रूप है, वही तो आत्मा है। इस विज्ञान से अनन्य होने के कारण जो उसके साथ एकरूप में हो गया है, वह जीव विज्ञानघन कहलाता है। विज्ञानघन के साथ जो ‘एव’ पद है, वह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि—जीव विज्ञानरूप ही है। जीव से विज्ञान भिन्न नहीं है, यदि वह भिन्न रूप हो जाये तो जीव जड़ स्वरूप हो जायेगा। आचारांगसूत्र में कहा गया है — “जे आया से विन्नाया—जे विन्नाया से आया”।

“भूतेभ्यः समुत्थाय” का तात्पर्य है कि — विज्ञानघन आत्मा को जब घट या वस्त्र का साक्षात्कार होता है तब उसका उपयोग उसमें लगता है, अर्थात् घट-घट आदि ज्ञेय वस्तु रूप भूतों से उत्पन्न होकर वह घट विज्ञान अथवा पट-विज्ञान हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि घटविज्ञानरूप जीव घट नामक भूत से समुत्पन्न है और पटविज्ञान रूप जीव पट नामक भूत से उत्पादित है। इस प्रकार जीव की अनन्तविज्ञान पर्यायें उन-उन भौतिक विषयों की अपेक्षा से उत्पन्न होती हैं, और विज्ञान की वे पर्यायें जीव से अभिन्न होने के कारण जीव उन-उन विज्ञानभूतों से उत्पन्न होता है, यह कथन उचित है।

“तान्येवानुविनश्यति” — पद का अर्थ है कि कालक्रम से वर्तमान ज्ञेय वस्तु पर ध्यान केन्द्रित न रहने से उस विषय में व्यवधान अथवा अवरोध से, आत्मा के विषयान्तर में उपयोग का उपयोग करने पर जब घटादि की ज्ञेयरूपता विनष्ट हो जाती है, तब घट विज्ञानादि आत्मपर्याय (चेतना की अवस्था विशेष) भी नष्ट हो जाती है और पटादि रूप विज्ञान आत्मा उत्पन्न होती है। पर यह नहीं कि विज्ञानघन जीव का नाश होता है अपितु पर्याय का नाश होता है।

आत्मा यद्यपि पूर्वपर्याय के नाश की अपेक्षा से व्यय स्वभावी है और अपर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा उत्पाद स्वभावी है, किन्तु विज्ञानसन्तति की अपेक्षा विज्ञानघन जीव अविनाशी — अर्थात् ध्रुव रूप भी सिद्ध है।

न प्रेत्यसंज्ञा अस्ति— जब आत्मा का उपयोग अन्य वस्तु में प्रवृत्त होता है, तब पूर्व विषय के विज्ञान के विलुप्त हो जाने से उसकी ज्ञान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि उस समय जीव का उपयोग केवल वर्तमान वस्तु विषय में होता है। जैसे कि जब घट में उपयोग लग रहा है तो वस्त्र से निवृत्त हो जायेगा।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब विज्ञान की उत्पत्ति भूतों से होती है तो भूतों का धर्म विज्ञान है — जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा का धर्म है। यदि भूत अर्थात् पदार्थ नहीं होंगे तब विज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं होगी।

इसका समाधान यह है कि — विज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं है। जबकि विशेष विज्ञान का नाश होने पर भी विज्ञान संतति-सामान्य का नाश नहीं होता। भूतों का विशेष ज्ञान के साथ अन्वयव्यतिरेक सिद्ध होने पर भी सामान्य विज्ञान के साथ व्यतिरेक असिद्ध

ही हैं। इसलिए भूतधर्म नहीं हो सकता। वेदों में भूतों के अभाव में विज्ञान का अस्तित्व मान्य है—

एक जिज्ञासु ऋषि से पूछा — “अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यतमिते, शान्तेऽग्नौ शान्तायं वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः? आत्मज्योतिः”। जब सूर्य अस्तंगत हैं, चन्द्र अस्तंगत है, अग्नि शान्त हो जाती है, तथा वचन शान्त हो जाता है। तब पुरुष में कौनसी ज्योति होती है? तब ऋषि ने कहा—हे राजन्! उस समय आत्म ज्योति रहती हैं। यहां पुरुष का अर्थ आत्मा और ज्योति का अर्थ है ज्ञान।

जब बाह्य सभी प्रकाश अस्त हो जाते हैं, अर्थात् विलुप्त हो जाते हैं तब भी आत्मा में ज्ञान रूप प्रकाश रहता है, अतः ज्ञान को भूतों का धर्म नहीं कहा जा सकता है।¹

आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में इन्द्रभूति गौतम की विभिन्न शंकाएं और भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त समाधान निम्नानुसार है

1. नारक तिर्यन्व— मनुष्य और देव में आकाश की सदृश्य एक ही आत्मा मानने पर क्या दोष है?

समाधान— आकाश के सदृश्य सभी सशरीरियों में एक आत्मा सम्भव नहीं है। क्योंकि आकाश का लिंग और लक्षण सर्वत्र एक ही हैं, किन्तु जीव प्रत्येक पिण्ड में अतिशय विलक्षण है, जैसे घड़े आदि, वे पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही लक्षण भेद के कारण जीव एक नहीं है।

यदि जीव एक ही हो सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था कैसे सम्भ हो पायेगी? क्योंकि हम प्रत्यक्षतः निहारते हैं कि संसार में एक जीव सुखी है और दूसरा दुःखी। क्योंकि चतुर्विध गतियों में से नारक और तिर्यञ्च ही अधिक हैं, वे सब मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं से संत्रस्त हैं और दुःखी हैं ऐसी स्थिति में एक ही जीव के मानने पर संसार में कोई सुखी रह ही नहीं पायेगा, वैसे सर्व जीवों में उपयोग रूप सामान्य लक्षण समान से है। किन्तु प्रत्येक जीवात्मा में विशेष-विशेष उपयोग का अनुभव होने से अनेक हैं। अतः जीव प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रूप से अस्तित्व लिए हुए है।

¹ (क) विशेषावश्यकभाष्य भाग 2 (उत्तरार्द्ध) पृ. 43
(ख) मिला प्रकाश, खिला बसन्त पृ. 75

2. जीव सर्वव्यापी है या नहीं?

सांख्य आदि दर्शनों में जीव को सर्वव्यापी माना है यह तथ्य कैसे है?

जीव सर्वव्यापी नहीं शरीरव्यापी है। क्योंकि उसके गुण शरीर में ही उपलब्ध है अर्थात् वर्तमान में जितना शरीर मिला है, उसी में आत्मा समाहित है। बाहर नहीं रहती। जैसे घड़े के गुण घड़े से बहिर्भाग में उपलब्ध नहीं है अतः एव संसारी आत्मा शरीर प्रमाण ही है।

शरीरव्यापी मानने पर ही जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्धत्व, मोक्षत्व, सुखत्व तथा दुःखत्व एवं संसार युक्तिसंगत रूप में घटित होता है। इस तरह श्रमण भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम की शंकाओं का सयुक्तिक समाधान किया। यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण ऐसा है, जो ज्ञेय की अपेक्षा सर्वव्यापी भी है। पुनः केवली समुद्घात की अपेक्षा भी जीव को सर्वलोकव्यापी रूप में जाना जाता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी विचार थे। कोई उसे स्वतन्त्र एवं अनेक मानते थे, कोई ब्रह्म की ही एक मात्र सत्ता मानते हैं।

जैन आगमों में आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले सम्बन्धी विभिन्न सन्दर्भ

जैन दर्शन यथार्थवादी है, उसकी दृष्टि में जीव और अजीव दोनों की स्वायत्त स्वतन्त्र सत्ता है। समग्र जीवन चक्र का केन्द्र है— जीव। उसके अस्तित्व के सूचक सूत्र जैन दार्शनिक साहित्य की एक विलक्षण मूल्यवान धरोहर है। आगम साहित्य में जीव सिद्धि के प्रमाण विपुल मात्रा में उपलब्ध है।

जैसे वेदान्त का मूल सूत्र है— “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” वैसे ही जैनदर्शन का मूल है आत्म—जिज्ञासा।¹

आचारांग सूत्र में आत्मा के अस्तित्व से सन्दर्भित जिज्ञासा

आचारांग सूत्र में जिज्ञासा है कि “के अहं आसि? के वा इओ चुए पेच्चा भविस्सामि”।² आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व मानने वाले दर्शनों का यह अमर उद्घोष है कि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होने के कारण जन्म—मरण के अजस्र प्रवाह में

¹ जैन दर्शन में जीवतत्त्व, (साध्वी ज्ञानप्रज्ञा) पृ. 73

² आचारांगसूत्र 1/1/4 आचार्य आत्मारामजी पृ. 30

प्रवहमान है, फलस्वरूप उन कर्मों का आवरण इतना अधिक घनीभूत हो गया है कि उसे अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं हो पा रहा है? –“मैं कौन हूँ?” इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं? तथा यहां से मैं कहां जाऊंगा? आदि प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

प्रश्न उद्भूत होता है कि संसार में दृश्यमान प्राणियों में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं? क्योंकि सभी आत्मा को चेतनस्वरूप मानते हैं पर स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में मतभेद है। आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उर्ध्व-अधो अथवा तिर्यग्दिशा में जन्म लेता है और तप-जप, ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय-समता, संयम द्वारा कर्मबन्धों को समूलतः उन्मूलित कर निर्वाण को प्राप्त करता है। परन्तु नास्तिक दर्शन इस तथ्य से सहमति नहीं है। उसकी दृष्टि में शरीर ही आत्मा है। शरीर के अतिरिक्त अपने कृत-कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि योनियों में परिभ्रमणशील तथा कर्मबन्धन को कारागृह से मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। जैन दर्शन को यह तथ्य मान्य नहीं है। आगमों में प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों एवं आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व या तो “सहसम्मइयाए” अर्थात् स्वमति से अथवा ‘परवागरणेण’ तीर्थंकर के उपदेश से अथवा किसी ज्ञानी के वचनों से होता है कि “सोऽहमं” वह मैं हूँ, अर्थात् द्रव्य एवं भाव दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमणशील यह मेरा आत्मा ही है। अस्तु यही सूत्र आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का स्पष्टतः उद्घोषक है।¹

इसी सन्दर्भ में अन्य तथ्य यह है कि – आत्मा का स्वरूप न केवल परमात्मस्वरूप से सर्वथा भिन्न ही है और न ही वह परमात्मा या ब्रह्म का अंश है, क्योंकि वैदिक परम्परा के विचारकों ने स्वतन्त्र रूप से आत्मा में ईश्वर बनने की सत्ता स्वीकार नहीं की है। कतिपय विचारकों की दृष्टि में माना है कि वह ब्रह्म में समा सकती है और ब्रह्म की इच्छा होने पर पुनः संसार में परिभ्रमण कर सकती है। परन्तु जैन दर्शन ने आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है, स्पष्टतः मन्तव्य है कि – आत्मा परमात्मा बन

¹ आचारंग सूत्र, 1/5 (आचार्य आत्माराम जी) पृ. 34

सकती है। सोऽहं – मैं वही हूँ – अर्थात् परमात्मा से भिन्न नहीं हूँ। प्रस्तुत दर्शन का उद्घोष है कि – ‘अप्पा सो परमप्पा’

आचारांग में उल्लेख है कि जो आत्मा के स्वरूप को जानता है, वही आत्मवादी है, लोकवादी है कर्मवादी है, क्रियावादी है।¹

सूत्रकृतांगसूत्र में आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी विषयवस्तु

सूत्रकृतांग सूत्र में कतिपय वादों का निरसन करते हुए आत्मा के अस्तित्व को इस रूप में सिद्ध किया गया है।

पंचमहाभूतवादियों का कथन है कि—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इनसे एक आत्मा उत्पन्न होता है। इन पंचमहाभूतों से भिन्न, परलोक में जाने वाला सुख—दुःख का भोक्ता आत्मा नाम कोई अन्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व का बोधक अन्य कोई प्रमाण नहीं है। इन पांच भूतों में से किसी एक भूत की न्यूनता अर्थात् वायु या तैजस की न्यूनता अथवा दोनों की न्यूनता हो जाने पर प्राणी मृत घोषित हो जाता है। अतः इन भूतों से अतिरिक्त किसी जीव या आत्मा का अनुमान भी नहीं होता।²

कोई दर्शन “तज्जीवतच्छरीरवादी” के रूप में शरीर से चैतन्य—शक्ति की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानता है, उनका मन्तव्य है कि शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। शरीर से बहिर्भूत चैतन्य प्रत्यक्षतः दृष्टिगत नहीं होता, इसलिए कहा गया है “पेच्चाणते सन्ति”³ अर्थात् मरने के बाद परलोक में वे आत्माएं नहीं जाती और “णत्थिसत्तोववाइया”⁴ न ही पुनःर्जन्म होता है इसी कथ्य का समर्थन बौद्ध साहित्य में ‘अजीतकेशकंबल’ के कथन से प्राप्त होता है, उसका स्पष्टतः कथन है कि पैर के तलवे से ऊपर, शिर के केशाग्र से नीचे और तिरछे चमड़ी तक जीव है, शरीर ही जीव है। शरीर जीता है तब तक जीता है अन्यथा मर जाता है, उन्होंने उक्त मत की पुष्टि के लिए कुछ तर्क दिए हैं—⁵

¹ वही, सूत्र 1/2 “जे आयावाइ, लोयावाइ, कम्मवाइ, किरियावाइ” पृ. 5

² सूत्रकृतांगवृत्ति, आचार्यशीलांकसूरि, पत्र 16, ‘ततश्चमृतइतिव्यपदेशः चैतन्यादि।

³ सूत्रकृतांगसूत्र, अध्ययन 1, उद्दे. 1, गाथा 11, “पेच्चाणते सन्ति”, पृ. 25

⁴ वही, गाथा 11, “णत्थिसत्तोववाइया”

⁵ सूयगडो (आ. तुलसी) 2-1, पृ. 15-17

1. कोई पुरुष म्यान से तलवार निकालकर दिखाये कि 'यह तलवार है, यह म्यान' पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकालकर चाक्षुष प्रत्यक्ष करवाए कि यह आत्मा है, यह शरीर है।
2. इसी तरह मूँज और शलाका, मांस से अस्थि, हरतताल में आंवला, दधि से नवनीत, तिल से तेल, ईक्षु से रस, अरणी से अग्नि, निकाल कर दिखा सकते हैं, वैसे ही कोई आत्मा को शरीर से निकालकर नहीं दिखा सकता है कि—यह आत्मा है, और यह शरीर है।

पंचमहाभूतवादी आत्मा के नास्तित्व तर्क इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—

1. जल के बिना बुदबुदा नहीं होता, इसी प्रकार भूतों से व्यतिरिक्त आत्मा नहीं है।
2. जैसे केले के तने की छाल को निकालने पर उस छाल के अतिरिक्त अन्त तक कुछ भी सारभूत पदार्थ हस्तगत नहीं होती है, इसी प्रकार भूतों के विघटित होने पर भूतों के अतिरिक्त और कुछ भी सारभूत तत्व प्राप्तव्य नहीं है।
3. किसी व्यक्ति के द्वारा अलात को घुमाने पर ऐसा लगता है कि चक्र संचक्रमान है, वैसे ही भूतों का समुदाय भी विशिष्ट क्रिया के द्वारा जीव की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है।
4. जब निर्मल दर्पण में बाह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब अंकित होता है, तब ऐसा अनुभव होता है कि वह पदार्थ दर्पण के भीतर स्थित है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है।
5. जैसे गन्धर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार काया के आकार में परिणत भूतों का समुदाय भी आत्मा का भ्रम उत्पन्न कर देता है।¹

सूत्रकृतांगसूत्र पंचमहाभूतवाद का निरसन करते हुए, इस रूप में है— पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के संयोग से चैतन्यादि गुण उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पंचमहाभूतों का गुण चैतन्यस्वरूप नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे बालु में तेल उत्पन्न करने की स्निग्धता रूप गुण नहीं है तो बालु को पीलने से तेल कैसे निकल पायेगा।

¹ सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र 21, "अस्मिश्चार्थे बहवे दृष्टान्ताः"

स्पर्शन-रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप विषय पांचों इन्द्रियों के उपादानकरण है, उनका गुण भी चैतन्य नहीं है अतः भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इन्द्रियों को संकलित रूप से जो ज्ञान होता है, वह आत्मा के अतिरिक्त किसको हो सकता है?

देह विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानने पर तीन तथ्य इस रूप में हैं-

1. केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए की जाने वाली तप, संयम, व्रत, नियम की साधना निष्फल रूप सिद्ध होगी।
2. किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार आदि पुण्यजनक शुभकर्मों का फल नहीं पायेगा।
3. हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म अष्टादर्श करने वाले व्यक्ति निश्चक होकर पापकर्म में प्रवृत्त होगा। क्योंकि उनकी आत्मा तो शरीर के साथ नष्ट हो जायेगी। तथा पापकर्म के फल को भोक्ता कोई नहीं होगा।¹

क्षणिकवादियों का स्पष्टतः कथन है कि - रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध, इन पांचों स्कन्धों से भिन्न अथवा अभिन्न सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। इन पंच स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं होता है और आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग भी गृहित नहीं होता है।²

क्षणिकवाद का ही अपर रूप है - चातुर्धातुकवाद, चार धातु है - 1. पृथ्वीधातु, 2. तेजधातु, 3. जलधातु व वायुधातु। ये चारों पदार्थ जगत को धारण करते हैं, अतः धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध बन जाते हैं, शरीर रूप में परिणत हो जाते हैं, तब इनकी जीवसंज्ञा अर्थात् आत्मा संज्ञा होती है। और ये भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध होने के कारण क्षणिक है।³

इन मन्तव्यों का निरसन करते हुए सूत्र कृतांग सूत्र में बताया गया है कि - क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ मात्र आत्मा अथवा दान आदि सब क्रियाएं क्षणिक है, इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्तास्वरूप-आत्मा का समूल विनाश हो जाता है तब

¹ सूत्रकृतांग सूत्र, (मधुकरमुनि), पृ. 22

² सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा 17, पृ. 35

³ सूत्रकृतांग सूत्र, गाथा 18, (मधुकरमुनि) आगम प्रकाशन समिति, पृ. 37

आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती, क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गई, तब ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा? किन्तु जीवों को कर्म फल का भोक्ता के रूप में देखा जाता है? अतः आत्मा का अस्तित्व है।¹

स्थानांग सूत्र में वर्णित आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी विषयवस्तु

स्थानांग सूत्र का प्रथम सूत्र आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध सूचक है। “एगे आया” आत्मा एक है। ब्रह्म आत्मा को एक मानते हैं किन्तु उनका अभिप्राय अलग है— पृथक् रूप में है समस्त संसार में एक ही आत्मा है जो प्रत्येक प्राणी में अवस्थित है, उसके अनेक रूप माया के संसर्ग के कारण बनते हैं।” जैसे चन्द्रमा एक है किन्तु पृथ्वी पर रहे जल के अनेक घरों में प्रतिबिम्बित होकर वह अनेक रूपों में उदभासित होता है।² पर जैनदर्शन की अमर मान्यता इससे पृथक् है, वह अनन्त आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है। किन्तु यहां एक कहने से तात्पर्य यह है कि — प्रत्येक वस्तु में दो धर्म रहते हैं सामान्य और विशेष।³

आत्मा के एकत्व और अनेकत्व सम्बन्धी प्रश्न भी उपर्युक्त सामान्य और विशेष दृष्टिकोण पर आधारित है। आत्मा में जो ‘एकत्व’ है वह सामान्य धर्म को लेकर है। ‘एगे आया’ इस सूत्र के द्वारा आत्मा के आत्मत्व रूप सामान्यधर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया गया है, संसार में जितनी भी आत्माएं हैं वे सब ‘उपयोग-लक्षण’ की दृष्टि से समान हैं। अतः आत्मा का एकत्व संख्या की दृष्टि से न मानकर उपयोग लक्षणात्मक समानता की दृष्टि से मानना सर्वथा सुन्दर है, तर्क-सम्मत भी हैं।

‘एगे आया’ का अन्य अभिप्राय है कि सम्पूर्ण विश्व षड्द्रव्यात्मक है, उन छः द्रव्यों में आत्मा भी एक सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य है, यह कथन आत्मा के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को प्रकट करता है। इस मन्तव्य से उन मतों का जहां स्पष्टीकरण हो जाता है वहां निश्चय भी हो जाता है।⁴

¹ वही, गाथा विवेचन, पृ. 37

² एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते अवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ स्थानांगसूत्र (आत्मारामजी मा), पृ. 9

³ अनुयोग सूत्र, (द्विनाम प्रकरण), (मधुकरमुनि), आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पृ. -140

⁴ स्थानांग सूत्र, वही, सूत्र 12, पृ. 10

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने पर ही अध्यात्मवाद के क्षेत्र में गति से प्रगति हो सकती है। इसी कारण सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम आत्म द्रव्य का निर्देश किया है।

भगवती सूत्र में आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी विषयवस्तु

भगवती सूत्र में भी कतिपय स्थानों पर जीव के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। भगवती सूत्र के एकादशम शतक में इन्द्रभूति गौतम गणधर ने प्रभु महावीर से पूछा कि जिनकी चेतना अल्पविकसित है, ऐसे एकेन्द्रिय जीव जिन्हें कर्मबन्ध, उसके कारण और बन्ध से मुक्त होने के उपाय ज्ञात नहीं है, ऐसी स्थिति उनके कर्मबन्ध कैसे होता है? क्योंकि उनके द्रव्यमन भी नहीं हैं? प्रभु ने इस शंका का समाधान करते हुए फरमाया कि—एकेन्द्रियवनरपातिकायिक जीवों में भी अन्तश्चेतना तथा भावमन होता है, जिसके कारण वे चाहे विकसित चेतना वाले न भी हो तथापि मिथ्यात्वदशा में अवस्थित होने से कर्मबन्ध कर लेते हैं।¹ अर्थात् उनके कर्मोपार्जन होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि एकेन्द्रिय आदि में भी जीव है, आत्मा है। इस सूत्र से आत्मा की सिद्धि होती है। इस प्रकार भगवतीसूत्र में अन्य स्थल पर भी जीव सिद्धि हेतु प्रश्न किया—“जीव है या नहीं?” तब भगवान ने कहा—“गौतम! जब जीव का अस्तित्व नहीं है तब कौन उत्थान करता? कौन कर्मबल, और पुरुषाकार—पराक्रम करता? यह कर्म—बल—वीर्य और पुरुषाकार—पराक्रम जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निदर्शन है”।²

राजप्रश्नीय सूत्र में आत्मा के अस्तित्व का वर्णन

राजप्रश्नीय सूत्र में राजा प्रदेशी के अन्तर्मन मन में आत्मा के विषय में जो शंकाएँ थीं उनका समाधान श्रमण केशी कुमार ने किया उसका वर्णन है। राजा प्रदेशी अक्रियावादी था, उसे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर अणुमात्र भी विश्वास नहीं था। वह आत्मा और शरीर को एकमेक मानता था। तब केशी श्रमण ने विभिन्न युक्तियों द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता का बोध कराया।

प्रदेशी राजा ने आत्मा को प्रत्यक्ष देखने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु जब आत्मा नहीं दिखाई नहीं दी तो उन्होंने यह धारणा स्थिर की कि आत्मा का अस्तित्व नहीं

¹ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, 11/1 सूत्र, मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पृ. 10

² व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, पृ. 10

है? केशी श्रमण ने अकाट्य युक्तियों और बहुविध प्रयुक्तियों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। आत्मा की सत्ता विषयक प्रदेशी राजा की शंकाएं तथा केशीश्रमण के समाधान निम्नानुसार हैं—

1. राजा प्रदेशी ने तर्क उपस्थित किया कि — मैंने एक चोर को पकड़वाया और आरक्षकों द्वारा दो, तीन, चार इस तरह सूक्ष्म—सूक्ष्म रूप में विभक्त किया पर कहीं जीव दृष्टिगत नहीं हो पाया विभक्त करने पर जीव दृष्टिगत नहीं हुआ, जबकि शरीर को छिन्न—भिन्न करने पर जीव दिखाई देना चाहिए। इसलिए मेरी मान्यता सही है कि—जीव नहीं है।¹

केशीश्रमण के उक्त तथ्य को सुनकर आत्म के अस्तित्व सिद्धि के लिए लकड़हारे का उदाहरण देकर कहा कि—“जिस प्रकार काष्ठ के टुकड़े किये जाने पर अग्नि के दर्शन नहीं हो पाते, किन्तु अरणिकाष्ठ को अग्रभाग से रगड़ने पर ज्वाला प्रज्वलित होती है, स्फूलिंग दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही शरीर के टुकड़े—टुकड़े कर देने पर जीव दिखाई नहीं देता। पर आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध हैं।²

2. राजा प्रदेशी ने इस समाधान पर कहा कि— जब आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हैं तो मुझे हस्तामलकवत् जीव को बाहर निकालकर दिखलाइये? तब केशीश्रमण ने वायु से डोलायमान पत्र—पुष्प की ओर संकेत करते हुए कहा—क्या मूर्त काम, राग, वेद, मोह, लेश्या और शरीर से युक्त पवन का रूप—रंग देख सकते हो? प्रदेशी ने कहा—नहीं, तब केशीश्रमण ने समाधान दिया कि—वैसे ही अमूर्त और रूप रहित जीव को मैं कैसे दिखला सकता हूँ?³

इस प्रकार राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण की तर्क पूर्ण युक्तियों द्वारा समझाने पर स्वीकार किया कि आत्मा का अस्तित्व हैं।

इसी प्रकार जीवाजीवाभिगम सूत्र में भी जीव और अजीव के अभिगम तथा प्रज्ञापना सूत्र में भी जीव के विषय में जहां गहराई से विवेचना है वहां सुविस्तृत सूक्ष्मतम विश्लेषण भी संप्राप्त है।

¹ राजप्रश्नीय सूत्र, सूत्र 258, पृ. 184

² राजप्रश्नीयसूत्र, सूत्र 259, पृ. 185-186

³ वही, सूत्र 264, पृ. 190

दशवैकालिक सूत्र में आत्मा के अस्तित्व पर प्रकाश

दशवैकालिक सूत्र में आचार-विचार निरूपण के साथ-साथ षड्जीवनिकाय का सविस्तृत विवेचन है। जीव की सत्ता है अथवा नहीं? इस प्रश्न चिह्न का समीचिन समाधान करते हुए यह कहा गया है कि जीव के विद्यमान होने पर ही चरित्रधर्म का प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि यदि जीव ही नहीं है तब चरित्रधर्म की प्ररूपणा किसके लिए की जाती है? अतः आत्मा है, और वह अनेक प्रमाणों से वह प्रमाणित है। आत्मा का लक्षण उपयोग है, वह लक्षण आत्म द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। मृत शरीरों के सभी अवयव विद्यमान है तथापि उक्त लक्षण का वहां अभाव है एतदर्थ उनको मृतक शरीर कहा जाता है। "अहं प्रत्यय" करने वाला कोई अन्य पदार्थ अवश्य है और उससे सम्बन्ध रखने वाला शरीर पदार्थ अन्य है। इससे जीव की सत्ता शरीर से पृथक् सिद्ध होती है। यही आत्मद्रव्य षट्काय जीवों में विद्यमान है। एक शंका उद्भूत होती है "असंख्यात प्रदेशात्मक लोक में अनन्त आत्माएं किस प्रकार विद्यमान है? तब सूत्रकार ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है—"जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्र दीपकों का प्रकाश विद्यमान है, उसी प्रकार इस लोक में अनन्त जीव अपना अस्तित्व लिये हुए है इस प्रकार आत्मा का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।¹

दशवैकालिक सूत्र में ऐसा उल्लेख है कि "अणेग जीवा, पुढो सत्ता² अर्थात् एक पिण्ड में अनेक जीव होते हुए भी उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मा के अस्तित्व पर प्रकाश

उत्तराध्ययनसूत्र में कई स्थानों पर जीव के स्वरूप और अस्तित्व का निरूपण किया गया है। इस सूत्र के 14वें अध्ययन 'ईषुकारीय' में देवभद्र-यशोभद्र के पिता भृगुपुरोहित अपने पुत्रों को प्रव्रज्या नहीं लेने के लिए कतिपय युक्तियों से समझाते हैं, कि "तुम सांसारिक सुखों का उपभोग करो क्योंकि यह जीवन पुनः-पुनः नहीं मिलता है। उनकी मान्यतानुसार जीव शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। "जिस प्रकार अरणि में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दुग्ध में धृत और तिल में तेल विद्यमान है, उसी प्रकार

¹ दशवैकालिक सूत्र, आत्मारामजी मा., जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, पृ. 62

² वही, पृ. 63

शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शरीर का नाश होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता है”। इस प्रकार भृगु पुरोहित ने आत्मा के नास्तित्व का कथन किया।¹

पुरोहित पुत्रों ने कहा – आत्मा इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती इतने मात्र से उसका नास्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा मूर्त-द्रव्य ही जाने जाते हैं। आत्मा अमूर्त है, वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। उन्होंने कहा आत्मा है, आत्मा नित्य है, उसके द्वारा कर्मों का बन्ध होता है तथा कर्म-बन्ध के कारण ही जीव चतुर्विध गति संसार में भ्रमण करता है। इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के इस अध्ययन में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए चतुर्विध आधारभूत तथ्य निरूपित हुए हैं।²

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन “संजयीय” में संयतिराजा और गर्दभालिमुनि का वार्तालाप है। उसमें संयति राजा कहते हैं कि – लोक में जो क्रियावादी और अक्रियावादी हैं उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं, यथा क्रियावादी आत्मा में विश्वास कर आत्मकर्तृत्व को स्वीकार करते हैं और अक्रियावादी निम्न चार तथ्यों को स्वीकार करते हैं—

1. आत्मा का अस्वीकार
2. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार
3. कर्म का अस्वीकार
4. पुनर्जन्म का अस्वीकार

अतः आपके मत में क्या यथार्थ है और क्या अयथार्थ है?³

इस प्रश्न के समाधान में गर्दभालि श्रमण ने कहा – “इन एकान्त क्रियावादी तथा अन्य वादियों ने जो कहा है, वह माया-पूर्ण है, मिथ्या-वचन है, अतः निरर्थक है। मैंने अपने ज्ञान से सभी एकान्त दृष्टि वालों को जान लिया है। वे अयथार्थ दृष्टिकोण रखते हैं किन्तु मैं परलोक के अस्तित्व तथा आत्मा के अस्तित्व को भलीभांति जानता हूँ।⁴

उत्तराध्ययन सूत्र के 36वें अध्ययन में जीव-अजीव का विस्तार से विवेचन है तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करके उनमें चेतन सत्ता

¹ उत्तरज्ज्ञयणाणि, 14/18, जैन विश्वभारती, लाहन्

² उत्तरज्ज्ञयणाणि, गाथा 19, (नो इन्द्रियगेज्ज्ञ) अध्या-14,

³ उत्तरज्ज्ञयणाणि, गाथा 18/23

⁴ वही, गाथा 18/26-27

सिद्ध की गई है। लोक को जीव-अजीवमय बताया है यथा "जीवा चैव अजीवा य एस लोए वियाहिए"।¹

प्रवचनसार में वर्णित आत्मा का अस्तित्व

कुन्दकुन्दाचार्य रचित प्रवचनसार में ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र का वर्णन है। इस ग्रन्थ में आत्मा के स्वरूप तथा उसकी स्वभाव व विभाव दशा का विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है।

आत्मा के स्वतन्त्र रूप को सिद्ध करते हुए वर्णन प्राप्त होता है कि - आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु हैं, वह अचेतन पुद्गल द्रव्यरूप नहीं है। जो सूक्ष्मपरमाणुरूप पुद्गल स्वरूप है वह चैतन्य से स्कन्धरूप नहीं है, वे अपनी शक्ति से ही पिण्डरूप हो जाते हैं। अतः निश्चय से आत्मा ज्ञान स्वरूप है, विकारमयी नहीं है।²

यह शरीर मन-वचन सहित होने से पौद्गलिक है। इस कारण आत्मा कृत-कारित और अनुमोदितभावों से कर्ता नहीं है, क्योंकि शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है, जीव में अनन्त पुद्गल परमाणुरूप परिणमन शक्ति नहीं है। पुद्गल निज शक्ति से पौद्गलिक पर्याय है अतःएव जीव और शरीर में पर्याप्त अन्तर है, इस कारण दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य है। इस प्रकार जो जीव और शरीर को एक ही मानते हैं, उनके मत का भी निरसन हो जाता है और आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध होता है।³

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थ में आत्मा के अस्तित्व को लेकर विस्तृत विचारणा की है।

समयसार में वर्णित आत्मा का अस्तित्व

कुन्दकुन्दाचार्य रचित समयसार में जीवाजीवाधिकार में जीव और अजीव दोनों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए दोनों को भिन्न-भिन्न रूप सिद्ध किया है। शिष्य कहता है- इस जगत में आत्मा के असाधारण लक्षण न जानने के कारण अत्यन्त विमूढ़ अज्ञानीजन परमार्थभूत आत्मा को नहीं जानते हैं। किसी के अभिमत में रागद्वेषात्मक जो अध्यवसाय है वह जीव है, कोई कर्म को जीव मानते हैं कोई नवीन और पुरानी अवस्था, भाव से जो

¹ वही, गाथा 36/3

² प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य) गाथा 70, पृ. 203, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास

³ वही, गाथा 79

प्रवर्तमान नोकर्म है उन्हें ही जीव मानते हैं, क्योंकि इस शरीर से भिन्न दृष्टिगत नहीं होता है। कोई सुख-दुःख रूप भाव को जीव मानते है।¹

समयसार में इस शंका का समाधान इस रूप में है कि— “जो परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे संयोगजन्य भावों को ही जीव कहते है। सर्वज्ञ ने जीव का स्वरूप पुद्गल से भिन्न प्रतिपादित किया है। जितने भी परवादी जीवों का स्वरूप बताते है वे सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम है। इस कारण वे चैतन्यभाव से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप निरूपित करते है अतः चैतन्यस्वभावमय जीव-द्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है। अतः आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र है।² इस प्रकार समयसार में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

पंचास्तिकाय में भी पांच अस्तिकायों का वर्णन है, उसी में जीवास्तिकाय का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जीव के स्वरूप व जीव-पुद्गल के सम्बन्धों को निरूपित करते हुए जीव द्रव्य को बिल्कुल स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है।

आत्मा संसारदशा में क्रमवर्ती अविच्छिन्न शरीर-प्रवाह में जिस प्रकार एक शरीर में रहता है, उसी प्रकार क्रम से अन्य शरीरों में भी रहता है इस प्रकार जीव का क्रम से समग्र शरीरों में अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जीव का अस्तित्व

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में 12 अनुप्रेक्षाओं का कथन है— उनमें वर्णित लोकानुप्रेक्षा में लोक में रहे हुए जीव और अजीव का वर्णन है। जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में उल्लेख है कि—“जो चार्वाकदर्शन ज्ञान को पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का विकार मानते है, उनका कथन सत्यपूर्ण नहीं है क्योंकि ज्ञान के अभाव में जीव का अस्तित्व नहीं देखा जाता है।³ क्योंकि—यह जीव सत् रूप है और चैतन्य स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध हैं जो जीव को जानते ही नहीं है वे जीव का अभाव कैसे सिद्ध कर सकते है।⁴

¹ समयसार, गाथा 39-43, पृ. 78

² वही, गाथा 44, पृ. 80

³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (आ. कार्तिकेय 14), गाथा 181, पृ. 83, सोनगढ़

⁴ वही, गाथा 182

जब जीव नहीं है तब कौन सुख-दुःख की अनुभूति करता है और इन्द्रियों के स्पर्श आदि सर्व विषयों को विशेष रूप से कौन जान पाता है।¹

इस प्रकार जीव (आत्मा) का शरीर से स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

परमात्मप्रकाश में आत्मा का अस्तित्व

योगीन्दुदेव द्वारा रचित 'परमात्मप्रकाश' में आत्मा के तीन रूपों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आत्मा है तभी उसके भेद प्रतिपादित है, इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ की एक गाथा में उल्लेख है—“जो देह को आत्मा समझता है। वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न हुए परमानन्द रूप अमृत पान नहीं करने वाला व्यक्ति वस्तुतः हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है।²

विशेष्यावश्यकभाष्य में भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए आ. जिनभद्रगणि ने कई प्रमाण दिए, जिनका वर्णन पिछले खण्ड में किया गया है, इस तरह प्रमाण सहित आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में आत्मा का स्वरूप

आत्मा शरीर से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य है, यह तथ्य समग्र आस्तिक दर्शन के द्वारा समर्थित है। परन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है? इसमें एकरूपता नहीं है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि आत्मा एकान्तरूप से नित्य है, कुछ चिन्तक उसे सर्वथा अनित्य-अशाश्वत मानते हैं। यह प्रश्न वस्तुतः जटिल रूप भी है क्योंकि आत्मा अमूर्त है। जब आत्मा अमूर्तिमय है, अतः इसके गुण लक्षणादि का सर्वांगपूर्ण परिचय सुगमता से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन इस दिशा में अतिशय क्रियाशील रहा है और इस क्षेत्र में चिन्तन के परिणामस्वरूप यह जटिलता न्यूनरूप हो पाई है, जैन दर्शन ने आत्मा की स्वरूपगत परिभाषा और व्याख्या को एक वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इतना ही नहीं

¹ वही, गाथा 183

² परमात्मप्रकाश, (योगीन्दुदेव) दोहा 13, पृ. 20

आत्मा का यथार्थतः जो अवरथा है, उसे जो व्यवस्था दी है, वह अपने आप में मौलिक एवं मार्मिक है।¹

जैन दर्शन के सन्दर्भ में आत्मा के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण

पदार्थ का प्रबोध कराने के लिए शब्द महत्वपूर्ण अमोघ साधन है। परन्तु, शब्द का रूपवान पदार्थों के स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ हैं, किन्तु उसके द्वारा रूप रहित पदार्थों का वर्णन अंशतः किया है। शब्द में ऐसी शक्ति सम्भव नहीं है कि वह रूपादि से रहित पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित कर सके। इसलिए शब्द आत्मा के यथार्थ स्वरूप को चित्रित करने में समर्थ नहीं है। आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि भौतिक गुणों से रहित है। इसलिए आगमों में कहा गया कि—“वहां तर्क का प्रवेश नहीं है, बुद्धि से उसका ग्रहण कथमपि कदापि सम्भव नहीं है वह पुद्गल से रहित होने के कारण एकाकी है। वह समग्र ज्ञेय का ज्ञाता है। वह शुद्ध स्वरूप आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वर्तुल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न मंडलाकार है न कृष्ण है, न पीत है, न श्वेत है, न हरित है, न रक्त है, न सुगन्धित है, न दुर्गन्धित है, तिक्त है, न कटुक है, न आम्ल है, न मधुर है, न कर्कश—मृदु—गुरु—लघु हैं न शरीर है, न जन्म मृत्यु का कर्ता है, न स्त्री—पुरुष नपुंसकवेदी है। वह स्व तथा पर के स्वरूप का ज्ञाता है, सम्यग्ज्ञानी है, उसके स्वरूप को बताने में कोई उपमा अंशतः समर्थ नहीं हैं, वह अरूपी सत्ता वाला है, अवरथा से विहीन है। एतदर्थ इसको व्यक्त करने वाला कोई शब्द विशेष नहीं है।² तो प्रश्न उपस्थित होता है कि जब मन, बुद्धि और इन्द्रियां आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करने में असमर्थ है तब फिर आत्मा के स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि जिन महापुरुषों ने अपने ज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष किया है वे आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूपेण जानते हैं, और कथन करते हैं और उनके द्वारा अभिव्यक्ति दी जाती है। जैसे विश्व के जितने भी द्रव्य हैं, उनमें कोई न कोई गुण अवश्य है। वैसे ही जीव द्रव्य अथवा आत्मद्रव्य में भी ऐसे अनेक गुण हैं जिनके माध्यम से उसका स्वरूप प्रकट होता है।³

¹ जैनधर्म एक अनुशीलन, (डॉ. राजेन्द्र मुनि), युनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ. 39

² आचारांगसूत्र 5/6/171, आत्मारामजी मा., पृ. 475

³ अत्मवाद, मुनिफूलचन्द्र, पृ. 5

ऐसा उल्लेख है, इससे यह परिशिष्ट है कि सर्व जीवों में ज्ञान के तारतम्य का सद्भाव है, यहां तक कि जो निगोद जीव है उनमें भी ज्ञान का अनन्तवां भाग उद्घाटित है, यदि ऐसा न हो तब जीव और अजीव की भेदरेखा नहीं रह पायेगी।

जैनागमों में जीव के दो भेद माने गये हैं — सिद्ध और संसारी। दोनों अवस्थाओं में शुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि से कोई भेदरेखा अंकित नहीं है पर कर्मों का ही एकमात्र अन्तर है। इसी विभेद के आधार से संसारी जीव के स्वरूप को जानने के लिए जैन दर्शन ने कुछ लक्षण बताये हैं जो इस रूप में हैं—

चैतन्यता

आत्मा अनन्त गुणों की अक्षय निधि है, किन्तु उन सब गुणों में चैतन्य—गुण प्रमुख है। इसी को उपयोग—गुण भी कहा जाता है। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञान की ज्योति से समान रूपेण प्रकाशमान है। ज्ञान के अभाव में आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता।

आचारांग सूत्र में कहा है — “जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया”¹ जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जहां ज्ञान परिलक्षित होता है वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहां चेतना का आभास होता है, वहां ज्ञान की ज्योति अवश्य रहती है। जैसे सूर्य की किरणें और प्रकाश एक—दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते हैं। वैसे ही जिस पदार्थ में ज्ञान का अभाव है, वहां आत्मचेतना की प्रतीति भी नहीं होती है।

सूत्रकृतांग सूत्र में अज्ञानवाद का निरसन करते हुए यह उल्लेख है कि अज्ञान से जीव अजीव हो जायेगा, ज्ञान गुण आत्मा का विशेष गुण है। चेतन से ही जीव की पहचान होती है।²

भगवती सूत्र में जीव के अस्तित्व की शंका से ग्रस्त गौतम—स्वामी ने पूछा कि — जीव किस प्रकार आत्मभाव प्रदर्शित करता है तब प्रभु ने बताया कि — “उवओगलक्खणे

¹ आचारांगसूत्र, 5/5/166

² सूत्रकृतांगसूत्र, 12/535-536

पं जीवे¹ जीव ज्ञान की अनन्तपर्यायों को प्राप्त करता है, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है। जब विशिष्ट चेतना शक्ति होती है, तभी विशिष्ट उत्थानादि बल होते हैं।

भगवतीसूत्र के अष्टम् शतक के दूसरे उद्देशक में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक किसमें कितने उपयोग पाये जाते हैं, यह बताया गया, इससे स्पष्ट है कि क्योंकि सब जीवों में ज्ञान का तारतम्य सद्भाव रहता है।

प्रज्ञापना सूत्र में जीव-अजीव की प्रज्ञापना दी है, उसी में पांचवां विशेषपद पर्यायपद है। इसमें विशेष का अर्थ जीव के चैतन्य गुण से गृहीत है, चैतन्य गुण ही जीव और अजीव को अलग सिद्ध करता है। वेदान्तदर्शन के सदृश्य जीवद्रव्य एक नहीं है, किन्तु अनन्त है, अनेक जीवों में जो विभिन्न धर्म दृष्टिगत होते हैं, वे ही अनेक हैं।²

दशवैकालिक के चौथे अध्ययन में जहां षड्जीवनिकाय का वर्णन है, वहां पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक एक शब्द प्रयुक्त है— “चित्तमंतमक्खाया”³ अर्थात् पांचों स्थावर भी चेतनामय हैं। मोहनीय कर्म के प्रबलोदय से एकेन्द्रिय जीव अल्प विकसित चेतना वाले होते हैं। उनसे कुछ अधिक विकसित चेतनस्वरूप द्वीन्द्रिय जीव होते हैं इसी प्रकार आगे उत्तरोत्तर जीवों में चेतना के विकास की धारा प्रवहमान हैं। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों में चैतन्य लक्षित नहीं होती है, इस शंका का समाधान विद्वानों ने निम्नानुसार किया है—

1. जल सचेतन है, क्योंकि वह भूमि से स्वयमेव उद्भूत होता है, मैंढक की सदृश्य। (भूमिखात् स्वाभाविक संभवात्, दर्दूरवत्, सात्मकं जल)
2. अग्नि सचेतन है, क्योंकि, वह आहार करने से बढ़ती है, बालक की तरह। (सात्मकोअग्निः, आहारेण वृद्धि दर्शनात्, बालकवत्)
3. वायु सचेतन है, क्योंकि वह बिना किसी दूसरे की प्रेरणा से निश्चित दिशा में गमन करती है, गौ की तरह। (सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनाद्, गोवत्)

¹ (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, 2/10, पृ. 247

(ख) जीवो उवओगमओ, द्रव्यसंग्रह

² प्रज्ञापनासूत्र, पंचम विशेषपद, विवेचन

³ दशवैकालिक सूत्र, अध्या. 4, सूत्र 5

4. वृक्ष सचेतन है, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण छाल उतार देने से वे मर जाते हैं, गर्भ की तरह। (सचेनास्तरववः सर्वत्वगपहरणे मरणाद्, गर्भवत्)¹

त्रस जीवों के लिए विशेषण दिया है – “आगइगइ विन्नाया” त्रस जीवों में विशिष्ट विज्ञान यह बताने के लिए ही सूत्रकार ने प्रस्तुत पद दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अठाईसवें अध्ययन में सूत्रकार बताते हैं— “ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण है। “जीवो उवओगलक्खणो”। उपयोग का अर्थ चेतना की प्रवृत्ति, जिसमें चेतन गुण है वही जीव है, बाकी सब पदार्थ अजीव है।²

जीव के धर्म को समयसार में बतलाते हुए कहा है – “आत्मा भी एक द्रव्य है और उसके गुण अनन्त हैं, उनमें से चेतनत्व असाधारण गुण है वह गुणधर्म अचेतन द्रव्य में विद्यमान नहीं है। चेतनत्व अपने अनन्तधर्मों में अतिशय व्यापक है, इस कारण इसी को आत्मा-तत्व कहा जाता है। “प्रगटे निज अनुभवकरे, सत्ता चेतन रूप।”³

परमात्मप्रकाश में स्पष्टतः उल्लेख है कि—जीव और अजीव में लक्षण भेद से अवश्य है जीव का लक्षण शुद्ध चैतन्य और ज्ञानमय है, वह लक्षण अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। चेतना गुण केवल जीव में पाया जाता है। यथा “चिमित्तु—चिन्मात्र”।⁴

प्रवचनसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ में ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता बतायी है, जैसे अग्नि ज्वलनक्रिया करने का कर्ता है और उष्णगुण ज्वलन क्रिया का प्रमुख कारण है, अग्नि और उष्ण व्यवहार से भिन्न है। परन्तु यथार्थता से भिन्न नहीं है, इसी प्रकार यह आत्मा जानने रूप क्रिया का कर्ता है, और ज्ञान—क्रिया का अभिन्न साधन है, इसमें व्यवहार से भिन्नत्व है, वस्तुतः आत्मा और ज्ञान एक ही है।⁵

गोम्मटसार के (जीवकाण्ड) उपयोगाधिकार में उल्लेख है कि – साकार और अनाकार उपयोग के द्वादश भेद है उनमें से कोई न कोई उपयोग जीव में सदैव विद्यमान

¹ दशवैकालिक सूत्र, विवेचन पृ. 63 (आत्मारामजी मा.)

² उत्तरज्झयणापि, 28/4

³ समयसार, भूमिका पृ. 3

⁴ परमात्मप्रकाश, दोहा 30-31

⁵ प्रवचनसार, गाथा 35-36 “तम्हा णण जीवो णेयं”

हैं। क्योंकि यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवों का एकमात्र निर्दोष लक्षण है। उपयोग चेतना का ही परिणामन है।¹ विशेष्यावश्यकभाष्य में भी जीव को ज्ञान-दर्शन सहित माना है।

इस प्रकार उपयोग या चैतन्य गुण जीव को अजीव से पृथक् रूपेण सिद्ध करता है। न्यायवैशेषिक दर्शन आत्मा को चैतन्यस्वरूप न मानकर जड़ स्वरूप मानते हैं, उनका मन्तव्य है कि आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध है। “ज्ञानाधिकरणमात्मा” आत्मा अधिकरण है और ज्ञान आधेय है। आत्मा स्वयं जड़ है परन्तु ज्ञान के योग से ज्ञानवान है एवं चेतना के योग से चेतनावान है।

इस विषय में जैनदर्शन का अमर उद्घोष है कि — ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता कि मैं स्वयं अचेतन हूँ, किन्तु चेतन के योग से चेतनावान हूँ, ऐसी प्रतीति भी सम्भव नहीं हो पाती। मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। अतः ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं है। सुषुप्तिकाल में भी चेतनत्व सर्वथा लुप्त नहीं होता, अव्यक्तरूप में सका अस्तित्व सुरक्षित है।

कर्ता एवं भोक्ता

आत्मा में कर्तृत्व शक्ति सन्निहित है, जब वह अपने हित-अहित को जानने में सर्वथा समर्थ है तब कर्म कर्तृत्व एवं कर्मभोक्तृत्व तोड़ने में भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। जीव स्वयं का कर्ता एवं स्वयं कर्म बन्धन का विध्वंसक है। जब स्वयं कर्म करता है तब वह कर्मफल का भोक्ता भी है। निष्कर्ष यह है कि “स्वयं कर्ता स्वयं भोक्ता” और जो करेगा वह भरेगा, यह कथ्य जागतिक जीवों के विषय में अक्षरशः चरितार्थ है।

सांख्यदर्शन कर्म का कर्ता “आत्मा” अर्थात् पुरुष को नहीं मानकर प्रकृति को मानता है। उसकी स्पष्टतः मान्यता है कि आत्मा अकर्ता है, एवं त्रिगुणातीत है तथापि वह भोक्ता है।² क्योंकि जब आत्मा को कर्म का कर्ता माना जाता तब मुक्त अवस्था में स्थित आत्मा को भी कर्तृत्व रूप में अवश्य स्वीकारना होगा। उसके अभिमत में आत्मा कूटस्थनित्य है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन कदापि सम्भव नहीं जब जीवों को कर्ता माना जाये तब वह सदा कर्ता रूप ही रहेगा। वह कभी भी कर्म बन्धन के कारागृह से

¹ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 673-674, पृ. 297 “सर्वे तलक्षणं जीवा”

² सांख्यकारिका, “अकर्ता निर्गुणो भोक्ता”

मुक्त नहीं हो सकेगा। इन सांख्य विचारकों ने इन दोषों से बचने के लिए आत्मा को अकर्तृत्व रूप में स्वीकार किया है।

इसी सन्दर्भ में यह तथ्य स्पष्ट है कि समग्र दर्शनकारों ने आत्मा के कर्तृत्व व भोक्तृत्व को अंशतः स्वीकार किया है, परन्तु जैन दर्शन सापेक्ष दृष्टि में आत्मा को पूर्णतः कर्ता मानता है। उसके कर्तृत्व के मध्य में कोई भी शक्ति न तो बाधक रूप है और न सहायक रूप ही। सांसारिक जीवात्मा सदा योगों में सक्रिय है, अतः आत्मा की सदसद् प्रवृत्ति के अनुसार शुभ और अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ अनुबन्ध होता है और जब आत्मा अपने शुभ एवं शुद्ध अध्यवसायों के द्वारा मन-वचन और काय योग को अशुभ प्रवृत्ति से विमुख कर लेता है, तब वह क्रमशः अशुभ कार्मिक बन्धनों से विरत हो कर बद्ध कर्मों की निर्जरा करने में तत्पर हो जाता है, और इस प्रकार एक दिन वह सर्व कर्म बन्ध के प्रगाढ़ जाल से सर्वथा मुक्त होकर सिद्धत्व अवस्था को अधिगत कर लेता है, यही आत्मा का कर्तृत्व है। और जब आत्मा स्वयं कर्म करता है तब उसका फल भी स्वयं प्राप्त होगा, यह तथ्य आगम प्रमाण से सर्वांशतः प्रमाणित है। यथा—

“जाणितु दुःखं पतेय सायं”¹ अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने कृत शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का संवेदन करता है। आत्मा स्वयं ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता भी है। अनुभव करने वाला और उन अनुभवों को स्मृति में संजोए रखने वाला भिन्न-भिन्न तत्व नहीं है अपितु एकमात्र जीव तत्व ही है।

जैन दर्शन में “एगा किरिया”² सूत्र से आत्मा को सक्रिय मानकर सांख्यदर्शन की मान्यता का निराकरण किया है। आत्मा दण्ड के अनन्तर क्रिया में प्रवृत्ति करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार जब आत्मा को निष्क्रिय मान लिया जाता है तब आत्मा कर्मों के निगुद्ध बन्धनों में बन्ध ही नहीं सकता और ऐसी दशा में बन्ध और मोक्ष की समग्रतः व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो जायेगी। यदि यह तथ्य जब स्वीकार कर लिया जाता है कि भोक्तृत्व क्षमता आत्मा में नहीं है, प्रत्युत प्रकृति-विकार रूप बुद्धि को ही सुखादि की अनुभूति होती है, तब यह मान्यता भी औचित्यपूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से प्रकृति में ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों का समावेश हो जाता। आत्मा तटस्थ रहने के कारण भोक्तृत्व से शून्य

¹ आचारंगसूत्र, 2/1/69 “जाणितुं दुःखं पतेयं सायं”

² स्थानांग सूत्र, 1/1/4

रूप में स्थित है। अतः एव आत्मा को धर्म—अधर्म एवं सुख—दुःख के भोग की व्यवस्था के लिए सक्रिय मानना ही युक्ति युक्त है।

अकारकवादी का अभिमत है कि “आत्मा स्वयं कोई, क्रिया नहीं करता है और न दूसरों से करवाता है”, सूत्रकृतांग सूत्र में यह तथ्य स्पष्ट है कि “कुत्वं च कारवं चेव सत्त्वं कुत्वं ण विज्जति।”¹ वृत्तिकार ने इसका निरसन इस रूप में किया है — “आत्मा को अकर्ता मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान् जन्म—मृत्यु आदि रूप, नरक तिर्यचादि प्रभृति गति गमन रूप यह लोक कैसे सिद्ध होगा? आत्मा के कर्तृत्व के विषय में उल्लेख है कि “सयमेव कडेहिं गाहति णो तस्सा मुञ्चे अपुटत्वं।”²

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा की ‘जीवे णं भन्ते! सयंकडं दुक्खं वेदेति?’ क्या जीव स्वयंकृत कर्मों को भोगता है?³ इस प्रश्न की पृष्ठ—भूमि में उस युग की आत्मविषयक अनेक विभ्रान्त मान्यताएं थीं—

1. कर्म का कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है।
2. ईश्वर या किसी शक्ति की कृपा होने पर स्वकृत दुःखजनक अशुभ कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता है।
3. परमाधार्मिक नरकपाल आदि ‘परकीय निमित्त’ से नारकीय जीवों को दुःख मिलता है।
4. वस्त्र—भोजनादि परवस्तुओं से अथवा अन्य व्यक्तियों से मनुष्य को सुख—दुःख प्राप्त होता है।⁴

किन्तु ये कतिपय मान्यताएं तर्क की कसौटी पर पूर्णतः खरी नहीं उतरती — पर वस्तु अथवा पर व्यक्ति सुख या दुःख में मात्र निमित्त बन सकते हैं, किन्तु वे कर्मकर्ता के स्थान पर स्वयं में सुख अथवा दुःख नहीं भोग सकते और न ही सुख दुःख दे सकते हैं, अतः जीव स्वयं ही कर्म का कर्ता और स्वयं कर्म फल का भोक्ता है। जैसे— संध लगाते हुए पकड़ा गया चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है — दण्डित होता है, उसी प्रकार कृत

¹ सूत्रकृतांग सूत्र, अध्ययन 1, उद्दे. 1 गाथा 13

² वही, अध्ययन 2/1/4

³ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र शतक 1, उद्दे. 2, सूत्र 2, पृ. 243

⁴ वही, भाग 1, पृ. 243

कर्मा का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं प्राप्त होता है।¹ निम्न गाथा से आत्मा का कर्तृत्व व भोक्तृत्व स्वयमेव सिद्ध होता है। “अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण सुहाण य”² आत्मा ही कर्मा का कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है।

कुन्दुकुन्दाचार्य ने आत्मा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने समयसार में कर्तृकर्माधिकार में उन्होंने कर्ता और भोक्ता की अपनी दृष्टि से चर्चा की है, उन्होंने व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को परस्पर में संपूरक मानकर आत्मा को कर्ता और भोक्ता स्वीकार किया।³

जब तक यह जीव आस्रव और आत्मा के भेद को नहीं जानता तब तक निःशंक होकर क्रोधादि कषाय में प्रवृत्ति करता है। क्रोध करते समय आत्मा अज्ञानभाव के कारण स्वभावजन्य उदासीन—ज्ञातत्व और दृष्टित्व अवस्था का परित्याग कर हिंसादि कार्यों को करता हुआ प्रतिभासित जैसा लगता है, इसलिए आत्मा कर्मा का कर्ता है।³

आत्मा अपने भावों को शुभ—अशुभ रूप में परिणमन करता है वह उस भाव का कर्ता निश्चय से होता है, वही भाव उसका कर्म होता है, उस भावरूप कर्म का भोक्ता आत्मा ही है।⁴

पंचास्तिकाय में प्रस्तुत तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है— “एवं कत्ता भोक्ता होज्जं, अप्प सगेहि कम्मोहि। हिण्डदि पारमपारं, संसार मोहसंछण्णो।”⁵ वह अपने कर्मा से कर्ता भोक्ता होता है अतः आत्मा मोहाच्छादित हुआ सान्त अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।” जब संसारी जीव मोहरूप राग अथवा द्वेष भाव करता है, तब उसी क्षेत्र में स्थित कार्मण—वर्गणा रूप पद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशों में विशेष प्रकार से परस्पर अवगाह रूप से प्रविष्ट होकर कर्म अवस्था को प्राप्त होते हैं।

स्वामी कार्तिकेय ने जीव की कर्तृत्व शक्ति को इस रूप में प्रतिपादित किया— “यह जीव सर्व कर्म नोकर्मा को मानता है, और अपने कर्म करता है।⁶ तदनन्तर भोक्ता के

¹ उत्तराध्ययन सूत्र 4/3 कड़ाण कम्माण न मोक्ख अत्थि”

² वही, 20/37 “अप्पा कत्ता-विकत्ता य दुहाण सुहाण य”

³ समयसार, कर्तृकर्माधिकार, गाथा 69-70

⁴ वही, गाथा 102

⁵ पंचास्तिकाय, गाथा 69 (एवं कत्ता-भोक्ता)

⁶ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 188, (“जीवा हवेइ कत्ता सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा)

विषय में इस रूप में उल्लेख किया है कि “जीव कर्मफल को भोगता है, संसार में सुख—दुःख रूप अनेक प्रकार के कर्मों के विपाक को भोगता है।¹ इसलिए भोक्ता है।

जीव को कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से कर्मकार की उपमा से उपमित किया है। जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

आत्मा का स्वदेह परिमाणत्व

आत्मा अणु है अथवा सर्वव्यापक है अथवा मध्यमपरिणामयुक्त है? इस विषय में भी विभिन्न विचारधाराएं परिलक्षित होती हैं। वैदिक दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य तथा सर्वव्यापक मानता है। उपनिषदों में परिमाण के विषय में बहुविध विचारधाराएं हैं, किन्तु ऋषियों की प्रवृत्ति समग्र कल्पना के अन्त में आत्मा को व्यापक मानने की विशेष रूप से हुई। जैसे— आत्मा नित्य और निरवयव है तथा व्यापक भी है। व्यापक का तात्पर्यभूत आशय का अर्थ महतोमहियान परिमाण द्रव्य होना है। कोई भी द्रव्य यदि नित्य है तब वह अणुपरिमाण वाला हो सकता है या परममहतपरिमाण वाला। इन उभय विकल्प के बीच मध्य आत्मा को अणु—परिमाण के द्रव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा समस्त शरीर के अंग—प्रत्यंग के माध्यम से समुत्पन्न सुख आदि का अनुभव नहीं कर सकेगा।² इसलिए इसे परममहत्परिमाण द्रव्य माना गया है। यही कारण है कि सभी वैदिक दर्शन में आत्मा को व्यापक रूप माना है। इस विषय में शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र, के भाष्यकार अपवाद मात्र हैं, उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक तथा जीवात्मा को अणुपरिमाण के रूप में स्वीकार किया है, परन्तु जैन दर्शन सापेक्ष दृष्टि से आत्मा को सर्वव्यापक और अणु न मानकर उसे मध्यम परिमाण के रूप में स्वीकार करता है।

जब आत्मा को अणु माना जाता तब वह न किसी पदार्थ का ज्ञान ही कर सकेगा और न सुख—दुःख की अनुभूति ही कर सकेगा, क्योंकि यदि वह अणुरूप है तब शरीर के एक प्रदेश में रहेगा न कि सम्पूर्ण शरीर में रह पायेगा। हमारी समस्त इन्द्रियां पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं रहेगी, क्योंकि उनमें आत्मा का सदभाव नहीं है। इसी प्रकार

¹ वही, गाथा 189 (जीवो वि हवइ भूत्ता, कम्मफलं सोवि भुंजदे जम्हां)

² तर्क संग्रह, पृ. 13

मस्तिष्क एवं चरण में अथवा शरीर के किसी भी दो या दो से अधिक अंगों में पीड़ा जब हो जाती है उसका एक समय में एक साथ अनुभव नहीं हो सकेगा। अतः एव आत्मा अणु प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं है।

यदि आत्मा को सर्वव्यापक माना जाता है तो उसमें निष्क्रियता आ जायेगी। यदि जगत के समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा है, तब उसमें गतिशीलता नहीं रहेगी। क्योंकि एक जीव के गति करते ही सब में गति होने की सम्भावना परिलक्षित होगी, और एक के स्थिर होने पर सर्व आत्माएं स्थिर होने लगेगी जो कथमपि युक्तियुक्त नहीं है।

अतः एव यह कथन यथार्थपूर्ण है आत्मा न तो अणुरूप है और न सर्वव्यापक रूप है, वह मध्यमपरिमाण वाला है। चार्वाक और बौद्ध दर्शन भी आत्मा को देह परिमाण के रूप में मानते हैं। कौशीतकी उपनिषद में भी ऐसा समुल्लेख है कि – जैसे तलवार अपनी म्यान में एवं अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है, उसी तरह आत्मा देह में नख से लेकर शिखा तक परिव्याप्त है।¹

इसी सन्दर्भ में जैन आगम में गम्भीर रूपेण विशेष चर्चा है— “आगओ अहमंसि”² अर्थात् — मैं आया हूँ — “पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि।” इस सूत्र से आत्मा की सर्वव्यापकता का न केवल निषेध होता है अपितु प्रतिरोध भी होता है। जैन-दर्शन आत्मा को संसारी आत्मा की अपेक्षा से शरीर परिमाण मानता है। पर कतिपय दर्शनकार आत्मा को सर्वव्यापक रूप में मानते हैं, एतदर्थ सूत्रकार ने स्पष्ट उद्घोषित किया है — “मैं आया हूँ।” यदि ऐसा प्रस्तुत तथ्य को इस रूप में स्वीकार कर लिया जाये कि “संसार में एक ही आत्मा है और सर्वव्यापक है तब मैं किस दिशा से आया हूँ तथा किस दिशा या गति में जाऊंगा?”³ ऐसा प्रयोग कदापि नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तब वह नारक, देव तिर्यंच और मनुष्य इन गतियों में स्थित है, तब एक गति का आयुष्य पूर्ण करके अपर गति में जाने की चर्चा एवं जन्म-मृत्यु की चर्चा यौक्तिकरूप प्रतीत नहीं होती। जब वह सर्वत्र व्याप्त है तब वह जन्म या मृत्यु के बिना यत्र-तत्र सर्वत्र जहां भी जाना है वहां पहुंच ही जायेगा। उसे न गति करने की आवश्यकता है और न ही इससे यह प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है,

¹ कौशीतकी उपनिषद, 4/120

² आचारांगसूत्र, 1/1/3, पृ. 20, “आगओ अहमंसि”

³ आचारांगसूत्र 1/4 “के वा इओ चुए, इह पेच्चा भविस्सामि”

अपितु देशव्यापक है, अर्थात् अपने शरीर परिमाण में स्थित है। यह जो कथन है वह व्यवहारनय की विवक्षा के आधार पर है।

जैन दर्शन में आत्मा को व्यापक रूप भी स्वीकार किया है, परन्तु वह केवलज्ञान के सर्वत्र उपयोग की अपेक्षा से है। जब केवलज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग में वेदनीय कर्म सर्वाधिक और आयुष्यकर्म अल्प रह जाता है, तब वे उस समय उन दोनों कर्मों में सन्तुलन लाने की दृष्टि से समुद्धात करते हैं। उस समय सर्वप्रथम स्वकीय आत्म प्रदेशों को दण्डाकार के रूप में फैलाते हैं, द्वितीय समय में उन्हें कपाट के आकार में परिवर्तित करते हैं। तृतीय समय में मथनी के रूप में अपनी आत्मा प्रदेशों को फैलाते हैं, और चतुर्थ समय में अपने आत्म प्रदेशों को सम्पूर्ण लोक में विस्तीर्ण कर लेते हैं। इस प्रकार उनके आत्मप्रदेश लोक के समस्त आकाश प्रदेशों को संस्पर्श कर लेते हैं पंचम समय में वे पुनः अपने आत्म-प्रदेशों को समेटने लगते हैं और उन्हें मंथनी की स्थिति में ले आते हैं, षष्ठ समय में पुनः कपाट और सप्तम समय में दण्ड के आकार में ले आते हैं, एवं अष्टम समय में अपने शरीर में आत्म प्रदेशों को सुस्थिर कर देते हैं। अर्थात् आत्मप्रदेशों को फैलाकर समेट लेते हैं। एतदर्थ आत्मा केवली समुद्धात की अपेक्षा से सर्वव्यापी है।¹ सदा के लिए नहीं। इसलिए आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना ही सर्वथा संगत है। आगम साहित्य में सूत्रकृतांग साहित्य अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रस्तुत आगम में आत्मा की सर्वव्यापकता के मन्तव्य का निरसन करते हुए बताया गया है कि— अकारकवादी ने आत्मा को सर्वव्यापी तथा “सर्वगत” के रूप में स्वीकार किया है। तब प्रश्न चिह्न है कि — आत्मा यदि व्यापक है तो उसकी नरक—तिर्यच, मनुष्य और देव तथा मोक्षरूप पांच प्रकार की गति भी नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में अकारकवादियों द्वारा काषायवस्त्रधारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्नभोजन, यम—नियम आदि सर्व क्रियाकलाप व्यर्थपूर्ण हो जायेंगे।²

गणधर इन्द्रभूति गौतम ने महाप्रभु महावीर से पृष्ठा की “से णूणं भंते! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे? क्या वास्तव में हाथी और कुन्थु का जीव समान है? तो

¹ औपपातिक सूत्र, सिद्धस्वरूप, पृ. 40

² सूत्रकृतांगसूत्र, गाथा विवेचन-13-14, हेमचन्द्रजी मा., आत्मज्ञानपीठ मानसा, पृ. 107

भगवान ने कहा—हां! हाथी और कुन्थु का जीव एक सदृश्य है।¹ इस प्रश्नोत्तर से यह पूर्ण ज्ञात है कि — जिसका जितना शरीर है, उसकी आत्मा उतने ही शरीर में समा जाती हैं। अर्थात् देह के अनुसार आत्म-प्रदेशों का संकोच और विस्तार भी होता है।

राजा प्रदेशी ने राजप्रश्नीय सूत्र में इसी प्रश्न को केशीश्रमण से पृच्छा कि—क्या हाथी और कुन्थु का जीव एक जैसा है? तब केशीश्रमण ने समाधान की भाषा में कहा—हां! जैसे — एक दीपक को विस्तृत भवन में जब स्थापित कर दिया जाता है तब सर्व द्वार और सर्व गवाक्ष बन्द कर दिये जाये तब उस दीपक के प्रकाश से वह विस्तृत भवन प्रकाशित हो सकता है, और वही दीपक जब लघु कक्ष में रख दिया जाता है तब उसका प्रकाश उस कक्ष तक ही सीमित रहेगा, उसी प्रकार पूर्वोपार्जित कार्मिक पुद्गलों से जीव को लघु अथवा बृहद् देह की प्राप्ति होती है, उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों का संकोच अथवा विस्तार करने का स्वभाव होता है। निष्कर्ष यह है कि वह उस शरीर को अपने असंख्यात आत्म प्रदेशों द्वारा संकुचित अथवा परिव्याप्त करता है।² अतःएव स्पष्ट यह है कि आत्मा सर्वव्यापी भी नहीं है और अणुमात्र भी नहीं है।

आचार्य कार्तिकेय देह प्रमाणत्व को स्वीकार करते हैं उनका स्पष्टतः मन्तव्य है कि—“लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश है, और जीव के भी असंख्यात प्रदेश है। केवलज्ञानी जब केवली समुद्धात करते हैं उस समय प्रदेश लोक में व्याप्त होते हैं। जीव में संकोच विस्तार की क्षमता है अतः जैसा शरीर प्राप्त है उसी के प्रमाण जीव का संकोच और विस्तार स्वतः हो जाता है। यह कथन जीव को सर्व गत मानने वाले मतों का अक्षारंशः निरसन करने के लिए पर्याप्त है — जब जीव सर्वगत है तब सर्व क्षेत्र सम्बन्धी सुख—दुःख की अनुभूति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं है, अतः जीव को स्व शरीर प्रमाण मानना ही तर्करूपी अर्क के प्रकाश में स्पष्ट है।³

उपर्युक्त मान्यताओं के सदभाव में जिज्ञासुओं के मन में एक प्रश्न उठता है कि—
आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?

¹ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, 7/8/2, पृ. 175

² राजप्रश्नीय सूत्र, 265 सूत्र, पृ. 173

³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 182-183, पृ. 83

“अप्पा जोइय सव्वगउ, अप्पा जडुवि वियाणि।

अप्पा देह पमाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि।”¹

कतिपय दर्शन (नैयायिक वेदान्ति और मीमांसक दर्शन वाले) जीव को सर्वव्यापक रूप में स्वीकार करते हैं, कोई (सांख्य-दर्शन वाले) जीव को जड़ कहते हैं, कोई (बौद्ध दर्शन वाले) जीव को शून्य के रूप में रूपायित करते हैं, कोई (जिनधर्मी) जीव को व्यवहारनयसे से देह प्रमाण और निश्चयनय से लोक प्रमाण स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं। पर यथार्थ अर्थ में आत्मा कैसा है? यह एक ऐसा प्रश्न है जो हमारे मन-मस्तिष्क को प्रभावित किये है।

इन प्रश्नों का उत्तर योगीन्दुदेव ने अनेकान्तदृष्टि से दिया हैं किसी अपेक्षा से आत्मा सर्वगत है – जब आत्मा कर्मों से रहित होता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है, जिससे वह लोका-लोक को जानता है, अतः ज्ञान की अपेक्षा से सर्वगत है, आत्म प्रदेशों की अपेक्षा से नहीं।²

आत्मा जड़ है – महामुनियों को वीतरागनिर्विकल्प समाधि के समय में स्वसंवेदन ज्ञान होने पर भी इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं होता है और केवलज्ञानियों को तो केवल अतीन्द्रिय ज्ञान ही होता है। अतः इन्द्रिय ज्ञान के अभाव की अपेक्षा से आत्मा को जड़ भी कहा जा सकता है।³

आत्मा शरीर प्रमाण है – संसारी अवस्था में हानि-वृद्धि का कारण शरीरनाम कर्म है। इसके सम्बन्ध से जीव बढ़ता है, और घटता है। जब महामच्छ का शरीर पाता है तो शरीर की वृद्धि होती है और जब निगोदिया शरीर पाता है तब घट जाता है। और मुक्त अवस्था में हानि-वृद्धि के कारण भूत कर्म का अभाव होने से जीव के प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं, न फैलते हैं, किन्तु चरम-शरीर से कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं। इसलिए यह शरीर प्रमाण है।⁴ इस अपेक्षा से शरीर प्रमाण मानते हैं।

¹ परमात्मप्रकाश, गाथा 51

² परमात्मप्रकाश, गाथा 52

³ वही, गाथा 53

⁴ वही, गाथा 54

विशेषावश्यकभाष्य में भी जीव को सर्वव्यापी न मानकर शरीरव्यापी माना है, जैसे घड़े के गुण घड़े में ही उपलब्ध होते हैं, बाह्य देश में नहीं वैसे ही आत्मा के गुण शरीर से बाहर उपलब्ध नहीं होते।

आत्मा का परिणामीत्व

प्रति समय अपर-अपर पर्यायों में परिणमन होने वाले पदार्थ को परिणामी कहते हैं। एक दशा, एक रूप, एक आकार को छोड़कर दूसरी दशा अवस्था, रूप और आकार में परिवर्तित होने वाले को परिणामी कहते हैं। आत्मा का द्रव्य और भाव पर्याय में प्रतिक्षण परिणमन होता ही रहता है।

भारतीय दर्शनों में कुछ दर्शन आत्मा को परिणामी मानते हैं तो कुछ दर्शन कूटस्थनित्य। जैसे-बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा अन्य वस्तुओं की तरह परिवर्तनशील है। बुद्ध ने आत्मा को विज्ञान का प्रवाह माना है। आत्मा पांच स्कन्धों की समष्टि का नाम है, स्कन्धों के परिवर्तनशील होने के कारण आत्मा भी परिवर्तनशील है। न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा नित्य तत्व है, सांख्य दर्शन के मत से आत्मा कूटस्थनित्य है, किन्तु जैन दर्शन की मान्यता है कि आत्मा परिणामी-नित्य है। उसमें प्रतिक्षण अभिनव पर्यायें पैदा होती हैं और पुरातन पर्यायों का क्षय होता है। इसका विस्तार से विवेचन अगले अध्याय में करेंगे।

आत्मा अरूपी (अमूर्त) है

स्थूल शरीर तो आंखों से दिखाई देता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर, मन, बुद्धि, परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ आंखों से नहीं दिखाई देते हैं फिर भी चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं, उनमें वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्श होता है। जिसमें वर्णादि हो, वे सभी जड़ भौतिक पुद्गल हैं। ये भौतिक पुद्गल-जड़ प्रकृति के धर्म हैं। निश्चय दृष्टि से आत्मा अरूपी है, उसमें कोई वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नहीं होता।

जैन विचारधारा के अनुसार आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध, चैतन्य तथा पुद्गल से भिन्न स्वतन्त्र तत्व या द्रव्य माना जाता है। लेकिन कुछ दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैन दर्शन के अनुसार तो जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। उसके लिए उन-उन दार्शनिकों द्वारा दिये गए तर्क निम्नानुसार हैं-

1. जीव यदि पौद्गलिक नहीं हैं तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार क्रिया और प्रवेश परिस्पन्द कैसे बन सकता है? क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार सौक्ष्म्य को पुद्गल का पर्याय माना गया है।
2. जीव के अपौद्गलिक होने पर आत्मा में पदार्थों का प्रति-बिम्बित होना भी कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है। जैन दर्शन में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है।
3. अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्मा का पौद्गलिक एवं मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे सम्भव है?
4. रागादिक को पौद्गलिक माना है जबकि रागादिक जीव के परिणाम है, बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं है (यदि जीव पौद्गलिक नहीं हो तो रागादिक पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे? इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण-नीलादि लेश्याएं कैसे बन सकती हैं।¹

उपर्युक्त शंकाओं का समाधान जैन विद्वानों ने इस प्रकार दिया है — संकोच-विस्तार तथा उसके आधार पर होने वाले सौक्ष्म्य एवं स्थौल्य तथा बन्धन और रागादि-भाव का होना सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण है। जहां तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक है और न अभौतिक।

आचार्य महाप्रज्ञ इस प्रश्न का समाधान करते हुए लिखते हैं — हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक माने तो उसमें चैतन्य घटित नहीं हो सकता और सर्वथा अपौद्गलिक माने तो संकोच-विस्तार, प्रकाशमय अनुभव, उर्ध्वगौरवधर्मिता, रागादि नहीं हो सकते। शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं हैं। अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती।² इस तरह अनेकान्त दृष्टि रखने पर शंका का समाधान हो जाता है। मूल रूप से आत्मा अरूपी हो है।

¹ अनेकान्त पत्रिका, जुगलकिशोर मुख्त्यार, 1942 जून

² मुनि नयमल, तट दो प्रवाह एक, पृ. 54

जैनआगमों में भी इस बात का समर्थन मिलता है – स्थानांग सूत्र में जीव को दो प्रकार से वर्गीकृत किया है – सरुवी चेव अरुवी य” सरुवी अर्थात् कर्मानुसार रूप विशेष एवं आकृति विशेष को धारण करने वाले जीव सरुपी कहलाते हैं तथा जो मुक्तात्मा कर्म-रहित होने से अमूर्त है, अतः वे अरुपी है।¹

उत्तराध्ययन सूत्र में भृगुपुरोहित और उसके पुत्रों के संवाद में जब पिता कहते हैं कि – आत्मा तो दिखाई नहीं देती है तो फिर उसका अस्तित्व कहां हैं? तब पुत्रों ने कहा— पिताजी, आत्मा अमूर्त है, इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है।²

जीव निश्चय से अमूर्त-अखण्ड-एक प्रतिभासमय होने से अमूर्त है, स्वरूप से अमूर्त है। और पररूप में प्रवेश द्वारा मूर्त भी है।³

आत्मा भूतों से भिन्न

आत्मा एक मौलिक तत्व है, अथवा अन्य किसी से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि, संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, मूल तत्व क्या है, यही विवाद है, इस बात को लेकर कई धारणाएं हैं— जिसका वर्णन अगले अध्याय में करेंगे।

उर्ध्वगमनत्व

निश्चय नय से जीव का स्वभाव उर्ध्वगमनशील है, क्योंकि उसमें गुरुत्व नहीं होता। जीव की स्वाभाविक उर्ध्वगति होने के कारण वह समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होते ही उर्ध्वगमन करके एक समय में लोक के अग्रभाग – सिद्धशिला – पर पहुंच जाता है।

मुक्त जीव उर्ध्वगति में ही गमन क्यों करता है? इस प्रश्न के समाधान में शास्त्रकारों ने चार कारण प्रस्तुत किये हैं—

1. पूर्व प्रयोग से— जिस प्रकार कुम्हार का चाक दण्ड को हटाने के बाद भी कुछ देर तक स्वयं ही घूमता रहता है उसी प्रकार मुक्त जीव भी पूर्वबद्ध कर्मों के छूट जाने के बाद भी उसके आवेश से प्राप्त आवेग द्वारा उर्ध्व गति करता है।

¹ स्थानांगसूत्र, अध्या. 2

² उत्तराध्ययणाणि, 14/19 (“नो इन्द्रियगेज्ज अमुत्तभावा”)

³ पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा 97

2. संग्रहितता – संग का अभिप्राय सम्बन्ध है। जीव की स्वाभाविक गति उर्ध्व है, किन्तु कर्मों के संग अथवा सम्बन्ध के कारण उसे नीची अथवा तिरछी गति भी करनी पड़ती है। कर्मों का संग छुटते ही वह अपनी स्वाभाविक उर्ध्व गति करता है।
3. बन्धन का टूटना – संसारी अवस्था में जीव कर्मों के बन्धन से जकड़ा रहता है, उस बन्धन के टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक उर्ध्व गति से गमन करता है।
4. स्वभाव के कारण – उर्ध्वगामिता का स्वभाव होने से मुक्त जीव उर्ध्वगति करता है। जब तक जीव कर्मों के बन्धन में फंसा रहता है, तब तक नरक-निगोद आदि अनेक गतियों में परिभ्रमण करता रहता है, किन्तु कर्मों से मुक्त होते ही वह स्वभाव से ऊपर जाता है।

इन कारणों को और स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकारों ने कुछ उदाहरण दिये हैं—

1. जैसे तुम्बे पर मिट्टी का लेप कर देने पर वह पानी में नीचे चला जाता है और लेप दूर होते ही वह पानी के ऊपर तैरने लगता है, वैसे ही कर्मभार से आक्रान्त आत्मा उसके आवेश से संसार में परिभ्रमण करता रहता है, किन्तु उस कर्मभार के दूर होते ही ऊर्ध्व गमन करता है।
2. फली में रहा हुआ एरण्ड का बीज फली का बन्धन टूटते ही छिटक कर ऊपर जाता है वैसे ही कर्मबन्धन से मुक्त होते ही यह जीव ऊपर जाता है।
3. अग्नि की शिखा वायु के झोंके के अनुसार तिरछी तथा चारों ओर घूमती है, किन्तु वायु के झोंके के दूर होते ही वह स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है।¹ इस प्रकार इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि मुक्त होने के बाद जीव की ऊर्ध्वगति होती है।

जैन दर्शन में आत्मा के स्वरूप की सारभूत अवधारणाएँ

जैन दर्शन में आत्मा या जीव के स्वरूप के बारे में विस्तार से विचार किया गया है। आगमों में आत्मस्वरूप के बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है। वह संक्षेप में इस प्रकार है

1. जीव स्वरूपतः अनादिनिधन, अविनाशी और अक्षय है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से उसका स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता, तीनों कालों में एक जैसा रहता है, इसलिए

¹ (क) तत्त्वार्थसूत्र (सुखलाल जी संघवी) पृ. 238
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, केवलमुनि जी, पृ. 469

वह नित्य है, किन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है, अतः अनित्य है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह द्रव्य रूप में सोना ही रहता है।

2. जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध, ये एक से प्रतीत होते हैं, वैसे ही संसारी दशा में जीव और शरीर एक से प्रतीत होते हैं, परन्तु जैसे पिंजरे से पक्षी, म्यान से तलवार, घड़े से शक्कर अलग है। वैसे ही वास्तव में जीव शरीर से अलग है।
3. शरीर के अनुसार जीव का संकोच एवं विस्तार होता है, जो जीव हाथी के विराटकाय शरीर में रहता है, वही कुन्थू के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। किन्तु, संकोच और विस्तार, इन दोनों अवस्थाओं में जीव की प्रदेशसंख्या समान ही रहती है, न्यूनाधिक नहीं होती।
4. जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।
5. जैसे आकाश अमूर्त है, फिर भी अवगाहनगुण से जाना जा सकता है, वैसे ही आत्मा अमूर्त है और वह विज्ञानगुण से जाना जाता है।
6. जैसे आकाश तीनों कालों में अनन्त अक्षय और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी और अवस्थित है।
7. जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव भी ज्ञान दर्शन गुणों का आधार हैं।
8. जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं उसका फल भोगता है।
9. जैसे खाया हुआ आहार स्वतः सप्तधातु के रूप में परिणत हो जाता है। वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मयोग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं।
10. जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग भी अनादि है। किन्तु जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् हो जाता है, वैसे ही संवर, तपस्या आदि उपायों के द्वारा जीव भी कर्मों से पृथक् हो जाता है।

11. जीव अनेकानेक शक्तियों का पुंज हैं। उसमें मुख्य शक्तियां ये हैं— ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति, संकल्पशक्ति।
12. जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है – जानना और देखना। जीव में जानने और देखने की अनन्त शक्ति हैं।
13. जीव अखण्ड द्रव्य है, इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते, अखण्ड पदार्थ का होने से जीव का एक भी प्रदेश उससे अलग नहीं किया जा सकता – वह सदा असंख्यात प्रदेशी रहता है।
14. जीव अनन्त है, परन्तु सर्वजीव वस्तुतः सदृश्य है, इसलिए सभी एक “जीवद्रव्य” की कोटि में समा जाते हैं, जितने जीव हैं, उतनी ही आत्माएं हैं। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और स्वानुभव करता है। परन्तु द्रव्य की दृष्टि से सब एक है क्योंकि सबमें चैतन्य गुण समान है।
15. जीव द्रव्य शाश्वत है। टाणांग सूत्र में बताया है – जीव पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत अव्यय है। वह तीनों कालों में जीव के रूप में विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता।¹

भारतीय दर्शन की तरह पाश्चात्य दर्शन में जीव अस्तित्व का समर्थन कई स्थानों पर मिलता है—

– प्लेटों के ग्रन्थ दि लाज (The Laws) में उल्लेख मिलता है कि— जीव की स्वतन्त्र सत्ता है, उनके अनुसार शरीर के पार एक आत्मसत्ता है। मनुष्य के पास कोई सर्वश्रेष्ठ वस्तु है तो वह है – दिव्य आत्मा।²

– अरस्तु ने आत्म-अस्तित्व सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं, जहां-जहां वस्तु के सजीवन अवशेष पाए जाते हैं, वहां-वहां उन सब में आत्मा निहित है।

– आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में रेने डेकार्टे का प्रसिद्ध सूत्र था ‘काजिटो आरगो सम’ अर्थात् मैं चिन्तन करता हूँ, इसीलिए मैं हूँ। अर्थात् मेरा अस्तित्व है। ‘मैं’ यह आत्मसूचक है, जो अन्य पदार्थों से भिन्न है।

¹ जैनतत्त्वकलिका, धर्मस्वरूप पृ. 119, (आत्मारामजी मा.)

² पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का इतिहास, डा. ग.ना. जोशी, खण्ड 1, पृ. 199

— रिपिनोजा के अनुसार चेतना एक है, परन्तु चेतना के असंख्य रूप हैं और प्रत्येक रूप आत्मा है।

— लाइबनिट्ज के चिदणु के रूप में आत्मतत्त्व को व्याख्यायित किया है।

— जॉन लॉक के अनुसार, मैं चिन्तन करता हूँ, मैं तर्क करता हूँ, मैं सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ, इससे मूलभूत सत्ता, आत्मा का बोध होता है।

— जॉन बर्कले ने विश्व की समग्र सत्ता को तीन भागों में विभक्त किया है—

1. आत्मा, 2. परमात्मा एवं 3. पदार्थ। यह सत्ता का वर्गीकरण, आत्म-अस्तित्व की स्वीकृतिमूलक धारणा है।¹

इस प्रकार जीव सत्ता के स्वतन्त्र अस्तित्व को, प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा, अनेक प्रबल युक्तियों-प्रयुक्तियों द्वारा समर्थन मिला है। जड़ से भिन्न, चेतन सत्ता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण में जीव अस्तित्व

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीव के स्वतन्त्र स्थायित्व पर चिन्तन किया है। प्रारम्भ में भौतिक विज्ञान केवल जड़ पदार्थ की खोज में अग्रसर था। भौतिकवादियों का तर्क था कि विश्व में जड़ की स्वायत्तता है, जड़ से भिन्न चेतना, आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। चेतना तो कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन एवं नाइट्रोजन का मिश्रण है। उसके आगे खोज करने पर जीव विज्ञानी आगे बढ़े।

जीव विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सजीव एवं निर्जीव पदार्थों से परिव्याप्त है। कुछ वैज्ञानिकों का चिन्तन स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिमान रहा। अन्त में उन्हें स्वानुभूति से यह निश्चयात्मक दृढ़विश्वास हुआ कि— जड़ से भिन्न एक ऐसी महासत्ता है जो सारी प्रकृति में काम कर रही है।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने कहा था— मुझे विश्वास होने लगा है कि यह चेतन सत्ता अदृश्य जगत् में सूक्ष्म है किन्तु महान् शक्तिशाली है।

¹ दर्शन की कहानी, विल डु रेन्ट, पृ. 74

J.V.S. हाल्डेन के शब्दों में जगत् का मौलिक रूप जड़ (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर, मन या चेतना ही है।

इस प्रकार भौतिक विज्ञानी, शरीर विज्ञानी तथा मनोविज्ञानी भी अपने अनुसन्धान क्षेत्रों में जीव सत्ता का प्रतिपादन अनुभूतियों एवं तथ्यों के आधार पर करते हैं।

जीववाद, प्राणवाद, फीटिशवाद, आदि अनेकवाद जीव सत्ता की सिद्धि के लिए आगे आए।

जीववाद (Arymism) के अनुसार विश्व का आधार चेतना है, तथा विश्व की प्रत्येक वस्तु चेतनामय है।

प्राणवाद (Spiritism) के अनुसार सारा विश्व जीवों से परिपूर्ण है। जीवों की संख्या अनन्त है।¹

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण के सम्बन्ध में देकार्त की अवधारणा और जैन दर्शन की उससे तुलना

पाश्चात्य दर्शन में आत्मतत्त्व का समुचित विवेचन सर्वप्रथम प्लेटों के विचारों में देखा जाता है। प्लेटों ने तीन प्रकार की आत्माओं का उल्लेख किया है— 1. बौद्धिक, 2. कुलीन एवं 3. अकुलीन आत्मा।

इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तु ने क्षमता के आधार पर आत्मा के तीन रूप स्वीकार किये हैं—

1. पोषक आत्मा (Nutritive Soul), 2. संवेदन आत्मा (Sensitive Soul), 3. बौद्धिक आत्मा (Rational Soul)

तत्पश्चात् रेने देकार्त ने विशेष रूप से आत्मतत्त्व के बारे में चिन्तन—मनन किया।

डेकार्त के दर्शन में आत्मतत्त्व— डेकार्त ने आत्मा के सन्दर्भ में नवीनतम ढंग से चिन्तन किया है। डेकार्त ने 'संदेह की पद्धति' को अपनाया, उनके अनुसार सत्य साध्य है, उस तक पहुंचने का साधन—संदेह है। उनके अनुसार "मैंने सावधानी से निरीक्षण किया कि मैं क्या हूँ? मैंने देखा कि मैं सोच सकता हूँ कि मेरे देह नहीं था, कोई ऐसा स्थान

¹ जैनदर्शन में जीवतत्त्व, डा. ज्ञानप्रभा, पृ. 80-81

नहीं था जहां मैं हो सकता। इतना होते हुए भी मैंने देखा कि मैं यह सोच नहीं सकता था कि मैं नहीं था। इससे मुझे ज्ञात हुआ कि मैं एक द्रव्य या जिसका सम्पूर्ण स्वभाव सोचना है, और जिसके अस्तित्व के लिए किसी स्थान की आवश्यकता नहीं है या जो किसी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं है। अतः यह मैं अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा मैं जो हूँ, देह से पूर्णतया भिन्न है।

इस प्रकार सन्देह की विधि से 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' (Cogito Ergo Sum) का निष्कर्ष डेकार्ट दर्शन का एक महावाक्य बन गया जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

आत्म अस्तित्व के प्रमाण— डेकार्ट ने आत्म अस्तित्व के लिए दो प्रमाण दिये हैं—

1. प्रातिभ प्रमाण— आत्मा स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध है, उसका ज्ञान प्रतिभ है, इसी ज्ञान से बोध होता है कि मैं हूँ।

यह अपनी प्रामाणिकता स्वयं प्रस्तुत करता है। डेकार्ट के अनुसार "Cogito Ergo Sum is not a syllogism. It is simple movement of thought. A direct intuition 'I think' or 'I doubt' immediately implies "I am."

2. अखण्डनीयता— आत्मा का अस्तित्व अखण्डनीय है, क्योंकि उसका खण्डन बदतोव्याघात है। जैसे कोई वक्ता बोलते समय यह नहीं कह सकता कि मौन व्रत लिए हुए हैं क्योंकि बोलना और मौन की बात करना, बदतोव्याघात है, वैसे कोई पुरुष कह नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ, क्योंकि उसका यह कथन व्याघातक है। "यः एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्" अर्थात् निराकरण में ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

आत्मा का अस्तित्व ध्रुव सत्य है, डेकार्ट इस निर्णय के पश्चात् आत्मा की विशेषताओं को बतलाते हैं।

1. यह आत्मा स्वतन्त्र (Free), चेतन (Conscious), अभौतिक (Immaterial), प्रयोजनात्मक (Teleological), सरल (Simple), अविभाज्य (Indivisible) तथा शाश्वत् (Eternal) है। जानना, इच्छा करना तथा अनुभूति आदि विभिन्न मानसिक क्रियाएं आत्मा की भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं।

डेकार्ट ने आत्मा को एक द्रव्य माना है, जिसका अनिवार्य गुण चिन्तन करना है। उसके अनुसार आत्मा न तो अगोचर तत्त्व है और न गोचर जीव, वह वस्तु सत् है डेकार्ट बुद्धिवादी दार्शनिक था, अतः उसने आत्मा को भी बुद्धि या विवेक तक ही सीमित कर दिया था। उसके दर्शन में आत्मा बौद्धिक आत्मा के स्तर पर ही सीमित रह गयी थी। जिससे पशुओं आदि को आत्महीन बना दिया।

डेकार्ट आत्मा के साथ-साथ शरीर के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है, क्योंकि वह द्वैतवादी था। दोनों तत्त्व विरोधी गुण वाले हैं, आत्मा का गुण चैतन्य है और शरीर का गुण विस्तार है, इन विरोधी गुणों के कारण दोनों कभी एक नहीं हो सकते। उनका इस मत के बारे में यह उल्लेख है कि— *The mind or soul of man is entirely different from body.*

आत्मा और शरीर दोनों एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। तब फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? इस प्रश्न पर डेकार्ट ने क्रिया-प्रतिक्रियावाद आधार को स्वीकार किया है। उसके अनुसार शरीर में आत्मा का प्रमुख आधार पीनियल ग्लैण्ड (Pineal Gland) है। हमारा शरीर चलता है तो चलने की अनुभूति आत्मा को होती है, और आत्मा में प्रेम उत्पन्न होता है तो शरीर को भी इसकी अनुभूति होती है। इस तरह क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध के आधार पर दो विरोधी द्रव्यों में आपसी सम्बन्ध स्थापित होता है।

डेकार्ट और जैनदर्शन के आत्मतत्त्व की तुलना

जैनदर्शन में जीवतत्त्व या जीवद्रव्य के बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है। आत्मा के संदर्भ में कहा गया है कि— जो तत्त्व चेतन स्वरूप है, ज्ञानवान है, सभी को जानता है, देखता है, उसे जीव कहते हैं। जैनदर्शन में वर्णित आत्मा और डेकार्ट दर्शन की आत्मा में अनेक समानताएं और असमानताएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

समानता—

1. डेकार्ट और जैन दोनों में आत्मा के विरोधी जड़ द्रव्यों को स्वीकार किया है। जैनदर्शन में आत्मा को जीव कहा गया है और जीव के विपरीत अजीव को भी स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में "जीवाजीवौ हि धर्मिणो" कहकर

जीव और अजीव को ही मूलतत्त्व स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार डेकार्ट ने चित्त (आत्मा) और अचित्त (शरीर) को स्वीकार किया है, यहां चित्त का गुण चैतन्य और अचित्त का गुण विस्तार माना गया है। जैनदर्शन में भी जीव को चैतन्य स्वरूप और पुद्गल को विस्तार गुण से युक्त माना गया है।

2. डेकार्ट ने आत्मा को अभौतिक माना है, अचित्त तत्त्व भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। डेकार्ट ने इन दो विरोधी द्रव्यों में सम्बन्ध स्थापित किये हैं। जैनदर्शन में भी शुद्ध आत्मा को अभौतिक माना है और पुद्गल को भौतिक माना है।
3. जैनदर्शन में आत्मा को कारण-कार्य की श्रृंखला से परे माना गया है, जिनकी उत्पत्ति होती है उनमें कारण-कार्य श्रृंखला पाई जाती है। आत्मा, नित्य, शाश्वत्, विभु है, वह उत्पत्ति और विनाश से परे है। डेकार्ट ने भी आत्मा को नित्य, शाश्वत् मानकर कारण-कार्य की श्रृंखला से मुक्त माना है।
4. डेकार्ट ने संशय के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है, जैनदर्शन में भी संशय द्वारा आत्मा की सिद्धि का संकेत मिलता है। अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि 'आत्मा है' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान यदि संशयरूप है तो आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि अवस्तु का संशय नहीं होता। विशेष्यावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणि ने संशय के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। उनके अनुसार 'जीव है या नहीं' यह संशय ज्ञान है और ज्ञान ही जीव है।
5. डेकार्ट ने आत्मा को 'ज्ञेय' रूप में स्वीकार किया है। 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'— डेकार्ट दर्शन का आत्मा सम्बन्धी मूल वाक्य सोचने के आधार पर आत्मा के ज्ञेयत्व को सिद्ध करता है। जैनदर्शन में भी आत्मा को ज्ञेयरूप माना गया है। जिस प्रकार काटने रूप क्रिया का कोई कर्ता होना चाहिए, और उसी प्रकार देखने, जानने रूप क्रिया का भी कोई कर्ता होना चाहिए, और जो इनका कर्ता है वही आत्मा है।

असमानता

इन समानताओं के होते हुए भी दोनों के आत्मतत्त्व में कुछ असमानताएं हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. डेकार्ट ने आत्मा को अपरिणामी एवं अपरिवर्तनशील माना है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु जैनदर्शन में आत्मा अन्य द्रव्यों की तरह परिणामी एवं नित्य दोनों माना गया है, वह भी उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाववाला है।

पंचास्तिकाय के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा आत्म-द्रव्य नित्य एवं अपरिणामी तथा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा परिणामी है।

विशेष्यावश्यक भाष्य में भी कहा गया है कि— आत्मा पूर्व-पर्याय के विगम (नाश) की अपेक्षा से व्यय स्वभाव वाली है, तथा अपर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से उत्पाद स्वभाव वाली है, परन्तु विज्ञान की अपेक्षा से जीव नित्य है। बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था प्राप्त करना तथा कर्मों के अनुसार मनुष्य गति, नरक गति, तिर्यच गति और देव गति को प्राप्त करना आत्मा का परिणाम कहलाता है। यदि आत्मा को परिणामी न माना जाए तो बन्धन तथा मोक्ष असम्भव हो जायेंगे।

2. डेकार्ट ने आत्मा के ज्ञेयत्व धर्म को स्वीकार किया है किन्तु ज्ञातारूप में स्वीकार नहीं किया। किन्तु जैनदर्शन में आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता दोनों रूप है। आत्मा सर्वज्ञ रूप में सब कुछ जानने वाला है, इसलिए ज्ञातारूप है और आत्मा विभिन्न माध्यमों से जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है।

3. डेकार्ट ने आत्मा का निवास स्थान पीनियल ग्लैण्ड स्वीकार किया है, वहीं जैनदर्शन में आत्मा को शरीर परिमाण माना है। आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उस पूरे शरीर में व्याप्त होकर रहता है।

4. जैनदर्शन में आत्मा को अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं वीर्य से युक्त माना है, वही डेकार्ट के दर्शन में आत्मा मात्र बौद्धिक है, इस कारण डेकार्ट दर्शन की आत्मा काफी स्थूल है।

5. जैनदर्शन में आत्मा की व्यापकता एकेन्द्रिय-बेन्द्रिय-तेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक है, जबकि डेकार्ट ने मात्र मनुष्य में ही आत्मा को स्वीकार किया है।

6. डेकार्ट ने आत्मा को पूर्णरूप से अप्रसारित माना है, उसने विस्तारगुण केवल अचिन्त द्रव्य में माना है। जबकि जैनदर्शन में पुद्गल का गुण संकुचन-विस्तार

तो है ही, साथ ही आत्मा का भी गुण विस्तार है। देहपरिमाणत्व गुण इसकी सिद्धि करता है।

7. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर की इच्छा से होता है, जबकि जैनदर्शन में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का आधार ईश्वर की इच्छा नहीं अपितु हर व्यक्ति का अपने द्वारा किया गया कर्मबन्ध।

इस प्रकार अनेक समानताओं एवं असमानताओं से यह स्पष्ट होता है कि डेकार्ट का आत्मवाद जैन आत्मवाद की तुलना से काफी स्थूल है।

उपसंहार

जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है—“अप्पा सो परमप्पा” आत्मा ही परमात्मा है। यह सिद्धान्त तभी माना जा सकता है। जब आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो। आत्मा का अस्तित्व हुए बिना साधना और आराधना का कोई महत्व नहीं है। आत्मा होने पर ही उसके विकास, कल्याण या हित के लिए साधना करना सार्थक है। भारतीय दर्शन में दो विचारधाराएं हैं— क्रियावादी अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले और अक्रियावादी आत्मा को नहीं मानते। ये किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष देखकर अथवा तर्कशक्ति से परखकर ही स्वीकार करते हैं। जबकि आत्मा अरूपी है।

इस प्रकार दार्शनिक दल दो धाराओं में बंट गया— आस्तिक और नास्तिक। प्रस्तुत अध्याय में नास्तिक दर्शन के मत का निरसन करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है, जब अस्तित्व सिद्ध है तो उसका स्वरूप जानना भी आवश्यक है, अतः आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रागणि क्षमाश्रमण ने गणधर इन्द्रभूति के द्वारा शंका प्रस्तुत की है—आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? क्योंकि तत्कालीन दार्शनिकों में भी दोनों प्रकार के विचार थे, जिससे वास्तविकता ज्ञात नहीं हो पा रही थी, तब सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने विविध समाधानों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इस अध्याय में उन युक्ति-युक्त समाधानों को प्रस्तुत किया है। वे शंका समाधान संक्षिप्त में निम्न प्रकार से हैं—

शंका—प्रत्यक्ष से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं है, क्योंकि वह दिखाई नहीं देती हैं।

समाधान—आत्मा भले ही साक्षात् दिखाई नहीं दे, किन्तु वह अनेक प्रत्यक्षों से सिद्ध हैं, जैसे— 1. संशयरूप विज्ञान से, 2. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से, 3. अहंप्रत्यय से, 4. गुणों के प्रत्यक्ष से, 5. संकलानात्मक ज्ञान के कर्ता के रूप में, 6. निषेध्य होने से, 7. दूसरों के शरीर में स्थित आत्मा के रूप में आत्मा की सिद्धि होती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया।

शंका— अनुमान प्रमाण के द्वारा जीव सिद्धि नहीं हैं, क्योंकि कोई साध्य या हेतु नहीं है?

समाधान— किसी साध्य को न देखने पर भी आत्मा का अनुमान हो सकता है, अनुमान के अन्तर्गत कई तर्क दिये—

1. शरीर का कर्ता होने से आत्मा सिद्ध।
2. करण—रूप इन्द्रियों का अधिष्ठाता के रूप में आत्मा।
3. आदाता के रूप में।
4. भोक्ता के रूप में।
5. शरीरादि संघातों का स्वामी।
6. अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में लोक व्यवहार द्वारा।
7. पर्यायों द्वारा आत्मद्रव्य की सिद्धि।

इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य ने विविध प्रमाणों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है।

इसी प्रकार आगम प्रमाण द्वारा जीव सिद्धि— आप्त पुरुषों द्वारा कथित वचन आगम कहलाता है, ऐसे आगम चार भागों में विभक्त है— अंग, उपांग, मूल एवं छेद। इन सबमें तथा दिगम्बर परम्परा में मान्य ग्रन्थों में भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में रेने देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनिट्ज आदि ने भी आत्मा के अस्तित्व को मान्य किया है। इस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, चाहे वह वृहद् हो या मुक्त, किन्तु अखण्ड चैतन्य इकाई है।

आत्मा के अस्तित्व को नकारने पर धार्मिक आस्था की नींव डगमगा जाती है। धार्मिक आस्था के डगमगाने से नैतिकता समाप्त हो जाती है, परिणामस्वरूप व्यक्ति की जीवनदृष्टि इहलोकवादी एवं भौतिकवादी बन जाती है। भौतिकवादी जीवनदृष्टि से व्यक्ति में स्वार्थ की भावना प्रबल हो जाती है, जिससे हिंसा और शोषण का नग्न ताण्डव देखा जाता है। अतः आत्मा के अस्तित्व मानना धार्मिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु नैतिकता व सामाजिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय गणधरवाद में कर्म की सत्ता की समस्या

कर्म की सत्ता को मानने का हेतु

कर्म—सिद्धान्त भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है और जैन दर्शन का प्राण है। कर्म—सिद्धान्त माने बिना प्राणियों के अस्तित्व और व्यक्तित्व की, स्वभाव और विभाव की, उनकी प्रकृति और विकृति की, अतीत से लेकर अब तक की अच्छी, बुरी, उत्कृष्ट—निकृष्ट एवं उत्थान—पतन की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती है। सभी भारतीय दर्शनों ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि या वनस्पतिगत हो या कीट—पतंग, पशु—पक्षीरूप हो या मानव—देवरूप हो, तात्विक दृष्टि से सभी समान है। जब मूलरूप से सभी आत्माएं समान हैं, तब उनमें परस्पर वैषम्य क्यों? मुख्यतया इसी प्रश्न के उत्तर में कर्म सिद्धान्त का उद्भव और विकास हुआ।

सुख—दुःख एवं विभिन्न प्रकार की सांसारिक विचित्रताओं के कारणों की खोज करते हुए भारतीय विचारकों ने भी कर्म को स्वीकार किया। विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं ने कर्म को माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृश्य, संस्कार आदि के रूप में माना है फिर भी कर्म की अवधारणा का जितना सुस्पष्ट, सुव्यवस्थित एवं सुविकसित रूप जैन—दर्शन में उपलब्ध होता है। उतना क्रमबद्ध रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।¹

कर्म का अस्तित्व जगत् की विविधता व विचित्रता के कारण है। इन विभिन्नताओं के कारण ही धर्मशास्त्रों में 4 गतियां, और 84 लाख जीव—योनियां मानी गई हैं। एक ही जाति के प्राणियों में हजारों—लाखों भेद रेखाएं पाई जाती हैं। मनुष्य जाति में ही कोई क्रूर है तो कोई दयालु। कोई राग—द्वेष से लिप्त है, तो कोई वीतराग। शरीर, मन, बुद्धि, धन आदि की दृष्टि से भी मनुष्यों में असंख्य भिन्नताएं हैं। कोई शरीर से दुबला—पतला है तो कोई हड्डा—कड्डा और मोटा ताजा, कोई अल्पायु है तो कोई चिरायु। कोई दुःख की भट्टी में बुरी तरह तप रहा है तो दूसरा सुख चैन की बंशी बजा रहा है।²

¹ आचार्य देवेन्द्रमुनि, कर्मविज्ञान भाग-1, पृ. 49, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर।

² कर्ममीमांसा, मुनि हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, पृ. 5, मधुकर मुनि

प्रश्न उठता है कि यह विभिन्नता क्यों? “एगे आया” के अनुसार यदि आत्मा समान है तो सबका रूप एक सा होना चाहिए। इतनी विरूपता और विचित्रता क्यों? एक ही तत्व में दो विरोधी रूप नहीं होने चाहिए। यदि है तो उनमें से कोई एक ही रूप मौलिक एवं वास्तविक होना चाहिए, इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि— आत्मा के किस रूप को वास्तविक माने? इस विभिन्नता—विचित्रता, विभेद और विसदृश्यता का कारण क्या है? दर्शनकारों ने अनेक कारण प्रस्तुत किये, उनमें से कतिपय निम्नानुसार है—

जगत् वैचित्र्य के विभिन्न कारण

कालवाद

अथर्ववेद के ‘कालसूक्त’ में काल के बारे में बताया है कि—काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत (जीव) रहते हैं, काल ही ईश्वर है, प्रजापति का पिता है। इसमें काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धान्त है। महाभारत में बताया है कि— विश्व के समस्त भाव, अभाव तथा सुख और दुःख कालमूलक हैं, यहां तक कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञयागादि अथवा किसी पुरुष द्वारा मनुष्यों को सुख—दुःख नहीं मिलता, किन्तु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। काल के बिना स्वभाव—पुरुष नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। व्यक्ति पुण्य या पाप कार्य करता है, परन्तु तत्काल उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही उसका अच्छा या बुरा फल मिलता है। इस प्रकार कालवाद का निरूपण है।

स्वभाववाद

श्वेताश्वेतर—उपनिषदों¹ में स्वभाववाद का उल्लेख है जो कुछ होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त जगत् वैचित्र्य का और कोई कारण नहीं है। वह अपने समर्थन में तर्क रखता है कि— कांटों में नुकीलापन, पशु—पक्षियों में विचित्रता आदि स्वभाव से हैं। इसमें किसी की इच्छा या प्रयत्न का अवकाश ही नहीं है। गीता और

¹ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छ, भूतानि योनिः इति चिन्त्यम्
संयोग एषा न स्वात्मभावात्माऽप्यनीशः सुख-दुःख है तो श्वेताश्वेतर 1/1/2

महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है, स्वभाववाद के अनुसार सब कार्य स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं उनके होने में अन्य कोई हेतु नहीं है।

यदृच्छावाद

श्वेता श्वेवर उपनिषद् में इसका भी उल्लेख है इस वाद का मन्तव्य है कि किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है यदृच्छा शब्द का अर्थ—अकस्मात् या संयोग (Chance) है। न्यायसूत्र में अनिमित्त—निमित्त के बिना ही पदार्थ की उत्पत्ति हो जाना कहकर इस वाद का उल्लेख किया गया है।¹

नियतिवाद

प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कथन है कि—आत्मा और परलोक का अस्तित्व है, परन्तु संसार में दृष्टिगोचर होने वाले जीवों की विचित्रता का कोई भी अन्य कारण नहीं है, सब कुछ निश्चित प्रकार से नियत है और नियत रहेगा। जीव में यह शक्ति नहीं कि इस चक्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके। यह नियति चक्र स्वयं ही घूमता रहता है और जीवों को एक नियत क्रम के अनुसार इधर—उधर ले जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वतः ही मुक्त हो जाता है। नियति के अटल सिद्धान्त के सामने अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कुछ विचारकों ने नियति का अर्थ होनहार भी किया है। जो होनहार है वह होकर ही रहता है। त्रिपिटक में पूरण काश्यप और मंखलि गौशालक के मतों का वर्णन आया है। एक के वाद का नाम है 'अक्रियावाद' तथा दूसरे के वाद का नाम 'नियतिवाद' रखा गया। परन्तु दोनों में सिद्धान्तः विशेष भेद नहीं है।²

ईश्वरवाद

पुरुषवाद का दूसरा रूप ईश्वरवाद है, इसका तात्पर्य ईश्वरकर्तृत्ववाद। इस विश्व में व्याप्त समस्त विचित्रताओं—विविधताओं का कर्ता ईश्वर है, उसकी इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जो कुछ होता है वह सब उसी की इच्छा का परिणाम है।

¹ न्यायभाष्य, 3.2.31, उद्धृत - गणधरवाद - प्रस्तावना, पृ. 124

² गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 125

भूतवादी और पुरुषवादी क्रमशः विश्ववैचित्र्य के लिए कारण के रूप में पृथ्वी आदि पंचभूतों और परब्रह्म—ईश्वर की कल्पना करते हैं। इन वादों के होने पर भी विश्व—वैचित्र्य के कारण का कुछ निर्णय नहीं हो पा रहा था। सब में कारण को जानने की अपेक्षा अपने—अपने मत, सिद्धान्त की स्थापना के प्रति विशेष उत्सुकता थी और उत्साह था। लेकिन यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करना, निशंक होना मानव का स्वाभाविक गुण है अतः विश्ववैचित्र्य के लिए विभिन्न कारणों की मीमांसा करते हुए कतिपय औपनिषदिक ऋषि कर्म—सिद्धान्त को मानने की ओर भी आकर्षित हुए। परिणामतः उपनिषदों में यत्र—तत्र संसार और कर्म—अदृष्ट के बारे में भी उल्लेख मिलते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद में उपरोक्त विचारधाराओं के उल्लेख यह बताते हैं कि उस काल में जगत् वैचित्र्य को लेकर विभिन्न प्रकार की अवधारणाएं प्रचलित थीं। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि— अग्निभूति के मन में भी यह विचार आया हो कि आखिर जगत् वैचित्र्य का किसे कारण माना जाये। यह भी सत्य है कि उस काल में कुछ दार्शनिक चिन्तन कर्म को ही जगत् वैचित्र्य को ही कारण मान रहे थे। गीता में कर्म सिद्धान्त का संकेत स्वयं श्रीकृष्ण ने दिया, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि— प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार फल मिलता है।

गीता यह भी मानती है कर्म और उसके फल की व्यवस्था चाहे ईश्वर द्वारा निर्धारित हो, किन्तु प्राणियों को जो भी उपलब्धियां होती हैं या नहीं होती हैं वे सब कर्म के कारण हैं। अतः अग्निभूति के मन में स्वतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि— काल, स्वभाव, यदृच्छा आदि को जगत् वैचित्र्य का कारण माना जाए या फिर कर्म को जगत् वैचित्र्य का कारण माना जाए।

इस शंका का समाधान गणधरवाद में 'कर्म' के रूप में दिया। आत्मा की यह विविधता—विरूपता स्वयं की नहीं है, स्वरूपगत नहीं है, बल्कि 'कर्म' नामक एक विजातीय पदार्थ की है, जो आत्मा की शुद्धता को नष्ट कर विरूपता तथा विभिन्नता उत्पन्न करता है।

इसी जिज्ञासा को लेकर अग्निभूति महावीर के समक्ष प्रस्तुत हुए होंगे।

विशेषावश्यक भाष्य इसी समस्या को अग्निभूति और महावीर के मध्य हुए संवाद के रूप में प्रस्तुत करता है।

अग्निभूति को कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह शंका अन्य कारण से भी हो सकती है। विशेष रूप से जब यह देखा जाता है कि दुराचारी व्यक्ति सुख-सुविधा की जिन्दगी जीता है और सदाचारी दैन्य-दुःख भरी जिन्दगी जीता है तो यह शंका उत्पन्न होती है— यदि कर्म सिद्धान्त ही कोई व्यवस्था है, ऐसा नहीं होना चाहिए।

अग्निभूति की शंका का चाहे कोई भी कारण रहा हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे कर्म और उसके विपाक के मध्य कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। विशेषावश्यक भाष्य में अग्निभूति की शंका का और उसके सम्बन्ध में महावीर के मुख से दिलाये गए समाधानों को अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत शंकाएं और उनके समाधान

विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि ने अग्निभूति की कर्मविषयक शंकाओं तथा भगवान महावीर द्वारा उनके समाधानों का वर्णन किया है। उनमें अग्निभूति के मन में शंका थी कि— 'कर्म का अस्तित्व है या नहीं?'

समस्या

कर्मविज्ञान के विश्लेषक जीवन की अन्तरंग और बहिरंग क्रिया के सम्बन्ध में जब सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन का कण-कण और क्षण-क्षण कर्मसूत्र के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है किन्तु चार्वाक-दर्शन ने कर्म-विज्ञान के रहस्यों से तथा इसके सूक्ष्म विश्लेषण से सर्वथा आंखें मूंद कर "कर्म" के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया। उसका कहना है कि — पेड़ पौधे आदि के समान कर्म नामक कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी के ललाट पर यह लिखा नहीं होता कि वह कर्म से युक्त है। जिस प्रकार भूत-प्रेत से आविष्ट व्यक्ति के कार्य-कलापों से यह जान लिया जाता है कि यह व्यक्ति भूत से ग्रसित है, उसी प्रकार कर्म ग्रस्त जीव की कोई भी ऐसी विलक्षण चेष्टा प्रतीत नहीं होती, जिससे यह पता लगे कि यह जीव कर्मग्रस्त है। सभी जीवों की शरीर, इन्द्रियां, मन और वाणी की हर क्रिया सहज रूप से होती रहती है, उनमें भी यह पता नहीं लगता कि यह जीव कर्म से युक्त है। जब शरीर का अन्त हो जाता है, तब ये क्रियाएं बन्द हो जाती हैं। उसके सोचने,

समझने सुनने, देखने, बोलने व सूंघने की हलन-चलन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इन सब क्रियाकलापों में “कर्म” नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती तथा वेद वाक्यों में भी कहीं कर्म को माना गया है तो कहीं नहीं माना गया है जैसे— “पुरुष वेदग्नि सर्वयद्भूतं यच्च भाव्यं, उतामृतत्वस्ये शानः।¹ “यदन्ने नातिरोहति, यदेजति, यदनैजति, यद् दूरे यदं अन्ति के यदन्तरस्य सर्वस्य यत् सर्वस्यास्य बाह्यतिः।” अर्थात् पुरुष आत्मा ही है। इसमें “ही” शब्द कर्म, ईश्वर, प्रकृति आदि सभी तत्वों का निषेधपरक है। इसका तात्पर्य यह है कि — इस संसार में जो कुछ भी चेतन-अचेतन रूप दिखाई देता है, तथा संसार और मुक्ति, और जो अमृत अर्थात् अमरण भाव वाला है, वह भी तथा जो अन्न से बढ़ता है, जो चलता है और जो अचल है (पर्वत), जो दूर है (देश) और जो निकट है, जो चेतन-अचेतन पदार्थों के बीच में है अथवा जो इन सब पदार्थों से बाह्य है, वह सब मात्र पुरुष ही है। इन वाक्यों के अनुसार पुरुष से भिन्न कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। तो दूसरी तरफ वेदों में और कर्म का साक्षात् प्रतिपादन करने वाले “पुण्य पुण्येन कर्मणा, पापेन कर्मणा”² जैसे वाक्य भी हैं।

एक स्थान पर बताया गया है कि — स्वर्ग में जाने के इच्छुक को अग्निहोत्र करना चाहिए।³ अर्थात् अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से आत्मा में एक अपूर्वकर्म उत्पन्न होता है, जिससे जीव स्वर्ग में जाता है।

इस तरह कर्म के अस्तित्व-नास्तित्व विषयक संदेह का समाधान न कर पाने के कारण द्वितीयगणधर अग्निभूति के मन में शंका उत्पन्न हुई थी कि कर्म का अस्तित्व है या नहीं। वे वेदों के ज्ञाता थे किन्तु एकान्तदृष्टि के कारण वेद-पदों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाये जिससे संदेहशील हो गये, भगवान महावीर ने कई युक्तियों-प्रयुक्तियों से उन्हें कर्म के अस्तित्व को समझाया।

समाधान

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा कर्म के अस्तित्व की सिद्धि— कर्म के अस्तित्व पर संशय करने वालों का कथन है कि—कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होने से

¹ ऋग्वेद, 10/92

² ईशवास्योपनिषद्, मंत्र 5

³ “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” मैत्रायणी उपनिषद् 3/6/36

सर्वप्रमाणातीत है। किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होने से उसका अस्तित्व नहीं है। जैसे कि खरविषाण।¹

प्रथमतः — कर्म पुद्गल है और वह चतुःस्पर्शी होने के कारण सूक्ष्म है, इसलिए परोक्ष ज्ञानियों को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, जैसे — परमाणु भी पुद्गल है, किन्तु वह भी अतिसूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों से साक्षात् नहीं दिखता, किन्तु सर्वज्ञ को तो कर्म भी प्रत्यक्ष है और परमाणु भी प्रत्यक्ष है।

द्वितीयतः — जो वस्तु एक को दिखाई देती है, वह सबको दिखाई दे, यह आवश्यक नहीं है। संसार में कुछ पशु या पक्षी ऐसे हैं जो सब मनुष्यों को सब क्षेत्रों में नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार कर्म का अस्तित्व सर्वज्ञों को प्रत्यक्ष है, अल्पज्ञों को नहीं।

तृतीयतः — जैसे परमाणु पुद्गल स्वयं अल्पज्ञों को प्रत्यक्ष नहीं दिखता किन्तु उसके कार्य तो प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार कर्म अल्पज्ञों को चाहे प्रत्यक्ष न हो, उसके सुख-दुखादि कार्य (फल) प्रत्यक्ष ही है।

इसलिए कर्म को कार्यरूप में प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

अनुमान प्रमाण द्वारा कर्म की अस्तित्व सिद्धि विविध अनुमानों से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है

जैसे अंकुररूप कार्य का कारण बीज हैं, उसी प्रकार सुख-दुःख आदि जो जो कार्य हैं, उसको देने वाला, हेतु, "कर्म" हैं, बिना बीज के कहीं भी अंकुर की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, उसी प्रकार प्राणी को होने वाली सुख-दुःख की अनुभूति भी बिना कारण के नहीं हो सकती।²

इस सम्बन्ध में अग्निभूति का कथन था कि

सुख के पदार्थ जैसे— रमणी, सुगन्धित माला, चन्दन आदि हैं, तथा दुःख के कारण-विष, या कांटे हैं जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इन प्रत्यक्ष कारणों से सुख-दुःख होता

¹ "कि मन्ने अत्थिकम्मं, उयाहु नत्थि ति संसओ तुज्झ।

वेद पयाण य अत्थ, न याणासि तोसिमो अत्थो", विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1610

² विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1612 :- (क) अत्थि सुह-दुक्ख हेऊ, कज्जाओ बीयंकुरसेव सो दिट्ठे चेव मई, वभिचाराओ न तं जुत्तं"

(ख) महावीर देशना, गाथा 7, पृ. 114

है तो अदृश्य कारण रूप कर्म को क्यों मानें?¹ इसका समाधान भगवान महावीर ने इस प्रकार किया कि - "दृष्ट कारण में विसंगतियां दिखाई पड़ती हैं, जैसे सुख-दुःख के समान पदार्थ उपस्थित होने पर भी फल कार्य में विभिन्नता या तरतमता दिखाई देती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये जैसे- रमणिरमण को सुख का कारण माना है किन्तु सुखोपभोग से अनेक असाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं आद्य शंकराचार्य ने कहा है - "सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चादंत शरीरे रोगः।" और विष दुःख का दृष्ट हेतु है किन्तु कई बार रोगी व्यक्ति विष-प्रयोग से निरोगी हो जाते हैं। माला को सुख का दृष्टकारण माना जाता है, परन्तु उसी माला को कुत्ते के गले में डाल दी जाये तो वह उसे दुःख का कारण मानकर उससे छूटने का प्रयास करता है। अतः मानना होगा कि माला, विष आदि सुख-दुःख के बाह्य साधन हैं। उनके अतिरिक्त भी उनसे भिन्न अन्तरंग कारण कर्म है, जो सुख-दुःख की तरतमता का अदृष्ट कारण है। इस अनुमान से कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।²

कर्मण शरीर से कर्म का अस्तित्व

जिस प्रकार युवा शरीर बालशरीर पूर्वक होता है, उसकी प्रकार बालशरीर किसी अन्य शरीर पूर्वक होना चाहिए कर्मण शरीर - भ्रूण - शिशु - बालक - युवा - वृद्ध - मृत्यु होने पर पुनः कर्मण शरीर तो वह अन्य शरीर कर्मण शरीर है, कर्मण शरीर ही कर्म है। प्रश्न हो सकता है कि मरण के समय शरीर तो यहीं रह जाता है तो फिर कर्मण शरीर कैसे साथ में रह सकता है? इसके समाधान में भगवान महावीर ने बताया कि अन्तराल गति में जीव औदारिक अथवा स्थूल शरीर से सर्वथा रहित होता है, इससे बाल शरीर को पूर्वभवीय औदारिक शरीर का कार्य नहीं कहा जा सकता, अतः नियतदेश में प्राप्ति का कारणभूत तथा नूतनशरीर की रचना का कारणभूत किसी शरीर को स्वीकार करना ही होगा। इसलिए कर्मरूप कर्मण को ही बाल देह का कारण समझना चाहिए।³

¹ कर्मविज्ञान भाग 1, पृ. 160

² "जो तुल्लंसाधणाणं फलेविसेसोणकिणा हेतुं", विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1613

³ "बालसरीरं देहंतरपुव्वं, इंदियातिभत्तात्तो।

जघ बालदेहपुव्वो, जुवदेहो पुव्वामिहं कम्मं।, विशेष्यावश्यक भाष्य-गाथा 1614

चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि

दान आदि क्रिया का कुछ फल होना ही चाहिए। क्योंकि वह चेतनायुक्त प्राणी के द्वारा की गई क्रिया है, जैसे कि खेती का कार्य। किसान खेती करता है तो उसका फल धान्य या फसल के रूप में मिलता है। वैसे ही दान का भी फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है वही कर्म है।

इस पर शंका की गई कि — जैसे कृषिक्रिया दृष्ट फल वाली है, वैसे दानादि क्रिया का फल भी मनः प्रसन्नता आदि दृष्ट है तो फिर अदृष्ट फल की कल्पना क्यों? जैसे संसार में पशुओं का वध करते हैं वे लोग अशुभकर्म रूप अदृष्ट फल के लिए नहीं बल्कि मांस खाने के दृष्ट फल के प्रयोजन से ही करते हैं। अतः अदृष्ट फल मानना अनावश्यक है।¹

इसका समाधान दिया गया कि — अशुभ क्रिया दृष्ट और अदृष्ट दोनों फल वाली हैं। यदि अदृष्ट फल नहीं होता तो संसारी जीव संसार में नहीं होते। और दानादि शुभ क्रिया का अदृष्ट फल नहीं होता तो कोई भी मुक्त नहीं होते। भले ही व्यक्ति अदृष्ट फल की कामना न करें किन्तु उसे फल प्राप्ति तो होगी ही। जैसे किसान धान्यबीज वपन करता है उस समय अनजाने में कोद्वेग का बीज जमीन पर गिर जाने पर वह बीज जल-ताप आदि की अनुकूलता प्राप्त कर किसान के बिना इच्छा के भी उग जाता है, वैसे ही हिंसादि कार्य करने वाले या मांसाहारी व्यक्ति चाहे या न चाहे, अशुभकर्म अदृष्ट कर्म (फल के रूप में) उत्पन्न होता ही है। इसी प्रकार दानादि शुभ क्रियाएं करने वाले विवेकी पुरुष के न चाहने पर भी उन्हें शुभकर्मरूपी अदृष्ट फल मिलता ही है।²

यद्यपि अनिष्टरूप अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिए कोई भी जीव इच्छापूर्वक क्रिया नहीं करता है, फिर भी इस जगत में अनिष्ट फल भोक्ता जीव ज्यादा दिखाई देते हैं। तो इस तरह शुभाशुभ फल के द्वारा कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।³

¹ किरियासामणत्तो, फलमस्सावि तं मंतं कम्मं।

तरस परिणामरुवं, सुहदुक्खफलं जतो भुज्जो।। विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1616

² “सर्वस्या अपि क्रियायां अदृष्टं फलं.....।, विशेषावश्यक टीका, पृ. 694

³ तस्मात् सर्वापि क्रियाऽदृष्टैकान्तिक फलेति प्रतिपद्यस्वेति” वही, टीका पृ. 694

विचित्रता के कारण कर्म की सिद्धि

समान साधन होने पर भी फल में जो अन्तर दिखाई देता है, वह बिना कारण के नहीं हो सकता। जैसे कि— एक जैसी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुये भी अन्तर दिखाई देता है। इसी प्रकार एक ही माता—पिता के, एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में बुद्धि, शक्ति आदि में अन्तर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण तो अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि बादलों में जो विचित्र प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, वह विचित्रता कर्म के कारण नहीं हैं, स्वभावजन्य हैं, वैसे ही बिना कर्म के ही संसारी जीव के सुख—दुःख की तरतमता रूप विचित्रता मान लेनी चाहिए क्योंकि बादलों का परिवर्तन स्पष्टतः दिखाई देता है। इसका समाधान यह है कि — कर्म सूक्ष्म शरीर है, वह अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हैं। बाह्य शरीर की विचित्रता कर्मण शरीर पर ही निर्भर हैं। यदि सूक्ष्म शरीर न माने तो जीव भवान्तर में पुनः स्थूल शरीर प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि स्थूल शरीर प्राप्ति का कारण सूक्ष्म कर्मण शरीर ही है।

कर्मण शरीर को न मानने पर सभी जीव मरने के बाद अशरीरी हो जायेंगे, और बिना प्रयत्न के ही मुक्त हो जायेंगे। शरीर के बिना भी यदि भवभ्रमण होता रहा तो मोक्षगामी को भी संसार में आना पड़ेगा। अतः कर्मण शरीर को मानना आवश्यक है और कर्मण शरीर को मानने पर कर्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।¹

स्वभाववाद के निराकरण से कर्म की सिद्धि

स्वभाववादियों का कथन है कि— कमल कोमल है, कांटे कठोर है, मयूर के पंख विचित्र रंगों वाले हैं, इस तरह विश्व में जो विचित्रता है, यह सब कुछ स्वभाव से ही होती है। जगत् में जो कुछ भी होता है नहीं होता है, उसका कोई हेतु नहीं है वैसे ही जीव के सुख—दुःख का भी कोई हेतु (कारण) नहीं है। स्वभाववादियों के ऐसा मानने पर कई शंकाएं खड़ी हो जाती हैं— स्वभाव वस्तुविशेष है या वस्तु धर्म? मूर्त है या अमूर्त? मूर्त मानने पर वह कर्म का ही दूसरा नाम होगा और अमूर्त मानने पर वह किसी का कर्ता नहीं बन सकता क्योंकि शरीर आदि मूर्त पदार्थ उनका कारण भी मूर्त होना चाहिए और

¹ विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1633-1634

यदि स्वभाव का अर्थ अकारणता करे तो यह तात्पर्य होगा कि शरीर आदि बाहरी पदार्थों का कोई कारण नहीं है। यदि उनका कोई कारण न हो तो सब पदार्थों में कारणाभाव समान रूप से होगा।

शरीर आदि को आकस्मिक (अहेतुक) भी नहीं मान सकते क्योंकि शरीरादि तो नियत आकार वाले पदार्थ है। जो आकस्मिक होता है उसका कोई आकार नहीं होता। यदि अहेतुक नहीं है तो कर्म-हेतुक मानना पड़ेगा। शरीर आदि पदार्थ सादि और नियत आकार वाले होने के कारण उसका कोई न कोई उपकरण सहित कर्ता भी मानना पड़ेगा। कर्म के अतिरिक्त शरीर रचना के लिए अन्य कोई उपकरण सम्भव नहीं है। अतः जगत् की विचित्रता स्वभाव-जन्य न मान कर कर्मजन्य ही माननी चाहिए।¹

ईश्वरादि कारण नहीं होने पर कर्म की सिद्धि

ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर ही समस्त वैचित्र्य का कर्ता है। न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर ही संसार का आदि सर्जक पालक और संहारक है। वह शून्य से संसार का निर्माण नहीं करता है, किन्तु नित्य परमाणुओं, दिशा, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से करता है। उसे संसार का पोषक इसलिए कहा है कि - संसार ईश्वर की इच्छानुसार कायम रहता है। वह संसार का संहारक इसलिए है कि वह संसार में पापी-दुष्ट और अधर्मियों का नाश करता है। अतः संसार का कारण कर्म नहीं, ईश्वर है।

ईश्वरकृत संसार को मानने पर कई शंकाएं खड़ी हो जाती हैं, यथा - यदि ईश्वर को शुद्ध जीव मानते हैं तो वह शरीरादि का आरम्भ ही नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास आवश्यक उपकरणों या साधनों का अभाव है। जैसे चित्रकार पटल, तुलिका तथा रंग के अभाव में चित्र को नहीं बना सकता उसी प्रकार शरीर आदि के निर्माण में कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की संभावना सिद्ध नहीं होती। अतः यह सिद्ध होता है कि जीव कर्मरूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है।²

दूसरा तर्क है कि - शुद्ध जीव अर्थात् जो कर्म से रहित है ऐसे जीव तो निश्चेष्ट होते हैं। तो वे शरीर आदि बनाने की क्रिया कैसे कर सकते हैं। जैसे आकाश, कर्मरहित जीव चेष्टा से हीन है अतः यह कार्य वे नहीं कर सकते हैं।

¹ गणधरवाद, पृ. 44-45

² विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा-1642

ईश्वरवादियों का तर्क है कि कर्मरहित शुद्ध जीव चेष्टाहीन है किन्तु सशरीरी ईश्वर देहादि सभी कार्यों के कर्ता हैं।

सशरीरी ईश्वर को मानने पर कई प्रश्न उठते हैं— वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म करता है या कर्म रहित होकर? ईश्वर अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता क्योंकि, उपकरणों का अभाव है। यदि दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की तो फिर यह प्रश्न होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीरी है या अशरीरी? अशरीरी होगा तो रचना नहीं कर सकेगा और सशरीरी तथा कर्मसहित है तो वह स्वयं के शरीर की रचना स्वयं नहीं कर पायेगा, तो दूसरे का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उसके शरीर की रचना तीसरे ईश्वर से माने तो फिर वे सब प्रश्न पुनः खड़े हो जायेंगे। अतः ईश्वर को कर्मरहित मानने पर जगत् की विचित्रता उसमें संभव नहीं है और यदि कर्म सहित माने तो यह भी ठीक ही है कि— जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि देहादि की विचित्रता ईश्वर से नहीं बल्कि कर्म से है।¹

वेद वाक्यों का समन्वय होने पर कर्म की सिद्धि

यदि वेदों में कर्म का अभाव माना जाता है तो वेदों में स्वर्ग में जाने की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र या यज्ञ करने का विधान भी गलत साबित होता है क्योंकि उन ग्रन्थों के अनुसार — यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने से आत्मा में एक अपूर्व—कर्म (अनुपम) उत्पन्न होता है जिससे जीव स्वर्ग में चला जाता है। यदि वह अपूर्व कर्म प्रकट नहीं होता है तो जीव किस आधार से स्वर्ग में जायेगा? मृत्यु होने पर शरीर तो जल जाता है अर्थात् शरीर छूट जाता है, तो बिना किसी नियामक कारण के स्वर्ग में कैसे जायेगा? अतः इस बात से यह मानना आवश्यक है कि— वेदों में कर्म के अभाव की प्ररूपणा नहीं है।

वेद ग्रन्थों में कुछ वाक्य द्विअर्थी है जैसे— पुरुष वेदग्नि सर्व यद्भूतं यच्चभाव्यं” का एक अर्थ है, “पुरुष अर्थात् आत्मा ही है।” इसमें ‘ही’ शब्द कर्म—ईश्वर आदि तत्त्वों का निषेध करता है, ठीक इसी प्रकार— “विज्ञानघन एवैतेभ्यः” इस वाक्य का भी अर्थ किया गया कि— विज्ञानघन से भिन्न कुछ भी नहीं है।

¹ मिला प्रकाश खिला बसन्त (आ. जयन्तसेन सूरि), पृ. 93-94

इनका तात्पर्य है कि सभी आत्माएं समान हैं, इसलिए संसार में जातिमद का पोषण करके उच्च-नीच भाव की वृद्धि नहीं करनी चाहिए। सभी वेदवाक्यों का अर्थ एक समान नहीं होता। कुछ वेदवाक्य कर्तव्य का बोध कराते हैं तो कुछ वाक्य इष्ट की स्तुति करके उसमें प्रवृत्ति कराने वाले और अनिष्ट की निन्दा करके उसमें निवृत्ति कराने वाले होते हैं। तथा कुछ वाक्य अनुवादपरक होते हैं जिनमें कोई विशेष बात नहीं होती हैं।

“विज्ञानघन एवैतेभ्यः” का तात्पर्य है कि विज्ञानघन अथवा पुरुष (आत्मा) भूतों से भिन्न है। यह पुरुष कर्ता और शरीरादि कार्य है। कर्ता और कार्य के बीच में जो कारण है वही कर्म है। जैसे लुहार और लोहे के बीच कर्तृ-कार्य भाव होने से सण्डासी करण है। वैसे ही आत्मा के शरीरादि कार्य में करण “कर्म” है। इस तरह कर्मों का अस्तित्व सिद्ध होता है।¹

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म से कर्म की सिद्धि

किसी भी प्राणी की यात्रा केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है। उसकी जीवनयात्रा मुक्ति प्राप्त करने से पहले कई जन्मों तक चल सकती है, इसी प्रकार व्यक्ति की जीवन यात्रा इस जन्म से पूर्व भी कई जन्मों से चली आ रही है। तो व्यक्ति को सुकर्म या दुष्कर्म का फल अवश्य मिलता ही है, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में पूर्वजन्म अर्थात् इस भव के पहले वाला जन्म तथा — इस जन्म के शरीर का आयुष्य पूर्ण होने पर अगले जन्म का नया शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। इस तरह कर्मों के कारण ही कर्मणशरीर युक्त आत्मा इहलोक-परलोक में गमन करती है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सर्वज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष है, जैसे कि— उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित चित्र-संभूति के छः भवों की घटना सती राजमति का अरिष्टनेमि के साथ 9 जन्मों का सम्बन्ध। श्रमण-भगवान महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख कल्प सूत्र आदि में वर्णित है।²

प्रत्यक्ष ज्ञानी तीर्थंकरों तथा उनके गणधरों, विशेषतः श्री गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी आदि ने अनेक शास्त्रों एवं ग्रन्थों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले घटनाचक्रों का जहां-तहां उल्लेख किया है।

इस प्रकार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म से कर्मों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

¹ गणधरवाद, पृ. 46-47

² कर्मविज्ञान भाग-1, पृ. 51-57

इस प्रकार कर्मवाद एक वैज्ञानिक एवं तर्कसिद्ध सिद्धान्त है। इसे गहराई से समझने की अपेक्षा है, अज्ञान के आवरण को तथा दुराग्रह को हटाकर देखने की आवश्यकता है।

यह हमें दृष्टिगत है कि जिसके बीज वपन किये जाते हैं, उसी के फल लगते हैं, विष भक्षण से जीवन और अमृत-पान से मृत्यु मिले यह सम्भव नहीं है, शीत-लहर में व्यक्ति कंपायमान नहीं हो, और अग्नि से जले नहीं, इन्द्रिय प्रत्यक्ष में यह सम्भव नहीं है, आग सदा दाहकारी होती है तथा शीतलहर शीत का प्रकोप करने वाली होती है, यह प्राकृतिक विधान है। तब फिर पुण्य का फल पाप और पाप का परिणाम पुण्य कैसे हो सकता है?

इस सत्य के हम प्रत्यक्षदर्शी हैं कि— मुंह में नमक की डली डालते ही मुंह खारा हो जाता है तथा मिश्री की डली से मुंह मीठा हो जाता है, तब शुभ-अशुभ कर्मों का प्रतिफल कैसे जायेगा? वह अपने स्वरूप के अनुकूल ही आयेगा।

कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत विशाल और सार्वभौम है। देशकाल से अतीत है। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय एवं क्षेत्र में जैसा कर्म करेगा वैसा ही परिणाम आयेगा, कोई अपवाद नहीं होगा।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार “चेतना के द्वारा की जाने वाली शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहते हैं।”

जैन दर्शन में कर्म का अर्थ एवं स्वरूप

जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ सबसे विलक्षण एवं विशिष्ट है। सामान्यरूप से कर्म का अर्थ क्रियापरक ही किया गया है। किन्तु यह उसकी आंशिक व्याख्या है। कर्मग्रन्थ में कर्म की स्पष्ट परिभाषा दी है— “जीव के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग आदि हेतुओं से जो किया जाता है, वही ‘कर्म’ कहलाता है।”²

¹ बौद्धधर्मदर्शन, अंगुत्तरनिकाय

² “कीरइ जिएण हेउहिं, जेण ते भण्णए कम्मं” कर्मग्रन्थ भाग-1, गाथा-1

जैन दर्शन के अनुसार कर्म शब्द केवल क्रिया, कार्य या संस्कार के अर्थ में ही परिसीमित नहीं है, अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका आत्मा से सम्बद्ध एक ऐसा अर्थ लिया गया है जिसमें जीव के द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं।

जीव का स्पन्दन तीन प्रकार से होता है— कायिक, वाचिक, मानसिक। प्रत्येक जीव शरीर से कुछ न कुछ क्रिया करता है, जिनके रसनेन्द्रिय हैं, वे वचन से कुछ न कुछ बोलते रहते हैं, तथा संज्ञी जीव मन से कुछ न कुछ विचार—चिन्तन करते रहते हैं। इन्हें योग कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है— काय, वचन और मन का व्यापार योग है।¹

जिन भावों से स्पन्दन क्रिया होती है, उनके संस्कार क्षण—क्षण में जीव द्वारा ग्रहीत पुद्गलों में ही संचित होते रहते हैं। वे किस तरह परिणमन करते हैं, बताया है जैसे— पात्र में डाले गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प और फलों का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का भी योग और कषाय के कारण कर्मरूप से परिणमन हो जाता है।²

वैसे तो पुद्गलों की जातियां 23 हैं, परन्तु वे सब पुद्गल कर्म रूप में परिणत नहीं होते। मात्र कार्मणवर्गणा के पुद्गल ही कर्म में परिणत होते हैं। ये अतिसूक्ष्म और समस्त लोक में व्याप्त हैं। जीव स्पन्दनक्रिया द्वारा इन्हें प्रति समय ग्रहण करता और अपने भावों के अनुसार इन्हें संस्कार रूप में संचित करके कर्मरूप में परिणत कर लेता है। जिस तरह सी.डी. में शब्द और आकृतियां संचित हो जाती हैं उसी तरह कर्मवर्गणा में संस्कार संचित होते हैं ये कर्मवर्गणाएं ही द्रव्यकर्म हैं और उनमें संचित संस्कार भावकर्म हैं।

इस तरह जैन दर्शन में कर्म शब्द के तीन अर्थ प्रयुक्त होते हैं— (1) जीव की स्पन्दन क्रिया (2) जिन भावों से स्पन्दन क्रिया होती है, उनके संस्कार से युक्त कार्मण पुद्गल (3) वे भाव, जो कार्मण पुद्गलों में संस्कार के कारण होते हैं। कार्मण पुद्गल ही कर्म क्यों कहलाते हैं, इस प्रश्न का समाधान पंचाध्यायी में इस प्रकार किया गया है कि—“जीव तथा पुद्गल में भाववती तथा क्रियावती शक्ति पाई जाती हैं, शेष चार

¹ “कायवाङ्मन कर्मयोगः” तत्त्वार्थसूत्र, 6/1

² तत्त्वार्थराजवार्तिक (अकलंकदेव) पृ. 224

(धर्म-अधर्म-आकाश-काल) में भाववती शक्ति ही है। प्रदेशों के संचलनरूप परिस्पन्दन को क्रिया कहते हैं और एक ही वस्तु में ही जो धारावाही परिणमन होता है, वह भाव है।¹ इससे स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में हलन-चलन पाये जाने से जीव और पुद्गल विशेष का बन्ध होता है, क्योंकि जीव में वैभाविक शक्ति का सद्भाव है। इसलिए रागादि भावों के कारण वैभाविक शक्ति-विशिष्ट जीव कर्मणवर्गणा को अपनी और आकर्षित करता है। इस प्रकार जीव का कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है। इससे कर्मण पुद्गल भी कर्मभाव को प्राप्त होने से 'कर्म' कहलाते हैं।¹

कर्म शब्द का सामान्य अभिधेयार्थ क्रिया है किन्तु व्यञ्जनार्थ को ग्रहण करने पर यह अर्थ होता है कि - जीव के द्वारा होने वाली क्रिया। आत्मशक्तियों को आवृत्त करने वाले कर्मण वर्गणा के पौद्गलिक परमाणुओं के संयोग को कर्म कहते हैं तथा उस संयोग के कारण आत्मा में समुत्पन्न विषय-कषायों के संस्कारों को भी कर्म कहते हैं।

इन्हीं संस्कारों को परलोकवादी दर्शनों ने कर्म रूप में स्वीकार किया है। सभी आस्तिक धर्मों और दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को तथा शुद्धता को प्रभावित, आवृत्त एवं कुण्ठित कर देती है। उन दर्शनों ने उसे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है।²

बौद्ध दर्शन में उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है।³ वेदान्त दर्शन में उसी को माया और अविद्या कहा है।⁴ सांख्य दर्शन में उसको प्रकृति या संस्कार कहा है। योग दर्शन में उसके लिए क्लेश, कर्म, आशय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।⁵ न्यायदर्शन में प्रयुक्त अदृष्ट, संस्कार शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। वैशेषिक दर्शन में 'धर्माधर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है।⁶

¹ पंचाध्यायी, अध्या. 2, 25-26

² कर्मविज्ञान, वही, पृ. 224

³ अभिधर्मकोष, परिच्छेद-4

⁴ ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2/1/104

⁵ सांख्यकारिका

⁶ योगदर्शन

कर्म के दो रूप— द्रव्य कर्म और भावकर्म

कर्म के स्वरूप को अच्छी तरह से समझने के लिए कर्म के भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनों पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। आत्मा के मानसिक विचार और उन विचारों के प्रेरक या निमित्त, ये दोनों ही तत्त्व 'कर्म' में ताने-बाने की तरह मिले हुए हैं।

गौम्मटसार में कर्म के इन चेतन-अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि — "कर्म सामान्य भावरूप कर्मत्व की दृष्टि से एक ही प्रकार का है, किन्तु वही कर्म द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि पुद्गल द्रव्य का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति अथवा पिण्ड में फल देने की शक्ति भाव कर्म है।"¹

तत्त्वार्थ सार में बताया है कि जीव के राग-द्वेषादि विकार भावकर्म कहलाते हैं और राग द्वेषादि भावकर्मों के निमित्त से आत्मा के साथ बन्धने वाले अचेतन पुद्गल परमाणु द्रव्य-कर्म कहलाते हैं।²

जिनेन्द्रवर्णी जी के अनुसार— कर्म दो प्रकार का होता है— द्रव्य रूप और भावरूप। गमनागमन रूप क्रिया द्रव्यकर्म है और परिणमनरूप पर्याय भावकर्म है। प्रयोजनवश से पुद्गल को द्रव्यात्मक पदार्थ और जीव को भावात्मक पदार्थ माना गया है, इसलिए पुद्गल की पर्याय द्रव्यकर्म और जीव की पर्याय भाव-कर्म हैं।³

अनादिकालीन कर्ममलों से युक्त सांसारिक जीव रागादि कषायों से संतप्त होकर अपने मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों या क्रियाओं से कर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित कर लेता है। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध होता हो तथा कर्म तभी सम्बद्ध होता है जब मन-वचन-काया की क्रिया या प्रवृत्ति हो। इस प्रकार प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की शाश्वत परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति में कार्य-कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए कार्मण

¹ "पोग्गलपिण्डो द्रव्यं तस्सतिभावकम्मंतु" गौम्मटसार, कर्मकाण्ड 6

² तत्त्वार्थसार, 5/24/19

³ कर्मसिद्धान्त, जिनेन्द्रवर्णी, पृ. 43

वर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म और तज्जनित राग-द्वेषादि परिणामों से हुई प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है।¹

समग्र दृष्टि से जैन-दर्शन का मन्तव्य है कि - डिबिया में भरे हुए काजल की तरह इस सम्पूर्ण लोक में सूक्ष्म और बादर कर्मपुद्गल परमाणु ठसाठस भरे हुए हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहां कर्म-पुद्गल-परमाणु न हो। लेकिन ये समस्त कर्म-पुद्गल-परमाणु कर्म नहीं कहलाते। कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी होने से, जहां आत्मा है वहां पहले से विद्यमान रहते है। जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश है, उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के राग-द्वेषादिरूप परिणामों से आत्मप्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं। आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध ये कर्म-परमाणु ही जैन दृष्टि से द्रव्यकर्म कहलाते है।²

इस तरह द्रव्यकर्म और भावकर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक श्रृंखला है-जीव के योग का निमित्त पाकर कर्मवर्गणाएं उसके प्रति स्वतः आकर्षित हो जाती है और इधर से उधर गतिमान होती हुई उस जीव के प्रदेशों में प्रवेश करके द्रव्यकर्म के रूप में परिणत हो जाती है। फिर जीव के उपयोग का अर्थात्-राग-द्वेष-मोहात्मक भावकर्म का निमित्त पाकर के 'द्रव्यकर्म' अनुभाग तथा स्थिति को धारण करके कुछ काल पर्यन्त उसी अव्यक्त अवस्था में जीव के साथ बन्धे रहते हैं। यह स्थिति पूर्ण होने पर द्रव्यकर्म परिपाक दशा को प्राप्त होकर उदय में आता है (फलोन्मुख होता है)। जिससे जीव में योग और उपयोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की यह अटूट निमित्त-नैमित्तिक श्रृंखला अनादिकाल से चली आ रही है।³

कर्मबन्ध के हेतु और प्रकार

जैन शास्त्रों में द्रव्यकर्म-बन्ध को चार भेदों में वर्गीकृत किया गया है- (1) प्रकृतिबन्ध (2) प्रदेशबन्ध (3) अनुभागबन्ध (रसबन्ध) तथा (4) स्थितिबन्ध।

कर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणु आकाश में सर्वत्र व्याप्त है, कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां कर्म-योग्य-पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हो। परन्तु जब प्राणी मन-वचन अथवा

¹ जिनवाणी, आ. देवेन्द्रमुनि, (कर्मसिद्धान्त विशेषांक) पृ. 25

² जैनदर्शन और आत्मविचार, डॉ. लालचन्द्र जैन, पृ. 184

³ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 4, पृ. 14

काया से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है। जितने क्षेत्र में आत्मा विद्यमान रहती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान कर्म-परमाणु उस प्राणी के द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं, अन्य नहीं।

फिर राग-द्वेष के कारण बन्ध होता है, कर्मबन्ध होने के साथ ही आत्मा के योग और कषाय के अनुसार स्वतः ही कर्मबन्ध की अंशरूप अवस्थाएं या व्यवस्थाएं निष्पन्न होती हैं। वे चार अवस्थाएं हैं— प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, रसबन्ध व स्थितिबन्ध।¹

प्रकृतिबन्ध

जैसे प्राणियों के स्वभाव से उनका पृथक्करण या विभाजन किया जाता है। वैसे ही कर्मों के स्वभाव से उनका पृथक्करण किया जाता है। आत्मा के साथ कर्म का बन्ध या श्लेष होने के साथ ही उस कर्म के स्वभाव का विश्लेषण स्वतः हो जाता है। कर्म को यथार्थ रूप से पहचानने के लिए सर्वप्रथम कर्म का स्वभाव जाना जाता है। प्रकृतिबन्ध अर्थात् कर्म के स्वभाव का निर्णय। प्रकृतिबन्ध स्वयं ही कर्म के स्वभाव का हिसाब रखता है।²

गोम्मटसार में बताया है— नीम की प्रकृति कडुआपन है, गुड़ की प्रकृति मीठापन है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है—ज्ञान को आवृत्त करना अथवा पदार्थ का ज्ञान न होने देना।³

धवला में 'प्रकृति' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल प्रदान किया जाता है, वह प्रकृति है।⁴

आत्मा के मूल स्वभाव चार हैं — (1) ज्ञान, (2) दर्शन, (3) अव्याबाधसुख, (4) आत्मशक्ति (वीर्य)। इसके विपरीत कर्म की प्रकृतियां चार हैं — (1) आवारक, (2) सुषुप्तिकारक, (3) मूर्च्छा कारक, (4) शक्ति प्रतिरोधक।

1. **आवारक का अर्थ**— आवृत्त करने वाला, दबाने वाला। जिस प्रकार बादल सूर्य को आवृत्त कर देते हैं, उसकी रोशनी को दबा देते हैं। उसी प्रकार प्राणी की

¹ आ. देवेन्द्रमुनि, कर्मविज्ञान, भाग 1, वही, पृ. 373

² जैन दृष्टि ए कर्म (डॉ. मोतीचन्द कापड़िया) पृ. 43

³ गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 2/52

⁴ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मनः इति प्रकृति शब्द व्युत्पत्तेः" धवला पृ. 303

चेतना के अखण्ड सूर्य को कुछ कर्म—मेघ के समान ढक देते हैं। इस प्रकार कर्म की एक प्रकृति है—आवृत्त करने की ज्ञानावरण की चेतना का कार्य है प्रकाशित रहना, स्व—पर को यथार्थरूप से और पूर्णरूप से जानना, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति— ज्ञान को आवृत्त कर देने की है।

2. **कर्म की एक प्रकृति है— सुषुप्तिकारक आत्मा की प्रकृति है—**सदैव जागरूक रहने, देखने की परन्तु सुषुप्ति या अजागृति पैदा करने के स्वभाव वाला कर्म उसमें बाधक बनता है। ऐसे स्वभाव वाला कर्म है—दर्शनावरणीय। इस कर्म की प्रकृति या स्वभाव है— दर्शन की शक्ति पर आवरण डालना, अनन्तदर्शन की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करना।
3. **आत्मा में अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख है—** आनन्द, वह उसका मूल स्वभाव है। किन्तु भ्रूष्कारक प्रकृति वाला या विकारक स्वभाव वाला मोहनीय कर्म आत्मा के उस असीम आनन्द को विकृत कर देता है। जीव पर मोह का पर्दा डाल कर कठिन परिस्थिति में अनाकुल रहने की उसकी आनन्द मय प्रकृति को कुण्ठित, विकृत और ध्वस्त कर डालता है।
4. **कर्म की एक प्रकृति है—** शक्ति प्रतिरोधक। वह आत्मा की दान, लाभ, भोग और उपभोग—शक्ति को कुण्ठित एवं प्रतिरुद्ध कर देती है।¹ इस प्रकृति के कर्म को अंतराय—कर्म कहते हैं।

यह चार घातिकर्म के स्वभाव हैं। ये चारों घातिकर्म आत्मा के पूर्वोक्त चार गुणों का प्रबलरूप से घात करते हैं। यद्यपि आत्मा के अनन्तगुण हैं, फिर भी प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा मुख्य आठ गुण बताये गये हैं।

आत्मा के शेष चार गुण हैं — (1) अव्याबाध आत्मसुख (2) अक्षयस्थिति (शाश्वतता) (3) अरूपित्व (4) अगुरुलघुत्व। इन चारों गुणों को बाधित करने का स्वभाव निम्न कर्मों में हैं—

- (1) आत्मा के अव्याबाध सुख को रोककर बाह्य सांसारिक सुख—दुःख का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है।

¹ कर्मविज्ञान भाग 4, पृ. 200-201

- (2) आत्मा के अक्षय स्थिति गुण को रोककर जन्म—मरणादि का अनुभव कराने वाला आयुषकर्म है।
- (3) आत्मा के अरूपित्व गुण को दबाकर मनुष्यादि रूप ग्रहण करने को बाध्य करने वाला तथा जीव को पूर्ण या विकल अंग—प्रत्यंगादि शरीर, यश—अपयश, वर्ण—गन्धादि, नाना प्रकार के विकारजनित विभिन्नताओं को प्राप्त कराने वाला नामकर्म है।
- (4) आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को दबा कर उच्च या नीच कुल का व्यवहार कराने वाला गोत्र कर्म है।¹

उत्तर प्रकृतिबन्ध

- (1) **ज्ञानवरणीय कर्म**— जिसके द्वारा वस्तु का विशेषबोध यानी साकार—उपयोग हो उसे ज्ञान कहते हैं। नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि सहित जगत् के समस्त पदार्थों का विशेष बोध जिसके द्वारा हो, उसे ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान का जिसके द्वारा आच्छादान हो उसे ज्ञानवरणीय कर्म कहा गया है। ज्ञानावरणीय कर्म की उपमा पर्दे से दी गई है। जैसे पर्दे से ढंकी चीज का ज्ञान नहीं होता, वैसे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता।

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच उत्तरप्रकृतियां है—²

- (1) मतिज्ञानावरणीय (2) श्रुतज्ञानावरणीय (3) अवधिज्ञानावरणीय
- (4) मनःपर्यवज्ञानावरणीय तथा (5) केवलज्ञानावरणीय। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार हैं—
- (क) **मतिज्ञानावरणीय**— पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा जिससे वस्तु का निश्चित बोध हो या मनन हो³ उस मति ज्ञान को ढंकने वाला कर्म मतिज्ञानावरणीय कहलाता है।

¹ मुनि मोहनलाल शार्दूल, जैन दर्शन के पारिपार्श्व में, पृ. 17

² “णाणावरण पचविहं, सूयं आभिणिबोहियं
ओहिणारणं तु तइयं, मणनारणं च केवलं”— उत्तराध्ययन 33/4

³ “पंचमिदिन्द्रियैमनिरा च, यदर्थं ग्रहणं तन्मतिज्ञानं” धवला

- (ख) **श्रुतज्ञानावरणीय**— इन्द्रिय और मन की सहायता से शास्त्रों को पढ़ने और सुनने से जो बोध होता है ऐसे श्रुतज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।
- (ग) **अवधिज्ञानावरणीय**— मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त पदार्थों का जो ज्ञान होता है¹ ऐसे अवधिज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।
- (घ) **मनःपर्यवज्ञानावरणीय**— इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य-क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से मर्यादापूर्वक जो ज्ञान संज्ञी जीवों की मनोगत पर्यायों को जानता है इन मनोगत पर्यायों को जानने में रुकावट डालने वाला मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।
- (ङ) **केवलज्ञानावरणीय**— इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिकाल एवं त्रिकालवर्ती समस्त मूर्त-अमूर्त ज्ञेय पदार्थों को एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानने की शक्ति रखता है² ऐसे केवलज्ञान को आवृत्त करने वाला केवलज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।
- (2) **दर्शनावरणीय कर्म**— जो कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डालकर, उसे प्रकट होने से रोकता है, सामान्यबोध पर आवरण बनकर छा जाता है, जीव को पदार्थ की साधारण जानकारी नहीं होने देता वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म की उपमा द्वारपाल से दी गई है। जिस प्रकार शासक के दर्शन के लिए उत्सुक व्यक्ति को द्वारपाल रोक देता है इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म दर्शन-शक्ति को अवरुद्ध कर देता है।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां 9 हैं। मुख्य चार प्रकार है—

- (1) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म (2) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म (3) अवधिदर्शनावरणीय कर्म
(4) केवलदर्शनावरणीय कर्म। शेष पांच प्रकृतियां दर्शन के आवरण रूप निद्रा की है—

¹ "रूपिष्वधेः" तत्त्वार्थसूत्र 1/28

² "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" तत्त्वार्थसूत्र 1/30

(1) निद्रा (2) निद्रा-निद्रा (3) प्रचला (4) प्रचला-प्रचला (5) स्त्यानगृद्धि¹

3. वेदनीय कर्म— जिस कर्म के प्रभाव से वेदन अर्थात् अनुभव होता है, वह वेदनीय कर्म कहलाता है। इस कर्म से सुख-दुःख का अनुभव होता है। वेदनीय कर्म की उपमा शहद लिपटी हुई तलवार से की गई है। जिस प्रकार तलवार की धार पर लगे हुए शहद को चाटने से सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार सातावेदनीयकर्म के उदय से सुख की अनुभूति, परन्तु तलवार के चाटने पर जिह्वा कट जाने पर कुछ देर बाद दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकार असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख का अनुभव भी होता है।

इसकी दो प्रकृतियां हैं—

(1) सातावेदनीय (2) असातावेदनीय

4. मोहनीय कर्म— जिसके द्वारा आत्मा मूढ़ बनकर अपने हिताहित का कर्तव्य-अकर्तव्य का, कल्याण-अकल्याण का भान भूल जाता है। जैसे- मद्यपान करके मनुष्य भले-बुरे का विवेक खो बैठता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव सत्-असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है।²

मोहनीय कर्म की मुख्य दो प्रकृतियां— (क) दर्शनमोह (ख) चरित्रमोह³

दर्शनमोहनीय कर्म— जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना यानि तत्वों पर श्रद्धा, रूचि, प्रतीति करना दर्शन है। इसको घात करने वाले, आवृत्त करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

इसके तीन प्रकार हैं—

- (1) सम्यक्त्वमोहनीय (शुद्ध) (2) मिथ्यात्वमोहनीय (अशुद्ध) (3) मिश्रमोहनीय (अर्धशुद्ध)⁴

¹ “चक्षुश्चक्षुरवधि केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृध्यश्च, तत्त्वार्थसूत्र 8/6

² “मज्जं व मोहणीयं” कर्मग्रन्थ भाग 1, गाथा-13

³ “दुविहं दंसणं चरणं मोहा” कर्मग्रन्थ 1/13

⁴ “दंसणमोहं तिविहं-सम्मं मीसं तहेव मिच्छंतं” कर्मग्रन्थ 1/14

चारित्रमोहनीय कर्म— आत्मा को अपने स्वभाव की प्राप्ति या अपने आत्मस्वरूप में रमण करना, चारित्र है। चारित्र का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है— जो कर्मों के चय-संचय को रिक्त खाली करता है, उस अनुष्ठान को चारित्र कहते हैं।¹

आत्मा के इस चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं। इसको दो भागों में विभक्त किया है— (क) कषायमोहनीय (ख) नोकषायमोहनीय।²

कषायमोहनीय कर्म— जिस कर्म के कारण क्रोधदि कषायों की उत्पत्ति हो, उसे कषायमोहनीय कर्म कहते हैं। इसके निम्न 16 प्रकार हैं :—

- (1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ

इन चारों कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द स्थिति के कारण प्रत्येक के चार-चार प्रकार बताये गये हैं। जो क्रमशः अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम स्थिति) अप्रत्याख्यानी (तीव्रतर स्थिति) प्रत्याख्यानी (तीव्र स्थिति) और संज्वलन (मंद स्थिति) के नाम से प्ररूपित किये गये हैं।

(1) नोकषायमोहनीय— जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के सहवर्ती हो। कषायों को उत्पन्न करने में तथा उद्दीपन करने में जो सहायक हो, उन्हें नोकषाय कहते हैं। इसके 9 भेद हैं—

- (1) हास्य (2) रति (3) अरति (4) भय (5) शोक (6) जुगुप्सा (7) स्त्रीवेद (8) पुरुषवेद व (9) नपुंसक वेद।

5. **आयुष्य कर्म**— जिस कर्म के प्रभाव से जीव भव-विशेष में, योनि विशेष में तथा नियत शरीर में नियत कालावधि तक रुका रहे। जैसे—दण्ड प्राप्त मानव को हडिबन्धन में उतने काल तक रोका जाता है जितनी अवधि की उसकी सजा हो, उसी प्रकार आयुष्कर्म जीव को नियत अवधि तक उसी देह में या भव में रोके रखता है।³

आयुर्कर्म की उत्तर प्रकृतियां चार हैं—

¹ “कर्मणाचयं रिक्ता करोति इति चारित्रम्” धवला 6/11

² “कषायमोहणिज्जं तु, नोकषायं तहेव य, उत्तराध्ययन 33/10

³ जीवस्स अवद्धानं करेदि, आऊ हडिब्धनरं” गोम्मटसार, कर्मकाण्ड 11

(क) नरकायु (ख) तिर्यञ्चायु (ग) मनुष्यायु तथा (घ) देवायु ।

6. नामकर्म— जिस कर्म से जीव में गति आदि भेद उत्पन्न हो, जो देहादि की भिन्नता का कारण हो, अथवा जिसके कारण गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नामकर्म हैं। जिस प्रकार एक चित्रकार विविध प्रकार के चित्र बनाता है, विविध रंग भरता है, उनकी विविध आकृतियां बनाता है। उसी प्रकार नामकर्म भी प्राणी को नये-नये नाम, रूप, आकार आदि धारण कराता है, उनको अनेक प्रकार की आकृति, प्रकृति एवं व्यक्तित्व प्रदान करता है।

नामकर्म की दो मुख्य उत्तर प्रकृतियां हैं— 1. शुभ नाम कर्म तथा 2. अशुभ नामकर्म।

शुभनाम कर्म की 37 प्रकृतियाँ—

1-2 गतिनाम— मनुष्यगति व देवगति।

3 जातिनाम— संज्ञी पंचेन्द्रिय

4-8 शरीरनाम— औदारिक, वैक्रिय आहारक, तैजस व कार्मण

9-11 अंगोपांगनामकर्म— औदारिक, वैक्रिय, आहारक अंगोपांग।

12 संहनननामकर्म— वज्रऋषभनाराच संहनन

13 संस्थाननाम कर्म— समचतुरस्र संस्थान

14 वर्णनामकर्म— शुभ वर्ण

15 रसनाम कर्म— शुभ रस

16 गंध नामकर्म— सुरभिगन्ध

17 स्पर्शनामकर्म— शुभ स्पर्श

18-19 आनुपूर्वीनामकर्म— देवानुपूर्वी व मनुष्यानुपूर्वी

20 विहायोगतिनामकर्म— शुभ विहायोगति

21-27 प्रत्येकनामकर्म की 7 प्रकृतियां—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, निर्माणनामकर्म, तीर्थकरनामकर्म।

27-37 त्रसदशक— त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति नामकर्म, ये सब मिलकर 37 प्रकृतियां होती हैं।

अशुभनामकर्म की 34 प्रकृतियाँ—

- 1-2 गतिनामकर्म— नरक, तिर्यन्च
- 3-6 जातिनामकर्म— एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय
- 7-11 संहनननामकर्म— ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका सेवार्तसंहनन।
- 12-16 संस्थाननामकर्म— न्यग्रोधपरिमण्डल, सादिसंस्थान, कुब्ज, वामन, हूण्डक संस्थान।
- 17 वर्णनामकर्म— अशुभवर्ण
- 18 गन्धनामकर्म— दुरभिगन्ध
- 19 रसनामकर्म— अशुभरस
- 20 स्पर्शनामकर्म— अशुभ स्पर्श
- 21-22 आनुपूर्वीनामकर्म— नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी
- 23 अशुभविहायोगतिनामकर्म
- 24 प्रत्येक प्रकृति— उपघात

25-34 स्थावरदशक के 10— स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति।

इस प्रकार शुभनामकर्म के 37 प्रकार व अशुभनामकर्म के 34 प्रकार मिलकर नाम कर्म के कुल 71 प्रकार (उत्तर प्रकृतियाँ) होते हैं।

इनमें बन्धननामकर्म के पांच, वर्णनामकर्म के 5, गन्ध के 2, रस के 5, स्पर्शनामकर्म के 8, इनमें से वर्णादि के 2 शुभ 2 अशुभ निकाल देने पर 22 भेद रहते हैं, इस प्रकार नामकर्म की $37+34+22=93$ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं।¹

अपेक्षा—भेद से नामकर्म की अपेक्षा 42, 67, 93 या 103 प्रकृतियाँ भी मानी गई है।²

42 प्रकृतियाँ— 14 पिण्डप्रकृतियाँ + 8 प्रत्येक प्रकृतियाँ + त्रसदशक + स्थावरदशक = 42

¹ कर्मविज्ञान भाग 4, पृष्ठ 353-354

² बायालतिनवरविहं, तिउत्तरस्सयं च सतट्ठी” कर्मग्रन्थ 1/23

67 प्रकृतियां— 14 पिण्ड प्रकृतियों में वर्णचतुष्क के 20 के स्थान पर कुल चार तथा बन्धन और संघात के 5-5 कम करने पर, 4+35+त्रस10+स्थावर10+8 प्र.=67 भेद हुए।

103 प्रकृतियां— 93 पूर्वोक्त, बन्धननामकर्म के 10 और मिलाने पर।

7. **गौत्रकर्म**— जिस कर्म के उदय से जीव जाति और कुल की अपेक्षा से उच्च-नीच, पूज्य-अपूज्य, कुलीन-अकुलीन कहलाता है, उसे गौत्रकर्म कहते हैं। जैसे-कुम्भकार, छोटे बड़े दूध-घी के योग्य तथा मद्य आदि रखने के योग्य बर्तन तैयार करता है, उसी प्रकार यह कर्म भी जीव को कभी आदरास्पद-उच्च और कभी नीच-अनादरास्पद बना देता है। गौत्रकर्म की दो प्रकृतियां हैं— 1. उच्च गौत्र व 2. नीच गौत्र।¹

8. **अन्तरायकर्म**— आत्मा की अनन्तशक्तियों को कुण्ठित करने वाला अन्तरायकर्म है। “दानादि परिणाम में व्याघात का कारण होने से इस कर्म को अन्तरायकर्म कहते हैं।² अन्तरायकर्म की तुलना राजा के भण्डारी से की गई है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश मिलने पर भी दान आदि देने में आनाकानी करता है, विघ्न डालता है। वैसे ही यह कर्म जीव के गुणों में बाधा डालता है।

अन्तरायकर्म की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं— (क) दानान्तराय (ख) लाभान्तराय (ग) भोगान्तराय (घ) उपभोगान्तराय (ङ) वीर्यान्तराय कर्म।³

प्रदेशबन्ध

कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कार्मणवर्गणा का सम्बन्ध जितनी संख्या या परिमाण के साथ होता है। वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। किस जीव ने कार्मणवर्गणा के कितने स्कन्धों को कितने परिमाण या संख्या में ग्रहण किया है, इसका निर्णय प्रदेशबन्ध से होता है।

मन-वचन और काया की प्रवृत्ति अर्थात् इन तीनों योगों की चंचलता जितनी अधिक होगी, आत्मा के साथ कार्मणवर्गणा के स्कन्ध उतने ही अधिक सम्बद्ध होंगे। और

¹ गौत्रकर्मं तु दुविहं, उच्चनीच च आहियं” उत्तराध्ययन 33/14

² “विघ्नकरणम् अन्तरायस्य” तत्त्वार्थसूत्र 8/14

³ “दाणे लाभे य भोगे उवभोगे वीरिए तथा” उत्तराध्ययन, 33/7

यदि योगों की प्रवृत्ति मन्द होगी तो कर्मपुद्गलपरमाणुओं की संख्या का बन्ध भी कम होगा। इसे ही आगमिक परिभाषा में प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए भगवती सूत्र में यह दृष्टान्त दिया गया है—भगवान महावीर गौतम से कहते हैं—एक सरोवर में जो जल से भरा हुआ हो, यदि कोई व्यक्ति एक बड़ी सौ छिद्रों वाली नौका छोड़े तो वह नौका भरते-भरते जल से परिपूर्ण हो जायेगी। उसी प्रकार जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़ होकर तथा परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।

इसी प्रकार आत्मप्रदेशों और कर्मपुद्गल-प्रदेशों का सम्बन्ध प्रदेशबन्ध हैं। प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध योगों पर आधारित है।

अनुभागबन्ध (रसबन्ध)

जीव को कर्मबन्ध के उत्तरकाल में शुभ या अशुभ, पुण्य या पाप कर्मों का फल किस-किस तीव्र-मन्द-मध्यम रूप से भोगना है, उसका पूरा दारोमदार मुख्यतया रसबन्ध या अनुभागबन्ध पर है। रसबन्ध का लक्षण इस प्रकार बताया गया है— “ग्रहण या आकर्षित किये जाते हुये कर्म पुद्गलों में ज्ञानादिगुणों को रोकने के उस-उस स्वभाव के अनुसार जीव पर अनुग्रह या उपघात करने का सामर्थ्य निश्चित होता है, वह रसबन्ध है।”

तत्त्वार्थसूत्र में अनुभागबन्ध का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—विपाक अर्थात्—विविध प्रकार के पाक, फल देने की शक्ति को ही अनुभाव या अनुभाग कहते हैं।¹

सवार्थसिद्धि में बताया गया है कि उस-उस कर्म के रस विशेष को अनुभाव कहते हैं तथा कर्मपुद्गलों के पृथक-पृथक स्वगत-सामर्थ्यविशेष को भी अनुभाग कहते हैं।²

प्रश्न हो सकता है कि एक ही प्रकार के कर्मपरमाणु भिन्न-भिन्न रस वाले कैसे हो जाते हैं? इसका समाधान है कि—जीव के साथ बन्धने से पहले कर्म-परमाणुओं में उस प्रकार का विशिष्ट रस (फलजनक शक्ति) नहीं रहता, उसी समय वे प्रायः निरस और एकरूप रहते हैं, किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब ग्रहण करने के

¹ “विपाकोऽनुभावः सःयथानाम” तत्त्वार्थसूत्र, 8/22-22

² “तद्रस-विशेषोऽनुभावः” सवार्थसिद्धि 8/3/379

समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनन्तगुणा रस पैदा हो जाता है, जो जीव के गुणों का घात या उन पर अनुग्रह आदि करता है, उसे ही रसबन्ध कहते हैं। जैसे—सूखा, घास नीरस होता है, लेकिन ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुंच कर दूध (क्षीररस) के रूप में तथा चिकनाहट में न्यूनाधिकता देखी जाती है उसी प्रकार एक ही कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न कषाय रूप भावों का निमित्त पाकर भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते हैं जो उनमें फल प्रदान करने की शक्ति पैदा हो जाती है। इसी का नाम रसबन्ध या अनुभागबन्ध है।¹

स्थितिबन्ध

बद्धकर्मस्कन्ध जितने समय तक जीव के साथ सम्बद्ध रहते हैं और उसके बाद झड़ जाते हैं, उस कालमान को स्थितिबन्ध कहा जाता है।

कर्मग्रन्थ के अनुसार स्थितिबन्ध का लक्षण है—अध्यवसाय से गृहीत कर्मदलिक की स्थिति के काल का नियम।

बन्धा हुआ कर्म कब तक जीव के साथ सम्बद्ध रहेगा? इस प्रकार का निर्धारण करना स्थितिबन्ध का कार्य है। स्थितिबन्ध का प्रमुख कारण कषाय है।

मूल कर्मों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति निम्न तालिकानुसार हैं—

क्र.सं.	कर्म के नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
1	ज्ञानावरणीय कर्म	अन्तमूहुर्त की	30 कोटाकोटि सागरोपम
2	दर्शनावरणीय कर्म	अन्तमूहुर्त की	30 कोटाकोटि सागरोपम
3	वेदनीय कर्म	12 मूहुर्त की	30 कोटाकोटि सागरोपम
4	मोहनीय कर्म	अन्तमूहुर्त की	70 कोटाकोटि सागरोपम
5	आयुष्य कर्म	अन्तमूहुर्त की	33 कोटाकोटि
6	नाम कर्म	8 मूहुर्त की	20 कोटाकोटि सागरोपम
7	गौत्र कर्म	8 मूहुर्त की	20 कोटाकोटि सागरोपम
8	अन्तराय कर्म	अन्तमूहुर्त की	30 कोटाकोटि सागरोपम

¹ कर्मविज्ञान भाग 4, पृ. 450

इस प्रकार बन्ध की इन चार अवस्थाओं को समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया है—

एक व्यक्ति ने वातनाशक पदार्थों से लड्डु (मोदक) बनाए, उन लड्डुओं का स्वभाव वात्-व्याधि को मिटाने वाला है दूसरे व्यक्ति ने पित्तनाशक और तीसरे ने कफनाशक पदार्थों से लड्डु बनाये हैं। वैसे ही आत्मा (जीव) द्वारा ग्रहीत कर्म पुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत्त करने का स्वभाव होता है। किसी में आत्मा के दर्शनगुण को ढंकने का स्वभाव होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न ग्रहीत कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियां-स्वभावों के उत्पन्न होने से प्रकृतिबन्ध कहलाता है।

इस प्रकार कुछ मोदकों का परिमाण दो तोले भार का होता है, कोई मोदक एक छटांक का और कोई पावभर। इसी प्रकार कुछ ग्रहीत कर्मस्कन्धों में परमाणुओं की संख्या अधिक और कुछ में कम होती है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न परमाणु संख्याओं से युक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बद्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार इन लड्डुओं में कुछ एक सप्ताह तक कोई एक पक्ष की, और कुछ मोदकों की एक मास तक स्वभाव रूप में रहने की कालमर्यादा या शक्ति होती है। इस काल मर्यादा को स्थिति कहते हैं। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डु अपने स्वभाव से चलित हो जाते हैं। इसी प्रकार कोई कर्मदल उत्कृष्टतः 70 क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक और कोई जघन्यतः अन्तमूर्हत तक आत्मा के साथ रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न कर्मदलों का आत्मा के साथ-साथ पृथक-पृथक काल-सीमा तक बने रहने को स्थितिबन्ध कहते हैं।

जैसे कुछ लड्डुओं में मधुर कम होता है, कुछ में अधिक, कुछ में कटुरस कम होता है कुछ में अधिक, इत्यादि प्रकार से मधुर-कटुक आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है, वैसे ही कुछ कर्मदलों में शुभ या अशुभरस कम या अधिक होता है। तथा उनमें तीव्रता-मन्दता भी होती है। इसी प्रकार तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, शुभ-अशुभ रसों का कर्मपुद्गलों के रूप में बन्ध जाना रसबन्ध अनुभागबन्ध कहलाता है।¹

कर्मबन्ध की विभिन्न दशाएं—

¹ कर्मविज्ञान भाग 4, पृ. 180-181

कर्मों का बन्ध होने के पश्चात् होने वाली दस मुख्य क्रियाएं हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—

- (1) बन्ध— मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जीव के असंख्य आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। फलतः जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं, यही बन्ध कहलाता है।

एक अपेक्षा से बन्ध के चार भेद हैं—

(क) बद्ध (ख) स्पृष्ट (ग) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट (घ) निधत्त

दूसरी अपेक्षा से भी बन्ध के चार भेद किये जाते हैं—

(क) प्रकृतिबन्ध (ख) स्थितिबन्ध (ग) अनुभागबन्ध (घ) प्रदेशबन्ध

- (2) सत्ता— आत्म प्रदेशों के साथ रहे हुए कर्मदलिक उसके उदयकाल पर्यन्त आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप से अवस्थित रहते हैं। कर्मबन्ध होने के बाद जब तक उदय में नहीं आता, तब तक सत्ता में रहता है। कर्मबन्ध से फलप्राप्ति के बीच की अवस्था 'सत्ता' कहलाती है।
- (3) उदय— जब सत्तारिहित कर्म संस्कार जाग्रत होकर नीव को नया कर्म करने के लिए अव्यक्तरूप से प्रेरित प्रोत्साहित करते हैं, तब उन बद्धकर्मों की उदयावस्था कहलाती है। कर्म का नियत समय पर फल देने को तत्पर होना 'उदय' है।
- (4) उदीरणा— कालमर्यादा पूर्ण होने, उदय में आने से पूर्व ही कर्मफल को भोग लेना। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा समय से पहले ही फल पकाये जाते हैं, उसी प्रकार जिन कर्मों का उदयकाल न होने पर उन्हें उदय में खींच कर लाया जाता है। तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उन्हें उदय में आने से पूर्व ही भोग लिया जाता है।
- (5) उद्वर्तना— स्थिति और अनुभाग की वृद्धि को उद्वर्तना कहते हैं। इसमें कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है। यह नवीन कर्मबन्ध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता पर आधारित है।

- (6) अपवर्तना— बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय—विशेष से कम कर देने का नाम अपवर्तना है। इसे आकर्षण भी कहते हैं। जैसे साधुवन्दना के फलस्वरूप नौवे वासुदेव श्रीकृष्ण ने छठी नरक की स्थिति तृतीय नरक तक कर ली।
- (7) संक्रमण— किसी अध्यवसाय विशेष से सजातिय कर्म—प्रकृतियों का परस्पर में परिवर्तन करना संक्रमण कहलाता है। यह संक्रमण कर्म की मूल प्रकृतियों में नहीं होता है बल्कि उत्तरप्रकृतियों में होता है। फिर भी संक्रमण के कुछ अपवाद हैं— आयुष्यकर्म की चार प्रकृतियों, दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय में संक्रमण नहीं होता।
- (8) उपशमन— कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशमन है। उपशमन में कर्मों की सत्ता समाप्त नहीं होती, उनकी शक्तियों को दबा दिया जाता है। जिससे राख से दबी अग्नि की तरह निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।
- (9) निधत्ति— कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की दशा को निधत्ति कहा जाता है। किन्तु इस अवस्था में उद्वर्तना तथा अपवर्तना की सम्भावना रहती है।
- (10) निकाचना— कर्म की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन संक्रमण और उदीरणा सम्भव ही न हो, अर्थात् जिस रूप में इतना इस कर्म का बन्धन हुआ हो उसी रूप में उसे अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है।¹

जैनेत्तर दर्शनों में कर्म की अवधारणा

भारतीय दर्शन जीवन दर्शन है। यहां के दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन—मनन किया है। एतदर्थ यहां आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन—मनन व विवेचन किया गया है। दर्शन की दुनियां में कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

¹ (क) कर्मविज्ञान भाग 5, वही, पृ. 83-117

(ख) कर्ममीमांसा (मधुकरमुनि) पृ. 103-113

(ग) जैन भारती, 1-1-2003

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार “कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जाता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता है।”

सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्याविशारद कीथ ने सन् 1909 की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक बहुत विचारपूर्ण लेख लिखा, उसमें वे लिखते हैं—भारतीयों के कर्म-बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता।

वैदिककाल में कर्म

वैदिक युग में महर्षियों को कर्म सम्बन्धी ज्ञान था या नहीं? इस पर विज्ञों के दो मत हैं। कतिपय विज्ञों का स्पष्ट अभिमत है कि वेद-संहिता ग्रन्थों में ‘कर्म’ का वर्णन नहीं आया, तथा कुछ विद्वानों का मानना है कि—वेदों के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जिनका मानना है कि वेदों में कर्म की चर्चा नहीं है, उनके मतानुसार—वैदिककाल में ऋषियों ने प्राणियों में रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव किया, पर उन्होंने उसके मूल की गवेषणा अन्तरात्मा में न कर बाह्य जगत् में की। किसी ने सृष्टि की उत्पत्ति का कारण भौतिक तत्व को माना तो किसी ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को स्वीकार किया। इस प्रकार वैदिक युग का सम्पूर्ण तत्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि में ही विकसित हुआ।

डॉ. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार ‘वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर ब्राह्मणकाल तक यज्ञ, याग आदि धार्मिक क्रियाओं को ‘कर्म’ कहा गया। वैदिक काल के प्रसिद्ध अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, पुत्रकाम, स्वर्गकाम आदि वेद-विहित यज्ञों के लिए जो क्रिया की जाती थी वे सब ‘कर्म’ माने गये।

आरण्यक व उपनिषद युग में देववाद व यज्ञवाद का महत्व कम होने लगा और ऐसे नवीन विचार समक्ष आये जिनका संहिताकाल व ब्राह्मणकाल में अभाव था। किन्तु आरण्यक व उपनिषदकाल में अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। कर्म को मानने पर भी विश्व-वैचित्र्य का कारण कौन है, इस तथ्य पर एकमत नहीं रहा। श्वेताश्वतर

उपनिषद में अनेक कारण जैसे कि—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है।¹

कुछ विद्वान मानते हैं कि— वेदसंहिता में 'कर्मवाद' का वर्णन है। वेदों में 'कर्मवाद' या 'कर्मगति' शब्द न हो किन्तु 'कर्मवाद' का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद संहिता के मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण है— शुभस्पतिः" (शुभ कर्मों के रक्षक), धियस्पतिः (सत्य कार्यों के रक्षक), 'विश्वस्यकर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों का आधार), आदि पद देवों के विशेषण रूप में व्यवहृत हुए हैं। इन मंत्रों से स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि— शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार में जन्म लेता है, और मरता है। वेदमंत्रों में संचित और प्रारब्ध कर्मों का वर्णन है।

देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते हैं, और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं तथा निकृष्ट कर्मों के कारण वृक्ष, लता आदि स्थावर जीवों में जन्म लेता है। इस प्रकार जब आत्म विद्या के कारण लोगों की श्रद्धा यज्ञों से हटने लगी, तब 'कर्म' का रहस्य प्रत्यक्ष में आया। कर्म की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट।²

कुछ स्मार्त विद्वानों ने 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास और वानप्रस्थ, इन चार आश्रमों के नियत कर्तव्यों एवं मर्यादाओं को पालन करने को 'कर्म' कहा गया है।³ इस प्रकार वैदिक परम्परा में कर्म का विकास हुआ है।

बौद्धदर्शन में कर्म

बौद्ध परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि—जीवों में जो विभिन्नता/विचित्रता दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मकृत है। लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी मन-वचन और काया की प्रवृत्तियां करता है और राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करता

¹ श्वेताश्वतर उपनिषद 12

² बृहदारण्यक उपनिषद 3-2-13

³ कर्मविज्ञान भाग 1, वही, पृ. 357

है। महात्मा बुद्ध ने कर्म को परिभाषित करते हुए कहा कि—“चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है, व्यक्ति चेतना के द्वारा ही मन-वचन-काया से कर्म करता है।”¹ कर्म के सभी पक्षों का सापेक्ष महत्व स्वीकार किया है। आश्रय की दृष्टि से कायाकर्म प्रधान है, क्योंकि मनकर्म और वाचाकर्म काया पर आधारित है। स्वभाव की दृष्टि से वाक्कर्म प्रधान है, क्योंकि काया और मन स्वभावतः कर्म नहीं है। समुत्थान की दृष्टि से मनकर्म प्रधान है, क्योंकि सभी कर्मों का प्रारम्भ मन से है। इसलिए चेतना को कर्म बताया है।

कर्मों का द्विविध वर्गीकरण किया है— 1. चेतनाकर्म, 2. चेतयित्वा कर्म। चेतना मानसकर्म है और चेतना से उत्पन्न वचन और कायिक कर्म ‘चेतयित्वा’ है।²

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को ‘वासना’ कहते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि—जितने भी कार्य है वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म, प्रकृति हो या अन्य, इन सभी का मूल वासना है।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि—जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहां है? आचार्य ने उत्तर दिया कि—यह दिखलाया नहीं जा सकता कि—कर्म कहां रहते हैं?” अर्थात् कर्म का अस्तित्व सिद्ध है किन्तु स्थान ज्ञात नहीं है।

विसुद्धिमग्न में कर्म को अरूपी कहा गया है। अभिधर्मकोष में वह अविज्ञप्ति रूप है।

शून्यवादी मत में माया अथवा अनादि अविद्या का ही दूसरा नाम वासना है। वेदान्त मत में विश्व-वैचित्र्य का कारण अविद्या अथवा माया है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में तीन प्रकार के कर्म माने हैं— 1. अकृष्ण (अशुक्ल) कर्म 2. कुशल कर्म 3. अकुशल (कृष्ण) कर्म।³

अभिधर्मकोष और विसुद्धिमग्न में कृत्य की दृष्टि से चार, पाकदान की दृष्टि से चार और पाककाल की दृष्टि से चार इस प्रकार 12 प्रकार के कर्म का वर्णन है।⁴

¹ अंगुत्तरनिकाय-उद्धृत-जैन-बौद्ध और गीता के आचार्यदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, वही, पृ. 304

² बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ. 249

³ मिलिन्द प्रश्न-3-15, पृ. 75

⁴ गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 134-135

कृत्य के आधार पर कर्म के जो चार भेद किये हैं— उनमें से एक जनक कर्म है और दूसरा उसका उत्थम्भक हैं। जनक—कर्म नये जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है, किन्तु उत्थम्भक अपना विपाक प्रदान न कर दूसरों के विपाक में सहायक बन जाता है। तीसरा कर्म उपपीडक है जो दूसरे कर्मों के विपाक में बाधक बन जाता है। चौथा कर्म उवघातक है जो अन्य कर्मों के विपाक का घात कर अपना ही विपाक प्रकट करता है।

पाकस्थान की अपेक्षा बौद्ध दर्शन में चार भेद किए हैं गरुक, बहुल अथवा आचिण्ण तथा अभ्यस्त। इनमें गरुक तथा बहुल दूसरों के विपाक को रोककर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न का अर्थ है मृत्यु के समय किया गया, (पूर्व कर्म कैसे भी हो, परन्तु मरणकाल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कर्म इन तीनों के अभाव में ही फल दे सकता है, ऐसा नियम है।¹

न्यायवैशेषिकदर्शन में कर्म

न्यायदर्शन के अनुसार—राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों से प्रेरणा पाकर जीव मन—वचन—काया की प्रवृत्ति करता है, और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म—अधर्म संस्कार कहलाते हैं, इन्हीं 'संस्कार' को कर्म कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन में 24 गुण माने हैं, उनमें से एक अदृष्ट भी है, इसके दो भेद हैं— धर्म और अधर्म। यह अदृष्ट 'कर्म' वाचक है। इन दोनों दर्शन के मतानुसार यह कड़ी बताई है—दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष, पुनः दोष से संस्कार, यह बीजांकुरवत् परम्परा अनादिकाल से है। जैसे कि जैनदर्शन में द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा है।²

सांख्य—योगदर्शन में कर्म

सांख्य—योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग—द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। इस क्लिष्टवृत्ति में धर्माधर्म रूपी संस्कार उत्पन्न होता है। इस संस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता है।

¹ (क) अभिधम्मत्थसंग्रह-5/19

(ख) विसुद्धिमग्ग 19/15/16

² जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक, वही, पृ. 23

सांख्य मत में बताया है कि—लिंग शरीर अनादिकाल से पुरुष के संसर्ग में है, इस लिंग—शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष व मोह जैसे भावों से होती है, भाव तथा लिंग—शरीर अनादिकाल में भी बीजांकुर के समान कार्यकारण भाव है। जैसे—भावों व कार्मण शरीर में कार्यकारण भाव है। रागादि भाव प्रकृति के विकार है, ये तीन प्रकार के माने हैं—
1. प्रत्यय सर्ग 2. तान्मात्रिक सर्ग, 3. भौतिक सर्ग।

योग दर्शन में कर्म के विपाक तीन प्रकार के बताये हैं — जाति, आयु और भोग।¹

मीमांसा दर्शन में कर्म

मीमांसा दर्शन का अभिमत है कि—मनुष्य जो कुछ अनुष्ठान करता है, वह क्रियारूप होने के कारण क्षणिक होता है, अतः उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है। यही सब कर्मों का फल देता है। यह अपूर्व ही 'कर्म' है। अपूर्व की तुलना जैन दर्शन के द्रव्य कर्म से की जा सकती है।

उनके अनुसार—यह क्रम है—कामना जन्य कर्म—यज्ञादिप्रवृत्ति और यज्ञादिप्रवृत्ति जन्य अपूर्व।

वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के हैं—

1. काम्य कर्म— जो कर्म स्वर्ग आदि सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हो।
2. निषिद्ध कर्म— जिन कर्मों को करने से अनिष्ट हो, जैसे कि—मृत्योपरान्त नरक की प्राप्ति आदि। मांस भक्षण, ब्राह्मण हत्या।
3. नित्यनैमेत्तिक कर्म— वे कर्म, जिन्हें करने पर कोई पुरस्कार या लाभ तो नहीं मिलता, पर नहीं करने पर दोष लगता है— जैसे—संध्योपासना करना।²

इस प्रकार मीमांसा 'कर्म' की चर्चा अपूर्व के रूप में की गई है।

गीता में कर्म की अवधारणा

मनुष्य जो कुछ भी करता है या जो नहीं करने का मानसिक संकल्प या आग्रह रखता है वे सभी कायिक एवं मानसिक प्रवृत्तियां कर्म हैं।

¹ गणधरवाद, प्रस्तावना/दलसुखभाई भालवणिया, पृ. 145

² डॉ. के.एल. शर्मा, जिनवाणी (कर्मसिद्धान्त विशेषांक), सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, पृ. 198

गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के हैं—

1. कर्म— फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, वे कर्म हैं।
2. विकर्म— वासनाओं की पूर्ति के लिए जो अशुभ कर्म किये जाते हैं, या फल की इच्छा से अथवा अशुभ भावना से जो दान, तप आदि शुभ कर्म किये जाते हैं, वे विकर्म कहलाते हैं।
3. नोकर्म— फलासक्ति रहित होकर अपना कर्तव्य मानकर जो भी कर्म किया जाता है, वह कर्म नोकर्म है।

इस प्रकार गीता में भी विस्तृत रूप से कर्म के अस्तित्व को स्वीकारते हुए कर्मबन्धन के कारण व निवारण के हेतुओं पर विवेचन किया है।¹

जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, चाहे वे भारतीय हो अथवा पाश्चात्य, जो आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं, वे सभी कर्म की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

भारतीय दर्शनों में जैन, बौद्ध, वैदिक और अन्य एशियायी दर्शनों, कन्फ़ुशियस, ताओ, झेन आदि सभी दर्शन कर्म की त्रैकालिक सत्ता के विषय में एकमत हैं। यहां तक कि मुस्लिम और ईसाई धर्म-दर्शनों का भी इस विषय में मतभेद नहीं है।

समीक्षा

जैन दर्शन में कर्म पर विशिष्ट और गम्भीर चिन्तन हुआ है। भगवान-महावीर ने कहा है— “कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं” कर्म जन्म-मरण का मूल है।

दार्शनिक जगत् में कर्म की त्रैकालिक सत्ता मान्य हैं, जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे सब कर्म का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। किसी ने कर्म को आत्मा पर पूर्वजन्मों के स्थित संस्कार कहा तो किसी ने अदृष्ट और किसी ने अपूर्व। यह भी निश्चित है कि—शुभ कर्मों का फल शुभ मिलता है और अशुभकर्मों का फल अशुभ।

जैनदर्शन ने कर्म की सत्ता पर बहुत ही विस्तृत विवेचना की है। जीव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतिविधियों की कर्म-सन्दर्भित व्याख्याएं की गईं और आत्मा की मुक्ति का

¹ डा. सागरमल जी जैन, जैन बौद्ध और गीता- अध्ययन, भाग-1, वही, पृ. 347

मार्ग भी कर्मसिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित किया। कर्मविषय पर—अनेक विपुल ग्रन्थों की रचनाएं हुई हैं। जैसे कि—कर्मग्रन्थ, कर्मविज्ञान, कर्ममीमांसा।

प्रस्तुत तृतीय अध्याय में इसी कर्मसिद्धान्त के अस्तित्व पर समीक्षा की गई है। कर्म के स्वरूप और उसके बन्ध का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है, क्योंकि प्राणी को यदि कर्म का सम्यकज्ञान होगा तभी वह अपने धार्मिक, नैतिक एवं समग्र सामाजिक जीवन को आदर्श बना सकता है। इस दृष्टि से कर्म का चिन्तन बहुत जरूरी है कर्मबन्ध किस प्रकार होते हैं, कर्मों की प्रकृतियां कितनी हैं तथा बद्ध कर्म की स्थिति कितनी है, यह ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

कर्म का अस्तित्व मानने में सभी दर्शन सहमत हैं किन्तु मात्र चार्वाक दर्शन वर्तमान जीवन तक ही कर्म और कर्म के फल को स्वीकार करते हैं। वेदों उपनिषदों में कुछ वाक्य ऐसे हैं जो द्विअर्थी हैं वे एकान्तवादियों को स्पष्टतया समझ नहीं आते, इसी कारण द्वितीय गणधर अग्निभूति के मन में शंका हुई कि—वास्तव में कर्म का अस्तित्व है या नहीं? इस प्रश्न का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने कई युक्तियों से किया। उन सभी समाधानों का इस अध्ययन में समाहित किया गया है।

संक्षिप्त में वे समाधान इस प्रकार हैं :-

शंका— प्रत्यक्ष से कर्म सिद्ध नहीं है अतः उसका अस्तित्व ही नहीं है।

समाधान— कर्म चतुःस्पर्शी हैं अतः परोक्षज्ञानियों को नहीं दिखाई देते, किन्तु सर्वज्ञों को कर्म प्रत्यक्ष है तथा सुख—दुःख कार्य (फल) प्रत्यक्ष ही है।

शंका— अनुमान द्वारा कर्म की सिद्धि नहीं होती?

समाधान— विविध अनुमानों द्वारा कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे—सुख—दुःख रूप कार्य का हेतु कर्म है, कर्मण शरीर के द्वारा कर्म का अस्तित्व है, चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि होती है।

‘कर्म’ के अस्तित्व का सर्वाधिक सबल प्रमाण है— जगत् का वैचित्र्य। जगत् के प्राणियों की विविधरूपता, उनके सुख—दुःखों की विभिन्नता, उनकी आकृति—प्रकृति—संस्कृति में पृथकता, उनके संस्कारों एवं विकारों के चयापचय तथा एक

ही जाति के प्राणियों के असंख्य प्रकार और असंख्य आकार 'कर्म' का अस्तित्व स्पष्ट रूप से करते हैं।

हम देखते हैं कि व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व आर्थिक जीवन में कितना अन्तर दिखता है।

कर्म अस्तित्व का दूसरा प्रमाण—पूर्वजन्म व पुनर्जन्म।

शंका— स्वभावादी, जगत् की विचित्रता स्वाभाविक मानते हैं, अतः कर्म को नहीं मानते।

समाधान— स्वभाव को वैचित्र्यता का कारण मान लेने पर कई शंकाएं खड़ी हो जाती हैं—जैसे कि स्वभाव यदि मूर्त है तो वह कर्म है और अगर अमूर्त है तो वह सुख—दुःख देने वाला नहीं बन सकता। क्योंकि जो कर्ता होता है वह सहेतुक होता है, स्वभाव निष्कारण होने से कर्ता नहीं है, और जगत् विचित्रता का हेतु भी नहीं है। अतः कर्म को ही विचित्रता का हेतु मानना होगा।

शंका— ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर ही संसार का सर्जक, पालक और संहारक हैं, अतः संसार का कारण कर्म नहीं ईश्वर हैं?

समाधान— ईश्वरकृत संसार मानने पर बाधाएं उपस्थित होती हैं, कि शुद्ध आत्मा संसार नहीं बना सकते और माया सहित ईश्वर ने जगत् का निर्माण किया तो उस ईश्वर का निर्माण किसने किया? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, अतः यही सिद्ध होता है कि संसार का कारण कर्म ही हैं।

इस प्रकार समाधान प्राप्त कर गणधर अग्निभूति को निश्चित हुआ कि—कर्म का अस्तित्व है। हम देखते हैं कि आत्मा की आन्तरिक योग्यता का जो तारतम्य है, उसका कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत्त होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय से (असंयोग) उसका स्वभावोदय होता है। जब हम आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं तो हमें उसको प्रभावित करने वाले तत्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ट सम्बन्ध यदि किसी का है तो वह कर्म—पुद्गला का ही है वह भी विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से है। इसके बाद परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। बाह्य

परिस्थिति सामूहिक है, कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है, यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू प्रमाण है।

कर्म सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जो मानव को अशुभ प्रवृत्तियों से हटाकर शुभ प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करता है साथ ही यह पुनर्जन्म की अवधारणा का संपोषक है। यदि कर्मसिद्धान्त की अवधारणा को स्वीकार न करे तो मनुष्यों को दुष्प्रवृत्तियों से विमुख करना कठिन होगा। जिससे संसार में अराजकता, अशान्ति का वातावरण निर्मित हो जायेगा। अतः कर्मसिद्धान्त को मानना अनिवार्य एवं आवश्यक है।

चतुर्थ अध्याय

भूमिका

आत्मा, भारतीय संस्कृति के चिन्तन का मूल केन्द्र है। भारतीय विचारकों की समग्र चिन्तनधारा आत्म-चिन्तन के चारों ओर घूमती है। नास्तिक एवं अनात्मवादी माने जाने वाले चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के चिन्तन का केन्द्र भी आत्मा (व्यक्ति) ही रहा है। भारत के आस्तिक एवं नास्तिक माने जाने वाले सभी दार्शनिकों, विचारकों एवं चिन्तकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में सब एक मत नहीं है। फिर भी जहाँ सभी आस्तिक दर्शन इस बात में एकमत हैं कि - आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है, वह वर्तमान योनि में प्राप्त शरीर का त्याग करके दूसरी योनि में जन्म लेकर अन्य शरीर को धारण करता है, तथा समस्त कर्म बन्धनों का नाश करके सिद्ध, बुद्ध व मुक्त भी बन जाता है। वहीं चार्वाक दर्शन इस बात को नहीं मानता, वह आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार न कर शरीर को ही आत्मा मानता है। उसका कथन है कि - "चार या पाँच भूतों के मिलने पर शरीर में चेतना का प्रादुर्भाव होता है, और उनके अलग होते ही चेतना का नाश हो जाता है। इस कथन से सभी आस्तिक दर्शनों के लिए एक प्रश्न पैदा हो गया कि - वास्तव में आत्मा और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न?" यही प्रश्न विशेषावश्यक में है, जो वायुभूति के मन में उद्भूत हुआ था।

भौतिकवाद के अनुसार आत्मा भौतिक ही है। चेतन गुण के होते हुए भी वह भूतों से पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व सम्पन्न नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त परलोक, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष या परमात्मा आदि कुछ नहीं है। शुभाशुभ कर्मों का कर्ता एवं कर्मफल का भोक्ता आत्मा नाम का कोई नित्य पदार्थ नहीं है। विश्व में केवल चार तत्व हैं - पृथ्वी, जल, तेज और वायु। कुछ विचारक इन चार भूतों के अतिरिक्त आकाश को भी भूत मानते हैं। जैन आगमों में इस अवधारणा को तज्जीव-तच्छरीरवाद भी कहा है अर्थात् जो शरीर है वही जीव है। जबकि जैनदर्शन मुख्य रूप से दो तत्व मानता है - जड़ और चैतन्य। आत्मा और पुद्गल। चेतन जड़ से भिन्न है। शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य है। शरीर आत्मा का साधन है, उसके माध्यम से वह अपने आपको अभिव्यक्त

करता है। चार्वाक दार्शनिक चेतना शक्ति को भूतों का धर्म मानते हैं। इनकी सम्मति में चेतना शरीर की उपज है। आत्मा को भूत-जन्य सिद्ध करने के लिए ये कहते हैं, कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है। उनके अनुसार चैतन्य का प्रत्यक्षीकरण और संवेदन भौतिक शरीर में ही होता है। संवेदन करना शरीर का काम है, अतः जब तक शरीर रहता है तब तक हमें चेतना का संवेदन होता है, और उसकी परिसमाप्ति होते ही संवेदनकार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे दीवार पर चित्रित चित्र दीवार के गिरते ही विनाश को प्राप्त हो जाता है, उनका अस्तित्व दीवार के रहने तक ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा या चेतना का अस्तित्व शरीर के विनाश के साथ समाप्त हो जाता है। अतः विश्व में सिर्फ एक ही तत्व है – जड़ तत्व। विश्व के समूचे कार्य भौतिक या जड़ तत्व पर ही आधारित हैं।¹

इस प्रकार नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को भी नहीं मानते हैं और न ही मुक्ति या निर्वाण को मानते हैं। जबकि आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र-अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उर्ध्व, अधो या तिर्यग्दिशाओं में जन्म लेता है। स्वर्ग-नरक की सुखद एवं दुःखद पगडण्डियों को तय करता है और तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं संयम आदि साधना के द्वारा अनन्तकाल से बंधे कर्म-बन्धनों को समूलतः नष्ट कर निर्वाण को भी प्राप्त करता है।

इन दो विचारधाराओं के कारण एक दार्शनिक समस्या पैदा होती है कि – आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं? आत्मा और शरीर एक है या भिन्न-भिन्न है, शरीर के नष्ट होने पर क्या आत्मा (चेतन सत्ता) भी नष्ट हो जाती है? यह समस्या भारतीय दार्शनिकों के समक्ष ही नहीं थी, बल्कि पाश्चात्य दार्शनिक भी आत्मा और शरीर में क्या सम्बन्ध है। इस पर निरन्तर चिन्तन कर रहे थे। किसी ने अद्वैतवाद का समर्थन करके समस्या से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया तो किसी ने द्वैतवाद को स्वीकृति देकर चेतन और जड़ में सम्बन्ध खोजने का प्रयत्न किया।

बेनेडिक्ट स्पिनोजा अद्वैतवाद के समर्थक थे, उन्होंने मनस और शरीर को एक ही तत्व के दो पहलू के रूप में स्वीकार किया, अतः उन दो तत्वों में परस्पर सम्बन्ध की समस्या नहीं थी।

¹ मुनि फूलचन्द्र श्रमण, आत्मवाद, आत्मराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

लाइबनिट्स ने मन और शरीर के कार्य—कारणवाद स्वीकार करके समस्या को समाहित करने का प्रयत्न किया।

रेने देकार्त ने Mind and body, मनस् और शरीर की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार की, इन दोनों की क्रिया, स्वभाव, स्वरूप में भी भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया।¹

इस प्रकार यह समस्या अनेक दर्शनों में रही है। इस समस्या का प्रस्तुतीकरण और समाधान जैन आगमों में व जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेष्यावश्यकभाष्य के गणधरवाद में समुचित रूप से किया है।

आत्मा और शरीर के एकत्व व भिन्नत्व की दार्शनिक समस्या और उनके समाधान

विशेष्यावश्यकभाष्य में आत्मा और शरीर की अवधारणा

विभिन्न दर्शनों में तथा जैनदर्शन में आत्मा और शरीर की भिन्नता और अभिन्नता की चर्चा के पश्चात् यह चिन्तन करना है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी विचारधारा किस प्रकार प्रस्तुत की है। विशेष्यावश्यकभाष्य के गणधरवाद में इन विषयों पर चर्चा की गई है। श्रमण भगवान महावीर के तृतीय गणधर वायुभूति के मन में गणधर बनने से पूर्व यह सन्देह था कि शरीर और आत्मा भिन्न है या अभिन्न? इस सन्देह की पृष्ठभूमि थी देहात्मवाद।

आत्मा के अस्तित्व के बारे में जब विचार—विमर्श हो रहा था कि आत्मा क्या है? तब चिन्तकों ने अनुभव किया कि अपने भीतर जो विज्ञान एवं चेतनामय स्फूर्ति का अनुभव होता है, वह क्या है? अन्य जड़ वस्तुओं से स्वयं को भिन्न अनुभव कराने वाली और समस्त देह में व्याप्त शक्ति क्या है? इन प्रश्नों का सही उत्तर न मिलने पर उन्होंने शरीर को ही आत्मा मान लिया।

छांदोग्योपनिषद् में एक कथा है — एक बार असुरों का स्वामी वैरोचन और देवताओं का अधिपति इन्द्र प्रजापति के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए पहुंचे। प्रजापति ने दोनों को पानी के कुंड में अपना प्रतिबिम्ब देखने को कहा, और देख लेने के बाद पूछा — इस जल में तुम्हें क्या दिखाई दिया? तब उन्होंने कहा — इस जल कुंड में हमें अपना पूरा

¹ तुलसीप्रज्ञा

शरीर दिखाई दिया। प्रजापति ने कहा — जिसे तुम देख रहे हो, वही आत्मा है। इस उत्तर से वैरोचन ने समझा कि देह ही आत्मा है।¹

तैत्तेरीयोपनिषद् में जहाँ सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तथा स्थूल आत्मस्वरूप बतलाया है, वहाँ सबसे पहले अन्नमय आत्मा का परिचय दिया है। "अन्न से पुरुष उत्पन्न होता है, अन्न से ही उसकी वृद्धि होती है, और अन्न में ही उसका लय हो जाता है।"² इस तरह अन्न देह को ही चाहिए। उपरोक्त विचारों का उद्भव देह को आत्मा मानने से हुआ।

वेदों और उपनिषदों में जीव व शरीर के पृथक्त्व व अपृथक्त्व विभिन्न विचारधाराएँ हैं, 'तज्जीव तच्छरीरवादी' जो यह मानते हैं कि जब तक शरीर विद्यमान है तब तक ही आत्मा स्थित रहती है, किन्तु शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों को चैतन्य प्रकट होता है, अतः उनके अलग-अलग होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। शरीर के साथ ही चैतन्य-विनाश का कारण यह है कि शरीर से बाहर निकल कर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता।³ इस कारण विद्वान् वायुभूति को यह सन्देह हुआ कि जीव और शरीर पृथक् हैं या अपृथक्? इस शंका का समाधान भगवान् महावीर ने गणधरवाद में किया।

आत्मा और शरीर की अभिन्नता के बारे में वायुभूति जी की शंका

वायुभूति जी की शंका थी कि — चेतना का उद्भव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। इन 5 भूतों के समुदाय से होता है। जिस प्रकार मदिरा के निर्माण में जिस सामग्री का उपयोग होता है, जैसे महुवे का फूल, गुड़ और पानी आदि, उनमें अलग-अलग अवयवों में मादक शक्ति नहीं होती किन्तु इन सबको मिला देने पर मादक शक्ति से युक्त मदिरा बन जाती है। वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों में स्वतंत्र रूप से चैतन्य नहीं होता पर जब चारों का एकत्रीकरण होता है तब चैतन्य प्रकट होता है।⁴ इससे यह सिद्ध होता है कि भूत समुदाय शरीर ही जीव है।

¹ छन्दोग्य उपनिषद्, 8.8

² तैत्तेरीय उपनिषद्, 2/1/2

³ स एव जीवस्तेव शरीरमिति वदितुं शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी - उद्धृत - सूत्रकृतांग विवेचन (हेमचन्द्रजी) पृ. 90

⁴ (क) विशेष्यावश्यकभाष्य, गाथा 1650

वसुधातिभूत समुदयसंभूता, चेतण ति ते संका।

पत्तेयमदिदृष्ट वि हु, मज्जंगमदो व्व समुदाये।।

(ख) रयान्वेतेनातस्तनुरेव जीवः, महावीर देशना, श्लो. 6, पृ. 136

तत्पश्चात् चैतन्य का नाश किस तरह होता है, यह बताया है, जैसे – वह मदशक्ति अमुक काल तक रहकर नष्ट हो जाती है, वैसे ही चैतन्य भी कालान्तर में विनाशक परिस्थितियों के मिलने से नष्ट हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चैतन्य भूतों का धर्म है। जैसे मादकता महुए के फूल आदि से पृथक् नहीं रहती, वैसे ही चैतन्य भूत-समुदाय से पृथक् नहीं रहता है, क्योंकि धर्म और धर्मी दोनों परस्पर अभिन्न होते हैं। अतः यह निश्चित है कि आत्मा और शरीर दोनों एक हैं।¹

प्रस्तुत शंका का समाधान भगवान महावीर द्वारा इस प्रकार किया गया – जिस प्रकार मद्य के अवयवों में मादक शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूत जड़ हैं इसलिए पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत में चैतन्य न होने से भूत समुदाय में भी चैतन्य संभव नहीं है। (बालू के कण में तेल नहीं होता है तो बालू के ढेर में से भी तेल नहीं निकल सकता है) यदि कोई पदार्थ समुदाय से उत्पन्न होता है तो वह पदार्थ उस समुदाय के प्रत्येक अवयव में भी होना आवश्यक है, जैसे कि तिल के समुदाय में से तेल निकलता है तो वह तिल के प्रत्येक दाने में भी उपलब्ध होता है। परन्तु चैतन्य प्रत्येक भूत में उपलब्ध नहीं है अतः भूत समुदाय से भी चैतन्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि भूत समुदाय से भिन्न कोई ऐसा कारण (तत्त्व) उससे सम्बद्ध है जिससे कहा जा सकता है कि उस समुदाय द्वारा चैतन्य आविर्भूत होता है। इसलिए जीव शरीर से भिन्न है।²

भूतों के समुदाय में या प्रत्येक भूत में चैतन्य की उपलब्धि संभव है?

यदि यह मानें कि कोई पदार्थ स्वतंत्र अवस्था में उपलब्ध नहीं होने पर भी उन अवयवों का समुदाय होने पर उपलब्ध हो जाता है, जैसे मदिरा के प्रत्येक अवयव में मद नहीं है, किन्तु उनको मिलाने पर मद की उत्पत्ति होती है। वैसे ही प्रत्येक भूत में चैतन्य अनुपलब्ध होने पर भी भूत-समुदाय से चैतन्य उत्पन्न हो जायेगा।³

¹ “जघ मज्जंगेसु मदो, वीसुमदिट्ठे वि समुदये होतुं।
कालंतरे विणस्सति, तघ भूतगणम्मि चेतणं ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1651”

² पत्तेयमभावातो ण रेणुतेल्लं व समुदये चेता।
मज्जंगेसु तु मत्तो वीसुं पि ण सब्बसो णत्थि ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1652

³ भम्मि-धणि-वितण्हादी, पत्तेयं पि हु जघा मत्तंगेसु।
तघ जति भूतेसु भवे चेता, तो समुदए होज्जा ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1653

भगवान महावीर ने इसका समाधान इस प्रकार किया है — मद्य के प्रत्येक अंग में न्यूनाधिक रूप से मादकता उपलब्ध है, जैसे — महुए के फूल में भ्रमित करने का अंश है, गुड़ में मिठास और तृप्ति का स्वभाव है, पानी में प्यास बुझाने का गुण है। ये सब जब समुदाय रूप में मिलते हैं तब मादकता सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है। किन्तु कोई भी प्राणी समर्थ नहीं है जो भूतों में आंशिक रूप से भी चैतन्य शक्ति बता सके, क्योंकि दोनों के धर्म अलग-अलग हैं, एक जड़ है और दूसरा चेतन।¹ इन दोनों में बहुत अन्तर है, जैसे कि —

जीव

प्रजनन शक्ति

वृद्धि

आहार ग्रहण, स्वरूप में परिणमन, विसर्जन

जागरण, नींद, परिश्रम

आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न

भय—त्रास

अजीव

प्रजनन शक्ति नहीं

नहीं

नहीं

नहीं

नहीं

नहीं

गति जीव और अजीव (जड़ और चेतन) दोनों में होती है, किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति—आगति तथा गति—आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं। जैसे कि एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन—वेग से दौड़ सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। क्योंकि चींटी में चेतना है, वह इधर—उधर घूमती है, जबकि रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं है। इस प्रकार जड़ और चेतन के अलग—अलग धर्म हैं, बिना चेतन की सहायता से जड़ वस्तु संचालित नहीं हो सकती।²

¹ जति वा सख्याभावो, बीसुं तो कि तदंगणियमोयं।

तस्सुदयणियमो वा अण्णेषु, वि तो भवेज्जाहि।। विशेषावशकभाष्य, गाथा 1654

² आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, वही, पृ. 276-77

यदि प्रत्येक अवयव में मदशक्ति न माने तो इन सामग्रियों का ही उपयोग क्यों किया जाता है? इनके बदले ईट-पत्थर आदि का उपयोग भी कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जो गुण प्रत्येक अंश में है, वही गुण समुदाय में प्रकट हो सकता है।

प्रत्येक भूत में चैतन्यशक्ति मानने पर भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, यह आग्रह होने पर एक प्रश्न पैदा होता है कि — मृत शरीर में पृथिव्यादि भूतों का संघात पूर्ववत् विद्यमान है फिर भी वहाँ चैतन्य दिखाई नहीं देता है। यदि यह कहें कि मृत शरीर में वायु नहीं है इसलिए चैतन्य का अभाव है, किन्तु मृत शरीर में नली द्वारा वायु पहुंचाई जाये तो भी चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती है, और अग्नि का अभाव मानने पर भी अग्नि के संयोग से चैतन्य का उद्भव नहीं होता। और यदि यह माने कि विशिष्ट प्रकार की वायु और अग्नि का अभाव है, अतः चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती तो यह वैशिष्ट्य कोई दूसरा नहीं है वह आत्मा ही है। इस प्रकार चैतन्य को भूत से उत्पन्न नहीं मान सकते हैं।¹

पंचभूतों के समुदाय मात्र से चैतन्य गुण उत्पन्न हो जाता है, यह बात प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जैसे — एक कारीगर ने मिट्टी की एक पुतली बनाई। उसमें मिट्टी, पानी, हवा, धूप (तेज) अग्नि एवं आकाश इन पाँचों भूतों को वहाँ एकत्र किया गया। इस प्रकार पृथ्वी आदि पाँचों भूतों को मिलाकर एक स्थान पर रख देने पर भी वहाँ चेतना दिखाई नहीं देती। जबकि मिट्टी की पुतली में पाँचों भूत मौजूद है, फिर भी उसमें चेतना नहीं आती, वह जड़ ही बनी रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूतों से चैतन्य गुण उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा और शरीर की भिन्नता सिद्ध

शंका — भूत समुदाय में चैतन्य साक्षात् दिखाई देने पर भी यह मानें कि वह भूत समुदाय का धर्म नहीं है, तो यह कथन प्रत्यक्ष विरोधी होगा। जैसे घड़े में रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष होने पर भी कोई यह नहीं माने कि रूपादि गुण घड़े के हैं।

¹ (क) भूताणं पत्तेयं पि चेतणा, समुदये दरिसणात्तो।

जघ मज्जंगेसु मदो मति ति हेतु ण सिद्धोऽयं॥ माथा 1655 विशेषावश्यकभाष्य

(ख) विशिष्ट तेजोऽभिलयोरभावत्, मृते शरीर न हि चेतन चेत्।

तद्वत्वं विशिष्टं ननु जीवमेव कथं न वेत्सिद्विज! देहभिन्नम्॥ महावीर देशना, श्लोक 11, पृ. 141

समाधान – भूत समुदाय में चैतन्य प्रकट नहीं होता। यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण से युक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष का बाधक आत्मसाधक अनुमान विद्यमान है। जैसे – पानी तथा भूमि के समुदाय मात्र से हरी घास घास की उत्पत्ति देख कर कोई यह कहे कि यह केवल पानी और पृथ्वी के समुदाय से होती है, तब उसका यह प्रत्यक्ष बीज साधक अनुमान से बाधित होता है।¹ वैसे ही चैतन्य को मात्र भूतों का धर्म प्रतिपादन करने वाला प्रत्यक्ष भी भूतों से सर्वथा भिन्न आत्म को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा और शरीर की भिन्नता सिद्ध है।

अनुमान प्रमाण द्वारा भूत भिन्न आत्मा की सिद्धि

1. भूतों या इन्द्रियों से भिन्न ऐसा कोई पदार्थ है, जिसे इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ बोध का स्मरण होता है। जैसे कि पाँच गवाक्षों से देखकर उपलब्ध वस्तु का स्मरण करने वाला व्यक्ति उससे भिन्न है। पाँच गवाक्षों से एक के बाद एक के क्रम से देखने वाला व्यक्ति तो एक ही है, किन्तु गवाक्षों से वह भिन्न है, क्योंकि वह पाँचों गवाक्षों से देखी गई वस्तु का स्मरण करता है। वह स्मरण करने वाला इन्द्रियों से भिन्न है, वही आत्मा है।

इन्द्रिय व्यापार से उपरत होने पर अथवा इन्द्रियों के नाश होने पर भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु का स्मरण रहता है। कभी-कभी इन्द्रियों के व्यापार होने पर भी अन्यमनस्कता के कारण वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। अतः यह सिद्ध होता है कि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता, किन्तु उससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्व को होता है। यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों से भिन्न आत्मा उपलब्धिकर्ता है, इन्द्रियाँ उसकी उपकरण (सहायक) हैं।²

2. इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है – क्योंकि वह एक इन्द्रिय से उपलब्ध वस्तु को दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करती है। जैसे – हमने आँख द्वारा वस्त्र को देखा, किन्तु स्पर्श हाथ के द्वारा ही किया जा सकता है। जैसे कोई वस्तु हमने पहले गवाक्ष से देखी, वही वस्तु दूसरे गवाक्ष से लेते हैं, जबकि लेने वाला गवाक्षों से अलग है।

¹ णाणु जच्चक्खविरोधो गोयम! तं णाणुमाणभावातो।

तुह पच्चक्खविरोधो, पत्तेयं भूतचेतं ति॥ गाथा 1656 विशेषावश्यकभाष्य

² भूतिदियोवलध्दाणुसरतो, तेहि भिण्णरुवस्स।

चेता पंचगवक्खौवलध्दपुरिसस्स वा सरतो॥ गाथा 1657

इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। यह भी देखा जाता है कि इमली या नीम्बू को हम आँखों से देखते हैं किन्तु पानी मुँह में आता है। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है और वह प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा तद्विषयक ज्ञान कर लेता है।¹

3. ज्ञान गुण का आधार होने से – जो प्रथम ज्ञान होता है वह अन्य ज्ञान से युक्त होता है। जैसे युवक का ज्ञान, बाल ज्ञान से युक्त होता है। वैसे ही बालक का ज्ञान भी अन्य ज्ञान पूर्वक होना चाहिए। बाल्यावरथा के ज्ञान से पहले जो ज्ञान है, वह शरीरादि से भिन्न ही होना चाहिए, क्योंकि पूर्वभवीय शरीर छूट जाने पर भी इस भव में वह ज्ञान बालक के ज्ञान में सहयोगी बनता है।

ज्ञान को गुण माना गया है, आत्मा के ज्ञान गुण मानस-प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष है, उसका कोई गुणी होना चाहिए। व्यक्त शरीर गुणी नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व जन्म का शरीर इस जन्म में नहीं होता है। गुण तथा गुणी एक होने से मानस प्रत्यक्ष से आत्मा भी प्रत्यक्ष है, जैसे रूपादि गुणों से घट-पट प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि अनुभूत वाक्यों से “मैं” इस ज्ञान से ग्रहण किया जाने वाला आत्म मानस प्रत्यक्ष है। क्योंकि ‘मैं’ यह ज्ञान, आत्मा का ही ज्ञानरूप है। तथा मेरा यह शरीर है, मेरा पुराना कर्म है, इत्यादि व्यवहारों से आत्मा शरीर से पृथक सिद्ध होती है।

4. अभिलाषा रूप गुण का आधार होने से – बालक को प्रथम स्तनपान की जो आकांक्षा होती है, उसका कारण क्या है? तत्काल ऐसा संयोग नहीं बना, जिससे स्तनपान की इच्छा हुई। इसलिए यही कहा जायेगा कि बालक की प्रथम स्तनपान की अभिलाषा अन्य अभिलाषापूर्वक है। और वह अभिलाषा पूर्वभव से सम्बन्धित है, जो शरीर बदलने पर भी रहती है। यह सिद्ध होता है कि वह अभिलाषा शरीर से भिन्न है।

अभिलाषा ज्ञान गुण रूप है, अतः इसका गुणी कोई होना चाहिए। शरीर गुणी नहीं बन सकता, क्योंकि शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु अभिलाषाएँ

¹ विष्णुाणंतरपुर्वं, बालणाणमिह णाणभावतो
जघ बालणाणपुर्वं, जुवणाणं तं च देहाधियं।। गाथा 1661

भव—भवान्तर तक चलती रहती हैं। इसलिए शरीर से भिन्न विद्यमान आत्मा को अभिलाषा रूप गुण का आधार मानना होगा।¹

5. कर्मण शरीर को मानने से — बालक का शरीर देहान्तर पूर्वक है, क्योंकि वह इन्द्रियादि से युक्त है। जो इन्द्रिय से युक्त है वह देहान्तरपूर्वक होता है। जैसे युवा शरीर से पहले बालक का शरीर है, और बालक शरीर से पहले जो शरीर था, वह पूर्वभवीय औदारिक शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो नष्ट हो चुका था। अतः उसके द्वारा बाल शरीर का निर्माण सम्भव नहीं है, अतः बाल—शरीर के कारण रूप कर्मण शरीर को मानना होगा। यह कर्मण—शरीर एकाकी नहीं हो सकता, उस शरीर को धारण करने वाला कोई तत्त्व अवश्य है, जो एक भव से दूसरे भव में जाता है। वही तत्त्व आत्मा है। अतः यह बात असिद्ध हो जाती है कि शरीर ही आत्मा है।²

6. सुख—दुःख को मानने से — सुख—दुःखादि अनुभवात्मक गुण हैं, जो ज्ञानरूप और अमूर्त हैं और ये स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष आत्मा में दिखाई देते हैं, किन्तु ये शरीर के गुण तो नहीं हो सकते। क्योंकि शरीर जड़ मूर्त और चाक्षुष है। गुण गुणी—द्रव्य के बिना नहीं रहते हैं। उनका कोई न कोई आश्रय होना चाहिए। वह गुणी ही आत्मा है। बालक के सुख—दुःखादि अन्य सुख—दुःखादि पूर्वक हैं, क्योंकि वे अनुभवात्मक हैं। जो सुख—दुःखादि अनुभव बालक के सुख—दुःख के पूर्व के हैं, वह पूर्वभवीय शरीर से पृथक् होना चाहिए, क्योंकि पूर्वभवीय शरीर नष्ट हो जाने के कारण बालक के सुख—दुःख का हेतु नहीं बन सकता। अतः शरीर और आत्मा का भिन्न मानना ही उचित व तर्क संगत है।³

7. अन्य अनुमान से जीव और शरीर की भिन्नता —

(अ) शरीर और कर्म का परस्पर कार्य—कारण भाव होने से भी बीजांकुर की तरह इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकाल से है। शरीर कार्य और कर्म के

¹ पद्मोत्थणाभिलासो, अण्णाहारभिलास पुब्बोऽयं।

जय संपत्ताभिलासोऽणुभूत्तित्तो सो य देहाधेओ॥ विशेषा. गाथा 1662

² बालशरीरं देहंतरपुब्बं, इंद्रियात्तिमत्तातो।

जुवदेहो बालातिव स, जस्स देहो स देहि ति॥ विशेषा. गाथा 1663

³ अण्णसुहदुक्खंपुब्बं सुहाति बालस्स संपत्तसुहं व।

अणुभूतिमयत्तणतो, अणुभूति मयो य जीवोय॥ विशेषा. गाथा 1664

कारण होने से इन दोनों से भिन्न कर्ता होना आवश्यक है, वही आत्मा है।¹

- (ब) जैसे दण्डादि कारण का अधिष्ठाता कुंभकार है, वैसे ही इन्द्रियाँ कारण हैं, उनका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए, वही आत्मा है।²
- (स) इन्द्रिय और विषय में आदान-आदेय भाव सम्बन्ध है। जैसे सण्डासी और लोहे का आदान-आदेय भाव सम्बन्ध होने से आदाता लुहार है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों के बीच में आदाता-आत्मा है।
- (द) देह भोग्य है, उसका कोई न कोई भोक्ता होना चाहिए। जैसे भोजन का भोक्ता पुरुष है। वैसे ही देह का भोक्ता आत्मा है।³

इन सभी अनुमानों से आत्मा और शरीर की भिन्नता प्रतिपादित होती है।

अर्थापत्ति प्रमाण से जीव और शरीर की भिन्नता

जिस पदार्थ का अन्य पदार्थ के बिना न होना, छहों प्रमाणों से निश्चित हो, वह पदार्थ अपनी सिद्धि के लिए जो अन्य अदृष्ट की कल्पना करता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे - 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' बिना खाए कोई मोटा नहीं हो सकता, यह सभी प्रमाणों से निश्चित है। परन्तु यहाँ देवदत्त का दिन में खाने का निषेध किया है, तो वह रात में खाता है तभी मोटा है। यहाँ देवदत्त के लिए रात में भोजन करने की बात नहीं कही गई है, फिर भी अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है। इसी प्रकार दीवार आदि पर लेप्य कर्म में पृथ्वी, जल, आदि पंचमहाभूत समुदाय होते हुए भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं, इससे निश्चित होता है कि सुख-दुःखों, इच्छा आदि क्रियाओं का समवायी कारण पंच भूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है, वह पदार्थ है आत्मा।

¹ संताणोणातीओ परोप्परं हेतुहेतुभावातो।

देहस्सय कम्मस्स, च गोतम! बीयंकुराणं व ॥ विशेषा. गाथा 1665

² अत्थि सरीरविधाता, पतिणियताकारतो घटस्सेव।

अक्खाणं च करणत्तो, दण्हातीणं कुलालो व्व ॥ विशेषा. गाथा 1667

³ अत्थिदेयविसयाणं आदाणादेय भावतोऽवस्सं

कम्मर इवादाता लोए, संदास लोहाणं ॥ विशेषा. गाथा 1668

जीव को शरीर से भिन्न सिद्ध करने पर भी एक प्रश्न उत्पन्न होता है – बौद्धदर्शन की मान्यतानुसार आत्मा क्षणिक है। बौद्धदर्शन के एक मत के अनुसार आत्मा पंचस्कन्धों से निर्मित है और वे पंचस्कन्ध क्षणिक हैं, एक क्षण तक ही रहते हैं, दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य हैं और न ही कालान्तर स्थायी (दो-चार क्षण तक ठहरने वाले) हैं। स्कन्धों के क्षणिकत्व के लिए अनुमान प्रयोग करते हैं – जैसे स्कन्ध क्षणिक है, क्योंकि सत् है, जो-जो सत् होता है वह-वह क्षणिक होता है, जैसे मेघमाला आदि।¹ तो वह शरीर के साथ नष्ट हो जाती है। अतः उसे शरीर से भिन्न सिद्ध क्यों करें?

इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया कि जैनदर्शन के अनुसार सभी पदार्थ एकान्त रूप से क्षणिक नहीं हैं। द्रव्य से नित्य है, केवल उसके परिणाम या पर्यायें बदलती रहती हैं, जिससे वे क्षणिक है। अतः शरीर के साथ जीव का नाश नहीं माना जा सकता। शरीर तो आत्मा की पर्याय है, वह बदलती रहती है।

कुछ व्यक्तियों को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है। यदि आत्मा को क्षणिक मान लें तो स्मरण नहीं हो सकेगा। जातिस्मरण ज्ञान से 900 संज्ञी भवों को स्मृति होती है। व्यावहारिकता में भी हम देखते हैं कि वृद्धावस्था में बाल्यावस्था का स्मरण होता है, किन्तु आत्मा का नाश नहीं होता। अतः पूर्वजन्म के शरीर के साथ आत्मा का सर्वथा नाश सम्भव नहीं है।²

जैसे परदेश में गया हुआ व्यक्ति स्वदेश की बातों का स्मरण करता है, उसी प्रकार इस जन्म में आत्मा पूर्व जन्म के अनुभवों को स्मरण करता है। अतः आत्मा को नष्ट नहीं माना जा सकता।

विज्ञान को क्षणिक न मानने पर जीव और शरीर के भिन्नत्व की सिद्धि

विज्ञान क्षण का पूर्णरूप से नाश मान लेने पर कई प्रश्न पैदा होते हैं, जैसे पूर्व के विज्ञान-क्षण तथा पश्चात् के विज्ञान क्षण सर्वथा अलग ही होंगे, ऐसी स्थिति में पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तरविज्ञान में सम्भव नहीं हो सकता। देवदत्त द्वारा

¹ सूत्रकृतांग विवेचन, (हिमचन्द्रजी मा.) पृ. 116

² भोक्ता देहादीणं भोज्यत्तणत्तो णरो व्व भत्तस्स।

संघातात्तित्तणत्तो अत्थि य अत्थि घरस्सेव।। गाथा 1669

अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नहीं होता। जबकि पूर्वभव का स्मरण तो होता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान सन्तति का नाश नहीं होता। अतः यह सिद्ध होता है कि विज्ञान सन्तति शरीर से भिन्न है, तथा वह क्षणिक भी नहीं है क्योंकि हम पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है।¹ बौद्ध मत में ज्ञान को क्षणिक मानते हैं, उनके अनुसार इस संसार में जो सत् है वह सब क्षणिक है² तथा एक ज्ञान एक ही विषय को ग्रहण करता है। उनका यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि जब सब पदार्थ सामने उपस्थित हों, तब ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'ये सब पदार्थ क्षणिक हैं'³ जबकि उनके मतानुसार एक ज्ञान एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है, अतः एक ज्ञान से सब पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए विज्ञान क्षणिक नहीं है। ज्ञान गुण है अतः कोई न कोई आधार आवश्यक है। फलस्वरूप शरीर से भिन्न गुणी आत्मा का मानना आवश्यक है।⁴

आत्मा और शरीर को भिन्न सिद्ध करने पर एक शंका होती है कि – आत्मा का शरीर में प्रवेश करना और निकलना दिखाई क्यों नहीं देता है? जैसे कोई पक्षी घड़े के भीतर प्रवेश करते व निकलते हुए दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा क्यों नहीं दिखाई देती है?

इसका समाधान इस प्रकार किया गया है – किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है, एक तो अविद्यमान पदार्थ सम्बन्धी, अर्थात् जो वस्तु सर्वथा असत् हो, वह कभी भी उपलब्ध नहीं होती। जैसे खरविषाण (गधे के सींग)। तथा प्रकार वह है जो वस्तु सत् अथवा विद्यमान है किन्तु कुछ कारणों से अनुपलब्ध होती है, जैसे –

1. बहुत दूर होने से – जैसे स्वर्ग-नरकादि।
2. अति समीप होने से – जैसे – नैत्र और अंजन।
3. अतिसूक्ष्म होने से – जैसे – परमाणु (पुद्गल का सबसे सूक्ष्मतम भाग)

¹ ण स सब्धेव खणियं णाणं, पुट्ठोवल्लखसरणातो।
खणियो ण सरति भूतं, जघं जम्माणंतरविणहो।। गाथा 1673

² यत् सत् तत् सर्व क्षणिक, हेतुबिन्दु, पृ. 44

³ क्षणिकाः सर्व संस्काराः

⁴ जरसेगमेगबंधणमेगंतेण खणियं च विण्णाणं।
सब्बखणिय विण्णाणं, तरसाजुत्तं कदाचिद वि।। गाथा 1674

4. मन की अस्थिरता होने पर भी वस्तु का ग्रहण नहीं होता – जैसे आँखें खुली होने पर भी सामने रही वस्तु को न देख पाना।
5. इन्द्रियों में कुलशता न हो – जैसे बहरा व्यक्ति सुनने में असमर्थ होता है।
6. मति की मन्दता के कारण गम्भीर अर्थ का ज्ञान नहीं होता – जैसे अनपढ़ व्यक्ति के लिए शास्त्रों का ज्ञान असंभव होता है।
7. अशक्यता से भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, जैसे कि व्यक्ति स्वयं अपने कान, पीठ और भस्तक को नहीं देख सकते।
8. आवरण के कारण – जैसे आँखों पर पट्टी बाँध देने पर कुछ भी नहीं देख सकते।
9. पराभव से – जैसे सूर्य तेज से पराजित तारक व नक्षत्रगण, दिन में होते हुए भी दिखाई नहीं देते हैं।
10. समानता से – ध्यान पूर्वक देखा गया उड़द का दाना यदि उड़द के ढेर में मिला दिया जाये तो उस ढेर में से उसी उड़द के दाने को पहचानना सम्भव नहीं है।
11. अनुपयोग से – जिस मनुष्य का ध्यान उपयोग रूप में न हो, जैसे – नींद लेते समय व्यक्ति को स्पर्श ज्ञान नहीं होता।
12. उपाय के अभाव से – जैसे कोई व्यक्ति आकाश का माप जानना चाहे पर उसे मापने का कोई उपाय नहीं है।
13. विस्मृति से भी पूर्वोपलब्ध वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।
14. मिथ्या उपदेश से – सुवर्ण के समान चमकती हुई रेत को सुवर्ण मानने पर भी सुवर्ण की उपलब्धि नहीं होती।
15. मोह से – मिथ्यामति के कारण विद्यमान जीवादि तत्वों का ज्ञान नहीं होता।
16. दर्शन शक्ति के अभाव के कारण – जैसे जन्मान्ध को कुछ नहीं दिखाई देता।
17. विकार के कारण – वृद्धावस्थाजन्य विकार से वस्तु का ज्ञान नहीं होना।
18. क्रिया के अभाव से – जमीन खोदने की क्रिया न करने पर वृक्ष का मूल दिखाई नहीं देता।
19. अनाधिगम से – शास्त्रों को नहीं सुनने से उनके अर्थ का ज्ञान नहीं होता।
20. काल की दीर्घता से – जैसे दीर्घकाल व्यतीत हो जाने से ऋषभदेव आदि प्राचीन व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन जान नहीं पाते।
21. स्वभावविप्रकर्ष से – अमूर्त होने के कारण आकाशादि नहीं दिखाई देते।

इन 21 कारणों से विद्यमान वस्तु भी अनुपलब्ध रहती है, प्रत्यक्ष नहीं होती, वैसे ही आत्मा स्वभाव से विप्रकर्ष है, अर्थात् आकाश के समान अमूर्त है, अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती है। आत्मा के साथ जो कर्मणशरीर है, वह भी परमाणु के समान सूक्ष्म है, अतः वह भी अनुपलब्ध रहता है। इस कारण हमारे शरीर में से निकलते समय अथवा उसमें प्रविष्ट होते समय आत्मा कर्मण शरीर से युक्त होने पर भी दिखाई नहीं देती।¹

छद्मरथ अर्थात् सामान्य जन को आत्मा नहीं दिखाई देने पर उसका अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मा केवल ज्ञानियों को प्रत्यक्ष है।

वेदवाक्यों द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता

आत्मा को शरीर से अनन्य मानने पर वेदवाक्य भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ-विधि और दानादि कर्म भी व्यर्थ व निष्फल सिद्ध होंगे, क्योंकि जीव के निकल जाने पर शरीर को तो चिता में रख देते हैं, तब उनका फल कौन प्राप्त करेगा? जबकि वेदों में कहा गया है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" स्वर्ग की इच्छा वालों को अग्निहोत्र करना चाहिए। यह वेद विधान बाधित होता है, क्योंकि शरीर जलकर राख हो जायेगा, स्वर्ग में कौन जायेगा? अतः शरीर से भिन्न आत्मा को मानना ही श्रेयस्कर है।²

वेद-उपनिषद् में जो कहा गया है कि "विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति"। इसका सामान्य अर्थ लेते हैं कि - भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है, भूतों के नष्ट होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। जबकि उसका सही अर्थ यह है कि विज्ञानधन अर्थात् पुरुष आत्मा भूतों से भिन्न है। शरीर रूप परिणत इस भूत संघात का कोई कर्ता अवश्य है, उसका जो कर्ता है वह शरीर से भिन्न जीव है।³

वेदों में भी कहा गया है - सत्य से तपश्चर्या से, तथा ब्रह्मचर्य से नित्य, ज्योतिर्मय, विशुद्ध स्वरूप आत्मा प्राप्त की जा सकती है। धीर तथा यति संयतात्मा उसका

¹ दलसुखभाई मालवणिया, गणधरवाद, पृ. 65

² स्वर्गाप्तये यज्ञविधिरतथाऽऽर्य, दानादि कर्माण्यपि भो वृथा स्युः।

देहे चितायां तु फलानि तेषां, जीवाहते को हि लभते नूनम्॥ महावीरदेशना, श्लोक 16, पृ. 145

³ देहाण्णो व जिए, जमग्गिहोत्तादिसग्गकामस्स।

वेतविहितं विहण्णति, दाणादिफलं च लोयम्मि॥ गाया 1684

साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार वेद—उपनिषदों में भी शरीर से भिन्न जीव का प्रतिपादन है। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है।¹

इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने वायुभूति जी की शंकाओं का सयुक्तिक समाधान किया। इन सब समाधानों को वर्तमान में भी स्वीकार करते हैं और सिद्ध करते हैं कि आत्मा, देह, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न स्वतंत्र पदार्थ है। व्यावहारिकता में भी, हम देह के लिए 'मेरा शरीर' शब्द का प्रयोग करते हैं। कोई भी व्यक्ति 'मैं देह' ऐसा नहीं बोलता है। 'मेरा' शब्द सम्बन्धवाचक है। 'मेरा घर' जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तब यह बात स्पष्ट होती है कि 'मैं और घर दोनों भिन्न हैं। इसी प्रकार शरीर 'मेरा शरीर' कहने से शरीर और आत्मा के बारे में भिन्नता का बोध होता है।

जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तब वह न तो खाता है, न पीता है, न सोता है और न जागता है, अर्थात् उसके शरीर की समस्त क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। इसका अर्थ यही है कि उसके देह में से 'आत्मा' नामक तत्त्व था, वह चला गया। जब तक उस देह में आत्मा थी, तभी तक वह देह खाता था, पीता था, चलता था परन्तु उस देह में से आत्मा निकल जाने के बाद वे सब क्रियाएँ बन्द हो गयीं। इसका यही तात्पर्य है कि आत्मा इस देह से भिन्न है।

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को लेकर विभिन्न दार्शनिक अवधारणाएँ

जैनदर्शन की अवधारणा

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है। आत्मा और शरीर अलग—अलग हैं। आत्मा या जीव का लक्षण चेतना है। यह लक्षण जीव में सदा रहता है। आत्मा और शरीर को भिन्न—भिन्न दर्शाने के लिए आगम ग्रन्थों में प्रमाण मिलते हैं।

सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, मूल तत्त्व क्या है, इस बात को लेकर विवाद है, चार प्रमुख धारणाएँ अपना मत निम्न प्रकार से रखती हैं —

¹ सत्येनलभ्यस्तपसा ध्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो विशुद्धोयं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः। मुण्डकोपनिषद, 3/1/5

1. अजीतकेशकम्बलिन्, चार्वाकदार्शनिक एवं भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि मूल तत्त्व जड़ है, (अचेतन), और उसी से अचेतन की उत्पत्ति होती है।
2. बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर-वेदान्त इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि मूल तत्त्व चेतन है, और उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जाती है।
3. विशिष्टाद्वैतवादी कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने परम-तत्त्व को एक मानते हुए भी संसार को जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार किया है।
4. जैन सांख्य, न्याय वैशेषिक कुछ विचारक जड़ और चेतन दोनों को परमतत्त्व मानते हैं और उनके स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं।¹

जैन दर्शन की मान्यता है कि जड़ और चेतन दोनों अलग-अलग हैं! इस सिद्धान्त के लिए आगमों में निम्न प्रमाण हैं -

आत्मस्वरूप को समझने की जिज्ञासा लेकर पयासी राजा, केशीश्रमण के निकट गये और उनसे कहा कि "भन्ते! आपकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, वस्तुतः जीव और शरीर एक ही हैं और इसे सिद्ध करने के लिए मेरे पास एक-दो नहीं, अनेक अनुभव सिद्ध प्रमाण हैं।" वे इस प्रकार हैं -

1. मेरे दादा, जो अधार्मिक होने के कारण निश्चित ही नरक में गये, उनका मुझ पर अत्यधिक स्नेह था, यदि वे मेरे हित के लिए मुझे आकर कहते कि - "पयासी! पाप कर्म का फल अति कटू होता है, इसलिए तू पाप-कर्म से दूर रहकर धर्म करना। परन्तु इस तरह का उद्बोधन देने नहीं आये, इससे स्पष्ट होता है कि उनका जीव यहीं शरीर के साथ समाप्त हो गया।"² तब केशी श्रमण ने प्रतिप्रश्न किया कि "मानो यदि कोई पुरुष तुम्हारी रानी के साथ काम-भोग का सेवन करे, और उस समय तुम देख लो, तो तुम उस पुरुष को दण्ड दोगे? हाँ, किन्तु यदि वह पुरुष कहे कि रुको! मैं अपने स्वजनों को कह कर आता हूँ कि तुम ऐसा कुत्सित आचरण मत करना नहीं तो तुम्हें भी ऐसा दण्ड मिलेगा। राजन्! क्या तुम उसे समय दोगे?" राजा ने कहा - नहीं। उसी प्रकार नारकी जीव भी नारकीय दण्ड के भागी होने से नरक से नहीं आ सकते, परमाधार्मिक देव भी नारकीय

¹ द्रव्यानुयोग, प्रस्तावना, पृष्ठ 38

² राजप्रश्नीय सूत्र, 244, पृ. 169

जीवों को एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते। अतः उनके नहीं आने मात्र से यह मानना कि जीव और शरीर एक हैं, यह मिथ्या है, वस्तुतः आत्मा शरीर से भिन्न है।¹

2. राजा पयासी दूसरा तर्क रखते हैं — मेरी दादी धार्मिक आचरण करने वाली थी, और सत्कर्म के कारण निश्चित ही स्वर्ग में गयी है, उसका भी मुझसे अपूर्व स्नेह था, यदि वह आकर मुझसे कहती कि तुम धर्म-कार्य करो, जिससे स्वर्ग मिलेगा तब मैं मान लेता कि जीव और शरीर अलग-अलग हैं।² केशीश्रमण ने इस तर्क का समाधान किया कि — राजन्! तुम यदि स्नान करके सुन्दर वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर हाथ में पूजा की सामग्री लिये किसी देवालय में जा रहे हो, उस समय कोई व्यक्ति पाखाने में खड़ा होकर तुम्हें समीप बुलाकर बिठाना चाहे, तो क्या तुम बैठोगे? नहीं! उसी प्रकार तुम्हारी दादी भी चाहते हुए भी मनुष्य-लोक की दुर्गन्ध के कारण तुम्हारे पास नहीं आ सकती, और भी कई कारणों से देवता मृत्युलोक में नहीं आ सकते। अतः तुम्हें उसके नहीं आने के कारण जीव और शरीर को एक नहीं मानना चाहिए।³
3. राजा पयासी केशीश्रमण से कहते हैं कि मैंने आत्मा को देखने के लिए अनेक प्रयोग किये, परन्तु मुझे वह शरीर से भिन्न नहीं दिखाई दी। वे प्रयोग निम्न हैं — मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे के एक बड़े घड़े में डलवाकर उसे अच्छी तरह से ढक्कन बन्द करा दिया, उपर लोहे और रांगे का पर्त भी लगवाया, कुछ दिनों पश्चात् उस घड़े को खोला तो उसमें से चोर का शव निकला, जिसमें से दुर्गन्ध आ रही थी। जबकि घड़े में एक भी छेद नहीं हुआ, जहाँ से जीव बाहर निकला हो। इससे मुझे यह विश्वास है कि जीव और शरीर भिन्न नहीं हैं।⁴ तब केशीश्रमण ने समाधान दिया कि — एक कमरा है, उसके सिर्फ एक ही द्वार है, उसमें कोई छिद्र नहीं है। उसको बन्द करके अन्दर कोई व्यक्ति नगाड़े को जोर-जोर से बजाये तो आवाज जिस प्रकार बाहर निकलती है, ठीक उसी प्रकार

¹ वही, 245, पृ. 169

² वही, 246, पृ. 171

³ वही, 247, पृ. 172-173

⁴ वही सूत्र 248, पृ. 176

जीव की गति अप्रतिहत है, वह पृथ्वी को या शिला को भेदकर बाहर निकल सकता है, इसलिए तुम मानों कि जीव और शरीर अलग-अलग हैं।¹

4. राजा पयासी ने पुनः एक तर्क रखा— एक चोर को मारकर लोहे की पेटी में डलवा दिया, उस पेटी को अच्छी तरह से बन्द करा दिया। कुछ दिनों बाद ढक्कन को खोलने पर देखा कि उसमें अनेक जन्तु पैदा हो गये हैं। उस पेटी में कोई छेद नहीं था, जिसमें से जीव बाहर से उसमें प्रवेश करें, इसलिए मैं समझता हूँ कि जीव और शरीर अलग नहीं हैं।² तब केशीश्रमण ने कहा कि — राजन्! जैसे लोहे के ठोस गोले को आग में तपाने पर उसके एक-एक कण में अग्नि के परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं, जबकि उसमें एक भी छेद नहीं है, फिर भी अग्नि भीतर तक पहुंच गई, ठीक वैसे ही जीव की अप्रतिहत गति होने से वह बाह्य आवरणों को भेदकर बाहर से अन्दर प्रवेश कर जाता है। अतः तुम विश्वास करो कि जीव और शरीर अलग है।³

5. राजा पयासी कहते हैं — मैंने इस तथ्य के बारे में एक और परीक्षण किया। एक अपराधी जिसको मृत्युदण्ड दिया गया था, उसके मृत्यु के पूर्व और मारने के बाद तुरन्त तोला तो उसके वजन में कोई अन्तर नहीं आया। यदि जीव शरीर से भिन्न होता तो शरीर का वजन कम होना चाहिए था, परन्तु वह कम क्यों नहीं हुआ?⁴ इस तर्क पर केशीश्रमण ने कहा — एक मशक में वायु को भर कर उसका वजन किया जाये, और वायु को निकालकर उसे पुनः तोला जाये, फिर भी उसके वजन में कुछ भी अन्तर नहीं आयेगा, ठीक वैसे ही जीव का स्वभाव अगुरुलघु है, अतः मृत अवस्था या जीवितावस्था से वजन में फर्क नहीं पड़ता है। वजन तो पुद्गल का होता है, तुम्हें यह मान लेना चाहिए कि जीव अन्य है और शरीर अन्य।⁵

(1) वायु पौद्गलिक है, इसलिए उसमें वजन होता है, परन्तु वह इतना अल्प होता है कि उसे तराजु के द्वारा नहीं तोला जा सकता। परन्तु आत्मा पौद्गलिक नहीं है, इसलिए उसमें वजन नहीं होता।

¹ वही, सूत्र, 249, पृ. 177

² वही, सूत्र 250, पृ. 178

³ वही, सूत्र 251, पृ. 178

⁴ वही, सूत्र 256, पृ. 182

⁵ वही, सूत्र 257, पृ. 183

- (2) जैसे किसी विद्वान ने 50 ग्रन्थ कण्ठस्थ कर रखे हैं उसमें यदि वजन किया जाये तो वजन पुस्तकों का होगा, न कि विद्या का।
- (3) दर्पण का वजन होता है, न कि प्रतिबिम्ब का।
- (4) घट का वजन होता है, न कि घटाकाश का।
- (5) वजन लोहे का है, उसमें प्रविष्ट अग्नि का नहीं।
- (6) पानी में वजन है, शीतत्व का नहीं।
- (7) चुम्बक का वजन है, आकर्षण शक्ति का नहीं।
- (8) दुर्बल का वजन हो सकता है, नजर का नहीं।
- (9) रेडियो का भार हो सकता है, आवाज़ का नहीं।

इस प्रकार वजन सिर्फ शरीर का होता है, चैतन्य स्वरूप आत्मा का नहीं।¹

6. राजा पयासी ने कहा — मुनिवर! मैंने अपनी समस्या का हल करने के लिए अपराधी के बाह्य अंगों को देखा किन्तु आत्मा नहीं दिखाई दिया, तब सोचा कि संभवतः शरीर के आन्तरिक भाग में आत्मा होगा। इसलिए मैंने उसके दो टुकड़े किए और उसमें आत्मा को ढूँढने का प्रयास किया। परन्तु दिखाई नहीं देने पर तीन, चार इस तरह बारीक—बारीक टुकड़े किये, पर कोई लाभ नहीं मिला। अतः मेरी धारणा दृढ़ हो गई कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है।² तब केशीश्रमण ने लकड़हारे का उदाहरण देकर समझाया कि जिस प्रकार लकड़ी के टुकड़े किये जाने पर अग्नि दिखाई नहीं देती, प्रत्युत् दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग प्रज्वलित होती है। उसी प्रकार आत्मप्रदेश जीवित शरीर के कण—कण में विद्यमान है, परन्तु रूपरहित होने के कारण दिखाई नहीं देते। अतः आत्मा और शरीर को अलग मानना ही सत्य है।³
7. पयासी राजा कहते हैं — मुनिवर! जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव अनन्त ज्ञान एवं शक्ति से सम्पन्न है। यदि ऐसा हो तो उसमें हमेशा एक सा ज्ञान और शक्ति होनी चाहिए। किन्तु युवावस्था में जितनी शक्ति एवं निपुणता होती है उतनी वृद्धावस्था में दिखाई नहीं देती। एक युवक जवानी में एक साथ चार—पाँच बाण

¹ आत्मवाद, फूलचन्द्र श्रमण, पृ. 178

² वही, सूत्र 258, पृ. 184

³ वही, सूत्र 259, पृ. 185-86

छोड़ सकता है, वहीं बूढ़ापे में नहीं छोड़ सकता, इससे मेरी धारणा सही है कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है।¹ तब केशीश्रमण ने समाधान दिया कि – एक योद्धा जो बलवान है, यदि उसके बाण कमजोर हों, धनुष जीर्ण–शीर्ण हो गया हो, तो क्या वह योद्धा एक साथ पाँच बाण छोड़ सकता है? नहीं, क्योंकि उसके पास साधन उपयुक्त नहीं है।

जैसे एक निपुण एवं कुशल चित्रकार हो, यदि उसके पास रंग–रोगन आदि बाह्य सामग्री अच्छी हो तो वह अपनी कला के द्वारा विश्व को आश्चर्यान्वित कर सकता है, परन्तु बाह्य साधनों के अभाव में प्रवीण होने पर भी वह असफल रहता है।

जैसे एक सुदक्ष ड्राइवर (चालक) 50 मील प्रति घण्टा की तेज चाल से मोटर को चला सकता है, परन्तु यदि उसके पूर्जे घिस गए हैं और ट्यूब या टायर पुराना हो गया हो तो वह 50 मील प्रति घण्टा की चाल से चलाने में समर्थ नहीं होगा।

वैसे ही आत्मा में शक्ति अनन्त है, वह हर समय उतनी ही रहती है। परन्तु उस शक्ति को प्रकट करने का साधन, शरीर जितना मजबूत होता है, उससे वह उतना ही काम ले सकता है। परन्तु इससे उसकी शक्ति का नाश नहीं होता। इसलिए तुम्हें यह विश्वास करना चाहिए कि जीव और शरीर एक नहीं है, भिन्न है।²

इस प्रकार राजप्रश्नीय सूत्र में आत्मा और शरीर की भिन्नता बताई है।

चार्वाक दर्शन में जो आत्मा और शरीर की अभिन्नता बतायी है, तथा चैतन्य को शरीर का गुण माना है, उनके मत का निरसन करने के लिए जैन दार्शनिक निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं –

1. चार्वाक दर्शन का मत है कि शरीर से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु यदि शरीर ही चैतन्य का कारण होता है तो शरीर के साथ ही साथ चैतन्य का भी अस्तित्व रहता। किन्तु ऐसी बात नहीं पायी जाती। मृत्यु के बाद शरीर तो विद्यमान रहता है परन्तु चैतन्य कहां चला जाता है? अतः शरीर को चैतन्य का कारण मानना भ्रामक है।

¹ वही, सूत्र 252, पृ. 179

² वही, सूत्र 253, पृ. 180

2. यदि चैतन्य शरीर का गुण होता तब शारीरिक परिवर्तन के साथ ही साथ चैतन्य में भी परिवर्तन होता। लम्बे और मोटे शरीर में चेतना की मात्रा अधिक होती और दुबले और नाटे शरीर में चेतना की मात्रा कम होती। किन्तु ऐसा होता नहीं है, जिससे प्रमाणित होता है चेतना शरीर का गुण नहीं है।
3. चार्वाक दर्शन ने "मैं मोटा हूँ", "मैं क्षीण हूँ" "मैं अन्धा हूँ" इत्यादि युक्तियों से शरीर और आत्मा की एकता स्थापित की है। ये युक्तियाँ आत्मा और शरीर के एकत्व को प्रमाणित करती हैं¹, परन्तु जैन दार्शनिकों के अनुसार इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर ही आत्मा है।

चार्वाक दर्शन के इसी बात के पुष्टी विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है – जैसे मद्य द्रव्यों के समन्वय-मिश्रण मिलाने से मदिरा में मादकता उत्पन्न होती है, वैसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के संघात से चेतना उत्पन्न होती है, इसलिए शरीर ही जीव है।²

जैनदर्शन में सर्वप्रथम सूत्रकृतांगसूत्र में भी तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचमहाभूतवाद का निरसन किया गया है। ये मत यह मानते हैं कि जब तक शरीर रहता है, तब तक ही आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों के संयोग से जो चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही नष्ट हो जाती है। शरीर से बाहर निकलती हुई आत्मा कहीं दिखाई नहीं देती, इस मत को मानने वालों के सम्बन्ध में कहा गया है कि "तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभणिसिंया"। अर्थात् वे आरम्भ (हिंसा) में रत अन्धकार से गहन अंधकार में जाते हैं। वे आत्मा को न मानने पर परलोक को भी नहीं मानते, तब वे शुभ-अशुभ कर्म इच्छानुसार करते हैं। वे सोचते हैं कि आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि कुछ नहीं है, तो पापकर्मों का बन्ध भी नहीं होगा। न ही दुर्गति मिलेगी। फलस्वरूप वे मनमाने हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी आदि पापकर्म में रत हो जाते हैं, और ज्ञानावरणियादि कर्मसञ्चयवश वे और

¹ भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 146

² विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1650

अधिक गहन-अन्धकार में पड़ जाते हैं। अतः फलित होता है कि आत्मा को शरीर से भिन्न मानने पर ही परलोक-स्वर्ग-नरक की व्यवस्था घटित हो सकती है, अन्यथा नहीं।¹

अन्वय व्यतिरेक के द्वारा शरीर ही आत्मा है, ऐसा सिद्ध होता है, इस सम्बन्ध में वे कुछ युक्तियाँ देते हैं -

1. मरने के बाद मृत व्यक्ति को जलाने के लिए जो लोग श्मशान में ले जाते हैं, वे उसे जलाकर अकेले घर लौटते हैं, उनके साथ मृत व्यक्ति का जीव नामक कोई पदार्थ साथ में नहीं आता।
2. चित्ता में जब मृत व्यक्ति का शरीर जलता है, उस समय जीव नामक कोई पदार्थ शरीर को छोड़कर अलग जाता हुआ नहीं दिखाई देता है। श्मशान में भी हड्डियों के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता, जिसे हम जीव का विकार कह सकें। अतः आत्मा शरीर रूप ही है।
3. जगत् में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब एक-दूसरे से भिन्न विशेषण लिए हुए हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में एक-दूसरे से अन्तर होता। यदि शरीर से भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु होती तो वह शरीर से भिन्न वर्ण-गन्धादि में दिखाई देती। परन्तु ये सब आत्मा में बिल्कुल नहीं पाये जाते हैं।
4. जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, उसको उससे अलग करके दिखाया जा सकता है। जैसे - तलवार म्यान से, मंजू नामक घास से, ईषिका, माँस से हड्डी, तिल से तेल अलग होने के कारण इन सबसे पृथक् निकालकर दिखाई जा सकती है, क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को अलग-अलग करके दिखलाना शक्य है, किन्तु जो वस्तु जिससे भिन्न नहीं है, बल्कि तत्त्वरूप है, उसको अलग-अलग करके दिखलाना शक्य नहीं है। यही कारण है कि शरीर से पृथक् करके जीव (आत्मा) को कोई नहीं दिखा सकता है, क्योंकि वह शरीरस्वरूप है।

किन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी की ये युक्तियाँ असत्य हैं। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने ज्ञान का अनुभव करता है, आत्मा का गुण ज्ञान है। अमूर्त ज्ञान गुण का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। यह भी नहीं हो सकता कि मूर्त शरीर उसका आश्रय हो, अतः अमूर्त ज्ञानरूप गुण का आश्रय अमूर्त आत्मा है।

¹ सूत्रकृतांग सूत्र, गाथा 1/14, हेमचन्द्रजी मा., आत्मज्ञानपीठ, मानसा, पृ. 99

यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो तो किसी भी प्राणी का मरण नहीं होता, क्योंकि शरीर तो मरने के बाद भी बना रहता है। शरीर से भिन्न जीव का खण्डन करने के लिए जो वर्णादि रचना का अभाव बताते हैं तो यहाँ यह स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि वर्णादि तथा अवयव रचना मूर्त पदार्थ के होते हैं, अमूर्त के नहीं। आत्मा तो अमूर्त है, तब उसमें मूर्त के गुण कैसे समाहित हो सकते हैं?

उनका यह कथन कि भिन्न वस्तुओं को अलग करके दिखाया जा सकता है किन्तु अभिन्न को नहीं। यहाँ यह निश्चित है कि मूर्त पदार्थ को प्रत्यक्ष तथा भिन्न करके देखा जा सकता है, किन्तु अमूर्त पदार्थ इन्द्रियगम्य नहीं है। यदि अमूर्त पदार्थ को प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता हो तो वे वादीगण अपने ज्ञान को दिमाग से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देता? अपने ज्ञान को समझाने के लिए वह शब्द प्रयोग क्यों करता है?

इस प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न सिद्ध होता है।¹

जैनदर्शन अनेकान्त दृष्टि वाला है, यह सत्य है कि शरीर और चेतना (आत्मा) दोनों भिन्न धर्मक हैं, फिर भी इनका अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। चेतन और जड़ दोनों चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं, इसलिए उनमें सम्बन्ध हो सकता है। इन दोनों में किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसका समाधान जैनदर्शन में इस प्रकार किया है।

संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से घिरा है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर साथ में रहता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे—तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करता है, तो यह प्रश्न ही नहीं होता कि अमूर्त जीव ने मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश किया? सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुवर्ती है। इसलिए जब तक जीव संसारीदशा में है तब तक कथञ्चित मूर्त है। उसका अमूर्त रूप सिद्धावस्था में प्रकट होता है। फिर आत्मा का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।²

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, 2 श्रुत., 1/9, विवेचन पृ. 46, हेमचन्द्रजी मा.

² जैन दर्शन मन्त्र और मीमांसा, आ. महाप्रज्ञ, पृ. 284

संसारि आत्मा किसी अपेक्षा से शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है।

शरीर और आत्मा का क्षीर—नीरवत् अथवा अग्नि—लौहपिण्डवत् तादात्म्य होता है, यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित भेद होता है। अतःएवं जीव के 10 परिणाम होते हैं।¹

भगवान महावीर के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि – “भगवन्! जीव वही है जो शरीर है, या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?” तो महावीर प्रभु ने उत्तर दिया – “हे गौतम! जीव शरीर भी है और जीव शरीर से भिन्न भी है।”² इस प्रकार भगवान महावीर ने अपेक्षा भेद से आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व दोनों को स्वीकार किया, क्योंकि यदि आत्मा और शरीर को एकान्त रूप से भिन्न मानें तो भूख—प्यास, निद्रा प्रमाद आदि शरीर धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से नहीं रहेगा, न हिंसा—चोरी आदि अनैतिक कार्य होंगे। साथ ही समस्त शारीरिक कर्मों की शुभाशुभता के लिए आत्मा को उत्तरदायी नहीं माना जा सकेगा। शरीर से किये कर्मों का फल आत्मा को नहीं मिलना चाहिए। इस जन्म के शरीर के कर्मों का फल दूसरे जन्म का शरीर भोगे, यह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि दोनों शरीर भिन्न हैं। साथ ही आत्मा और शरीर को एकान्त रूप से भिन्न मानने पर शरीर से दूसरे की सेवा स्तुति, कायिकतप, आदि शुभक्रियाएँ व्यर्थ हो जायेंगी। ऐसी स्थिति में अकृतागम का दोष होगा।

यदि आत्मा और शरीर को एक मानें तो शरीर के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में अनेक शुभाशुभ कर्म जो बान्धे गये हैं, उन सब का प्रतिफल अभोग्य ही रह जायेगा। इससे नैतिक दृष्टि से कृतप्रणाश का दोष उपस्थित हो जायेगा।³

समयसार में बताया गया है कि जैसे स्वर्णकार सोने और चांदी को गलाकर उसे एक पिण्ड में मिला देता है तो ऐसा लगता है कि दोनों एकमेक हो गये हैं, उसी तरह आत्मा और शरीर के परस्पर एक जगह पर रहने की व्यवस्था होने से एकत्व का आभास होता है परन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है। जैसे सोना पीले रंग तथा चांदी सफेद रंग

¹ ऋणं, 10/18

² भगवती सूत्र “आयाभन्ते! काये? अन्ने काये, गोयमा! आया वि काये विकाये।। 13/128”

³ जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, भाग 2, पृ. 212

की है, दोनों का रूपत्व गुण अलग-अलग है, उसी प्रकार आत्मा उपयोगमय तथा शरीर जड़-पुद्गल स्वभाव वाला है, उन दोनों के लक्षण अलग होने से दोनों में भिन्नता है। अतः व्यवहारनय से शरीर और आत्मा एक हैं किन्तु निश्चयनय से दोनों अलग-अलग हैं।¹

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में आत्मा और देह की भिन्नता और अभिन्नता को उदाहरणसहित समझाया है – जैसे वस्त्र और शरीर दोनों एक दिखाई देते हैं किन्तु शरीर से वस्त्र अलग है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर मिले हुए दिखते हैं किन्तु दोनों अलग हैं। शरीर को रंगने से, जीर्णता से, और विनाश से आत्मा रंग-बिरंगी या जीर्ण अथवा नष्ट नहीं होती। यह आत्मा व्यवहारनय से देह में स्थित है, किन्तु शुद्ध रूप से अलग है।²

“मैं सुखी हूँ”, “मैं दुःखी हूँ” इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह आत्मा के बिना नहीं होता। यदि ऐसा मानें कि शरीर से ही अनुभव होता है तब यह प्रश्न उठता है कि – जब हम निद्रावस्था में होते हैं, तब यह अनुभव किसके सहारे होता है? यदि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं होते तो इन्द्रियों के सुषुप्त रहने पर ऐसा अनुभव होना संभव नहीं होता। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है।³

जीव और शरीर (पुद्गल) में परिभोक्ता और परिभोग्य सम्बन्ध है। जीव चेतन है, इसलिए वह परिभोक्ता है, अजीव अचेतन है, इसलिए वह परिभोग्य है। चेतन में परिभोक्तृत्व नामक पर्याय है और अचेतन में परिभोग्य नामक पर्याय है। इन पर्यायों के कारण चेतन और अचेतन में सम्बन्ध स्थापित होता है।

बौद्धदर्शन में आत्मा और शरीर की अवधारणा

सौत्रान्तिकबौद्ध मत के अनुसार पाँच स्कन्धों के सिवाय आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं – रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार। इनसे भिन्न कोई आत्मा नामक स्कन्ध नहीं है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार धातु आदि तथा रूपादि विषय रूपस्कन्ध कहलाते हैं। सुख-दुःख और असुख-अदुःख रूप वेदना अनुभव को वेदनास्कन्ध कहते हैं।

¹ समयसार, गाथा 23

² परमात्मप्रकाश, गाथा 180-181

³ नव पदारथ, आ. भिक्षु, पृ. 26

रूपविज्ञान, रसविज्ञान, आदि विज्ञान को 'विज्ञानस्कन्ध' कहते हैं। संज्ञा के कारण वस्तुविशेष के बोधक शब्द को 'संज्ञाशब्द' कहते हैं जैसे गौ, अश्व आदि।

पुण्य-पाप आदि धर्म-समुदाय को 'संस्कारस्कन्ध' कहते हैं। इन रूप आदि पंचस्कन्धों से भिन्न सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

बौद्धधर्म के कुछ मतवादी चातुर्धातुकवादी हैं। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज व वायु ये चार धातु ही सर्वस्व हैं। वे मानते हैं कि यह शरीर चार धातुओं से बना है, तथा शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। उनके मत से नित्य या ध्रुव कोई पदार्थ नहीं है जिस प्रकार दीपक की लौ प्रतिक्षण बदलती रहती है फिर भी अखण्ड लगती है, उसी प्रकार आत्मा भी है।¹

जब इसी बात को भगवान बुद्ध से पूछा गया कि 'जीव और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न?' तो उन्होंने कहा कि - हे भिक्षु! जीव वही है जो शरीर है, ऐसी दृष्टि रखने पर ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं होता। तथा हे भिक्षु! जीव अन्य है और शरीर अन्य है, ऐसी दृष्टि रखने पर भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने मध्यममार्ग का उपदेश दिया।²

मिलिन्दप्रश्न में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द को बौद्ध सम्मत आत्म-स्वरूप को एक सुन्दर उपमा के सहारे बतलाया है - नागसेन ने राजा से पूछा कि - 'इस कड़कड़ाती धूप में जिस रथ पर सवार होकर आप इस जगह आये हैं, क्या आप उस रथ का संपूर्ण वर्णन कर सकते हैं? क्या दण्ड रथ है या अक्ष रथ है? राजा के द्वारा निषेध करने पर फिर पूछा कि क्या चक्के रथ हैं? या रस्सियाँ रथ हैं? या लगाम या चाबुक रथ है? बार-बार निषेध करने पर नागसेन ने पूछा आखिर रथ क्या चीज है? अन्त में मिलिन्द को स्वीकार करना पड़ा कि दण्ड, चक्र आदि अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' नाम दिया गया है। इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी की सत्ता दिखाई नहीं देती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा 'आत्मा' की भी है।

¹ तत्त्वज्ञान स्मारिका (आत्मतत्त्व विश्लेषण) डा. प्रल्हाद पटेल, श्री वर्द्धमान जैन पेढ़ी, पालीताणा, स. 2038, पृ. 16

² जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों को तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 213

पंचस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी के अगोचर होने के कारण इन अवयवों के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के लिए दिया गया है।¹

सांख्यदर्शन में आत्मा और शरीर की अवधारणा

सांख्य दर्शन मूल तत्व दो मानता है – एक प्रकृति और दूसरा है पुरुष (आत्मा)। पुरुष की सत्ता स्वयंसिद्ध है। "मैं हूँ" 'यह मेरी लेखनी है' प्रतिदिन के इस अनुभव में 'मैं' और 'मेरी' आत्मा का ही परिचय देता है। कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता कि – 'मैं नहीं हूँ', क्योंकि अस्वीकार करने पर भी चेतन आत्मा को आवश्यकता रहती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। शरीर भौतिक है, परन्तु आत्मा अभौतिक अर्थात् आध्यात्मिक है। आत्मा इन्द्रियों से भी भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियाँ अनुभव के साधन हैं जबकि पुरुष अनुभव से परे हैं। इस प्रकार पुरुष शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न एवं स्वतंत्र होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, जो सिर्फ ज्ञाता है। आत्मा प्रकृति के घेरे से बाहर होता है, वह निष्क्रिय तथा उदासीन होता है। आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह अधिकारी तथा कूटरथ नित्य तथा व्यापक होता है। शरीर, मन तथा इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेना सरासर भूल है।²

न्याय व वैशेषिक दर्शनों में आत्मा और शरीर

न्याय वैशेषिकों के अनुसार आत्मा नित्य द्रव्य है, जिसमें बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म संस्कार आदि गुण निवास करते हैं, वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् स्वतंत्र सत्ता धारण करने वाला द्रव्य है। नैयायिक व वैशेषिक शरीर, इन्द्रिय और मन से आत्मा का पृथक्त्व सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं –

1. जिस वस्तु को हम आँखों से देखते हैं, उसे ही हम हाथ से छूते हैं। यदि इन्द्रियों के अनुभव में आत्मा इन्द्रिय-रूप ही होता तो वस्तु की पहचान कैसे सिद्ध की जाती?

¹ भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 127

² भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 264

2. दाहिने हाथ से छूए गये पदार्थ को बायें हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता।
3. एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियों पर पड़ा करता है। जैसे वृक्ष पर स्थित आम्रफलों को आंखें देखती हैं पर उसका प्रभाव जीभ पर पड़ता है (मूंह में पानी आने लगता है)। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो मूंह में पानी आना यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी आने का कारण यही हो सकता है कि पके आम देखते ही व्यक्ति को पूर्वकाल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण हो आता है। अतः फलों को देखने वाला तथा उस स्वाद को स्मरण करने वाला एक हो, यह तो ठीक है, किन्तु इन्द्रिय में चैतन्य मानने से इस घटना की सम्पूर्णरूप से व्याख्या नहीं हो सकती। इन्द्रियों को आत्मा मानने पर उनके नष्ट होने पर स्मृति की व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है। कर्ता तथा कारण की भिन्नता अनुभवसिद्ध है। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्ता (लेखक) दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार अनुभव के कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियाँ) की भिन्नता सिद्ध है। मन को आत्मा मानने पर उसमें विद्यमान सुख-दुःख, इच्छा आदि अप्रत्यक्ष होने लगेंगे।

आत्मा को शरीररूप भी नहीं मान सकते। इसको हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं – नवजात शिशु जन्म से कुछ दिन बाद ही बिछौने पर लेटा हुआ हंसने लगता है, जबकि हंसना प्रसन्नता के कारण होता है, और उसकी इस बाल्यावस्था में हर्षोत्पादक घटना का अभाव होता है। अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओं को संस्कारवश स्मरण किया करता है और स्मरण के बल पर वह हँसता है। यह तर्क तभी युक्तिसंगत होगा जब हम आत्मा और शरीर को अलग मानें। क्योंकि अनुभवकर्ता शरीर के नाश होने पर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है।

बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति भी आत्मा को शरीर रूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। मनुष्यों की अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के कारण दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म में कर्म करने वाले तथा इस जन्म में

तदनुरूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से पृथक् है।¹

उपनिषदों में आत्मा और शरीर की अवधारणा

आत्म-विचारणा के क्रमिक सोपान का चित्र हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है। देहात्मवाद से लेकर स्वतंत्र आत्म-अस्तित्व की चर्चा उपनिषदों में प्राप्त है। छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम देह को आत्मा बताया है।² तत्पश्चात् तैत्तेरीय उपनिषद् में 'अन्नमय आत्मा' कहा गया।³

उपनिषद्कारों का ध्यान प्राण पर स्थित हुआ, जीवन में प्राण का सर्वाधिक महत्त्व है, अतः उन्होंने प्राण तत्त्व को आत्मा माना। प्राणमय आत्मा के पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई। कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राणसंज्ञा दी गई।⁴ क्योंकि इन्द्रियाँ और मन ये दोनों प्रज्ञा के बिना अकिञ्चित्कर है, अतः प्रज्ञा को आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया।⁵

इस प्रकार आत्मा के विषय में विचारकों ने अन्नमय आत्मा से लेकर आनन्दात्मा पर्यन्त प्रगति की। किन्तु उनकी प्रगति अभी तक आत्म तत्त्व के भिन्न-भिन्न आवरणों को आत्मा समझने में रही। जब आत्मा की वास्तविकता में शोध होने लगी तब यह कहा जाने लगा कि -

अन्नमय आत्मा जिसे शरीर कहा जाता है, वह रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है। आत्मा से रहित शरीर कुछ भी करने में असमर्थ है। शरीर की संचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार आत्मा और शरीर को पृथक् मानने लगे।⁶

प्रश्नोपनिषद् में प्राण और आत्मा को भिन्न माना है। 'प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है।' जैसे मनुष्य की छाया का आधार स्वयं मनुष्य है, उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित है।⁷

¹ भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 127

² छान्दोग्य उपनिषद् - 8/8

³ तैत्तेरीय उपनिषद् - 2/1-2

⁴ कौषीतकी उपनिषद् - 3/2

⁵ कौषीतकी उपनिषद् - 3.6.7

⁶ कठोपनिषद् - 1.3.3

⁷ प्रश्नोपनिषद् - 3-3

इन्द्रिय और आत्मा को भी भिन्न माना जाने लगा। केनोपनिषद में यह सूचित किया कि – इन्द्रियाँ और मन आत्मा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ हैं, आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन अपना-अपना कार्य करते हैं।¹

इस प्रकार उपनिषदों में जीवात्मा के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। यह आत्मा भौतिक तत्वों से निर्मित नहीं है, अपितु अनादि है, इस तथ्य को उपनिषदों में बार-बार स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद में बताया गया है कि 'आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है, और न ही किसी वस्तु का परिवर्तित रूप है तथा उससे परिणित होकर कोई अन्य वस्तु भी नहीं बन सकती है, यह अजन्मा तथा नित्य है, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता।'²

छान्दोग्य उपनिषद भी यही स्वीकार करता है कि जीव का कभी विनाश नहीं होता है, अपितु जीव शरीर से निकल जाता है। शरीर मरता है जीवात्मा नहीं।³

बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में भी जीवात्मा को नित्य और अविनाशी बताया है।⁴

इस प्रकार उपनिषदों में जीव और शरीर को पृथक् माना है। जीव और शरीर को पृथक् मानने से ही साध्य-साधक, उपास्य-उपासक, भोग्य-भोक्ता तथा ज्ञाता-ज्ञेय संबंध रहेंगे। एक मानने पर ऐसी व्यवस्था नहीं रहती है।⁵

गीता का दृष्टिकोण

गीता के अनुसार शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती। वह दूसरा शरीर ग्रहण करती है। जैसे – व्यक्ति वस्त्रों को जीर्ण होने पर बदल देता है, वैसे यह आत्मा पुराने शरीरों को बदलती रहती है।⁶ शरीर बदलता है पर आत्मा वही रहती है। आत्मा शाश्वत है, अभेद्य है।

¹ केनोपनिषद - 1.4/6

² "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नायं कुताश्चिनुन्न वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं हन्यस हन्यमाने शरीरे॥ कठोपनिषद 2/18"

³ छान्दोग्यउपनिषद 8/11

⁴ बृहदारण्यक उपनिषद 3/2-3

⁵ कठोपनिषद 3/2

⁶ गीता, 2/22

गीता में आत्मा को 'क्षेत्रज्ञ' भी कहा गया है। क्षेत्र अर्थात् शरीर, किये गए कार्यों का फल धारण करने के कारण या भोगायतन होने से शरीर को 'क्षेत्र' संज्ञा दी है। क्षेत्र के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। जैसे – रथ और सारथी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार आत्मा को एक मौलिक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्यदर्शन में आत्मा और शरीर की अवधारणा

भारतीय दर्शन परम्परा से विलग होकर पाश्चात्यदर्शन के इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वहाँ भी आत्मा के अमर अस्तित्व का ही समर्थन मिलता है। पाश्चात्य जगत् के आदि दार्शनिक प्लेटो के अनुसार, "संसार के समस्त पदार्थ द्वन्द्वात्मक है, अतः जीवन के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जीवन अनिवार्य है।"

प्रोफेसर अलबर्ट आइन्स्टीन ने कहा, "मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।" सर ए. एस. एडिंग्टन का मानना है कि कोई अज्ञात शक्ति काम कर रही है, हम नहीं जानते हैं कि वह क्या है? वे चैतन्य को मुख्य मानते हैं, भौतिक पदार्थ को गौण। हर्बर्ट स्पेन्सर का मन्तव्य है "गुरु, धर्मगुरु, बहुत सारे दार्शनिक प्राचीन हो या अर्वाचीन, पश्चिम के हों या पूर्व के, सबने अनुभव किया है कि वह अज्ञात या अज्ञेय तत्व वे स्वयं ही हैं।" जे.बी. एस. हेल्डन का विचार है कि सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्व जड़ पदार्थ (Inert Matter) बल (Force) या भौतिक पदार्थ (Physical thing) नहीं है किन्तु मन और चेतना ही है। आर्थर एच. काम्पटन ने लिखा है, "एक निर्णय जो कि बताया है मृत्यु के बाद आत्मा की सम्भावना है। ज्योति काष्ठ से भिन्न है।"¹

इस तरह पाश्चात्य दार्शनिकों व वैज्ञानिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। कुछ वैज्ञानिकों ने आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व पर संदेह भी किया है –

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है। पावरलोफ ने इस बात का समर्थन किया है। उनके

¹ जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, आ. देवेन्द्रमुनि जी, पृ. 118

अनुसार स्मृति मस्तिष्क के करोड़ों सेलों (Cells) की क्रिया है। फोटो की नेगेटिव प्लेट में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खिंचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में भी अतीत के चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नयी प्रेरणा मिलती है, तब वे जागृत हो जाते हैं, निम्न स्तर से उपरिस्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसलिए भौतिक तत्त्वों को पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोगों के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की कई चेष्टाएँ की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है। उनमें अमूर्त आत्मा का अस्तित्व नास्तित्व सिद्ध करने की क्षमता नहीं है।

वैज्ञानिकों ने 102 तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं वे सब मूर्त द्रव्यों पर किए हैं। अमूर्त तत्त्व छद्मस्थ जीवों को प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उस पर प्रयोग नहीं किये जाते हैं। शरीर पर किए गये प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

रूस के प्रसिद्ध जीवविज्ञानी पावलोफ ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएँ निष्क्रिय हो गईं। फिर भी वह नहीं मरा। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्यतत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में चैतन्य नहीं रहता। उन्होंने दिमाग (मस्तिष्क) को आत्मा माना। पर दिमाग अलग है आत्मा अलग है, क्योंकि बहुत प्राणी ऐसे हैं जिनमें दिमाग नहीं होता है किन्तु फिर भी जीव हैं। सामान्य रूप से चेतना का लक्षण स्वानुभव है। यह नहीं कि जो बोलता है, अंग संचालन करता है, चेष्टाओं को व्यक्त करता है, वही आत्मा है। ये लक्षण केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी जातिगत आत्माओं के होते हैं, वैज्ञानिकों ने अमूर्त तत्त्व की खोज मूर्त पर की, तो वह खोज सफल कैसे हो सकती थी।¹

पाश्चात्य जगत् के दार्शनिकों ने भी आत्मा और शरीर के बारे में निम्न चिन्तन प्रस्तुत किया है —

¹ जैनदर्शन मन्वन और मीमांसा, आ. महाप्रज्ञ, पृ. 288

रेने देकार्त का अन्तःक्रियावाद

देकार्त ने मन की धारणा को एक नये रूप में प्रस्तुत किया है। उसके पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने मन और शरीर को एक ही तत्त्व के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया, परन्तु देकार्त ने मन और शरीर को भिन्न माना। पहले मन तथा शरीर सापेक्ष माने जाते थे, परन्तु देकार्त ने निरपेक्ष रूप में दोनों की सत्ता स्वीकार की। इस प्रकार मन और शरीर के सम्बन्ध के विषय में द्वैतवाद की स्थापना हुई।

देकार्त ने शरीर और मन दोनों के गुण अलग माने हैं। शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है और मन में चेतनतत्त्व है। यहाँ प्रश्न उठता है कि शरीर का मन पर और मन का शरीर पर प्रभाव कैसे पड़ता है? हम देखते हैं कि जब हम कोई कार्य अपनी इच्छा से करते हैं तो लगता है कि मन का शरीर पर प्रभाव है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव है। यदि शरीर और मन दोनों में सम्बन्ध नहीं हो तो कार्य कैसे होता है? जीव का कोई कार्य मन और शरीर के एकीकरण के बिना सम्भव नहीं है।

देकार्त ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया – शरीर का मन पर वास्तविक रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्होंने शरीर और मन की पारस्परिक क्रिया का आधार पिनियल ग्रन्थि को माना है। इस ग्रन्थि के कारण मन और शरीर में परस्पर सहयोग दिखाई देता है।

देकार्त के अन्तःक्रियावाद से तीन समस्याएँ उद्भूत होती हैं –

1. निराकार आत्मा पिनियल ग्रन्थि में किस तरह रह सकती हैं?
2. यदि शरीर और मन दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं तो उनमें अन्तःक्रिया कैसे हो सकती है?
3. देकार्त का सिद्धान्त शक्ति संरक्षण नियम के विरुद्ध है, क्योंकि इसके अनुसार शारीरिक घटनाओं से मानसिक घटनायें और मानसिक घटनाओं से शारीरिक घटनाएँ नहीं हो सकती हैं।

कुछ दार्शनिक इस अन्तःक्रियावाद का समर्थन भी करते हैं, जैसे –

1. सामान्य भाषा से समर्थन – सामान्य भाषा में मन और शरीर दो सर्वथा भिन्न तत्त्वों के परिचायक हैं। जैसे कि पेट्रिक के अनुसार, "हम प्रेम आशा और विचार आदि के विषय में बात करते समय विस्तार या परिमाणसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते, जैसे – हम यह नहीं कह सकते कि इतने वर्ग गज प्रेम, इतने सेर आशा या इतने इंच विचार हैं। हम नदी-पर्वत आदि के लिए भी इन शब्दों का इस्तेमाल नहीं करते, क्योंकि वे अचेतन हैं।" अचेतन वस्तुओं के लिए विभाजन या परिमाणसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते जबकि चेतन के लिए करते हैं।
2. अनुभव द्वारा समर्थन – दैनिक जीवन में भी मानसिक एवं भौतिक तत्त्वों के अलग-अलग लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। मानसिक क्रियाएँ भौतिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं।
3. मनस् और पुद्गल परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते – अनेक दार्शनिकों व वैज्ञानिकों ने मनस्, शरीर और मन की क्रियाओं को एक-दूसरे से समझाने की चेष्टाएँ की हैं किन्तु ये चेष्टाएँ असफल रही।

द्वैतवाद या अन्तक्रियावाद के विरुद्ध तर्क

1. परस्पर विरोधी तत्त्वों के सम्बन्ध में कठिनाई – द्वैतवाद में मनस् और पुद्गल की एक दूसरे से स्वतंत्र तथा विरोधी गुण वाला माना गया है तो ये दोनों पदार्थ जगत् की रचना में किस प्रकार सहयोग दे सकते हैं?
2. शरीर और मन में अन्तक्रिया कैसे होती है? – देकार्त के अनुसार शरीर और मन की अन्तक्रिया का आधार पिनीयल ग्रन्थि मानने पर भी कई प्रश्न पैदा होते हैं,
 - (अ) यदि मनस् स्थान नहीं घेरता तो पिनीयल ग्रन्थि में कैसे सीमित किया जा सकता है?
 - (ब) कोई भी क्रिया उत्पन्न होने पर मन कैसे जान पाता है कि मुझे प्रत्युत्तर देना है।
 - (स) शरीर में कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिनका मन कोई प्रतिक्रिया नहीं करता।
 - (द) यदि शरीर एवं मन दोनों स्वतंत्र हैं तो एक शरीर में अनेक मन और एक मन में अनेक शरीर क्यों नहीं रह सकते हैं?

3. शक्ति-संरक्षण के नियम से कठिनाई – देकार्त के अनुसार पुद्गल न जन्म लेता है न नष्ट होता है न ही घटाया-बढ़ाया जाता है। परन्तु जब मनस् और पुद्गल में क्रिया-प्रतिक्रिया होती है तो क्या पुद्गल में परिवर्तन नहीं होगा? कभी-कभी थोड़े से शारीरिक परिवर्तन से अत्यधिक मानसिक परिवर्तन होता है और कभी थोड़े से मानसिक परिवर्तन से अत्यधिक शारीरिक परिवर्तन होता है।
4. ज्ञानशास्त्रीय कठिनाई – देकार्त के अनुसार वास्तविक प्रत्यय यथार्थवस्तुओं की प्रतिलिपि है। यदि ऐसा है तो जैसी वस्तुएँ हैं वैसी ही उनकी प्रतिलिपियाँ होनी चाहिये। यदि मानसिक और भौतिक दोनों प्रत्यय अलग-अलग हों, तो मानसिक प्रत्यय को भौतिक वस्तु की सच्ची प्रतिलिपि कैसे कहा जा सकता है?
5. शरीर और मन की कठिनाईयाँ – शरीर और मन के सम्बन्ध की समस्या को सुलझा पाना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों पूरी तरह स्वतंत्र और परस्पर विरोधी लक्षणयुक्त हैं, अतः इनमें सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

द्वैतवाद की समीक्षा

द्वैतवाद के विरोध में दिये जाने वाले तर्कों से स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त जगत की पूर्णरूप से व्याख्या नहीं कर सकता। चिरकाल से मानव का स्वभाव रहा है कि वह अनेकता में एकता, द्वैतवाद में अद्वैतवाद खोजता है, तथा उसके बिना संतुष्ट नहीं हो सकता। अतः द्वैतवाद सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। यद्यपि सामान्यरूप से अपने अनुभव में द्वैतवाद की भावना देखते हैं, और सर्वत्र द्वैतवाद पाते हैं, परन्तु साथ में अद्वैतवाद की खोज में भी निरन्तर जुटे रहते हैं। अद्वैतवाद स्थापित किये बिना तनाव बना रहता है। परन्तु वास्तव में अद्वैतवाद, एकतत्त्ववाद, द्वैतवाद आदि कोई भी सन्तोषजनक नहीं है।

स्पिनोजा का समान्तरवाद

शरीर और मन के सम्बन्ध के विषय में स्पिनोजा समान्तरवाद का सिद्धान्त उपस्थित करता है। वह शरीर को एक पूर्ण और सर्वव्याप्त सत्ता मानता है। उसका मानना है कि चिन्तन और विस्तार एक ही द्रव्य के दो गुण हैं। मन चिन्तन का एक आकार है और शरीर विस्तार का एक आकार है। मन और शरीर एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं, इन दोनों का सम्बन्ध ईश्वर से है।

यद्यपि कार्यात्मक रूप से मन और शरीर अलग-अलग जान पड़ते हैं, तथापि एक ही द्रव्य के गुण के आकार होने से दोनों एक-दूसरे से सदैव मिले रहते हैं। शरीर पर बाह्य पदार्थों का प्रभाव पड़ने से निरन्तर नये रूप दिखाई देते हैं। इन सबका बोध मन को होता रहता है, अलग से कुछ नहीं जान पाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन को शरीर प्रभावित नहीं करता है और न शरीर को मन। क्योंकि दोनों एक ही सत्ता के दो पहलू हैं, वह सत्ता है ईश्वर। मन जो कुछ भी कार्य करता है वह पूर्व-निश्चितकारण से ही करता है, उसकी संकल्पशक्ति स्वतंत्र नहीं है।

स्पिनोजा का कहना है कि शरीर का अधिकार नहीं है कि वह मन को चिन्तन में लगा सके, तथा मन का अधिकार नहीं है कि वह शरीर की गति पर कोई नियंत्रण कर सके।¹

स्पिनोजा के समान्तरवाद में कुछ समस्याएँ उभरती हैं, वे निम्न हैं -

1. आकस्मिक अनुभवों की व्याख्या का अभाव-

कभी-कभी मानसिक क्रिया अर्थात् विचारों में संलग्न रहते हैं, उसी समय किसी धमाके से चौंक पड़ते हैं तथा ध्यान टूट जाता है। यह उदाहरण मानसिक क्रिया में शारीरिक बाधा का है। यदि शरीर और मन एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं तो आकस्मिक अनुभव कैसे होता?

2. जैविकीय विकास में मनस् की अवहेलना-

समानान्तरवाद के सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक व्यवहार पर मानसिक विकास का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, जबकि विकास के सिद्धान्त में मनस् के बढ़ते हुए महत्त्व पर ध्यान दिया गया है। समानान्तरवाद में मनस् का कोई महत्त्व नहीं रहता।

3. सर्वमनस्वाद

यदि समान्तरवाद के सिद्धान्त को मान लिया जाये तो जहाँ कहीं शारीरिक क्रिया है, वहाँ मानसिक क्रिया भी है, चाहे वह कितनी भी निम्न स्तर की हो।

¹ (क) पाश्चात्य दर्शन - डा. वात्स्यायन, पृ. 174

(ख) पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन, डा. रामनाथ शर्मा, पृ. 226-229

(ग) पाश्चात्य दर्शन, डा. चक्रधर शर्मा, 63-67

इससे जगत् में हो रहे भौतिक परिवर्तन के मूल में भी मन की सत्ता को मानने पर सर्वमनसवाद के सिद्धान्त पर पहुंचते हैं, जबकि यह सत्य तथ्य नहीं है।

लाइबनिट्स की शरीर और मन सम्बन्धी अवधारणा

लाइबनिट्स ने शरीर और मन के सम्बन्ध को कार्य कारण के आधार पर समझाया है। इसने देवी सत्ता या सूक्ष्म कारण को अस्वीकार करते हुए यह बतलाया कि — भौतिक शरीर पर किसी अभौतिकत्व का प्रभाव नहीं पड़ता। उसने देकार्त के द्वैतवाद को माना, किन्तु उसे भिन्न रूप दिया। जैसे — शरीर की क्रियाएँ अपने स्वतंत्र नियमों द्वारा होती हैं। शारीरिक कार्य अपने विशिष्ट नियमों और कारणों से होते हैं, वैसे ही मानसिक कार्य भी विशिष्ट नियमों और कारणों से होते हैं। दोनों अपने-अपने कार्य स्वतंत्र रूप से करते हैं। इसका उदाहरण दो घड़ियों से दिया है — दो घड़ियाँ जो ऐसी बनी हैं कि वे समय को बतलाने में सदैव एक सी रहती हैं, यद्यपि दोनों एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करती। दोनों से एक सा समय ज्ञात होता है, यद्यपि दोनों स्वतंत्र हैं। इसी प्रकार मन और शरीर भी स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं, और उनमें जो क्रिया-प्रतिक्रिया का आभास होता है, वह पूर्व स्थापित सामंजस्य के कारण है।

इस प्रकार शरीर और मन (आत्मा) के विषय में दोनों धारणाएँ प्रस्तुत हुई हैं — शरीर और मन भिन्न हैं या अभिन्न?

उपसंहार

धर्म की आराधना का मूल आधार है आत्मा। हमारी आत्मा में शरीर नहीं है, अपितु शरीर में आत्मा है। आत्मा अमूर्त है और शरीर मूर्त है। दार्शनिक जगत् में इसी बात को लेकर एक प्रश्न बहुत चर्चित रहा है — अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? आत्मा और शरीर यौगिक हैं, एक मिश्रण है। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, पर यह मिश्रण कब बना और कैसे बना? इस सम्बन्ध की बात बहुत जटिल है।

शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के बारे में कई मत हैं — सांख्य दर्शन आत्मा को पूर्ण रूप से अमूर्त मानता है। वह उसका शरीर से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं मानता। भूत-चैतन्यवादी चार या पाँच भूतों के संघात से चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं तथा इनके नष्ट होने पर चैतन्य का नाश मानते हैं। यह मत अजीतकेशकम्बलिन् के लोकायत मत

का है। इस मत से मिलता-जुलता मत 'तज्जीवतच्छरीरवाद' है जो शरीर और आत्मा को एक मानता है। भारत में 'चार्वाक' और पश्चिम में 'थोलिस', 'एनाक्सिमॉडर' आदि जड़वादी भी इस मान्यता के पक्षधर हैं। बौद्धदर्शन इस प्रश्न को अव्याकृत कह देता है।

जैनदर्शन ने इस प्रश्न के समाधानार्थ एक नई स्थापना की - "आत्मा शरीर से बन्धी हुई है, इसलिए वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। आत्मा का अस्तित्व या स्वरूप अमूर्त हो सकता है, अतः शरीर और आत्मा का सम्बन्ध भिन्न भी है और अभिन्न भी। जो संसारी आत्माएँ हैं वे शरीर से अभिन्न हैं और जो मुक्त आत्माएँ हैं वे शरीर से भिन्न हैं।"

प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में इसी 'जीव और शरीर के सम्बन्ध को लेकर समीक्षा की गई है। जो देहात्मवादी हैं वे एकान्तरूप से देह को आत्मा मान लेते हैं, या भूतचैतन्यवादी जो भूत-समुदाय से चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं, वे आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु शरीर ही यदि जीव हो तो फिर जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं रहेगा। दया, करुणा, मैत्री आदि आत्म-भावनाओं के विकास और सबल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना और दूसरों को उनका उपदेश देना व्यर्थ है तथा इहलोक और परलोक का चिन्तन भी व्यर्थ है। इस दृष्टि से शरीर और जीव को अलग मानना आवश्यक है।

तृतीय गणधर वायुभूति के मन में प्रश्न था कि - आत्मा और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न? भगवान महावीर ने कई युक्तियों द्वारा सिद्ध किया कि - आत्मा और शरीर एक नहीं हैं।

शंका - चैतन्य भूतों का धर्म है, जैसे - मद्य कई सामग्रियों से युक्त होकर बनती है, उसमें मादकशक्ति आ जाती है, कुछ समय बाद नष्ट हो जाती है, ठीक उसी प्रकार भूतों के सम्मिश्रण से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है, भूतों के नाश होने पर चैतन्य का नाश हो जाता है।

समाधान - जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती, यदि भूतों के संघात में चैतन्य उत्पत्ति होती है तो मृत शरीर में होनी चाहिए।

शंका - भूत समुदाय में चैतन्य दृष्टिगत है, जैसे घट-पट आदि में रूपादि गुण विद्यमान है।

समाधान — प्रत्यक्ष का बाधक आत्म साधक अनुमान होने से प्रत्यक्ष से आत्मा व शरीर की पृथकता सिद्ध है।

अनुमान प्रमाण से आत्मा—शरीर से पृथकता — पदार्थ को देखकर स्मरण रखने वाला आत्मा, इन्द्रियों से भिन्न है।

ज्ञान गुण का आधार होने से, अभिलाषा रूप गुण का आधार होने से, कर्मण शरीर को मानने से एवं सुख—दुःखात्मक अनुभवगुण आदि अनेक अनुमान से यह सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर में पृथकत्व है।

जैनदर्शन में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनेकान्त रूप से स्वीकार किया है। एकान्त रूप से भिन्न मानने पर कर्म सिद्धान्त की व्याख्या संभव नहीं है और धार्मिक साधना भी संभव नहीं है। क्योंकि कर्म भी शरीर से किये जाते हैं और साधना भी। यदि इन दोनों में सम्बन्ध नहीं हो तो आत्मा को शरीर के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म का उत्तरदायी नहीं माना जा सकेगा, और यदि एकान्त रूप से अभिन्न माने तो मुक्ति सम्भव नहीं है। तथा भेद—विज्ञान या आत्म—अनात्म का विवेक का कोई मतलब नहीं है। धर्म—ग्रन्थों में देहासक्ति हटाने का उपदेश दिया जाता है वह व्यर्थ हो जायेगा, अतः व्यवहार के स्तर पर शरीर और आत्मा के सहसम्बन्ध अर्थात् अभेद को और सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों की भिन्नता या भेद मानना आवश्यक है। यही चर्चा प्रस्तुत अध्याय में की गई है।

साथ ही देकार्ते का 'अन्तःक्रियावाद' स्पिनोजा का 'समानान्तरवाद' और लाइबनिट्ज का पूर्वस्थापित सामंजस्यवाद को प्रस्तुत किया है।

पंचम अध्याय

भूतों के अस्तित्व एवं नास्तित्व की समस्या और उसकी समीक्षा

भूमिका

भगवान महावीर और बुद्ध के काल में यह समस्या प्रमुख रूप से चर्चित हो रही थी कि – बाह्यार्थों की सत्ता है या नहीं? ऋग्वेद में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है। यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ या असत् से? जो लोग यह मान रहे थे कि यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है, वे यह भी मान रहे थे कि पंच महाभूतों और आत्मा की सत्ता है, इस मत का उल्लेख षष्ठआत्मावादी के रूप में हमें सूत्रकृतांगसूत्र में मिलता है, जिनकी स्पष्ट मान्यता थी कि इस जगत् के मूल में पाँच महाभूत और छठा आत्मा अपनी सत्ता रखता है, किन्तु इसके विपरीत दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थी।

एक मान्यता यह थी कि जगत् के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता है और उसी से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, परवर्ती दार्शनिकों ने इस विचारधारा को मानने वाले को बाह्यार्थवादी कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञाता और मनस् से भिन्न पदार्थ की स्वतः सत्ता है, दूसरे शब्दों में हमारे ज्ञान का विषय यह जो जगत् है, वह सत् है।

किन्तु इससे विपरीत कुछ दार्शनिक यह मानते थे कि बाह्यार्थ की कोई सत्ता नहीं है। यह जगत् स्वप्नवत् है। दूसरे शब्दों में केवल चित्त तत्त्व की सत्ता है, जिसे हम बाह्यजगत् कहते हैं, वह चित्त का विकार है।

“स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष” के औपनिषदिक कथन से यह बात सिद्ध होती है। इसी प्रकार ‘ब्रह्मसत्यं जगन् मिथ्या’ अथवा ‘सर्वखल्विदं ब्रह्म’ यह वचन भी यही सिद्ध करते हैं कि केवल चित्त तत्त्व की सत्ता है, बाह्यार्थों की नहीं। किन्तु दूसरी ओर अनेक औपनिषदिक कथन ऐसे भी मिलते हैं, जिसमें बाह्यार्थों की सत्ता स्वीकार की गई और विशेष रूप से पंचमहाभूतों को दैवी तत्त्व मानकर स्वीकार किया गया।

इन दोनों प्रकार की मान्यताओं के कारण जब सामान्य जन के मन में भी शंका उत्पन्न हो सकती है तो फिर प्रकाण्ड वैदिक पण्डित व्यक्त के मन में भी इस शंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

विशेषावश्यकभाष्य में इसी प्रसंग को लेकर भगवान महावीर और व्यक्त का संवाद उपस्थित किया गया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि — व्यक्त की यह शंका दो रूपों में प्रस्तुत की गई। एक बाह्यार्थों की अर्थात् भूतों की कोई सत्ता नहीं है, मात्र चित्त तत्त्व की सत्ता है, वस्तुतः यही विचार आगे जाकर बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद का आधार बना। दूसरी ओर जब यह विचार बाह्यार्थों के साथ-साथ चित्त सत्ता का निषेध कर देता है तो वह सर्ववैनाशिकी के रूप में एक नवीन वाद को जन्म देता है जो आगे चलकर बौद्धदर्शन में शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ। अग्रिम पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि व्यक्त किस प्रकार अपनी शंका को प्रस्तुत करते हैं और महावीर के द्वारा किस प्रकार समाधान किया जाता है।

शून्यवाद समर्थक तर्कों की समीक्षा और उसका विशेषावश्यकभाष्य के प्रकार में निराकरण —

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में 'भूतों का अस्तित्व है या नहीं', इस प्रश्न पर चर्चा की गई है। श्रमण भगवान महावीर के समक्ष वेदज्ञ ब्राह्मण व्यक्त आये, जिनके मन में यह शंका थी कि भूतों (जड़ पदार्थों का) अस्तित्व है या नहीं?¹ इस सन्देह के पीछे दो कारण थे — पहला कारण कि वेदों में कहीं वाक्य है — "स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरंजसा विधेयः" इसका अर्थ यह किया कि यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न के समान है, उसे ब्रह्मविधि से अर्थात् परमार्थतः जानना चाहिए। जगत् में भूतों जैसा कुछ नहीं है। इस प्रकार उपनिषदों में सभी भूतों के अस्तित्व को स्वप्न के समान अयथार्थ बताया है।

जैसे निर्धन पुरुष, स्वप्न में अपने प्रांगण में हाथी-घोड़े, सुवर्ण-मणि-माणिक, दास-दासी आदि सर्व भौतिक सामग्री देखता है, किन्तु वास्तविक में वे सुख-सामग्रियाँ अविद्यमान हैं, वैसे ही यह भूतों का संसार अविद्यमान होने पर भी दृष्टिगोचर हो रहा है, अन्तर इतना है कि वह स्वप्न अल्पकालीन है और यह स्वप्न दीर्घकालीन है। जैसे — ऐन्द्रजालिक (जादूगर) अविद्यमान उद्यान, पत्र-पुष्प दिखाता है और दर्शक इस प्रकार देखते हैं जैसे सब कुछ विद्यमान हो, वैसे ही यह संसार अविद्यमान होते हुए भी दिखाई दे रहा है, किन्तु वस्तुतः यह शून्य है, अतः भूतों का अस्तित्व नहीं है।²

¹ किं मन्ने अत्थि भूया उदाहु णत्थि ति ससओ तुज्झ, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1889

² भूरसु तुज्झ संका, सुविणय-माओवमाइं होज्जति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1690

इसी प्रकार माध्यमिक बौद्धों के शून्यवाद में यह बताया गया है कि किसी भी वस्तु का व्यक्तिगत रूप से सदभाव नहीं है, उनका अस्तित्व उनके उत्पादक कारणों की अपेक्षा से है।

दूसरी ओर उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि “द्यावा पृथिवी, पृथिवी देवता आपो देवता” आदि वाक्य है जिनसे भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार विरोधी कथन से व्यक्त के मन में शंका हुई, उस शंका का समाधान श्रमण भगवान महावीर द्वारा विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार किया गया।

भूतों के अस्तित्व पर विचार करने से पहले यह प्रश्न उठता है कि – संशय विद्यमान वस्तुओं का होता है या अविद्यमान वस्तु का? जैसे – स्थाणु व पुरुष के सम्बन्ध में संशय होता है किन्तु आकाश-कुसुम या खर-शृंग के बारे में संशय नहीं होता, तो यह निश्चय है कि संशय वस्तु के सदभाव में होता है, अभाव में नहीं।¹ कोई पुष्प को देखकर यह नहीं सोचता कि यह स्थल का है या नभ का?² इस संशय के कारण ही भूतों का अस्तित्व एक बार सिद्ध हो जाता है। संशयादि ज्ञान की पर्याय है, तथा ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। यदि ज्ञेय नहीं हो तो संशय नहीं हो सकता।³

यदि स्थाणु-पुरुष को भी सर्व-शून्य के भीतर लेकर असत् माने तो यह समस्या खड़ी हो सकती है कि वस्तुओं के अभाव से संशय का भी अभाव हो जायेगा।⁴ वस्तुओं के अभाव में भी यदि संशय को माने कि स्वप्न में सब वस्तुएं नहीं रहती है फिर भी संशय होता है तो उसका मानना गलत है, क्योंकि स्वप्न में जो संदेह होता है वह पहले अनुभव की गई वस्तु के स्मरण से होता है।⁵ स्वप्न के कई निमित्त होते हैं, जैसे – अनुभूत (स्नान, भोजन), दृष्ट (हस्ति आदि पदार्थ), चिन्ता, सुना हुआ विषय, प्रकृति विकार, अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियाँ आदि। इस प्रकार वस्तु का सर्वथा अभाव स्वप्न का निमित्त

1 “मा कुण वियत्त! संसयमसत्ति ण संसयसमुद्भवो जुत्तो।

अकुसुम-अरसिगेसु व जुत्तो, सो थाणु-पुरिसेसु।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1697

2 “को वा विसेसहेतु सव्वाभावे वि थाणु-पुरिसेसु।

संका ण अपुष्पादिसु, विवज्जयो वा कधण्णं भवे।।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1698

3 “जं संसयादयो गाणपज्जया तं च गेयसम्बन्धं।

सव्वण्णेयाभावे ण संसयो तेण ते जुत्तो।।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1700

4 “संति च्चिय ते भावा, संसयत्तो सोम्म! थाणु पुरिसोव्व।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1701

5 सव्वाभावे वि मई संदेहो सिमिणए व्व णो तं व। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1702

नहीं बन सकता।¹ स्वप्न भावरूप होता है क्योंकि घट—विज्ञानादि के कारण वह विज्ञानरूप है। जैसे घड़ा अपने दण्डादि निमित्तों द्वारा उत्पन्न होने के कारण भावरूप है, वैसे ही स्वप्न भी निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है।²

दूसरा तथ्य है कि वेदों में जो संसार को स्वप्न के समान बताया है उसका अर्थ यह नहीं कि जगत् में विद्यमान पदार्थों का सर्वथा अभाव है, उनका अस्तित्व है ही नहीं। वे पदार्थ अपने अपने रूप में हैं, किन्तु भव्यजन (पण्डित पुरुष) उन पदार्थों में आसक्त होकर मोहग्रस्त न हो, अनुरक्त होकर विवेक न छोड़ दे, इसलिए जगत् को स्वप्न के समान बताया है। जगत् के सभी पदार्थ उत्पत्तिशील व विनाशशील होकर भी ध्रुव स्वभावी है। ऐसा कोई समय नहीं है कि उन पदार्थों का सर्वथा नाश हो जाये, बल्कि प्रतिसमय पूर्व अवस्था का विनाश और नवीन पर्याय की उत्पत्ति होने का क्रम प्रवर्तमान होते हुए भी वे अपने मौलिक रूप में तदात्मक है।³

इस पर व्यक्त ने अपनी दूसरी शंका इस प्रकार व्यक्त की —

संसार की समस्त वस्तुएँ सापेक्ष हैं, इस कारण वस्तु की सिद्धि स्वतः, परतः, स्व-पर उभयतः अथवा इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। व्यक्त जी वस्तुएँ दो प्रकार की मानते हैं — कार्यरूप तथा कारणरूप। कार्य कारण के आधीन है, क्योंकि कारण के बिना कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कारण न हो तो किसी को कार्य भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कार्य और कारण ये दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार उत्पत्ति की चार अवस्थाएँ भी घटित नहीं होती हैं, जैसे कि —

- (क) तैल स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि अगर वह अपने से उत्पन्न होता है तो इसका तात्पर्य है कि वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान है। किन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि कोई वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान कैसे हो सकती है?
- (ख) तैल परतः उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि जो तैल से भिन्न है, वह तैल को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि इस प्रकार विरोधी वस्तु से उत्पत्ति मानी जाये तो

1 अणुभूत-दिट्ठचिंतिय-सूय-पयइवियार-देवयाऽणूया।

सिमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च नाभावो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1703

2 विण्णाण मयत्तणओ घट विण्णाणं व सिमिणओ भावो। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1704

3 अव्यक्तामाद्यंकिल वस्तुनोऽस्ति, तथैव चाब्जं परमाणु भावात्।

मध्यं कथं तद्वंशगंलभेत, तं वैत्स्यतः शून्यमिदं समस्तम्।। महावीर देशना श्लोक 6, पृ. 153

हर एक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु को उत्पन्न कर लेगी। जैसे कि – पत्थर से तैल उत्पन्न होने लगेगा।

(ग) जब तैल न स्वतः उत्पन्न है और न परतः, किसी वस्तु से उत्पन्न है तो फिर वह दोनों के सम्मिलन से भी उत्पन्न नहीं होगा। वह किसी भिन्न-अभिन्न वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता।

(घ) अन्ततः यदि तैल न अपने से उत्पन्न है और न अपने से भिन्न किसी वस्तु से, तो फिर वह निर्हेतुक है, अकारण है, वह अकस्मात् हो गया है। अतः उत्पत्ति मानना असंगत है।¹

इस पर व्यक्त ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया – ह्रस्व-दीर्घत्व व्यवहार में भी ऐसा ही है, वह भी सापेक्ष है, स्वतः ह्रस्व या दीर्घ नहीं है, जैसे – तर्जनी अंगुली अंगूठे की अपेक्षा से बड़ी है किन्तु वही मध्यमा की अपेक्षा से छोटी है। वस्तुतः वह स्वतः लम्बी भी नहीं है और छोटी भी नहीं है। इस प्रकार पदार्थ में स्वतः, परतः, उभयतः और अन्यतः कार्य-कारण भाव नहीं है। अतः संसार में सब कुछ सापेक्ष होने से शून्य है।

श्र.भ. महावीर द्वारा इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया –

शून्यवाद में जब सब शून्य है तब यह 'स्व' है और वह 'पर' है, यह भेद-बुद्धि कैसे हो सकती है। और यदि यह स्व-परादि विषयक बुद्धि ही न हो तो वह जो स्व-पर आदि विकल्पों द्वारा वस्तु की सिद्धि या असिद्धि की है, वह कैसे हो सकती है।²

दूसरी बात यह है कि वस्तु की सत्ता सापेक्षता से ही होती है, यह मानना तथा दूसरी ओर यह कहना कि वस्तु की सिद्धि स्व-पर आदि किसी से भी नहीं होती, ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं।

प्रत्येक पदार्थ की सत्ता में दो कारण हैं – (1) अपेक्षा-कृतत्व तथा (2) अर्थक्रियाकारित्व। इन दोनों कारणों से पदार्थ स्वतः सिद्ध है। वस्तु की सत्ता मात्र आपेक्षिक मानने पर प्रश्न उठता है कि यदि असत् अंगुलियों में ह्रस्व-दीर्घादि व्यवहार हो सकता है, तब असत् खरविषाणादि में ऐसा व्यवहार क्यों नहीं होता, जबकि वे दोनों

1 (क) भारतीय दार्शनिक निबन्ध, वही, पृ. 350

(ख) न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते।

न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः॥ मूल माध्यमिक कारिका, 21/13

2 “किं च संपरोभय बुद्धि, कथं च तेसि परोप्परमसिद्धि।

अथ परमतीए भण्णति, सपरमति विसेसणं कत्तो।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1709

समान रूप से असत् हैं। फिर भी एक में ह्रस्वत्व आदि व्यवहार होता है दूसरे में नहीं, इसका क्या कारण है? इसलिए मानना चाहिए कि अंगुली आदि पदार्थ सत् है, विद्यमान है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म है, अतःएव भिन्न-भिन्न निमित्त पाकर वे नाना प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करते हैं। किन्तु यदि अंगुली आदि पदार्थ सर्वथा अविद्यमान हो तो उनमें अपेक्षा से भी ह्रस्व-दीर्घ आदि का व्यवहार एवं स्वतः-परतः आदि विकल्प सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

शून्यवादी कहें कि शून्यवाद में स्व-पर आदि का भेद नहीं है, किन्तु दूसरे वादी भेद समझते हैं। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि शून्यता में यह स्व मत है और यह अन्य मत है, यह भेद सम्भव नहीं है। यह भेद स्वीकारने पर शून्यता खण्डित हो जाती है।

यदि व्यवहार की अपेक्षा से ह्रस्व और दीर्घ आदि माने तब प्रश्न उठता है कि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान एक साथ होता है या क्रम से होता है? यदि युगपद् ज्ञान होता है तो किसी को किसी की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि जिस समय मध्यमा अंगुली में दीर्घत्व का आभास हुआ, उसी समय प्रदेशिनी (तर्जनी) में ह्रस्वत्व का आभास हुआ, दोनों को जानने में अपेक्षा व्यवहार नहीं हुआ। यदि ह्रस्व-दीर्घ का व्यवहार क्रमशः होता है तब दीर्घ की अपेक्षा के बिना ही, पहले ह्रस्व का ज्ञान हो जाता है, तो ह्रस्वत्व को सापेक्ष कैसे कह सकते हैं? इससे यह सिद्ध होता है कि अनुकूल सामग्री मिलने पर, दूसरों की अपेक्षा के बिना ही सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में प्रतिभासित हो जाते हैं। जैसे - जो नवजात शिशु को ज्ञान होता है, उसमें किस की अपेक्षा सहयोग देती है? इसी प्रकार दोनों नैत्रों की समानता को ग्रहण करने वाले ज्ञान में कोई अपेक्षा नहीं होती। अतः अंगुली आदि पदार्थों का स्वरूप किसी अन्य की अपेक्षा नहीं, बल्कि स्वतः सिद्ध है।¹

इसके अतिरिक्त अगर शून्यता सही अर्थों में है तो दीर्घ पदार्थ में दीर्घता और ह्रस्व में ह्रस्वता का ज्ञान क्यों होता है? अथवा विपरीत ज्ञान क्यों नहीं होता?

1. "जुगवं कमेण वा ते, विष्णाणं होज्ज दीहहस्सेसु।

जति जुगवं कावेक्खा, कमेण पुव्वम्मि काऽवेक्खा।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1712

आकाश--कुसुम में भी ह्रस्वता--दीर्घता का प्रतिभास क्यों नहीं होता? अतः यह तथ्य मानना होगा कि सर्वशून्य नहीं है, किन्तु पदार्थ विद्यमान है, उनका अस्तित्व है।¹

ज्ञातव्य है कि महावीर के काल में तो भूतों के अस्तित्व का ही प्रश्न उठा था किन्तु कालान्तर में बौद्धों के विज्ञानवाद के बाह्यार्थ के निषेध और माध्यमिकों की सर्वशून्यता की अवधारणा के विकास के कारण विशेषावश्यकभाष्य में व्यक्त के शंका के उत्तर के साथ ही इन दोनों मतों की समीक्षा भी प्रस्तुत की गई।

सर्वशून्यतावाद में अपेक्षा नहीं हो सकती है, अपेक्षा वस्तु के विद्यमान होने पर ही होती है, पर शून्यवादी वस्तु की सत्ता ही नहीं मानते हैं वहाँ मात्र अपेक्षा से क्या हो सकता है? जैसे घड़े आदि पदार्थ शून्यता के प्रतिकूल है, वैसे अपेक्षा भी शून्यता के प्रतिकूल है। यदि अपेक्षा आदि को स्वाभाविक माने तो भी शून्यता की हानि होती है, क्योंकि स्व को मानने पर परभाव की भी कल्पना करनी पड़ती है। विद्यमान पदार्थों में ही स्वभाव की कल्पना की जा सकती है, 'वन्ध्यापुत्र' जैसे अविद्यमान पदार्थों में कल्पना होती ही नहीं है। ऐसी स्थिति में शून्यवाद का निरास हो जाता है।²

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वस्तु की सत्ता अपेक्षाजन्य नहीं है, केवल वस्तु के दीर्घत्वादि का ज्ञान तथा व्यवहार कथंचित अपेक्षाजन्य है। इसलिए वस्तु में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है यह मानकर उसे असत् नहीं कहा जा सकता, तथा शून्य भी नहीं माना जा सकता। जब क्रिया, कर्म और कर्ता तीनों विद्यमान हो, तभी अपेक्षा मानी जा सकती है। अपेक्षा को मानने से वस्तु की सर्वशून्यता घटित न होकर वस्तु की सत्ता ही सिद्ध होती है।³

पदार्थों की सिद्धि चारों विकल्पों से होती है -

1. मेघ आदि स्वतः सिद्ध है क्योंकि विशेष द्रव्य होने के कारण कर्ता आदि की अपेक्षा नहीं रखते।

1 "किं हस्सातो दीहे, दीहात्तो वे व किण्ण दीहम्मि।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1713

2 "किं वाऽवेक्खाएच्चिय, होज्ज मती वा सभाव एवायं।

सो भावो ति सभावो, वंझापुत्ते ण सो जुतो।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1713

3 "होज्जावेक्खातो वा विण्णाणं वाभिधाणमेत्तं वा।

दीहं ति व हस्संति व ण तु सत्ता सेसधम्मा वा।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1714

2. घटादि पदार्थ परतः सिद्ध है, क्योंकि कुम्भकार आदि कर्ता के द्वारा बनाये जाते हैं।
3. पुरुषादि पदार्थ माता-पिता आदि परपदार्थ तथा अपने कर्म रूप स्वपदार्थ की अपेक्षा से उभयतः सिद्ध है।
4. आकाशादि कुछ पदार्थ नित्य-सिद्ध हैं।¹

संसार की समस्त वस्तुएँ शून्य है, उसके लिए कुछ तर्क दिये हैं – घट और घट का अस्तित्व दोनों एक है या अनेक? यदि एक माने तो विश्व के सभी पदार्थ एक हो जायेंगे। जो पदार्थ दृष्टिगत हैं वे सब घट रूप में दिखाई देंगे। ऐसी स्थिति में घट से भिन्न किसी भी पदार्थ का कागज़-कलम का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। अथवा घट सर्वात्मक होगा या अस्तित्वता घट में समाविष्ट हो जायेगी, अतः अस्तित्वता का अन्यत्र अभाव हो जायेगा।

घट और अस्तित्व को एक मानने पर मात्र एक घट ही बचेगा। घट के अतिरिक्त जो भी पदार्थ है उनका अभाव हो जायेगा, सभी पदार्थ अस्तित्व से शून्य हो जायेंगे। पर ऐसा होने पर घट का अस्तित्व भी नहीं रहेगा क्योंकि घड़े का विरोधी तत्व ही नहीं तो वह किस अपेक्षा से 'घट' कहा जायेगा। अतः एव संसार में घट और अस्तित्व को अभिन्न मानने पर भी शून्य ही सिद्ध होता है।

यदि घट और अस्तित्व को पृथक् भी माने तो सर्वशून्यता की ही सिद्धि होती है, जैसे – घट अस्तित्व से शून्य है तो खरविषाणवत् उसका अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तित्वशून्य होने के कारण असत् कहलायेंगे और अभाव में आधार-आधेय भाव सिद्ध नहीं हो सकता।²

श्रमण भगवान महवीर ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है –

अस्तित्व तथा घट के एकानेकत्व की युक्ति अयुक्त है, क्योंकि 'घट' का अस्तित्व सिद्ध होने पर ही पर्याय विषयक विचारणा हो सकती है कि घट और उसका अस्तित्व धर्म – ये दोनों एक है, अथवा अनेक? इससे यह सिद्ध होता है कि घड़े का अभाव नहीं

1 "ण य सो तम्हा सत्तादयोऽणवेक्खा घडादीणं।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1715

2 "अत्थित्त-घड़ेकाणैकत्ता य सव्वेकदादिदोसात्तो।

सव्वेऽणभिलप्पा वा, सुण्णा वा सत्त्वाधा भावा।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1693

है। जिस वस्तु का अभाव है, उसके विषय में भेदाभेद का विचार ही उत्पन्न नहीं होता, जैसे वन्ध्यापुत्र। उस पर कोई चर्चा ही नहीं की जा सकती है।¹

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे घट और अस्तित्व का भेदाभेद किया गया वैसे ही घट और शून्यता के विषय में भी हो सकता है। जैसे — घट तथा शून्यता भिन्न है या अभिन्न? अगर भिन्न है तो घट अशून्य (सत्) हुआ, और अगर अभिन्न है तो वह शून्यता भी घट रूप में हुई। वहाँ भी घट का अभाव सिद्ध नहीं होता।²

शून्यता का ज्ञान और कहने वाले वचन वक्ता से भिन्न है या अभिन्न है? यदि एक है तो वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे आम्र और वृक्षत्व में एकता है। उस स्थिति में शून्यता व्यर्थ है। किन्तु यदि अलग माने तो वक्ता पत्थर के समान अज्ञानी तथा वचनशून्य बन जायेगा, जिससे शून्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

घट और घट का अस्तित्व एक मानने पर सब वस्तुएँ घट रूप हो जायेगी, यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि घट की सत्ता घट का धर्म है, कागज़-कलम की सत्ता उनका धर्म है, घट के समान शेष पदार्थ भी विद्यमान है, किन्तु सब पदार्थ घट रूप नहीं हो सकते।³

घट और अस्तित्व को एक मानने पर सब पदार्थों का अवरोध हो जाता है, और घट सर्वात्मक हो जाता है, यह विचार भ्रमपूर्ण है। घट का अस्तित्व अन्य पदार्थों के अस्तित्व से भिन्न है। घट का अस्तित्व घट में ही है, कागज़-कलम आदि में नहीं। अस्तित्व कहने से जितने पदार्थों में अस्तित्व धर्म है, उन सबका बोध होगा। जैसे — वृक्ष कहने से सभी वृक्षों का समावेश हो जाता है किन्तु आम्र कहने से वृक्षत्व का ही बोध होता है। अतः न सर्व पदार्थों का अवरोध होता है, और न घट सर्वात्मरूप से होता है।⁴

1 "अस्थि घडेकाणेकत्ता, य पज्जायमेत्तचित्तियं।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1719

2 "घडसुण्णअण्णताए वि सुण्णता का घडधिया सोम्म।

एकत्ते घडओ च्चिय, ण सुण्णता नाम घड घम्मो।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1720

3 "घडसत्ता घडघम्मो, ततोऽण्णो पडादित्तो भिण्णो।

अस्थि त्ति तेण भणित्ते, को घड एवेत्ति नियमोऽयं।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1722

4 "अस्थि त्ति तेण भणित्ते, घडोऽघडो वा घडो तु अत्थेव।

चूतोऽचूतो व्व दुमो चूतो, तु जघा दुमो णियमा।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1724

उत्पत्ति घटित नहीं होने के कारण सब शून्य है

पदार्थ दो प्रकार के हैं – उत्पन्न (जात) और अनुत्पन्न (अजात)। उत्पन्न पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह पहले से ही जात है, तब पुनः उत्पत्ति मानने पर अनवरथा दोष होगा (जन्म-मरण चलता रहेगा), और अनुत्पन्न भी उत्पन्न नहीं हो सकते (यदि माने तो खर-विषाण की उत्पत्ति संभव है) क्योंकि असद् की उत्पत्ति नहीं होती है। उभयरूप पदार्थ भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रत्येक पक्ष में दोष आते हैं।¹

माध्यमिक कारिका में बताया गया है कि – “गमन क्रिया हो चुकी हो तो जाना नहीं होता और यदि गमन क्रिया का अभाव हो तो भी जाना नहीं होता। गमन क्रिया के सद्भाव-अभाव से भिन्न रूप कोई गमन क्रिया होती ही नहीं है।”² अतः संसार में उत्पादादि क्रिया का अभाव है इसलिए जगत् को शून्य मानना ही ठीक है।³

पदार्थ की उत्पत्ति में दो मुख्य हेतु हैं – उपादान तथा निमित्त। ये दोनों हेतु युगपद मिलकर पदार्थ को उत्पन्न करते हैं या एक? जैसे चाक ने घड़े को उत्पन्न किया, डोरी ने घट अलग उत्पन्न किया.....। निमित्तकारण पदार्थ को पृथक्-पृथक् उत्पन्न नहीं करते हैं क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है। यदि समुदाय से पदार्थ की सत्ता माने तो भी संभव नहीं, क्योंकि जो कार्य प्रत्येक, नहीं कर सकता वह समुदाय से कैसे हो सकता है? जैसे रेत के प्रत्येक कण में तेल का अभाव होने से समग्र कणों में भी तेल का अभाव ही होता है। इस प्रकार पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है।

विशेषावश्यकभाष्य में इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है –

जात (उत्पन्न) और अजात के विषय में वस्तु की उत्पत्ति तीन विकल्पों से मानी गई है। एक ही वस्तु जात और अजात नहीं हो सकती। और जात-अजात आदि जो विचार हैं वे सत् पदार्थ के विषय में ही कर सकते हैं। असत् पदार्थों पर यदि विकल्प घटित करें तो आकाशकुसुम पर भी करने चाहिए।⁴ शून्यवादी का मत है कि घटादि वस्तुओं की किसी भी प्रकार से उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है – जो

1 विशेषावश्यकभाष्य, टीका, पृ. 724

2 “गतं न गम्यते तावद्, अगतं नैव गम्यते।

गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं न गम्यते।।” माध्यमिक कारिका 2/1

3 “अणवत्या भावो भयदोसातो सुष्णता तम्हा।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1694

4 अध जातं पि ण जातं किं ण र्दपुप्फे वियारोऽयं। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1725

घट पहले मिट्टी के पिण्ड में उपलब्ध नहीं था, वह कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि सामग्री के संयोग से उत्पन्न होने के पश्चात् उपलब्ध कैसे हुआ? और लकड़ी आदि से प्रहार के बाद वह घड़ा दिखाई नहीं देता। जो वस्तु सर्वथा अजात हो वह वन्ध्यापुत्र के समान सर्वदा अनुपलब्ध रहती है।¹

“उत्पन्न होते हुए भी अनुत्पन्न” यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, ऐसी स्थिति में शून्यता ही असिद्ध हो जायेगी। एकान्तवाद का आश्रय लेने पर कुछ भी घटित नहीं होता क्योंकि “विकल्पत्रय में से किसी भी विकल्प से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती” यह एकान्तवाद है, किन्तु अनेकान्तवाद से (अपेक्षा विशेष से) सब घटित होता है। जैसे –

1. उत्पन्न ही उत्पन्न होता है, जैसे घट, घट का पूर्वरूप जो मिट्टी था वह रूपादि गुण से उत्पन्न था, अतः घट उत्पन्न है।
2. अनुत्पन्न उत्पन्न होता है, जैसे घट का आकार। मिट्टी के पिण्ड में घट का आकार अनुत्पन्न था तदनन्तर घटाकार रूप में उत्पन्न हुआ।
3. उत्पन्न अनुत्पन्न, रूप तथा आकार दोनों की अपेक्षा से घट की उत्पत्ति, जाताजात दोनों की उत्पत्ति कहलाती है।
4. उत्पन्न-उत्पन्न – जैसे घट की भूत-भविष्यत् काल में क्रिया नहीं होती, क्योंकि भूतकाल नष्ट हो चुका और भविष्यत्काल अभी अनुत्पन्न है, अतः वर्तमान समय में ही उत्पन्न होता हुआ घड़ा उत्पन्न हो रहा है।
5. कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति इन विकल्पों से भी नहीं होती, जैसे – घट घटरूप से उत्पन्न और पट-रूप से अनुत्पन्न है। उत्पद्यमान घट भी पटरूपेण उत्पन्न नहीं होता। परपर्याय की अपेक्षा से उत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति सर्वथा घटित नहीं होती। तथा वही घट पुनः उसी रूप में उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार आकाशादि भी कभी उत्पन्न नहीं होते क्योंकि वे सदैव अवस्थित हैं।²

दूसरी बात है कि – पदार्थ सामग्रीमय है, और पदार्थों के अभाव से सामग्री का भी अभाव है, अतः यह जगत् शून्य है। यह मन्तव्य सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। क्योंकि वचन

1 जति सब्धा ण जातं किं जम्माणन्तरं तदुवलम्भो। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1726

2 “रुचिंति जति जातो, कुंभो संवणत्तो पुणरजातो।

जाताजातो दोहि धि, तस्समयं जायमाणो ति।।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1729

को उत्पन्न करने वाले गला, होठ, तालु आदि सामग्री सर्व-प्रत्यक्ष है, अतः सामग्री का अभाव कहाँ है? यदि यह कहें कि काम, स्वप्न, भय, उन्माद और अविद्या के कारण मानव अविद्यमान वस्तु को भी जानता है, किन्तु वास्तविकता में पदार्थ होते नहीं हैं, वैसे ही वचन सामग्री दिखाई दे सकती है। यदि अविद्यमान सामग्री दिखाई देती है तो कूर्म केश क्यों दिखाई नहीं देते हैं। क्योंकि दोनों स्थान पर अविद्यमानता समान है, दोनों समान रूप से शून्य है। अतः मानना चाहिए कि सामग्री का अभाव नहीं किन्तु सद्भाव है।¹ पुनः प्रश्न उठता है कि – वचनोत्पादक सामग्री रूप वक्ता और उसके वचन सत् है या असत् है? यदि सत् है तो शून्यता का अभाव होगा। और यदि असत् है तो 'यह जगत् शून्य है' किसने कहा? और किसने सुना? सर्वशून्य मानने पर न वक्ता रहेगा और न श्रोता रहेगा।²

यदि यह माने कि 'वक्ता, वचन और वचनीय पदार्थ का अभाव होने से शून्य है' तब प्रश्न होता है कि – ऐसा प्रतिपादन करने वाले वचन सत्य है या असत्य? यदि वचन को सत्य मानते हैं तो वचन के समान सब वस्तुओं का सद्भाव होगा, और यदि मिथ्या मानते हैं तो वह अप्रामाणिक होने से शून्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

यदि सर्वशून्य है तो लोक व्यवस्था बिगड़ जायेगी। क्योंकि सामग्री का अभाव होने पर भाव-अभाव दोनों को समान मानना पड़ेगा। रज के कणों में से तैल क्यों नहीं निकलता? तिलों में तेल ही क्यों? फूलों से इत्र क्यों? आकाश-कुसुम से क्यों नहीं? इससे स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है।³

यह भी एकान्त नियम नहीं है कि सभी पदार्थ सामग्रीजन्य है, क्योंकि द्वणुक, त्रणुकादि तो सामग्रीजन्य हैं, किन्तु अणु अप्रदेशी है, अतः यह सामग्रीजन्य नहीं है। अतः एव सर्वपदार्थ सामग्रीजन्य ही है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। अतः सर्वशून्य नहीं है।

- 1 "दीसइ सामग्गीमयं, सव्वमिहतिय ण य सा णणु विरुद्धं।
घेप्पइ व ण पच्चक्खं, कि कच्छपरोम सामग्गी।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1732
- 2 "सामग्गीओवसा, वयणं चत्थि जइ तो कओ सुण्णं।
अह णत्थि केण भणिअं, वयणाभावे सुयं केण।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1733
- 3 "सिंकतासु किं ण तेल्लं, सामग्गी तो तिलेसु व किमत्थि।
किं व ण सव्वं सिज्झइ, सामग्गीतो खणुफाणं।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1736

अदृश्य होने के कारण सब शून्य है

वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि अदृश्य वस्तु अविद्यमान है किन्तु जो दृश्य है उसका भी पिछला भाग (पृष्ठभाग) अदृश्य (दिखाई नहीं देने से) होने से दृष्टिगोचर नहीं होता और जो सबसे निकट का भाग है, वह सूक्ष्म होने से दिखता नहीं है। इसलिए उसे भी सर्वथा अदृश्य मानना ही श्रेष्ठ है, और जब अदृश्य है तो खरविषाण वत् शून्य ही मानना ठीक है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि – स्तम्भादि बाह्य पदार्थ तो दिखते हैं तो उनको अदृश्य कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान है कि – स्तम्भादि पदार्थ पूर्ण रूप से नहीं दिखाई देते हैं, उसके तीन अवयव माने कि – पृष्ठभाग, मध्यभाग और सामने दिखाई देने वाला भाग। उनमें से पृष्ठभाग नहीं दिखता, जिससे वह अदृश्य है, अव्यक्त है – अव्यक्त माद्यं किलवस्तुनोऽस्ति।¹ सामने वाला भाग जो दिखाई देता है, वह भी सावयव है। उसके अन्तिम अवयव तक जाने पर परमाणु शेष रहेगा। और परमाणु सूक्ष्म होने से अदृश्य है, और जब आदि-अन्त की यह स्थिति है तो मध्य उनके आश्रित कैसे रह सकेगा? उसका अस्तित्व स्वतः ही असिद्ध है। अतःएव यह मानना युक्तिसंगत है कि सर्वजगत् शून्य है।²

व्यक्त जी की इस शंका का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार किया—

यह अदृश्य-दृश्य की जो शंका है वह पूर्वापर विरोध से युक्त है, क्योंकि कथन है कि वस्तु का पृष्ठभाग अदृश्य है, अतः दिखाई नहीं देता और अग्रभाग दिखाई देता है, वह भी अन्य भागों के कारण अतिसूक्ष्म है, अतः दिखाई नहीं देता है” यह अयुक्त है। यह कथन तो “अहं वंध्यापुत्रोऽस्मि” के समान है।

यदि कहें कि वस्तु का अगला भाग भी भ्रान्ति से दिखाई देता है तो खरविषाण का अगला भाग क्यों नहीं मालूम होता है? क्योंकि दोनों शून्य है। स्तम्भादि के अग्रभाग

¹ महावीर देशना, श्लोक 5, पृ. 152

² “परभागादरिणत्तो, सव्वाराभागसुहुभतात्तो य।

उभयाणुवलंभाती, सव्वाणुवलद्वित्तो सुण्णं।।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1696

की जगह खरविषाण का ही अग्रभाग दिखाई दे तथा स्तम्भादि का अग्रभाग दिखाई न दे, ऐसा विपर्यय क्यों नहीं होता।¹

दृश्य—अदृश्य के बारे में अनुमान करते हैं कि पिछला भाग नहीं है अतः अगला भाग भी नहीं है। यह अनुमान विचित्र है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अबाधित प्रत्यय है, वैसे ही अग्रभाग भी अबाधित है। यह अनुमान हो सकता है कि दृश्य वस्तु का पिछला भाग है, क्योंकि उसका सम्बन्ध वाला अगला भाग ज्ञात है। जिसके सम्बन्ध वाला एक भाग मालुम होता है उसका दूसरा भाग अवश्यमेव होता है। जैसे घड़े आदि का।

यदि अग्रभाग को माने और परभाग को न माने तो संभव नहीं होगा। और प्रमुख बात यह है कि जब सब शून्य है तो अग्रभाग मध्यभाग तथा परभाग जैसे भेद हो ही नहीं सकते। यदि यह माने कि यह सब भेद दूसरे वादियों की अपेक्षा से है, तो यह कथन अयुक्त है क्योंकि जहाँ सर्वाभाव है वहाँ स्वमत तथा परमत के भेद नहीं हो सकते हैं।²

यदि यह माने कि परभाग दिखाई नहीं देने से वस्तु शून्य है, तो यह अयुक्त है क्योंकि स्फटिक या अम्रक आदि में पिछला भाग भी दिखाई देता है। और यदि यह मानें कि कुछ भी दिखाई नहीं देता, अतः सर्वशून्य है। तो कथन में विरोध होता है, क्योंकि पूर्व में 'परभाग का अदर्शन है' ऐसा माना और अब 'किसी का दर्शन नहीं है'। जबकि घड़े—कुर्सी आदि बाह्य वस्तु सबको प्रत्यक्ष है। अतः यह कथन कि 'कुछ भी दिखाई नहीं देता' प्रत्यक्ष विरोधी है।

यदि यह मानें कि — अनित्य पदार्थ जिस प्रकार प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते उसी प्रकार 'परभाग का दिखाई नहीं देना' यह हेतु 'चाहे स्फटिकादि शून्य पदार्थों में न हो, किन्तु पक्ष के अधिकांश भाग में है ही, अतः वह नहीं है। इस कथन में व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता, जैसे — 'जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न भी नहीं होता, जैसे आकाश। यह व्यतिरेक सिद्ध है। किन्तु यह व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता कि — 'जहाँ शून्यता नहीं, वहाँ परभाग का अदर्शन नहीं'। ऐसा व्यतिरेक किसी विद्यमान वस्तु में ही सिद्ध हो सकता है, जबकि सर्वाभाव में वस्तु की विद्यमानता असिद्ध है।³

1 "देसस्साराभागो घेपति ण य सो त्थि णणु विरुद्धमित्तं।

सव्वाभावे वि ण सो घेप्पति, किं खरविषाणस्स।।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1739

2 "सव्वाभावे वि कत्तो आरा-पर-मज्झभागणाणत्तं।" विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1741

3 गणधरवाद, (दल सुखभाई मालवणिया) पृ. 86-87

यदि यह मानें कि परभाग और मध्यभाग नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्ष है, तो अग्रभाग कहाँ से होगा। यहाँ अप्रत्यक्ष हेतु होने से ही इन्द्रियों की और पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती है। क्योंकि अक्ष (इन्द्रिय) के आश्रित होकर पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जो प्रत्यक्ष न हो वह अप्रत्यक्ष। इन्द्रिय तथा पदार्थ के अभाव में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का भेद नहीं हो सकता।¹

जैसे हमें किसी बात पर संशय है वह दूसरों के लिए अप्रत्यक्ष है, पर संशय विद्यमान है, उसी प्रकार परभाग और मध्यभाग अप्रत्यक्ष होने पर भी है। जैसे – ग्राम, नगर आदि दूसरे लोगों को प्रत्यक्ष है वैसे ही पाँच भूतों का अस्तित्व है। सर्वशून्य नहीं है।

पाँच भूतों के अस्तित्व के लिए अनुमान –

पदार्थ की सिद्धि के लिए तीन प्रमाण हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष से तो भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि भूतों के अस्तित्व के विषय में किसी को भी संदेह उत्पन्न नहीं होता।

अनुमान से भी भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है – संसार में सभी पदार्थ विद्यमान हैं, क्योंकि उनके विषय में संदेह होता है। जिनके विषय में संदेह होता है, वे स्थाणु-पुरुष की तरह विद्यमान होते हैं। अतः संशय होने से पदार्थों का अस्तित्व मानना चाहिए।

पृथ्वी, जल और अग्नि तो प्रत्यक्ष दिखते हैं, अतः इनके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं है।

वायु का अस्तित्व – स्पर्शादि गुण है, उनका गुणी अदृश्य होने पर विद्यमान होना चाहिए – जैसे – रूप गुण का गुणी घट है, वैसे ही स्पर्श, शब्द, कम्पन आदि का जो गुणी है, वह वायु है।²

आकाश का अस्तित्व – जैसे पानी का आधार घड़ा है, क्योंकि मूर्त तत्त्वों के लिए आधार की आवश्यकता होती है, वैसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सबका कोई आधार होना चाहिए।³

1 “णत्थि परमज्झभागा, अपच्चकखत्तो मती होज्जा।

णणु अक्खत्थावत्ती, अपच्चकखत्तं हाणी वा।।” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1746

2 “रुवस्स घडो व्व, गुणी जो तेसि सोऽणिलो नामं।” विशेषावश्यकभाष्य, 1749

3 जं भूत्ताण भाणं तं वोमत्तं! सुव्वत्तं। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1750

इस प्रकार अनुमान से भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे प्रत्येक प्राणी में चैतन्य प्रत्यक्ष है, वैसे ही पंचभूतों में भी चैतन्य है।

पृथ्वी सचेतन है – पृथ्वी चेतन है, क्योंकि उसमें स्त्री के समानजन्म – जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार, रोग, चिकित्सा इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

जल – जल में चैतन्य है। जमीन खोदने से जमीन से सजातीय-स्वरूप स्वाभाविक रूप से पानी निकलने के कारण वह मेंढक के समान सजीव है। कोई भी पानी हो, वह चेतन से युक्त है।

अग्नि की सजीवता – जैसे मनुष्य भोजन करने से वृद्धिगत होता है और नहीं करने से दुर्बल होता है। वैसे ही अग्नि में भी लकड़ी आदि आहार से वृद्धि एवं विकार दिखाई देते हैं। अतः वह मनुष्य के समान सजीव है।

वायु की सजीवता – जैसे गाय बिना किसी प्रेरणा से ही अनियमित रूप से तिरछा गमन करती है वैसे ही वायु भी गति करती है, अतः वह सजीव है।

वनस्पति में चैतन्य – वनस्पति में अनन्त जीव है इसे सिद्ध करने के लिए कई हेतु हैं –

1. लाजवन्ती वनस्पति क्षुद्र जीव के समान केवल स्पर्श से संकुचित हो जाती है।
2. लताएँ अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए मनुष्य के समान वृक्ष की ओर बढ़ती हैं।
3. शमी आदि वनस्पति में निद्रा, प्रबोध, संकोच आदि के लक्षण पाये जाते हैं।
4. कई वृक्ष शब्दादि पांच विषयों का उपभोग कर विकास को प्राप्त होते हैं, जैसे – बकुल शब्द का, अशोकवृक्ष रूप का, कुरुबक गन्ध का, विरहक रस का, चम्पक वृक्ष स्पर्श का।
5. जैसे मनुष्य आदि जीवों में एक बार अर्श को काटने के बाद फिर उसमें माँस के अंकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे वृक्ष समूह, लवण आदि में भी जब तक वे मूल स्थान में होते हैं, तब तक एक बार काट लेने के बाद भी पुनः स्वजातिय अंकुरों का प्रादुर्भाव होता है।

वनस्पति में जीव है, यह आचारांग सूत्र तथा अन्य कई आगमों में सिद्ध किया है और आज वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।¹

इस प्रकार पृथ्वी आदि पाँच भूतों के कारण संसार सर्वशून्य नहीं हो सकता, संसार से अनेक जीव मोक्ष में जाते हैं, फिर भी संसार जीवों से रहित नहीं होगा। क्योंकि पंच भूतों में अनन्त जीव हैं।

वेदवाक्यों का समन्वय

वेदों में 'स्वनोपमवै सकलमिथ्येष ब्रह्म विधिरंजसाविज्ञेयः' पद में संसार को स्वप्न-सदृश्य कहा है, इसका अर्थ यह नहीं कि पदार्थों का सर्वथा अभाव है। किन्तु अन्य जीव इन पदार्थों में अनुरक्त होकर मूढ न हो जाएं, उनमें आसक्त न हो जाएं। इस उद्देश्य से उन्हें स्वप्नोपम अथवा असार बताया गया है। अतः वेद वचन का तात्पर्य सर्वशून्यता नहीं है। यह वाक्य अपेक्षा विशेष से है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, और वे धर्म अपेक्षाभेद से परिवर्तनस्वभाव वाले होते हुए भी अभिन्न रूप से वस्तु में विद्यमान रहते हैं। और पृथक्-पृथक् सहकारी कारणों के संनिधान से भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त होते रहते हैं, इसका कारण यह है कि द्रव्य में पाये जाने वाले ये अनन्त धर्म सामान्य-विशेषात्मक हैं अथवा गुण-पर्यायात्मक हैं। गुण रूप अंश तो ध्रौव्य-सत्ता रूप है जबकि पर्यायें प्रतिसमय उत्पत्ति-विनाशात्मक परिवर्तन करते हुए भी मूल स्वरूप का त्याग नहीं करती हैं। यह स्पष्ट है कि जगत् में सभी वस्तुओं की सत्ता है।

इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया कि पाँच भूतों का अस्तित्व है, सर्वशून्य नहीं है।

प्रस्तुत चर्चा से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि विशेषावश्यकभाष्य में इस संवाद के माध्यम से बाह्यार्थवाद का समर्थन तो किया ही गया है किन्तु इसके साथ-साथ परवर्ती काल में विकसित शून्यवाद की समीक्षा भी की गई। अतः यहाँ सर्वप्रथम हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि शून्यवाद क्या है? उसका विकास कैसे हुआ है? और जैन दार्शनिकों ने उसकी समीक्षा किस प्रकार की है?

1 (क) मिला प्रकाश खिला बसन्त (जयन्तसेन सूरि) पृ. 155-158

(ख) गणधरवाद (दलसुखभाई मालवणिया) पृ. 89-91

शून्यवादक्या है?

शून्यवाद के विकास के मूल में विज्ञानवाद रहा हुआ है। विज्ञानवाद बाह्यार्थों की सत्ता का निषेध करता है, वह मानता है कि मात्र चित्त संतति या चेतना प्रवाह ही है, जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, वह मात्र चित्त की कल्पना ही है, जिस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद बाह्यार्थ अर्थात् भौतिक तत्त्वों की सत्ता का निरसन कर देता है और चित्त को एक चेतना प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है किन्तु शून्यवाद न तो बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकारता है और न चित्त तत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्व को। उसके अनुसार कोई भी सत्ता निरपेक्ष सत्य नहीं है। सभी का मात्र सापेक्षिक या व्यावहारिक अस्तित्व है, किन्तु वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

इस शून्यवाद का विकास भी बौद्ध और जैन दर्शन के विभज्यवाद से हुआ है। यह एक विश्लेषणात्मक तर्क पद्धति है, जिसमें किसी भी प्रश्न का उत्तर सापेक्षिक रूप से दिया जाता है।

इसी विभज्यवाद के आधार पर द्वितीय शताब्दी के उद्भट विद्वान, दार्शनिक, नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन द्वारा समस्त दर्शन तथा वादों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और अपने दृष्टिकोण को "शून्यवाद" कहा है।

विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देना। दो विरोधी बातों को एक सामान्य से स्वीकार करना और पुनः उसी को विभाजित करके उन विभागों को संगत बताना, यह विभज्यवाद का मुख्य लक्ष्य है। विभज्यवाद का उल्लेख जैन आगमों में भी यत्र-तत्र मिलता है।

भगवान बुद्ध ने अपने प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद से दिये हैं। एक बार शुभ माणवक ने गौतमबुद्ध से पूछा – "भगवन्! मैंने ब्राह्मणों को यह कहते सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं। इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है?" तब उन्होंने कहा – "हे माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं। माणवक! गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह निर्वाण-मार्ग का आराधक नहीं हो सकता और त्यागी भी यदि

मिथ्यात्वी है तो वह भी निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं हो सकता। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं तो दोनों ही आराधक होते हैं।¹

इस प्रकार बुद्ध ने उक्त प्रश्न के उत्तर में न केवल "हाँ" ही कहा और न केवल "ना" ही। बल्कि एक तीसरा ही दृष्टिकोण अपनाकर स्वयं को विभज्यवादी बतलाया। यदि वे विधेयात्मक उत्तर देते तो भी एकांशवादी कहलाते और निषेधात्मक उत्तर देते तो भी एकांशवादी कहलाते। जैन आगमों में भी विभज्यवाद का उल्लेख मिलता है। भिक्षु को कैसी भाषा बोलना चाहिए, इसके उत्तर में भगवान महावीर ने कहा कि – "भिक्षु विभज्यवाद का प्रयोग करे।"²

भगवतीसूत्र में विभज्यवाद का लक्षण निम्न उद्धरण से प्राप्त होता है –

"हे भगवन्! जीव सवीर्य (वीर्य वाले) हैं या अवीर्य?"

"हे गौतम! जीव अपेक्षाविशेष से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी।"³

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में विभज्यवाद के संदर्भ उपलब्ध होते हैं। जहाँ यह विभज्यवाद जैन दर्शन के मूलस्वरूप को स्थिर रखते हुए विधिमूलक पद्धति के द्वारा विकसित होकर अनेकान्तवाद में पर्यवसित हुआ, वहीं बुद्ध का विभज्यवाद अव्याकृतवाद और निषेधमूलक पद्धति के माध्यम से गुजरता हुआ अन्त में शून्यवाद में पर्यवसित हो गया।

माध्यमिक दार्शनिक शून्य को परमार्थ मानते हैं, इसलिए इसे शून्यवाद कहा जाता है। शून्य का अर्थ गणित का शून्य नहीं है, यहाँ शून्य एक दार्शनिक सम्प्रत्यय है। शून्य शब्द के कई अर्थ समझे जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ अभावात्मक है, तो कुछ अन्यो के लिए इन्द्रियातीत और अव्याख्येय तत्त्व है, जो सब वस्तुओं की सापेक्षता को सूचित करता है। महायान विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक – शून्य को एक अन्त मानते हैं। माध्यमिक दार्शनिक शून्य के भिन्न-भिन्न अर्थ बताते हैं। माध्यमिकों में दो सम्प्रदाय हैं, प्रासंगिक और स्वातंत्रिक। प्रासंगिक सम्प्रदाय के आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव हैं। वे मानते हैं कि – शून्यवाद कोई दृष्टि नहीं है, वह सभी दृष्टियों का

¹ मज्झिम निकाय भाग 2, 49/1 (सुभसुत्तं), उद्धृत "स्याद्वाद और सप्तभंगीनय" डा. भिखारीराम, पृ. 25

² "भिक्षु! विभज्यवायं च वियागरेज्जा", सूत्रकृतांग सूत्र, 1/1/14-22

³ भगवती सूत्र, भाग 1, 1/8/275

खण्डन है, उनके लिए शून्यता एक खण्डनात्मक तर्कशास्त्र है। परन्तु स्वातंत्रिक सम्प्रदाय के आचार्य 'भावविवेक' का मानना है कि — शून्य का अर्थ निरपेक्ष सत्ता का अभाव या असत् होना है और महायान दार्शनिक शान्तिरक्षित और कमलशील के अनुसार शून्य विज्ञान या विज्ञप्तिमात्र से अभिन्न है।¹

अब प्रश्न उठता है कि "शून्य" शब्द का माध्यमिक मत में क्या अर्थ है? माध्यमिक मत में शून्य का अर्थ शून्यता (Nihilism) नहीं है। इसके विपरीत शून्य का अर्थ वर्णनातीत (Indescribable) है। नागार्जुन के अनुसार परमतत्त्व अवर्णनीय है। मानव को वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति होती है, परन्तु जब वह उनके तात्त्विक स्वरूप को जानने के लिए तत्पर होता है तो उसकी बुद्धि काम नहीं करती। वह यह निश्चय नहीं कर पाती कि वस्तुओं का यथार्थसत्य है या असत्य? या सत्य तथा असत्य दोनों हैं या न तो सत्य है और न असत्य ही है।² तब वे यह मन्तव्य देते हैं कि —

1. पदार्थों का न तो निरोध होता है, न उत्पाद होता है और न उच्छेद ही होता है, न वे नित्य हैं, न उनमें अनेकता है, न एकता है और न उनमें गमन होता है और न आगमन ही होता है।³ अतःएव सब धर्म माया होने से निस्स्वभाव हैं।
2. संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब अपने-अपने हेतु प्रत्यय सामग्री से उत्पन्न होती हैं, और अपनी योग्य सामग्री के अभाव में नहीं होती हैं। वस्तुओं का अपना कोई वैशिष्ट्य नहीं है, यही उनकी निःस्वभावता है, शून्यता है।⁴
3. पदार्थ स्वभाव से भावरूप नहीं है, इसलिए वे परभाव की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा सूर्य से अन्धकार की उत्पत्ति होनी चाहिए। पदार्थ स्वभाव-परभाव की अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते, तथा उभय रूप से भी उत्पन्न नहीं होते, न ही अनुभय रूप से उत्पन्न होते हैं।
4. शून्य न सत् है और न असत् है, वह इन दोनों कोटियों से परे है, शून्य को चार कोटियों से परे कहे जाने पर ही शून्य की सही व्याख्या हो सकती है — शून्य न

1 डा. डी.डी. बंदिष्टे, भारतीय दार्शनिक निबन्ध, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 343

2 डा. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 119

3 "अनिच्छन्मनुत्पाद, मनुच्छेदमशाश्वतं।
अनेकार्थमनानार्थजं नागनिर्गमम्॥" माध्यमिक वृत्ति

4 "ना सन्न सदसन्न, चाप्यानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिमुक्तम् तत्त्वं, माध्यमिका विदुः" स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 17, पृ. 178

सत् है, न असत् है, न उभय है और न अनुभय है। वह समस्त विचारों से अतीत है, उसको समझने के लिए उपनिषदों की नेति-नेति दृष्टि या व्यतिरेक दृष्टि का आश्रय लिया जा सकता है।

5. शून्यता समस्त दृष्टियों का खण्डन है, शून्य का कोई परवर्ती प्रत्यय नहीं है अर्थात् शून्य को किसी दूसरे प्रत्यय के द्वारा नहीं समझ सकते हैं। शून्य को शून्य के द्वारा ही समझा जाता है। शून्य समस्त प्रपंचों से परे है, वह निर्विकल्प है अर्थात् चित्त के जो विकल्प हैं उनसे दूर है। वह अनन्यार्थ है, अनेकार्थक नहीं है।¹

वस्तुतः बाह्य जगत् और चित्तजगत् दोनों ही सापेक्ष हैं, उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। शून्यवाद वस्तुतः सापेक्षतावाद का ही एक रूप है, सापेक्षवाद से यह फलित हो जाता है कि किसी की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वस्तु तत्त्व को हम किसी भी रूप में परिभाषित नहीं कर सकते हैं, उसे एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि किसी भी कोटि में बांधा नहीं जा सकता।

शून्यवाद को जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि – बौद्ध दार्शनिकों ने शून्यवाद के समर्थन में क्या-क्या तर्क दिये हैं?

शून्यवाद के समर्थन में दिये गये तर्क

शून्यवाद के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद के पक्ष में कई तर्क दिये हैं –

सत्य दो प्रकार के हैं – 1. संवृत्ति सत्य और 2. परमार्थ सत्य। संवृत्ति सत्य साधारण मनुष्यों के लिए है। यह वह सत्य है जो दिखाई पड़ता है किन्तु वास्तविक सत्य नहीं है। हम जो कुछ देखते हैं वह शून्य है, स्वप्न है, कुछ नहीं में कुछ का मिथ्याभास है। यह अविद्या है, मोह है। यह भी दो प्रकार का है

1. तथ्य संवृत्ति – यह वह वस्तु या घटना है, जो किसी कारण से उत्पन्न होती है, इसे सत्य मानकर सांसारिक लोग व्यवहार करते हैं। तथा

¹ भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 345

2. मिथ्या संवृत्ति – यह वह घटना है जो किसी कारण से उत्पन्न होती है परन्तु इसे सभी सत्य नहीं मानते।¹

पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति निर्वाण से होती है। निर्वाण का वर्णन भावरूप से नहीं कर सकते, इसका वर्णन अभाव रूप से ही हो सकता है। नागार्जुन ने निर्वाण का नकारात्मक वर्णन किया है। नागार्जुन का यह मत शांकर मत से बहुत साम्य रखता है। आचार्य शंकर ने भी माया के संदर्भ में इस प्रकार कहा है –

“माया न सत् है, न असत् है, न उभयात्मक है। न वह भिन्न है और न अभिन्न है और न उभयात्मक है। न सरंग है, न निरंग है और न सांग—निरांगात्मक ही है। वह अत्यन्त अद्भूत है। उसका स्वरूप अर्निवचनीय है। जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान होने के पश्चात् अन्य प्रमाणों से रज्जु का ही होना निश्चित हो जाने पर ‘रज्जु में सर्प का ज्ञान’ बाधित हो जाता है। इसलिए अज्ञान ‘सत्’ भी नहीं है। खरहे के सींग की तरह यह ‘असत्’ भी नहीं है। इसकी प्रतीति होती है।”²

माध्यमिक शून्यवाद का दर्शन शंकर के अद्वैत वेदान्त से मिलता है। जैसे नागार्जुन ने दो प्रकार के सत्य को माना है, वैसे ही वेदान्त दर्शन ने व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य को माना है। नागार्जुन ने पारमार्थिक, दृष्टिकोण से ही सभी विषयों व सभी वस्तुओं को असद् कहा है, शंकर ने भी ईश्वर व जगत् को पारमार्थिक दृष्टिकोण से असद् माना है। इस प्रकार नागार्जुन का ‘शून्य’ और शंकर का ‘निर्गुण ब्रह्म’ एक दूसरे से बहुत मिलते हैं। इन समानताओं के कारण कुछ विद्वानों ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कह डाला। पर फिर भी अन्तर है।

शून्यवादी किस प्रकार वस्तुओं के बारे में कथन करते हैं, वह दृष्टव्य है – जैसे कि – विश्व के विभिन्न विषयों को हम सत्य नहीं कह सकते हैं क्योंकि सत्य का अर्थ निरपेक्ष होता है। जितनी वस्तुओं को हम जानते हैं वे किसी न किसी तथ्य पर निर्भर होती हैं, न हम विभिन्न वस्तुओं को असत्य कह सकते हैं, क्योंकि वे दिखाई देती हैं न ही विश्व के विषयों को उभय रूप से कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहना व्याघातक होगा। विश्व के विषयों के सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते हैं कि वे न तो सत्य है और न

1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 119

2 मुनि राकेशकुमार, भारतीय दर्शन के प्रमुखवाद, पृ. 69

असत्य हैं, क्योंकि ऐसा कहना पूर्णतः आत्मविरोधी होगा, इस तरह वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोटियों से रहित होने के कारण 'शून्य' कहा जाता है।¹

यही मत विशेषावश्यकभाष्य में व्यक्त जी ने रखा — जात की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वह घट के समान जात है (अनवस्था प्रसंग आ सकता है), अजात की उत्पत्ति भी संभव नहीं है (यदि अजात की उत्पत्ति मानी जाए तो खर—विषाण की उत्पत्ति माननी चाहिए), जात—अजात की उत्पत्ति भी शक्य नहीं है। इस प्रकार वस्तु की उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं कही जा सकती।²

नागार्जुन अपने चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करके सब विषयों का अनस्तित्व सिद्ध करते हैं। पंचस्कन्ध द्रव्यगुण और आत्मा को असद् सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार — 'अतीत और अनागत सम्बन्धी चित्त नहीं है, 'मैं' भी नहीं है। यदि चित्त उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तो 'मैं' भी साथ में उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, किन्तु जब चित्त ही नहीं है तो 'मैं' भी नहीं है।³ इसको उदाहरण देकर समझाया है — "कदलीस्तम्भ को काटने पर कोई सार नहीं निकलता, उसी प्रकार सभी जगह खोजते हुए भी कहीं भी 'मैं' नहीं मिलता।"⁴

वस्तुओं को भी शून्य इसी प्रकार बताया है —

'सभी भौतिक और मानसिक पदार्थ माया से कल्पित हैं, मृग—मरिचिका के समान है अथवा शशशृंग के समान है। वासना का ही किया हुआ यह लोक है, और सभी पदार्थ अलातचक्र के समान है, सब अद्वय, वितथ और शून्य है। संसार में सब स्वप्नोपम है।⁵ इस प्रकार माध्यमिक दार्शनिक बाह्य—वस्तुओं की सत्ता नहीं मानते। फलस्वरूप इस सिद्धान्त को 'धर्मनैरात्म्य' अथवा 'धर्म—शून्यता' कहा जाता है। वे आन्तरिक जगत् में भी

1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा, वही, पृ. 118

2 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1694

3 "अतीतानागतं चित्तं, ताह तद्धि न विद्यते।

अयोत्पन्नमह चित्तं, नष्टेरिम्न न्नास्त्यहं पुनः॥" बोधिचर्यावतार, नवम परिच्छेद, गाथा 74, पृ. 440

4 वही, गाथा 75

"यथा कदलीस्तम्भः, न कश्चित् भागशः कृतः।

तथाहऽमप्य सदभूतः, मृग्यमाणो विचारतः॥"

5 लंकावतार सूत्र, उद्धृत — बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 68।

"तथता शून्यता कोटी, निर्वाणं धर्म धातुकम्।

अनुत्पादश्च धर्माणां, स्वभावः पारमार्थिक।

अथ वैचित्र्य संस्थानं, विकल्पो यदि जायते —

आकाशे शशशृंगे च, अर्थाभासं भविष्यति॥"

किसी स्थिर पुद्गल की सत्ता को नहीं मानते, अतः वे 'पुद्गलनैरात्म्यवादी' या 'पुद्गलशून्यतावादी' भी कहलाते हैं। इस सिद्धान्त के पक्ष में उनका कथन है कि — यह 'पुद्गलनैरात्म्य' या 'पुद्गलशून्यता' मनुष्यों के त्रास का कारण नहीं बल्कि भय का शमन करने वाली है। दुःख को उत्पन्न करने वाली वस्तु से त्रास होता है, तो शून्यता दुःख को उत्पन्न नहीं करती है।¹

यही बात भगवान महावीर व्यक्त जी को कहते हैं कि — जगत् के पदार्थों को जो स्वप्न के समान अथवा इन्द्रजालिक की माया कहा है, उसका अर्थ यह है कि भव्य जीव उन पदार्थों में आसक्त होकर मूढ—मोहग्रस्त न हो जाये। अनुरक्त होकर विवेक को न छोड़ दे।²

बौद्ध दर्शन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' भी शून्य में अन्तर्भावित हो जाता है। पर प्रतीत्यसमुत्पाद की तरह शून्यवाद 'सापेक्ष' नहीं है। क्योंकि शून्यवाद में निःस्वभाव भावों की कोई सत्ता नहीं है। कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती है तो वे एक—दूसरे पर आश्रित कैसे होगी? कुछ लोग शून्यवाद को सापेक्षवाद मानते हैं, उनके तर्क है कि (1) लोक संवृत्ति सत्य और परमार्थ—सत्य एक दूसरे से सापेक्ष हैं। जैसे कि व्यक्त जी को शंका थी कि — संसार में जो कुछ भी है, वह सब कार्य अथवा कारण के अन्तर्गत है, एवं कार्य व कारण की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है।³ (2) जब किसी भाव का खण्डन करना हो तो वे अन्योन्याश्रय के आधार पर उसको असत्य सिद्ध करते हैं। पर शून्यवाद सापेक्षवाद नहीं है क्योंकि नागार्जुन संसार और निर्वाण में भेद नहीं मानते, अतः उन्हें वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है।⁴ नागार्जुन ने 'दुःख' को 'निर्वाण' तथा बन्धन और मोक्ष को मिथ्या तथा असम्भाव्य बताया, तथा कर्मफल की धारणा को विरोधग्रस्त बताया। इस प्रकार यह शून्यवाद अभाव की ओर उन्मुख दिखाई देता है। इस कथन पर यह प्रश्न उठता है कि — जब सब कुछ शून्य है तो क्रिया—प्रतिक्रिया कुछ नहीं होगी। जब धर्म ही निःस्वभाव हो गया, प्रत्यक्ष जगत्—स्वप्न के समान हो गया तथा निर्वाण और बुद्धत्व माया के समान हैं तो लोकव्यवहार के प्रयोजन से कोई लाभ नहीं। इस प्रश्न का समाधान वे इस प्रकार करते

1 "यदुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम्।

शून्यतां दुःखशमनी ततः किं जायते भयम्॥" बोधिचर्यावतार, नवम परिच्छेद, गाथा 56

² गणधरवाद, महावीर देशना, श्लोक 153

³ "अपेक्षातः कार्यकारणादि भावस्यापेक्षिव्यत्वादि—व्यर्थाः" विशेषावश्यकभाष्य, टीका, पृ. 722

⁴ डा. डी.डी. बंदिष्टे, भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 348

हैं कि 'शून्यता' से ही प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति होती है, जब साधक को यह ज्ञान होता है कि — समस्त पदार्थ माया, स्वप्न, तथा मिथ्या है — भावों की उत्पत्ति न स्वयं होती है, न दूसरों से तथा न उभयतः होती है। जो स्वरूप दिखाई देता है वह सांवृत्त है। व्यवहारदशा में ही प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थ उत्पन्न होते हैं, परमार्थदशा में तो वे भी शून्य हैं, इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही मुक्ति होती है।

शून्यता का प्रयोजन क्या है? इस पर शून्यवादी का कथन है — संकल्पों का नाश करना। जगत् के सभी पदार्थ निरबलम्ब, निःसंग एवं निःस्वभाव हैं। ऐसी अनुभूति प्राप्त करना, शून्यत्व का बोध है। वस्तु की उपलब्धि मानने पर, सत्ता स्वीकार करने पर प्रपंच उत्पन्न होता है। प्रपंच अर्थात् ज्ञान—ज्ञेय, वाच्य—वाचक, नर—नारी, लाभ—हानि, सुख—दुःख आदि पर विचार करना है। प्रपंच से संकल्प उत्पन्न होते हैं, और संकल्प से कर्म—क्लेशों का उदभव होता है। संकल्प एवं कर्मक्लेशों का निरोध शून्यत्व से होता है। जब हम सभी धर्मों को शून्य समझते हैं तभी उसके आने—जाने पर सदा अनासक्त रहते हैं, क्योंकि अनासक्त भाव से यह ध्यान में रहता है कि संकल्प—विकल्प से लाभ—हानि कुछ नहीं है।¹ जो शून्यवादी है वह सांसारिक वस्तुओं में आसक्त नहीं होता। लाभ से प्रसन्नता नहीं होती, अलाभ से उद्वेग नहीं होता। जैसे गीता में बताया है "हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः"² यश और अपयश से मुक्त होते हैं। निन्दा से दुःखी नहीं होते, तथा प्रशंसा से सुखी नहीं होते। जैसे कि गीता में कहा गया है — "तुल्यनिन्दा स्तुतिः तथा मानापमानयोः"³ सुख में राग नहीं करते और दुःख में द्वेष नहीं दिखाते। जैसे कि — "शीतोष्ण सुख—दुःखेषु समः"⁴ इस प्रकार जो वस्तुओं में आसक्त नहीं होता वही जानता है कि शून्य क्या है?

इस तरह शून्यवाद का प्रयोजन मनुष्य को "मैं" और "मेरा" से मुक्ति दिलाकर उसे राग—द्वेष से हटाना तथा बोधि के मार्ग पर लगाना है।

नागार्जुन संसार को अयथार्थ अथवा शून्य मानता है। यथार्थ से तात्पर्य ऐसी सत्ता से है, जिसका अपना विशिष्ट स्वभाव हो, जिसकी उत्पत्ति किन्हीं कारणों से न हो, और

1 भरतसिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 699

2 हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः, गीता, अध्याय 12, श्लोक 15

3 तुल्यनिन्दा स्तुतिः, तथा मानापमानयोः, गीता, 14-25/12-19

4 "शीतोष्ण सुख—दुःखेषु समः" गीता, अध्याय 12, श्लोक 18

जो किसी अन्य वस्तु के ऊपर निर्भर न करती हो। जो सापेक्ष है अथवा निर्भर है, वह अयथार्थ और शून्य है।

आनुभविक जगत् नाना प्रकार के सम्बन्धों से जकड़ा हुआ है, जैसे ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ और उसके गुण, कर्ता और कर्म, अस्तित्व और अभाव, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—एकत्व और बहुत्व, पूर्ण और उसका भाग बन्धन और मुक्ति तथा काल और देश के सम्बन्ध, नागार्जुन इन सब सम्बन्धों में से एक—एक की परीक्षा करता है और उनके परस्पर विरोधों को खोलकर रख देता है। यदि अविरोध ही यथार्थता की कसौटी है, तब आनुभविक जगत् यथार्थ नहीं है। संसार न तो विशुद्ध रूप में सत् है और न विशुद्ध रूप में असत् है। विशुद्ध सत् जीवन नहीं है, अथवा संसार की प्रक्रिया का अंग नहीं है। विशुद्ध असत् भी ठीक विचार नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर परम—शून्यता भी वस्तु समझी जा सकती, जिसकी परिभाषा होती है — “सब प्रकार के जीवन का अभाव” यह एक सत्तात्मक वस्तु बन जाती है। अभाव कोई वस्तु नहीं है। संसार की वस्तुएँ हैं नहीं, किन्तु वे सदा बन जाती हैं। वे न तो स्वतः अस्तित्व वाली हैं और न अभावात्मक। इसी अपेक्षा से डा. राधाकृष्णन शून्यता को “भावात्मक सिद्धान्त” कहते हैं।¹

शून्यता को माध्यमिक तथा अन्य दार्शनिक खण्डन प्रणाली के रूप में भी उपयोग लेते हैं। यह प्रणाली प्रसंग (Reductio-ad-absurdum) की विधि कही जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रत्यय एक विरोध से त्रस्त है और इस कारण वह सत्य नहीं है, यह द्वन्द्व न्याय है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय के अनुसार ‘शून्यवाद वितर्क है, यह वादों और दृष्टियों का खण्डन है, शून्यवाद के लिए दो दृष्टियों का होना आवश्यक है, जिसका यह खण्डन करे। यह मूलतः अद्वयवाद है जो गौतम—बुद्ध के विभज्यवाद का तार्किक निष्कर्ष है।

नागार्जुन किसी भी वस्तु की आलोचना करने के लिए चार दृष्टियों का आश्रय लेते हैं — सदृष्टि, असदृष्टि, उभयदृष्टि, अनुभयदृष्टि। पहले वे किसी विषय के बारे में चार दृष्टियों के आधार पर चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं, फिर वे प्रत्येक विकल्प का खण्डन करते हैं। अन्त में इस खण्डन के द्वारा वे सिद्ध करते हैं कि यथार्थतः जो वस्तु है

1 डा. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 644

वह निर्विकल्प है। प्रत्येक विकल्प के निराकरण से ही विकल्प की शून्यता समझ में आ जाती है।¹

शून्य को अस्तिमात्र समझने पर शाश्वतवाद हो जायेगा और नास्ति समझने से उच्छेदवाद। इसलिए शून्यवादी न अस्तित्व का सहारा लेते हैं और न नास्तित्ववाद का। अस्ति और नास्ति दोनों अन्त है, शून्य दोनों का मध्य बिन्दु है। जैसे कि बताया है —

1. शरीर ही आत्मा है, यह एक अन्त और शरीर से भिन्न आत्मा है, यह दूसरा अन्त है।
2. रूप 'नित्य है' यह एक अन्त है 'अनित्य है', यह दूसरा अन्त है। भूतों को नित्य मानने वाले तीर्थिक है, और अनित्य मानने वाले अतीर्थिक।
3. 'आत्मा है' यह एक अन्त और 'नैरात्म्य है' यह दूसरा अन्त है।
4. धर्म—चित्त—भूत सत् है यह एक अन्त और अभूत है यह दूसरा अन्त है।
5. अकुशल धर्म को संक्लेश कहना, यह पक्षान्त है और कुशल धर्मों का व्यवदान कहना, यह प्रतिपक्षान्त है।
6. पुद्गल—आत्मा और धर्म को अस्ति कहना, यह शाश्वतान्त है, और उन्हें नास्ति कहना, यह उच्छेदान्त है।
7. अविद्यादि ग्राह्य—ग्राहक है, यह एक अन्त है और उसका प्रतिपक्ष विद्यादि ग्राह्य—ग्राहक है, यह दूसरा अन्त है।

माध्यमिक ग्रन्थों में अन्त युगलों की चर्चा करके उन सभी को अस्वीकार करके मध्यमप्रतिपत् के निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार किया है।²

'प्रज्ञापारमिता शास्त्र' में शून्यवाद के बीस प्रकार बताये गये हैं —

1.	अध्यात्मशून्यता	2.	बहिर्धातुशून्यता
3.	अध्यात्मबहिर्धातुशून्यता	4.	शून्यता—शून्यता

1 डा. डी.डी. बंदिष्टे, भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 345

2 आ. आनन्दरूपिजी अभिनन्दन ग्रन्थ, (लेख, स्यादवाद एक अनुशीलन - दलसुखभाई मालवणिया), पृ. 267

5.	महाशून्यता	6.	परमार्थ शून्यता
7.	संस्कृति शून्यता	8.	असंस्कृति शून्यता
9.	अत्यन्त शून्यता	10.	अनवराग्र शून्यता
11.	अनवकार शून्यता	12.	प्रकृति शून्यता
13.	सर्वधर्म शून्यता	14.	लक्षण शून्यता
15.	अनुपलम्भ शून्यता	16.	अभाव—स्वभाव शून्यता
17.	भाव शून्यता	18.	अभाव शून्यता
19.	स्वभाव शून्यता	20.	परभाव शून्यता

इनसे सिद्ध होता है कि — शून्यता प्रत्येक वस्तु का खण्डन है। लंकावतार सूत्र में भी 7 प्रकार की शून्यता बतायी है।

1. लक्षण शून्यता — प्रत्येक वस्तु का न तो कोई विशेष लक्षण है और न सामान्य लक्षण।
2. भाव—स्वभाव शून्यता — अर्थात् वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं है।
3. अप्रचरित शून्यता — अर्थात् कर्ता का कर्तृत्व शून्य है।
4. प्रचरित शून्यता — अर्थात् सभी वस्तु निरात्म है।
5. अभिलाप शून्यता — अर्थात् प्रत्येक वस्तु निर्विकल्प है।
6. परमार्थ सत्य की शून्यता — अर्थात् प्रमाण द्वारा शून्यता की जो अनुभूति होती है, वह भी शून्य है।
7. इतरेत्तर शून्यता — अर्थात् शून्यता सापेक्ष है, जैसे — सभाभवन में छोड़े शून्य है और घुड़शाल में श्रोतागण शून्य है।¹ इस प्रकार नागार्जुन ने शून्यता का जो अभिप्राय किया था, उसी का वर्णन इन प्रकारों में किया गया है।

1 भारतीय दार्शनिक निबन्ध, लेख (माध्यमिक दर्शन में शून्य की अवधारणा), डा. आनन्दप्रकाश पाण्डेय, पृ. 351

शून्यता के विपक्ष में दिये गये तर्क

शून्यवादी सब वस्तुओं को शून्य मानते हैं, उनके अनुसार समस्त जगत् शून्य है, प्रमाण—प्रमेय का विभाग शून्य है, तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शून्यता को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण है या नहीं या वह भी अन्य सभी के समान शून्य है? जिस प्रमाण से सर्वशून्यता सिद्ध की जाती है, यदि उस प्रमाण को शून्य अर्थात् असत् माना जाता है तो फिर शून्यता की सिद्धि कैसे होगी? यदि वह प्रमाण अशून्यता अर्थात् सत् है तो 'सर्व-शून्यम्' कैसे कहा जा सकता है?

यदि शून्यतासाधक प्रमाण भी शून्य हो तब तो शून्य तत्त्व की सिद्धि उपहासजनक होगी (क्योंकि प्रमाण के असत् होने पर प्रमेय की सिद्धि नहीं होती), यदि शून्यता—साधक प्रमाण विद्यमान है तो वह प्रमाण ही एक सत्य तथ्य हो जाता है और उसके साक्षात् होने पर समस्त पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

माध्यमिक दार्शनिक अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि — शून्यता प्रतीयमान अर्थों से विलक्षण किसी वस्तु में प्रतिभासित नहीं होती, अतः उसमें प्रमाण की खोज निष्फल है, यह ईश्वर की आज्ञा है। हरिभद्र सूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में इस कथन का निरसन यह कह कर किया कि — 'मात्र ईश्वर की आज्ञा से ही वस्तु का तात्त्विक या अतात्त्विक रूप सिद्ध नहीं होता, भले ही वस्तु समस्त धर्मों से रहित हो, फिर भी प्रमाण का अन्वेषण आवश्यक है।'¹

यदि सर्वशून्यता का अर्थ 'शून्यतासाधक प्रमाणों को छोड़कर अन्य समस्त वस्तुओं की शून्यता है' ऐसा माना जाय तो भी प्रश्न उठता है कि — 'जो प्रमाण की सहायता से शिक्षित है, वह व्यक्ति भी शून्यरूप हो जायेगा, और उस पर किया गया श्रम भी व्यर्थ जायेगा। अगर उस एक व्यक्ति को अशून्य मानते हैं तो सभी वस्तुएँ तथा सभी व्यक्ति भी अशून्य सिद्ध हो जायेंगे।

माध्यमिक दार्शनिकों का मतव्य यह हो कि — 'अनेक व्यक्तियों को अशून्य (सत्) न मानकर उस शिक्षित व्यक्ति को ही अशून्य माने जिसका अविद्या रूपी मल सौगत बुद्ध से प्राप्त तत्त्व से निर्मल हो चुका हो तो उसे सर्वधर्मों से रहित एकमात्र संविद रूप से

1. हरिभद्रसूरि, शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक, 6, पृ. 210, श्लोक 59

प्रमाण—अशून्य मान सकते हैं, और उससे भिन्न जो वादी—प्रतिवादी हैं उन्हें वे तो सिर्फ व्यवहार रूप में मानें।

उनका यह कथन मात्र श्रद्धा का विषय है। कोई भी विषय बिना प्रमाण के मात्र श्रद्धा के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रमाण सिद्धि प्रमेय के बिना नहीं हो सकती और शून्यवादी प्रमाण को नहीं मानते हैं तब प्रमेय (पदार्थ) भी सिद्ध नहीं हो सकते। यदि प्रमेय कुछ है ही नहीं तो स्वयं शून्यवाद भी एक प्रकार का प्रमेय होने से सिद्ध नहीं हो सकेगा।¹

अधिकांश दार्शनिकों ने शून्य को असत् समझा है और शून्यवाद को 'असत्वाद' या 'नास्तिवाद' कहा है। इन दार्शनिकों में स्वातंत्रिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक भावविवेक भी है। वेदान्ती शंकराचार्य ने भी शून्य को असत् समझा है — कुछ लोगों का मानना है कि वेदान्त का ब्रह्म और नागार्जुन का शून्य एक है, किन्तु इन दोनों में अन्तर है।

1. शून्यवाद अद्वयवाद है और ब्रह्मवाद अद्वैतवाद है।
2. शून्यवाद सिद्ध करता है कि सभी वस्तुएँ निरन्वय है और कोई सत् तत्त्व उनमें अनुस्यूत नहीं है, इसके विपरीत ब्रह्मवाद मानता है कि सभी तत्त्वों में ब्रह्म अनुस्यूत है।
3. ब्रह्मवाद सान्वय तत्त्ववाद है और शून्यवाद निरन्वय।
4. ब्रह्मवाद आत्मवाद है — 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् आत्मा नामक एक तत्त्व है। जबकि शून्यवाद अनात्मवाद है — 'शून्यतैवाऽहम्' का अर्थ है कि आत्मा कोई एकल तत्त्व नहीं है।
5. ब्रह्मवाद नित्यता दृष्टि का तार्किक परिणाम है, और शून्यवाद क्षणभंगवाद या अनित्यतावाद का तार्किक निष्कर्ष है।
6. शून्यवाद में माया का अर्थ असत् है, किन्तु ब्रह्मवाद में माया का अर्थ असत् सत् से विलक्षण है।
7. शून्य, बुद्धि से अगम्य है, किन्तु ब्रह्म या आत्मा बुद्धि से अगम्य नहीं है।²

1 स्याद्वाद एक अनुशीलन, पृ. 296

2 भारतीय दार्शनिक निबन्ध, वही, पृ. 349

इनके आधार पर शून्य और ब्रह्म को एक नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य का मानना है कि शून्यवाद किसी प्रमाण से जुड़ा हुआ नहीं है। वह प्रत्येक प्रमाण से कट जाता है, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण किसी न किसी प्रकार से सत् का ही बोध कराता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र और मल्लिषेण ने भी शंकराचार्य की भाँति शून्यवाद की अवधारणा करके उसका खण्डन किया है। उनका यह कथन है कि शून्यवाद प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण और प्रमित इन सबका खण्डन करता है, इसलिए वह अपने पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दे सकता है।

नागार्जुन की प्रतीतिवाद सम्बन्धी कल्पना समस्त योजना को भ्रान्ति समझकर छोड़ देने की प्रेरणा देती है। जब प्रत्येक वस्तु ही अयथार्थ बन गई हो, तब पुण्य-पाप भी अयथार्थ है। निर्वाण को प्राप्त करने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? और दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने की भी क्या आवश्यकता है, क्योंकि दुःखों का अस्तित्व ही नहीं है? पर वास्तविकता में जीवन को भ्रान्तिरूप समझते हुए कोई भी जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है। यद्यपि परमार्थ रूप से देखने पर दुःख अयथार्थ है किन्तु जब तक जीवन है तब तक व्यावहारिकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।'

शून्यवाद की स्याद्वाद से तुलना

स्याद्वाद जैसे 'स्यात्' और 'वाद' इन दोनों का यौगिक रूप है वैसे ही शून्यवाद भी 'शून्य' एवं 'वाद' इन दो शब्दों से निष्पन्न है। स्यात् और शून्य शब्द को लेकर दार्शनिकों में बहुत ही भ्रान्तियाँ फैली हैं, और इन दोनों वादों का खण्डन किया है। शून्यवाद का खण्डन परम नास्तिक मानकर और स्याद्वाद का खण्डन संशयवादी कहकर किया गया है। लेकिन उन खण्डन में तर्क नहीं है।

स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, स्यात्+वाद - स्यात् शब्द एक अव्यय है, वह 'अपेक्षा से' या 'कथंचित' अर्थ का द्योतक है, और 'वाद' शब्द का अर्थ है - कथन करना। अपेक्षा विशेष से पदार्थ में विद्यमान अन्य अपेक्षाओं का निराकरण नहीं करते हुए वस्तु-स्वरूप का कथन करना, विभिन्न दृष्टिकोणों का पक्षपात रहित होकर तटस्थ बुद्धि और दृष्टि से समन्वय करना।

1. भारतीय दर्शन (डा. राधाकृष्णन्), भाग 1, वही, पृ. 603-604

शून्यवाद में शून्य शब्द का प्रयोग संसार के सोपाधिक स्वरूप या सापेक्षिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए किया है। यदि वस्तु यथार्थ होती और अनुपाधिक होती तब उत्पत्ति एवं विनाश से उसका स्वतंत्र होना भी आवश्यक होता। इस संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो परिवर्तन के अधीन न हो, इसलिए संसार शून्य है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं, होने से और शून्यवाद उच्छेदवाद नहीं होने से नास्तिक नहीं है। नास्तिक के लिए तो परमार्थ कुछ नहीं होता है, जबकि शून्यवाद में भी परमार्थ है। नागार्जुन के दर्शन में परमार्थ वस्तु के सन्दर्भ में स्वभाव शून्यता और दर्शन के सम्बन्ध में दृष्टि शून्यता है।

शून्यवाद और अनेकान्तवाद दोनों का प्रारम्भ विभज्यवाद से हुआ। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर दोनों ने भिक्षुओं को विभज्यवाद अपनाने का आदेश दिया है। उसी विभज्यवाद का रूपान्तर अनेकान्तवाद—स्याद्वाद है। विभज्यवाद भी अपेक्षा पर आधारित है और स्याद्वाद भी अपेक्षा पर आधारित है। इस प्रकार एक सीमा तक दोनों वादों का साम्य स्पष्ट है, लेकिन उसके बाद इन दोनों वादों का जो विकास हुआ, उसने विभिन्न दिशाएं ग्रहण कर ली। बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की निष्पत्ति शून्यवाद में हुई जो निषेधप्रधान है। निषेधप्रधान का तात्पर्य यह है कि तथागत बुद्ध को नास्तिकता तो इष्ट नहीं थी किन्तु उन्होंने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों का निषेध करके मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और जैनदर्शन में नयवाद का विकास हुआ जो विधिप्रधान है। भगवान महावीर ने शाश्वत और उच्छेद इन दोनों को अपेक्षा भेद से स्वीकार करके विधिमार्ग अपनाया। इस प्रकार स्याद्वाद और शून्यवाद में एकान्त उच्छेद और एकान्त—विनाश समान रूप से असम्मत है, लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि स्याद्वाद की भाषा में विधि प्रधान प्रयोग है और शून्यवाद का भाषा प्रयोग निषेध प्रधान है।

स्याद्वाद की तरह शून्यवाद की स्थापना में युक्ति और आगम का अवलंबन जरूरी है, तथा दोनों ने यह भी स्वीकार किया कि यदि एक भाव का परमार्थ स्वरूप समझ लिया जाये तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप समझ लिया गया मानना चाहिए। दोनों ने व्यवहार और परमार्थ सत्त्यों को स्वीकार किया है — स्याद्वाद व्यवहार और निश्चयनय तथा शून्यवाद संवृत्तिसत्य और परमार्थसत्य के रूप में मानता है।

शून्यवाद कई प्रकार के एकांतवादों की चर्चा करके इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तु शाश्वत नहीं, उच्छिन्न नहीं, एक नहीं, अनेक नहीं, भाव नहीं, अभाव नहीं, आदि। अर्थात् इसमें 'नहीं' का पक्ष स्वीकार है, बौद्ध दर्शन में जो अन्त युगल है, उनको अस्वीकार करके मध्यम-प्रतिपत् निर्विकल्प ज्ञान को माना है। जबकि स्याद्वाद का उन एकान्तों के विषय में यह अभिप्राय है कि वस्तु शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है, एक भी है, अनेक भी है, इत्यादि। इस प्रकार शून्यवाद और स्याद्वाद में निषेधात्मक एवं विधेयात्मक भाषाशैली को लेकर भिन्नता है।¹

यह भी बात नहीं है कि स्याद्वाद को एकान्तिक तत्त्वविकल्पों के दोषों का ज्ञान नहीं है, एकान्त में रहे दोषों का ज्ञान है किन्तु दोषों को देखकर अन्त को स्याद्वाद अस्वीकार नहीं करता, वह अन्तों में गुणों को भी देखता है और उसे उसी दृष्टि से अंगीकार करके उसके स्तर को निर्धारित करता है। निरपेक्ष अन्त का अस्वीकार और सापेक्ष अन्त का स्वीकार-स्याद्वाद की विशेषता है।

आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद की स्थापना के लिए तर्क को निषेधोन्मुखी खण्डन का दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने अपने समकालीन प्रमाण, प्रमेय आदि की मान्यताओं का खण्डन ही खण्डन किया। जबकि स्याद्वाद में यह विशेषता है कि खण्डन भी हो और मण्डन भी हो।

बौद्धदर्शन में पदार्थ को सर्वथा शून्य रूप माना, स्वभाव से भी और परभाव से भी। किन्तु जैनदर्शन वस्तु को स्वभाव से अशून्य (सत्) और पर-भाव से शून्य (असत्) माना गया है।²

समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य में व्यक्त नामक गणधर की भूतों के अस्तित्व और अनस्तित्व के सम्बन्ध में उठाई गई शंका का समाधान करते हुए मूलतः बौद्धों के शून्यवाद की ही समीक्षा की गई। किन्तु शून्यवाद को इस समीक्षा में बौद्धों के विज्ञानवाद की समीक्षा अन्तर्निहित है, यह सत्य है कि बौद्धों का विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही महावीर से परवर्ती दर्शन हैं तदपि विशेषावश्यकभाष्य के काल में इन दोनों वादों

1 आ. आनन्दब्रह्मि जी, स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन, पृ. 15

2 स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन, वही, पृ. 292-294

का प्राबल्य होने के कारण गणधर व्यक्ति की भूतों के अस्तित्व के सम्बन्ध में उठाई गई शंका का समाधान करते हुए भगवान महावीर के मुख से विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों की समीक्षा करवा दी गई। यद्यपि बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद – शून्यवाद का जन्म एक तार्किक विधा के रूप में चाहे परवर्ती काल में हुआ हो किन्तु महावीर और बुद्ध के काल में भी उच्छेदवाद और औपनिषदिक विज्ञानवाद तो उपस्थित था ही।

उपनिषदों में 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के रूप में या 'विज्ञानधन' के रूप में जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है उसके मूल में विज्ञानवाद के बीज छिपे हुए हैं, इसी प्रकार उस काल में जो उच्छेदवादी परम्परा थी उसे शून्यवाद का पूर्वरूप माना जा सकता है। यद्यपि शून्यवाद उच्छेदवाद नहीं, किन्तु वह इतना तो अवश्य मानता है कि वस्तु न तो शाश्वत है और न उच्छेद रूप है।

वस्तुतः बौद्धदर्शन में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी, जो चार सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमें वैभाषिक बाह्यार्थ और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान की संभावना को स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक बाह्यार्थों की सत्ता तो स्वीकारते हैं किन्तु उनका प्रत्यक्षज्ञान सम्भव नहीं मानते।

विज्ञानवादी इनसे भी एक कदम आगे बढ़कर यह कहते थे कि यदि बाह्यार्थ का ज्ञान संभव नहीं है तो उनकी सत्ता कैसे स्वीकारें, अतः उन्होंने बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध कर दिया। वस्तुतः विशेषावश्यकभाष्य में व्यक्त की जो शंका है वह बाह्यार्थों के अस्तित्व और नास्तित्व के प्रश्न को लेकर ही है। इसी परम्परा में शून्यवादियों ने कहा कि 'यदि बाह्यार्थों की सत्ता नहीं है तो चित्त विज्ञान की भी निरपेक्ष सत्ता नहीं है।

संसार की सभी वस्तुएँ सोपाधिक और सापेक्षिक हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो जहाँ विज्ञानवादी ज्ञेय का अभाव मानकर भी ज्ञान की सत्ता को स्वीकार करते थे वहाँ शून्यवादियों ने कहा कि ज्ञेय के अभाव में ज्ञान ही सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के ही स्वतंत्र अस्तित्व को नकार दिया।

इनके विरोध में जैन दार्शनिकों का यह कहना है कि यदि हम ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता को नकार देंगे तो फिर सर्वतः या एकान्ततः उच्छेदवाद को ही स्वीकार करेंगे। उनके अनुसार ज्ञान की सापेक्षता का अर्थ सत्ता की सापेक्षता नहीं है, जैन दर्शन का कहना है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही अपने अस्तित्व की दृष्टि से निरपेक्ष है, मात्र उनका

ज्ञान सापेक्ष है। इस प्रकार जहाँ शून्यवाद ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों को सापेक्ष मानता है वहीं जैन दर्शन मात्र ज्ञान को सापेक्ष मानता है, ज्ञाता और ज्ञेय को नहीं।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि हमारे ज्ञान की सापेक्षता से ज्ञाता और ज्ञेय की सापेक्षता फलित नहीं होती है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा कि सत्ता अर्थात् द्रव्य-गुण पर्याय युक्त हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तित्व एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कोई सत्ता ही नहीं है। द्रव्य-गुण और पर्याय सापेक्षिक हैं। एक-दूसरे के अभाव में उनका अभाव मानना होगा फिर भी वे मात्र कल्पना नहीं, यथार्थ हैं। बाह्यार्थ की भी सत्ता है और ज्ञाता की सत्ता है।

विशेषावश्यकभाष्य में भूतों के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए वस्तुतः बाह्यार्थों के अस्तित्व को सिद्ध किया है। बाह्यार्थों का अस्तित्व सिद्ध होने पर विज्ञानवाद और शून्यवाद स्वतः निरस्त हो जाते हैं। जैन दार्शनिक ज्ञान की सापेक्षता को लेकर शून्यवाद के साथ सहमति रखते हैं किन्तु वे ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर शून्यवाद से अपना विरोध भी प्रकट करते हैं। विशेषावश्यकभाष्य की यह चर्चा अपने इसी विरोध की परिचायक है।

इसमें बाह्यार्थों की सत्ता को स्वीकार करके सापेक्षतावाद को स्वीकार करके विज्ञानवाद और शून्यवाद से बचने का प्रयास किया गया। क्योंकि विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही तार्किक दृष्टि से चाहे कितने ही सबल क्यों न हो किन्तु व्यवहार दृष्टि से निर्बल पड़ जाते हैं। जैन दर्शन परमार्थ और व्यवहार दोनों को स्वीकार करके चलता है, अतः वह ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार करके भी ज्ञेय की स्वतंत्र अस्तित्व की सत्ता स्वीकारता है, यही उसका वैशिष्ट्य है।

षष्ठम अध्याय

षष्ठम अध्याय
इहलोक का परलोक से सादृश्य या वैदृश्य समीक्षात्मक विवेचन
(स्वभाववाद की समीक्षा)

मूमिका

जीवन का जो स्वरूप वर्तमान में दिखाई पड रहा है, वह उतने तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध अनादि भूतकाल और अनन्त भविष्य के साथ जुडा हुआ है। वर्तमान जीवन तो उस श्रृंखला की एक कड़ी है। भारत के जितने भी आस्तिक दर्शन है, वे सब पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म की विशद चर्चा करते हैं। पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती।

प्रत्यक्षज्ञानियों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के विषय में स्पष्ट उद्घोषणा की है। उसको माने बिना न आत्मा का अविनाशित्व सिद्ध होता और न संसारी जीवों के साथ कर्म का अनादि संयोग ही सिद्ध होता है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार — वर्तमान में मनुष्य जैसी प्रवृत्तियाँ करता है, उसका परिणाम भविष्य में उसे उसी रूप में मिलेगा, चाहे वह आने वाले किसी जन्म में मिले। इस दृष्टि से 'कर्म' प्राणी जगत के साथ अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों में अनुस्यूत है। किन्तु कुछ धर्म, दर्शन या मत-पन्थ इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन कर्म के अस्तित्व को ही नहीं मानते हैं, तब फिर वे पूर्वजन्म व पुनर्जन्म को कैसे स्वीकार करेंगे? कुछ मतवादी परलोक को स्वीकार करते हैं किन्तु वैसादृश्य को स्वीकार नहीं करते हैं, अर्थात् उनका कथन है कि जीव जिस योनि से मरा है, वह पुनः उसी योनि में जायेगा। स्वभाववाद के अनुसार परलोक की सादृश्यता को मानते हैं, जबकि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। वैदिक धर्म के मुर्धन्य ग्रन्थ 'गीता' में स्थान-स्थान पर बताया है कि सुकर्म करने पर अच्छी योनि मिलती है और दुष्कर्मों के फलस्वरूप अगले जन्म में प्राणी निम्न गति और

योनि को प्राप्त करता है, इस पर गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है – “निकृष्ट कर्म करने वाले क्रूर, द्वेषी, और दुष्ट नराधमों को निरन्तर आसुरी योनियों में फेंकता रहता हूँ।”¹

यदि मनुष्य को यह ज्ञात हो कि मैं मरकर पुनः मनुष्य ही बनूंगा तो वह गलत कार्य करने से नहीं हिचकिचाएगा।

इस प्रकार की चर्चाएँ तत्कालीन वेदज्ञ ब्राह्मण सुधर्मा स्वामी के समय पर भी थीं। उनको जन्म-जन्मान्तर सादृश्य की धारणा थी। वे वेदवाक्य का अर्थ ऐसा करते थे कि “पुरुषो मृतः सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशवः पशुत्वम्” अर्थात् पुरुष मरकर परभव में पुरुष ही बनता है, पशु मरकर पशु ही होता है। कारण सादृश्य कार्य होता है, किन्तु वेदों में यह वाक्य सामने आया कि “शृगालो वै एष जायते यः स पुरिषो दह्यते”। जिसको मल सहित जलाया जाता है, वह मरकर शृगाल रूप में जन्म लेता है।² इस प्रकार परस्पर विरोधाभासी विचारों से उनके मन में यह शंका हुई कि – जीव जैसा इस भव है वैसा ही परभव में होता है या नहीं? क्योंकि प्रथम वाक्य में सादृश्य की प्ररूपणा है तथा दूसरे में वैसादृश्य की विचारणा है, साथ ही यह भी मत था कि – जीव और पुद्गल (शरीर के रूप में) के अनादि संबंध के वर्तमान काल तक के घटना की संभावना पूर्वजन्म व पुनर्जन्म की अवधारणा के बिना संभव नहीं है। इसी पूर्वजन्म, वर्तमान योनि व पुनर्जन्म में प्राणी (जीव) के शारीरिक स्वरूप के बारे में दो मत उपलब्ध होते हैं (1) इहलोक-परलोक सादृश्य का मत व (2) इहलोक-परलोक में वैदृश्य की संभावना का मत। इस शंका का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने युक्तिपूर्वक किया, जिसका तार्किक विश्लेषण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद के अन्तर्गत किया।

विशेष्यावश्यक भाष्य में सादृश्य और वैदृश्य की धारण और उसका निराकरण :

जगत की विविधता और विचित्रता का हेतु कर्मसिद्धान्त को माना गया है। कर्मवाद को मानने वाला ही परलोक को मानता है। प्रत्येक जीवात्मा का संसार-भ्रमण अनादिकाल से चला आ रहा है। जन्म-मरण का चक्र चलता जा रहा है, यह सब कर्माधीन है। स्वभाववाद को मानने वाले प्रत्येक कार्य को स्वभाव के अन्तर्गत मानते हैं

¹ गीता, 16/19

² (क) यच्च शृगालो दह्यते वेदविहितं तदपि परभव सादृशता एते सम्बद्धमेव स्यात् पुरुषादेमुत्र शृगालयानुपपत्ते।

विशेषावश्यकभाष्य टीका, पृ. 738

(ख) यादृग् भवेत् कारणमत्र लोके, तादृग् हि कार्यं परिणाम काले। महावीर देशना, श्लोक 3, पृ. 163

और सादृश्यता का समर्थन करते हैं कि जिसका जैसा स्वभाव है वह वैसा ही रहेगा। जबकि कर्मसिद्धान्त का मानना है कि प्राणी जैसा कार्य करता है, उसे वैसा ही फल मिलेगा तथा विविधता व विचित्रता कर्म के कारण है। इस प्रकार सुधर्मा स्वामी के मन में एक संशय था कि – इहलोक में जीव जिस अवस्था में है, वह परलोक में भी वैसा ही रहेगा या परिवर्तन आयेगा? इस शंका का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने कई युक्तियों से किया।

1. **सुधर्मा स्वामी की शंका कि –** कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। जैसा हेतु (कारण) होगा, वैसा ही कार्य होगा। जैसा बीज होगा, वैसा ही अंकुर उत्पन्न होगा। इसी आधार पर यह सिद्ध होता है कि जैसा पूर्वभव है वैसा ही उत्तरभव होगा, अर्थात् यदि यहाँ पुरुषवेद में है तो वह मरकर पुरुष ही होता है, स्त्री मरकर स्त्री ही बनती है। वेद में भी कहा है – “पुरुषो मृतः सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशु पशुत्वम्”।

यह भी मत था कि – कारण के अनुरूप ही कर्म होता है, जैसे कि बीज के अनुसार ही वृक्ष और फल उत्पन्न होते हैं, यथा – गेहूँ का अंकुर और उससे प्राप्त होने वाले गेहूँ दोनों बीज रूप गेहूँ के अनुरूप ही उत्पन्न एवं प्राप्त होते हैं। किन्तु यह कभी नहीं कहा या देखा जाता है कि नीम के बीज से आम वृक्ष उत्पन्न हो जाये और आमफल प्राप्त हो, इस लोक प्रचलित व्यवहार के कारण सुधर्मा जी के मन में निश्चित मत हो गया कि – परभव में भी जीव इस भव के जैसा होता है।

लोक में भी देखा जाता है कि – बीज के अनुसार ही वृक्ष और फल उत्पन्न होते हैं। जैसे गेहूँ का अंकुर और उससे प्राप्त होने वाले गेहूँ दोनों बीज रूप गेहूँ के अनुरूप ही उत्पन्न एवं प्राप्त होते हैं। किन्तु यह कभी नहीं देखा जाता है कि – नीम के बीज से आम वृक्ष उत्पन्न हो जाये। इसलिए यह निश्चित है कि जीव जैसा इस भव में होता है, वैसा ही परभव में होता है।¹ नाना प्रकार की वानस्पतिक औषधियों एवं भूमिज पदार्थों के योग से ताम्बा भी स्वर्ण रूप में परिवर्तित हो जाता है।

इस शंका का समाधान श्रमण भ. महावीर ने इस प्रकार दिया :

¹ कारण कज्जं, बीयस्सेवदं कुरो ति मण्णंतो।

इहभव सरिसं सव्वं, जयवैसि परे किं तुम जुत्तं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1773

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है, क्योंकि यह एकान्त नियम नहीं है कि जैसा कारण है वैसा ही कार्य हो, अर्थात् कार्य कारण के सदृश्य ही हो। कहीं-कहीं विसदृश्य विचित्र भी देखा जाता है— जैसे कि वृक्षायुर्वेद में उल्लेख है कि गौ के रोमों से दूर्वा घास तथा शृंग से शरनाम की वनस्पति उत्पन्न होती है, उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो विशेष प्रकार की नयी घास उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार और दूसरे द्रव्यों के संयोग से विलक्षण प्रकार की वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य कारण से बिलक्षण भी हो सकता है।¹

इस वाद का आधार वह वेदवाक्य है, किन्तु उस समय एक ओर चर्चा चल रही थी कि — कारण के सदृश कार्य होता है या नहीं? चार्वाक् असत्कार्यवादी है, वह कार्य को सदृश और विसदृश दोनों रूपों में मानता है, जैसे कि — चैतन्य कार्य को कारणों से विसदृश और भौतिक कार्यों को सदृश्य मानता है।

वेदान्त और सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है, उनके मत से कार्य और कारण दोनों सदृश है, वेदान्त के अनुसार कार्य में कितनी ही विलक्षणता हो, किन्तु उन सबका समन्वय ब्रह्म में है और सांख्य मत से प्रकृति में हो जाता है। दोनों के मतानुसार क्रमशः ब्रह्म और प्रकृति से कार्य सर्वथा विलक्षण नहीं है। ब्रह्म एक होने पर भी कार्यों में जो विलक्षणता दिखती है, उसका कारण वेदान्त मतानुसार अविद्या है और प्रकृति एक होने पर भी कार्यों में जो विलक्षणता है, उसका कारण प्रकृति के गुणों का वैषम्य है।

न्याय-वैशेषिक और बौद्ध दर्शन ये तीनों असत्कार्यवादी हैं, जिससे कारण से विलक्षण कार्य भी सम्भव है, तथा जैनदर्शन भी कार्य के कारण से सदृश और विसदृश्य दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं।

यदि कारण के अनुरूप कार्य माने तो भी भवान्तर में विचित्रता हो सकती है। यहाँ पूर्वभव का शरीर तथा स्त्री-पुरुष वेद आदि का कोई न कोई कारण होगा, वह कारण ही कर्म है, यह निश्चित है कि “जैसा कर्म वैसा फल”। “कम्माण फलं व लोमग्भि” भवांकुर

¹ (क) जाइसये सिंगाओ, भूतणओसरिसवाणुलित्ताओ।

संजायति गोलोमाऽविलोमसंजोगतो दुब्बा॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1774

(ख) केनापि योगेन हि ताम्भेतत्, स्वर्णत्वमायाति विलोकयत्वम्॥ महावीर देशना, श्लोक 7, पृ. 165

का बीज मनुष्य नहीं किन्तु उस का कर्म है" और वह कर्म विचित्र होता है। जब कारण ही विचित्र हो तो कार्य भी विचित्र ही होगा।¹

कर्म की विचित्रता के क्या कारण है?

कर्म के पाँच हेतु हैं

- क. **मिथ्यात्व** : सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ने जीवादितत्वों, षट्द्रव्यों, तथा आत्मवाद, कर्मवाद, क्रियावाद, लोकवाद, मोक्षमार्ग आदि के विषय में व्यवहार निश्चय दृष्टि से जैसी प्ररूपणा की है, उसके विपरीत, अभिनिवेश एवं दुराग्रहपूर्वक एकान्त एवं प्रमाण नय निरपेक्ष कथन एवं श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन से जो विपरीत है, वह मिथ्या दर्शन कहलाता है।²
- ख. **अव्रत** : जहाँ विरति न हो, वहाँ अविरति है। विरति का अर्थ व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, नियम या संयम का स्वीकार तथा आचरण करना है। इससे विपरीत व्रताचरण नहीं करना अव्रत कहलाता है। "यथोक्ताया विरतेर्विपरीताऽविरतिः।"
- ग. **प्रमाद** : प्रमाद का अर्थ है आत्मविस्मरण। प्रमाद के कारण जीव आत्मा के स्वभाव—आत्मगुणों को भूलकर परभाव या विभाव में चला जाता है। इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षित होकर व्रतबद्ध होते हुए भी परभावों के प्रवाह में बह जाना, वह प्रमाद कहलाता है।
- घ. **कषाय** : कष अर्थात् संसार, आय—लाभ, जिससे संसार का लाभ हो, वह 'कषाय' है। जो आत्मा को मोह के शिकंजे में कशे, जकड़े या दुःख दे वह कषाय है। कषाय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कलूषित करने वाला है।
- ङ. **योग** : पूर्व संचित कर्मविपाक के कारण बाह्य और आन्तरिक निमित्तों के मिलने पर आत्मप्रदेशों में जो स्पन्दन, उद्वेलन, हलचल या चंचलता होती है, उसे योग कहते हैं।³

¹ जेण भवंकुरबीयं कम्मं चित्तं चतं जतोऽभिहितं।

हेतु विचित्तत्तणओ, भवंकुरविचित्तया तेणं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1777

² तत्र सम्यग्दर्शनाद् विपरीतं मिथ्यादर्शनम्, कर्म की गति न्यायी, वही, पृ. 159

³ कर्मविज्ञान, भाग 4, पृ. 132-133

ये पाँच हेतु हैं, इनमें विचित्रता है। अतः कर्म भी विचित्र है, और कर्म रूपी बीज भी विचित्र है तो उसका भवांकुर भी विचित्र ही होगा।¹ अतः सिद्ध होता है कि जीव अपना आयुष्य पूर्ण कर अपने कर्मों के अनुसार नारक, तिर्यच, देव अथवा मनुष्य के रूप में जन्म ले सकता है।²

आगमों में भी कहा है —

“एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया
एगया आसुर कायं, अहाकम्महिं गच्छइ।”

कभी देवलोक में तो, कभी नरक में तो कभी असुरजाति में जीव कर्मों के द्वारा गमन करता है।

जीव जब तक संसारी अवस्था में रहता है, तब तक वह नारकादि रूप में विचित्रता प्राप्त करता है, क्योंकि विचित्र कर्म का वह फल है। यदि हेतु विचित्र है तो फल भी विचित्र होगा। जैसे दो व्यक्ति हैं, वे कृषि अथवा व्यापारादि करते हैं, किन्तु दोनों की फल प्राप्ति में विचित्रता रहती है, वैसे कर्मफल में भी विचित्रता रहती है। “चित्ता कम्मंपरिणई।”³

पुद्गल का गुण है विचित्र रूप पैदा करना और मिलना बिखरना, तो कर्म भी पुद्गल है। जैसे आकाश में कई तरह के विकार देखे जाते हैं, तथा पृथ्वी में विचित्रता दिखाई देती है, क्योंकि वे सब पुद्गल रूप हैं, वैसे ही कर्म भी पुद्गल होने के कारण विभिन्नता लिए हुए है।⁴

इस बात का प्रमाण कई शास्त्रों में मिलता है — मनुष्यों में शरीर, मन और बुद्धि आदि को लेकर असंख्य विभिन्नताएँ हैं, जैनाचार्य देवेन्द्रसुरि ने कर्म की विचित्रता-विविधता का इस प्रकार उद्घाटन किया है — “राजा-रंक, सुन्दर-कुरुप,

¹ हेउविचित्तणओ, भवंकुर विचित्तया तेणं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1777

² जइ पडिवण्णं कम्मं हेउ विचित्तओ विचित्तं च।

तो तप्फल विचित्तं, पवज्ज संसारिणो सोम्म।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1778

³ उत्तराध्ययनसूत्र, 3/2

⁴ चित्तं संसारित्तं, विचित्तं कम्म फल भावओ हेउ।

इह चित्तं चित्ताण्णं, कम्माणं फलं व लोगतम्म।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1779

धनवान—धनहीन, बलवान—निर्बल, निरोगी—रोगी,, भाग्यवान—अभाग्य इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर या भेद दिखाई देता है, वह सब कर्मकृत है।¹

भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी ने पूछा— हे भगवान! क्या जीव के सुख—दुःख तथा विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ कर्म की विभिन्नता—विचित्रता या विविधता कर्म पर निर्भर है, या अकर्म पर?

भ. महावीर ने कहा— गौतम! संसारी जीवों के कर्मबीज भिन्न—भिन्न होने के कारण उनकी अवस्था या स्थिति में भेद है, अकर्म के कारण नहीं।²

आचारांगसूत्र में बताया है कि “कर्म रूपी बीज के कारण ही संसारी जीवों में अनेक उपलब्धियाँ, विभिन्न अवस्थाएँ देखी जाती हैं”।³

बौद्ध दर्शन में भी विचित्रता का कारण कर्म माना है, राजा मिलिन्द ने नागसेन से प्रश्न पूछा— भगवन! जो पाँच आयतन (आँख, कान, नाम, जीभ और चमड़ी) है, क्या ये विभिन्न कर्मों के फल हैं या एक ही कर्म के फल हैं?

राजन! विभिन्न कर्मों के फल हैं, एक ही कर्म के फल नहीं हैं। जैसे यदि कृषक, एक खेत में पृथक्—पृथक् जाति के बीज बोये तो अनेक जाति के फल प्राप्त होंगे, वैसे ही ये पाँच आयतन पृथक्—पृथक् कर्मों के फल हैं।

पुनः राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया — *मन्ते!* सभी मनुष्य के समान न होने का क्या कारण है? कोई अल्पायु, कोई दीर्घायु, कोई ऊँचे कुल में तो कोई नीचकुल में, मूर्ख व विद्वान क्यों होते हैं?

स्थविर नागसेन ने उत्तर देते हुए कहा कि — जैसे सभी वनस्पतियाँ एक जैसी नहीं होती, कोई खट्टी, कोई मीठी तो कोई कड़वी होती है, क्योंकि बीजों के भिन्न होने के कारण वनस्पति भी भिन्न—भिन्न होती है, वैसे ही जीवों की विविधता का कारण भी कर्म होता है। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार ही नाना गतियों और योनियों में उत्पन्न होते हैं।⁴

¹ देवेन्द्रसूरी जी, कर्मसूत्र टीका, प्रथम

² भगवतीसूत्र, 12/5

³ कम्मणा उवाही जायड, आचारांगसूत्र, 1/3/1

⁴ मिलिन्द पञ्चो, पृ. 68

मनुस्मृति में भी लिखा है कि कर्म के कारण ही मनुष्य को उत्तम मध्यम या अधम आदि गति की प्राप्ति होती है।¹

जैन कर्मसिद्धान्त के मर्मज्ञों ने 14 द्वार बताये हैं —

- | | | |
|---------------|-------------|---------------|
| 1. गति | 2. इन्द्रिय | 3. काय |
| 4. योग | 5. वेद | 6. कषाय |
| 7. ज्ञान | 8. संयम | 9. दर्शन |
| 10. लेश्या | 11. भव्य | 12. सम्यक्त्व |
| 13. संज्ञी और | 14. आहार | |

इन 14 बातों को लेकर जीवों में जो विभिन्नताएँ होती हैं, उनका मूलकारण कर्म ही है। जैसे :-

1. **गति** : हम देखते हैं कि सांसारिक जीवों में मनुष्य, देव, नरक, *तिर्य्यच* आदि अनेक प्रकार की विषमता, विसदृशता एवं विविधता है। इसका भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। एक जीव देवलोक में सुख भोग रहा है और एक जीव नरक में पड़ा यातनाएँ भोग रहा है।
2. **इन्द्रिय** : कोई जीव एक इन्द्रिय वाला है तो कोई दो इन्द्रिय वाला है, इस तरह जीवों को इन्द्रियों की प्राप्ति का यह अन्तर भी कर्म के अस्तित्व को स्पष्ट करता है।
3. **काया** : कई जीव त्रसकाय है, जबकि कई जीव स्थावरकाय है, इन जीवों की विभिन्नता का मूल कारण कर्म है।
4. **योग** : सांसारिक जीवों के मन, वचन और काया के योगों को लेकर भी विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किसी में शक्ति, क्षमता कम होती है किसी में अधिक।
5. **वेद** : सांसारिक जीवों में पुरुष और स्त्री, या नर और मादा के अन्तर के अतिरिक्त जीवों की कामवासना में जो अन्तर पाया जाता है, वही भी कर्म के कारण है।

¹ शुभाशुभ फलं कर्म, मनोवाग् देह सम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधम मध्यमा ॥ मनुस्मृति, अ/2/3

6. **कषाय** : जीवों के क्रोध—मान—माया—लोभरूप चार कषायों की मात्रा में जो अन्तर पाया जाता है, वह कर्म के कारण है।
7. **ज्ञान** : एक जीव को पूर्ण ज्ञान है तो दूसरे को मात्र मतिश्रुतज्ञान है, कई जीवों में अज्ञान की मात्रा अधिक है, इन सबके मूल कारण जीवों के अपने अपने कर्म ही हैं।
8. **संज्ञा** : चार संज्ञाओं में से किसी जीव में आहार संज्ञा अधिक और किसी में भय या मैथुन संज्ञा अधिक या कम दिखाई देती है।
9. **संयम** : संयम अर्थात् पाँचों इन्द्रियों पर नियंत्रण। संसार में कई जीव ऐसे हैं, जिनका इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं है, कुछ जीव संयमी हैं। यह तारतम्य कर्मों के कारण है।
10. **दर्शन** : पदार्थ के सामान्य अंश को निर्विकल्प रूप से ग्रहण करना। चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन होता है, व एकेन्द्रिय से त्रीन्द्रिय तक के जीवों में दर्शन नहीं होता है। दर्शन की विभिन्नता का कारण कर्म के क्षय, या क्षयोपक्षम से है।
11. **लेश्या** : लेश्या से आत्मा कर्मों से श्लिष्ट (लिप्त) होती है। आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं, वैसी लेश्याएं होती जाती हैं। किसी जीव में कृष्ण नील, कापोत की अधिकता, तो किसी में पद्म शुक्ल लेश्या की अधिकता होती है।
12. **भव्य** : जिस जीव में मोक्ष—प्राप्ति की योग्यता हो, उसे भव्य कहते हैं, तथा जिसमें योग्यता न हो, वह अभव्य कहलाता है। जहाँ कर्मों की प्रचुरता होती है वह जीव अभव्य ही बना रहता है, तथा कोई कर्मों के क्षय—क्षयोपक्षम से भव्य होता है।
13. **सम्यक्त्व** : सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भी कर्मकृत विभिन्नताएँ पायी जाती हैं।
14. **आहार** : आहार — अनाहार से भी जीवों की कई विभिन्नताएँ बनती हैं।¹

इस प्रकार इन 14 द्वारों को लेकर जीवों की विभिन्न स्थितियाँ होने का मूलकारण कर्म है। विचित्रता का कारण कर्म है, यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

¹ कर्मविज्ञान, भाग 1, वही, पृ. 121-128

यह मान्यता कि जो जीव इस लोक में जैसा है वह वैसा ही परलोक में भी होगा, तो कुछ अर्थों में युक्तिपूर्ण है, क्योंकि जीव इस भव में जैसी शुभाशुभ विचित्र क्रिया करते हैं, विचित्र कर्म करते हैं, उसी के अनुसार ही परभव में विचित्र फल मिलते हैं।

जीव अनेक प्रकार के कर्मबन्धन करता है, कोई यदि नारक योग्य कर्मबन्धन करता है या देव गति के योग्य कर्म का बन्धन करता है, उस जीव को वैसा ही फल मिलता है। तब यह कहा जा सकता है कि इस लोक में उन्होंने जैसी क्रिया की, या कर्म की विचित्रता थी,, वैसी ही जीवों की विचित्रता परलोक में होती है, एक तरह से यह कथन सही है कि जो इस भव में जैसा कार्य होता है, परलोक में उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। जैसे को तैसा।¹

इस पर सुधर्मा ने यह शंका व्यक्त की कि -

1. इस भव में ही जिसका फल मिलता है वही कर्म सफल है। जैसे कृषक खेती करता है तो उसका फल उसे उसी भव में ही मिल जाता है, किन्तु पर भव के लिए जो दानादि कर्म करते हैं उसका कुछ भी फल इस भव में नहीं मिलता है। अतः परभव में भी विचित्रता का कोई कारण नहीं रहेगा। फलस्वरूप इस भव में जीव मनुष्यादि के रूप से जैसा होगा, वैसे का वैसा वह परभव में रहेगा। उसमें वैसादृश्य का अवकाश नहीं रहता।²

2. इस शंका का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार किया :

परभव में जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है। यदि कर्म को नहीं मानते हैं तो निष्कारण की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, किन्तु उत्पत्ति कारण के अभाव में नहीं होती। यह मानें कि दानादि क्रिया परलोक में असफल होगी तो वस्तुतः कर्म का अभाव होगा, कर्म के अभाव में परलोक की सत्ता ही नहीं रहेगी, फिर सादृश्य का प्रश्न ही नहीं हो सकता। कर्म के अभाव में मोक्ष भी निष्कारण मानना पड़ेगा, और मोक्ष के लिए किये जाने वाले धर्म-ध्यान, व्रत-तप, अनुष्ठान आदि व्यर्थ ही सिद्ध होंगे, तथा जीवों की विचित्रता को भी निष्कारण ही मानना होगा, यह सारी समस्या कर्म के न मानने से उत्पन्न होगी।³

¹ अहवा इहभवसरिसो, परलोगो वि जति सम्मतो तेणं।

कम्मफलं पि इहभवसरिसं, पडिवज्ज परलोए॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1781

² किं भणियमिह मणुया, नाणागइ कम्मकारिणो संति।

जइ ते तफफलभाजो पवे वि तो सरिसत्ता जुत्ता॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1782

³ कम्माभावे वि कत्तो, भवंतरं सरिसत्ता व तदभावे।

णिव्कारणतो य भवो जति तो णासो वि तघ चेव॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1784

3. सुधर्मा— परभव का हेतु कर्म को नहीं मानकर स्वभाव को भी तो मान सकते हैं। जैसे — बिना कर्म के मिट्टी के पिण्ड से घट का निर्माण स्वभावतः होता है, वैसे ही जीव की सदृश्य जन्म—मरण परम्परा स्वभाव से हो सकती है।

कोई भी वस्तु केवल स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती, उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए कर्ता—करण आदि (उपकरण सामग्री) की अपेक्षा रहती है। जैसे— मिट्टी का स्वभाव घड़ा बनना है, पर वह स्वयं तो घड़ा नहीं बन जायेगा, घड़े रूप में लाने के लिए कुम्भकार और चक्र की सहायता आवश्यक है। इसी प्रकार जीव को परभव में जाने के लिए तथा शरीर के निर्माण के लिए करण की आवश्यकता है। वह करने वाला ही कर्ता है।¹

यदि प्रत्यक्ष ओर अप्रत्यक्ष की समस्या हो कि जैसे— घड़े आदि बनाने में कुम्भकार, चक्र आदि कर्ता और करण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, किन्तु शरीरादि कार्य तो प्रकृतिजन्य है, जैसे बादलों का स्वभाव है — बनना और बिखरना। अतः शरीर के निर्माण में “कर्मरूप” करण की आवश्यकता नहीं है।

यह समस्या युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि शरीर अप्रत्यक्ष नहीं है, बल्कि वह सादि है तथा निश्चित आकार वाला है साकार का कर्ता और करण आवश्यक है। जबकि बादलों में जो विकार है वे पुद्गल जनित है, अतः शरीर आदि कार्य को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

भगवान महावीर ने स्वभाववाद का निराकरण इस प्रकार किया :

स्वभाव क्या है? वह कोई वस्तु है या प्रयोजनहीन (निष्कारणता) है, अथवा किसी वस्तु का धर्म है?²

स्वभाव को वस्तु विशेष मानें पर उसकी उपलब्धि या प्रमाण होना अनिवार्य है। जबकि वह आकाश कुसुम के समान अनुपलब्ध है। यदि अनुपलब्ध को स्वीकार करते हैं तो फिर कर्म को भी स्वीकार कर सकते हैं। यह कल्पना करें कि स्वभाव का ही दूसरा नाम कर्म है।³ स्वभाव का स्वभाव भी हमेशा एक जैसे रहने का है, वह हमेशा सदृश रहता

¹ कम्मभावे वि मती को दोसो, होज्ज जति सभावोऽयं।

जघ कारणानुरुवं, घडातिकज्जं सभावेण॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1785

² होज्ज सहावो वत्थुं, गिक्करणया व वत्थु धम्मो वा।

जइ वत्थुं णत्थि, तओऽणुवलध्दीतो खपुक्कं व॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1786

³ कम्मस्स वाभिहाणं हेतु सभावो ति होतु को दोसो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1788

है, जिससे समान भव होता है, तो स्वभाव का स्वभाव विसदृश्य भव उत्पन्न करने का भी हो सकता है।¹

स्वभाव यदि मूर्त है, तो कर्म भी मूर्त है, उन दोनों में क्या भेद है? भेद मात्र नाम का है। स्वभाव परिणामी होने के कारण दूध के समान सदा एक समान रूप में नहीं रह सकता, अथवा बादलों के समान मूर्त होने के कारण एक जैसा नहीं रहता। तथा यदि अमूर्त है तो वह उपकरण रहित होने से शरीर आदि कार्यों का उत्पादक नहीं हो सकता। जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरण के बिना घड़े का निर्माण नहीं कर सकता वैसे ही स्वभाव भी आकाशवत् साधनहीन होने से किसी का कर्ता नहीं हो सकता।²

स्वभाव को निष्कारण मानने पर भी परभव में सादृश्य कैसे होगा। यदि सादृश्य का कोई कारण नहीं है, तो वैसादृश्य के लिए भी कारण की आवश्यकता नहीं है। शरीरादि की उत्पत्ति कारण विहीन होती है तो *स्वरविषाण* की भी उत्पत्ति हो सकती है। बिना कारण के शरीर का आकार कैसे होगा? तथा कारण के अभाव में भव का विच्छेद ही क्यों नहीं हो जाए? स्वभाव को निष्कारणता मानने से कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, अतः स्वभाव कारण सहित है, निष्कारण नहीं है।³

यदि स्वभाव को वस्तु का धर्म मानते हैं तो वह सदा एक समान नहीं रह सकता, क्योंकि वस्तु की पर्यायें बदलती रहती हैं, कहा भी है — "उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" पदार्थ में तीनों गुण रहते हैं, उत्पत्ति, स्थिति, विनाश। अतः उनका परिणमन प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है। स्वभाव आत्मा का धर्म है या पुद्गल का। यदि वह आत्मा का धर्म है, तो आकाश के समान अमूर्त होने से शरीरादि का कारण नहीं बन सकता है। क्योंकि शरीर मूर्त है, अमूर्त मूर्त का जनक नहीं हो सकता। यदि पुद्गल का धर्म माने तो वह कर्म का दूसरा नाम हो सकता है, क्योंकि कर्म पुद्गलास्तिकाय में समाहित है। मूर्त कर्म ही मूर्त शरीर को उत्पन्न करने वाला है। कर्म विचित्र परिणति वाला है, मिथ्यात्व आदि

¹ स्वभावतः एवायं स्वभावः सदृश इति चेत,

ननु भव विसदृशतायां अपि एवद वस्तुं शक्यत एवेति॥ विशेषावश्यकभाष्य, टीका, पृ. 754

² सो मुक्तोऽमुक्तो वा जति, मुक्तो तोण सब्धा सरिसो।

परिणामतो पायं पिवणदेहहेतु जति अमुक्तो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, 1789

³ अहवाऽकारणतोच्चिय संभावतो तो वि सरिसत्ता कत्तो।

किमकारणतो ण भवे विसरिसत्ता किं व विच्छित्तो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1791

हेतुओं से कर्म—परिणाम विचित्र बनता है। इसी कारण उसका कार्य भी विचित्र हो जाता है। अतः परभव में एकान्त सादृश्य सिद्ध नहीं होता, बल्कि वैसादृश्य भी सम्भव है।¹

जैसे नाटक के पात्र अपनी भूमिका के अनुरूप कभी राजा तो कभी रंक आदि के विविध वेषों को धारण करके रंगमंच पर उपस्थित होते हैं, और तदनुरूप कार्य का प्रदर्शन करते हैं। उसी प्रकार संसार रूपी रंगमंच पर भी सभी संसारी जीव अपने अपने कर्म के अनुसार कभी नारक शरीर कभी देव, मनुष्य अथवा तिर्यंच शरीर को धारण करके परिभ्रमण करते हैं। यह बात प्रत्यक्ष है। सशरीरी जीव विसदृश्य हैं और इसी विसदृश्यता का कारण कर्म है। कर्म के कारण जीव नाना शरीर रूपों को धारण करते हैं।²

अनेकान्तवाद से वैसादृश्य— जैन दर्शन एकान्तवादी नहीं है, वह अनेकान्तवाद को मानता है, अतः अनेकान्तवाद की दृष्टि से कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से सदृश्य (समान) नहीं है, और एकान्तरूप से विसदृश्य भी नहीं है, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु का जो रूप पूर्वकाल में रहता है उत्तरकाल में उससे विलक्षण हो जाता है। जैसे सुवर्ण द्रव्य है, वह हार के रूप में है, उसका विनाश कर के मुकुट के रूप में बनाया जा सकता है। जैसे स्वयं पुरुष जीवन में पर्यायें बदलती रहती है— बालक, युवा और वृद्ध पर्याय। इन पर्यायों में समानता नहीं है, किन्तु सत्त्वरूप से समान है। उसी प्रकार आत्मा सत्ता रूप से समान है, किन्तु देवत्व, मनुष्यत्व पर्यायों से असमान है। जैसे कोई व्यक्ति मरकर देव बनता है, तब सत्त्वादि धर्मों के कारण, तथा समस्त विश्व के साथ उसकी समानता है, किन्तु देवत्वादि धर्मों के कारण पुर्वावस्था से असमानता है। उसी प्रकार मनुष्य जीव रूप से नित्य है किन्तु मनुष्यादि पर्याय रूप से अनित्य है।

एकान्त रूप से सादृश्य मानने पर भी परभव में जाति का अन्वय नहीं होता। और यदि जाति समान ही रहती है तो समान जाति में जो उत्कर्ष अपकर्ष दिखाई देता है, वह घटित नहीं होगा। जैसे जो यहां धनवान है, वह परलोक में भी धनवान होगा, और जो यहां निर्धन है वह परलोक में भी निर्धन होगा। उत्कर्षापकर्षन मानने से दानादि क्रिया निष्फल हो जायेगी। पर दान आदि क्रियाओं को निष्फल नहीं मान सकते, क्योंकि मानव

¹ अहं वि सभावो धम्मो वत्थुस्स ण सो वि सरिसओ णिच्चं।

अप्पाय-ठिईभंगा, चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, 1792

² महावीर देशना, श्लोक 10, पृ. 167

दान आदि सत्कृत्य परलोक में समृद्धि के लिए करते हैं। यदि निष्फल है तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो दान-धर्म आदि करेगा।¹

वेदवाक्यों के सम्यक अर्थों से वैसादृश्य की सिद्धि

सादृश्य समर्थक एकान्तवादी यदि वेदों का उद्धरण देकर कहें कि— इहभव से परभव में विचित्रता नहीं होती है, तो उन्हीं वेदवाक्यों से वैसादृश्य को समर्थन मिलता है। — जैसे श्रृगालो वै एष जायते यः सपुरिषो दहयते” अर्थात् जिसे मल-मूत्र सहित जलाया जाता है, वह श्रृगाल बनता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष मरकर श्रृगाल (तिर्यञ्च) बन सकता है। कुछ और भी वेदवाक्य है — जैसे “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र (यज्ञ) करें। सादृश्य मानने वालों को तो यह तथ्य ठीक नहीं लगता है। और भी “अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति”। अर्थात् अग्निष्टोम से यमराज्य पर विजय प्राप्त करता है। उनके अनुसार तो मनुष्य मरकर श्रृगाल या देव नहीं बन सकता।

सादृश्य का समर्थक जो पद है कि “पुरुषौ वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्” अर्थात् ‘पुरुष मरकर पुरुष होता है, तथा पशु मरकर पशु होता है।” किन्तु वे इस पद का सही अर्थ नहीं जानते हैं, इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य इस भव में सज्जन या सरल प्रकृति का होता है, विनयी, दयालु तथा अमत्सरी (ईर्ष्यारहित) होता है, वह मनुष्य नामकर्म तथा मनुष्यायु कर्म का बन्ध करता है। उस बन्ध के फलस्वरूप पुनः मनुष्य रूप में जन्म लेता है। तथा जो इस भव में माया या कपट व्यवहार करते हैं वे तिर्यञ्च नामकर्म तथा तिर्यञ्चायु, का उपार्जन करते हैं तथा पुनः परभव में पशुरूप में उत्पन्न होते हैं।² इन बातों का ही वेदों में उल्लेख किया है।

जैनदर्शन में भी यह बताया है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति योग्य जीव जैसे कर्म बन्धन करेगा उसे वैसी ही गति मिलेगी। इस प्रकार जीव की गति कर्मानुसारी है। श्रमण भगवान महावीर ने सुधर्मा स्वामी की शंका का सयुक्तिक समाधान

¹ को सव्वधेव सरिसाऽसरिसो वा इहभवे परभवे वा।

सरिसासरिसं सव्वं णिच्चण्णित्थं च॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1796

² (क) गणधरवाद, वही, पृ. 101

(ख) तस्माद् विचित्रादिह कर्मणो वै

विचित्रयोनिश्चमणं सुसिद्धम्॥ महावीर देशना, श्लोक 9, पृ. 166

दिया। इस प्रकार सादृश्य का समर्थक स्वभाववाद को एकान्तरूप से न मानने पर कर्म के अस्तित्व की सिद्धि होती है तथा यह निश्चित हो जाता है। जगत् की विचित्रता का जो कारण है, वह कर्म है।

सादृश्य का समर्थक स्वभाववाद एवं उसकी समीक्षा

विश्व की रचना एवं परिणाम रूप घटना की विचित्रता के कारणों के सम्बन्ध में कई वाद दृष्टि गोचर होते हैं। औपनिषदिक युग से पूर्वकाल में वैदिक मनीषियों ने इस विचित्रमयी सृष्टि, वैयक्तिक विभिन्नता, प्राणी की विभिन्न सुख-दुःख जनक अनुभूतियों तथा शुभाशुभ प्रवृत्तियों के कारण की खोज एक या अनेक वादों यथा देववाद, यज्ञवाद और ब्रह्मवाद में की। उनकी खोज का मुख्य आधार बाह्य था जिससे स्थायी समाधान नहीं मिला।

इस विषय का उल्लेख सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद में मिलता है। वहां प्रश्न किया गया है कि — इस विश्ववैचित्र्य का क्या कारण है? कहां से हम सब उत्पन्न हुए हैं? किसके बल पर हम सब जीवित हैं? इन सबका उत्तर दिया है — काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि पंचभूत और पुरुष, ये जगत् के कारण हैं। उस समय तक के चिन्तक विश्ववैचित्र्य के कारण खोज कर रहे थे किन्तु निर्णय पर नहीं पहुंचे थे कि काल आदि में से कौनसा वाद माना जाए?¹

स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार — जगत् में जो कुछ भी कार्य हो रहे है, वे सब पदार्थों के अपने-अपने स्वभावों से हो रहे है। इसमें काल-नियति, कर्म कोई कुछ नहीं कर सकता। आम की गुठली में ही आम का वृक्ष और फल होने का स्वभाव है, पर नीम की निम्बोली में आम का वृक्ष या फल होने का स्वभाव नहीं है। इक्षु में मधुरता करेले में कटुता क्यों होती है? इसमें उनका अपना-अपना स्वभाव का कारण है। सूर्य और अग्नि स्वभाव से गर्म है, चन्द्रमा शीतल है। क्या काल, नियति या कर्म इन्हें ठण्डा या गर्म करते है, इनका स्वभाव ही ऐसा है। बर्फ का स्वभाव ही शीतल है, क्या उसे कोई गर्म कर सकता है? वैसे ही जो जिस अवस्था में भरता है, वह उसी रूप में उत्पन्न होता है, क्योंकि जैसा

¹ श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/1/2

बीज है, वैसा ही फल होगा। स्वभाववादी अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये ओर भी उदाहरण देते हैं — कोई कितना भी बल लगावे किन्तु वटवृक्ष पर आम का फल, गुलाब के पौधे पर चम्पा, चमेली आदि के फूल उत्पन्न नहीं हो सकते, सभी वस्तुएं सभी प्राणी और सभी घटनाएं अपने-अपने स्वभाव को लेकर होती हैं। कोई भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। जिसका जैसा स्वभाव होता है वैसा ही उसका परिणाम या परिपाक होता है।¹

गोम्मटसार, बुद्धचरित और सूत्रकृतांग टीका में कहा गया है — बबूल आदि के कांटों को तीखा कौन करता है? मृग, मोर तथा अन्य पक्षियों को विचित्र रंगों से कौन चित्रित करता है? इन सबका एक मात्र कारण स्वभाव है। अतः इस सृष्टि की विचित्रता का कारण कर्म, काल, ईश्वर आदि अन्य कोई नहीं दिखते हैं। विश्व में सब कुछ स्वभाव से निर्हेतुक होता है। दूसरे के प्रयत्न या इच्छा को इसमें अवकाश नहीं है।²

शास्त्रवार्ता समुच्चय में स्वभाववाद का पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया है — जीव का गर्भ में प्रविष्ट होना विविध अवस्थाओं को प्राप्त करना, शुभ-अशुभ अनुभवों का होना स्वभाव के बिना शक्य नहीं है। इसलिए समस्त घटनाचक्र का कारण स्वभाव ही है। जगत के सभी उस पदार्थ से रहते हैं और किसी की इच्छा के बिना ही फिर स्वभाव से निवृत्त हो जाते हैं।

जगत में जो कुछ भी घटित हो रहा है उसका आधार वस्तु का निजस्वभाव है। स्वभाववादी को किसी सहायता की अपेक्षा नहीं है।

चार्वाक दर्शन की मान्यता भी यही है, वह विश्व को भूतों के आकस्मिक संयोजन का फल मानता है, भूतों में विश्वनिर्माण की शक्ति मौजूद है। जिस प्रकार आग का स्वभाव गर्म होना तथा जल का स्वभाव शीतलता प्रदान करना है, उसी प्रकार भूतों का स्वभाव विश्व का निर्माण करना है। चार्वाक के इस मत को स्वभाववाद (Naturalism) कहा जाता है।³

¹ देवेन्द्रमुनि, कर्मविज्ञान, भाग 1, पृ. 306

² (क) को करइ कंठ्याणं, तिर्यक्षत्तं बिहगमादिणं।

विविहत्तं तु सहाओ, इदि सर्वंपि य सहाओत्ति॥ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) पृ. 883

(ख) कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृग-पक्षिणां च।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न, कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥ सूत्रकृतांग टीका

³ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 73

स्वभाववाद की समीक्षा :

स्वभाववाद का निरसन करते हुए न्याय कुसुमाञ्जलि में लिखा है कि "हेतु अथवा उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता है। स्व से स्व की उत्पत्ति अथवा किसी अलीक (असत्) पदार्थ से भी कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती स्वभाव से भी कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती" क्योंकि कार्यों की अवधि नियत होती है।¹

यही बात सुधर्मा स्वामी ने विशेषावश्यकभाष्य में रखी है – घटादि कार्य में कुम्भकार, चक्र आदि रूप कर्ता और करण प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः उनको स्वभावगत मानने में आपत्ति नहीं है, किन्तु शरीरादि कार्य तो बादल के विकार के समान स्वाभाविक है, अतः कर्म-रूप करण की आवश्यकता नहीं है।² एकान्त स्वभाववाद को मानने पर कई विसंगतियाँ होती हैं, जैसे कि –

1. स्वभाववाद जागतिक वैचित्र्य की व्याख्या कर सकता है, लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में वह पूर्णतया तर्कसंगत सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्वभाववाद मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उत्पन्न होगी।
2. स्वभाववाद जीवन में पुरुषार्थ की अवहेलना करेगा और पुरुषार्थ के अभाव में नैतिक प्रगति एवं नैतिक आदेश का कोई अर्थ नहीं रहेगा।
3. यदि स्वभाववाद यह मानता है कि स्वभाव निमित्त होता है तो वह निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, और फिर स्वभाव किस कारण बनता है, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण होगा।
4. स्वभाववाद यदि यह मान लेता है कि सब कुछ 'स्वभाव से होता है तो आत्मा में विभाव मानना उचित नहीं होगा, जिससे अनैतिक आचरण, असदप्रवृत्ति, ज्ञान-शक्ति की सीमितता आदि के कारण बताने कठिन हो जायेंगे, क्योंकि सब कुछ स्वभावजन्य है।
5. सदाचरण और दुराचरण यदि स्वभावजन्य है तो फिर दुराचारी कभी भी सदाचारी नहीं हो सकेगा और इस प्रकार नैतिक विकास अथवा मुक्ति का कोई भी अर्थ नहीं रहेगा।

¹ डा. श्री नारायण मिश्र, न्यायकुसुमाञ्जलि (प्रथम स्तबक), पृ. 23

² गणधरवाद, दलसुख भाई, पृ. 98

इन सब समस्याओं का कारण है— एकान्त स्वभाववाद को मानना। जैन कर्म सिद्धान्त में भी स्वभाव का महत्वपूर्ण स्थान है। कर्मसिद्धान्त यह बताता है कि — मूल स्वभाव का अवरोध हो जाना ही बन्धन (कर्मावरण) है, और कर्मावरण का अलग हट जाना और मूल स्वभाव का प्रकट हो जाना ही मुक्ति है किन्तु एकान्त स्वभाववाद को मानना युक्तिसंमत नहीं है।¹

एकान्त स्वभाववाद की समीक्षा — स्वभाववादी यदि यह कहे कि जगत के समस्त कार्य को निष्पन्न करने में स्वभाव ही एकमात्र कारण है, तब उनका कथन एकान्त होने से मिथ्या होगा। प्रत्येक पदार्थ में अपने द्वारा सम्भावित कार्य करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य की निष्पत्ति या विकासशीलता केवल स्वभाव से नहीं हो सकती, उसके लिए अन्य कारण—सामग्री भी अपेक्षित होती है। मिट्टी के पिण्ड में घड़े उत्पन्न करने का स्वभाव होने पर भी उसकी उत्पत्ति कुम्भकार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि पूर्ण सामग्री के होने पर ही हो सकती है। उस घड़े को पकाने, ऊपर से रंगने आदि विकास का कार्य पुरुषार्थ से होता है, स्वभाव से नहीं। कमल की उत्पत्ति कीचड़ से होती है, अतः पंक आदि की सामग्री की, कमल की सुगन्ध और उसके मनोहर रूप के प्रतिहेतुता स्वयंसिद्ध है, उसमें स्वभाव को मुख्यता देना उचित नहीं है।

यह ठीक है कि किसान का पुरुषार्थ खेत जोतकर बीज बो देने तक है, आगे अंकुरों का निकलना तथा उससे क्रमशः वृक्ष के बन जाने, रूप असंख्य कार्य—परम्परा में उसका साक्षात् कारणत्व नहीं है, परन्तु कृषक का यदि बीज बोने का प्रयत्न नहीं होता तो, बीज का वृक्ष बनने का स्वभाव व्यर्थ होता।

स्वभाववाद को अहैतुकवाद मानना भी प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित है, क्योंकि जगत में प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण — सामग्री से निष्पन्न होता देखा गया है। इसी प्रकार स्वभाववाद को लेकर निराशा का अवलम्बन लेना भी उचित नहीं है कि इस पदार्थ का स्वभाव अमूक पदार्थ बनने का है ही नहीं, तब फिर पुरुषार्थ करने से अथवा काल की प्रतीक्षा करने या भाग्य कोसने से क्या होगा? रेतीली जमीन में कपास, गन्ना, गेहूँ आदि पैदा करने का स्वभाव नहीं है, किन्तु आज के वैज्ञानिकों ने रेगिस्तान की

¹ (क) डा. सागरमल जी, जैन-बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 267

(ख) डा. महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य', जैन दर्शन, पृ. 82

रेतीली भूमि को भी अपने पुरुषार्थ से रासायनिक मिश्रणों द्वारा उपजाऊ बना दिया है, अतः स्वभाववाद का आश्रय लेकर निराशावाद की स्थान देना उचित नहीं है। इस प्रकार एकान्त स्वभाववाद से कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं, व्यक्ति का जैसा पुरुषार्थ व जैसे कर्म होंगे उसे वैसा ही बनना पड़ेगा।¹

सादृश्यवाद को मानने पर यह एक भ्रान्ति हो जायेगी कि जो मनुष्य है, वह मरकर पुनः मनुष्य ही बनेगा, तब वह कितने ही अनैतिक आचरण करें या पापाचार करें, कोई भय की बात नहीं क्योंकि उसे ज्ञात है कि मुझे नरक में नहीं जाना पड़ेगा, अतः धर्म-क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं है, इस तरह अनैतिकता व्याप्त हो सकती है।

स्वभाववाद का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए विशेषावश्यकभाष्य में बताया है कि – स्वभाव मूर्त है या अमूर्त? यदि मूर्त है तो कर्म और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं रहेगा, और यदि अमूर्त है तो उपकरणरहित होने शरीरादि का निर्माण नहीं कर सकता। स्वभाव को कारण-रहित मानो तो परभव में सादृश्य कैसे घटित होगा? सादृश्य के समान वैसादृश्य भी कारण-रहित हो जाएगा। जबकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।²

स्वभाव को वस्तु धर्म मानने पर वह सदा एक जैसा नहीं रह सकता, ऐसी दशा में वह सादृश्य शरीरादि को किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा? अतः भगवान महावीर ने "स्वभाव" को "कर्म" का ही अपर नाम माना है। तब यह सिद्ध होता है कि जगतविचित्रता का कारण कर्म है।

इहलोक और परलोक के वैचित्र्य का आधार : कर्म सिद्धान्त

जगत का वैचित्र्य अर्थात् जगत के प्राणियों की विविध रूपता विषमता का आधार कर्मवाद है। जैन दर्शन का यह निश्चित सिद्धान्त है कि स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं— "एगे आया"। जब सभी आत्माएँ समान हैं तो उनका रूप एक सा होना चाहिए। इतनी विरूपता और विचित्रता क्यों? इसका समाधान इस प्रकार दिया गया कि आत्माओं की यह विभिन्नता, विविधता या विरूपता स्वयं की नहीं है। वह कर्म नामक

¹ कर्मविज्ञान, भाग 1, पृ. 306

² गणधरवाद, दलसुखभाई, पृ. 45

विजातीय पदार्थ की है, जो आत्माओं की शुद्धता को भंग करके उनकी स्थिति में भेद डालता है, विरूपता या विभिन्नता पैदा करता है।

आत्मा को मणि की उपमा देते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसी तथ्य को उद्धृत किया गया है :

मलावृतमणेव्यक्तिर्याथानेक विधेक्ष्यते।

कर्मावृत्तात्मन स्तद्वत् योग्यता विविधा न किम्।।¹

जिस प्रकार मल से आवृत मणी की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है, उसी प्रकार कर्म—मल से आवृत आत्मा की विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

यदि कर्म को न माना जाए तो जन्म—जन्मान्तर एवं इहलोक—परलोक का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकेगा। कर्म के अनुसार ही प्राणी को गति मिलती है।

यही प्रश्न भगवान ने विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत भी उठाया है — कर्म के अभाव में परलोक की सत्ता ही नहीं रहेगी, तथा भव का नाश भी निष्कारण मानना पड़ेगा, मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। जबकि प्रत्येक दर्शन में कर्म को किसी न किसी अवस्था में मानते हैं।²

विभिन्न दर्शनों और धर्मग्रन्थों में कर्म और पुनर्जन्म का निरूपण :

ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत :

ऋग्वेद वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन धर्मशास्त्र माना जाता है। ऋग्वेद में कर्म की धारणा अपने पूर्व रूप में ऋत की धारणा से प्राप्त होती है। उसकी एक ऋचा में बताया गया है कि “मृत मनुष्य की आँखें सूर्य के पास और आत्मा वायु के पास जाती है, तथा यह आत्मा अपने कर्म के अनुसार पृथ्वी में, स्वर्ग में, जल में और वनस्पति में जाती है।”³ इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध का प्राचीन संकेत मिलता है।

¹ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, 191

² विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1640

³ ऋग्वेद, 10/16/3

उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख

बृहदारण्यक उपनिषद में बताया है कि जो आत्मा जैसा आचरण करता है जैसा कर्म करता है, वैसा ही वह बनता है। सत्कर्म करता है तो अच्छा बनता है और पाप कर्म करने से पापी बनता है। पुण्य कर्म करने से पुण्यशाली बनता है। जैसा कर्म होता है तदनुसार वह अगले जन्म में बनता है।¹

कठोपनिषद में बताया है कि "आत्माएं अपने-अपने कर्म के अनुसार और श्रुत के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेती है।"²

कौषीतकी उपनिषद में कहा गया है कि "आत्मा अपने कर्म और विद्या के अनुसार कीट, पतंगा, मत्स्य, पक्षी, बाघ, सिंह और सर्प मानव या अन्य किसी प्राणी के रूप में जन्म लेता है।"³ छान्दोग्य उपनिषद में भी कहा है — जिसका आचरण रमणीय है, वह मरकर शुभ-योनि में जन्म लेता है और जिसका आचरण दुष्ट होता है वह कूकर-शकर, चाण्डाल आदि अशुभ योनियों में जन्म लेता है।⁴

बौद्ध दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

भगवान बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की आधारशिला है कर्म सिद्धान्त। प्रतीत्यसमुत्पाद का चक्र कर्म के आधार पर चलता है। द्वादशांग भवचक्र की धुरी कर्म सिद्धान्त पर आधारित है। कर्म और फल के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण भवचक्र घूमता रहता है। पुनर्जन्म को स्वीकारने पर ही यह व्यवस्था चलती है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिला, उन कर्मों का फल अगले जन्मों में मिलता है। बोधिप्राप्त करने के बाद बुद्ध को अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हुआ था। उन्होंने अपने-अपने कर्मों से प्रेरित प्राणियों को दिविध योनियों में जाते-आते प्रत्यक्ष देखा।

कर्म ही प्राणियों को हीन और उत्तम बनाता है, "जैसा कर्म वैसा फल"। यदि मनुष्य हिंसा, क्रोध व ईर्ष्या करता है, लोभ या अभिमान करता है, वह वर्तमान शरीर को

¹ बृहदारण्यक उपनिषद, 4/4/3-5

² कठोपनिषद, 2/5/7

³ कौषीतकी उपनिषद, 2/2

⁴ छान्दोग्योपनिषद 5/10/7

छोड़कर मरने के बाद अकुशल कर्म से दुर्गति में जाता है, और जो मनुष्य कुशल कर्म करता है, वह सुगति में जाता है।¹

बौद्धदर्शन अपरिवर्तनशील नित्य आत्मा को नहीं मानता है फिर भी कर्म और पुनर्जन्म को मानता है। इस दृष्टि से उसमें तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं :

1. दृष्टधर्म-वेदनीय : इसी जन्म में फल देने वाला।
2. उपपद्य-वेदनीय : अगले जन्म में फल देने वाला।
3. अपरपर्याय वेदनीय : अगले जन्म के पश्चात् किसी भी जन्म में फल देने वाला।

बौद्ध दर्शन में योनियाँ भी मानी हैं, जिन्हें भूमि कहा जाता है – ये भूमियाँ चार हैं :-

1. अपाय भूमि : दुर्गतियाँ – (नारक, तिर्यञ्च, प्रेत और असुर)
2. कामसुगत भूमि : सुगतियाँ – (मनुष्य और कुछ देव जातियाँ)
3. रूपावचर भूमि : (विशिष्ट देव जातियाँ)
4. अरूपावचर भूमि।²

तथागत बुद्ध कर्म और पुनर्जन्म को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं – “कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और स्वयं विपाक कर्म सम्भव है, कर्म से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता रहता है।”³ इस प्रकार बौद्धदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध बताया है।

पातंजल योग दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म :

योग-दर्शन पुनर्जन्म स्वीकार करता है- जैसे नवजात शिशु को भयंकर पदार्थ देखते ही भय और दुःख होता है, जबकि इस जन्म में उसके कोई संस्कार नहीं, इसलिए पूर्वजन्म रूप 'कर्म' को मानना आवश्यक है। यह अनुमान पूर्वजन्म को सिद्ध करता है, पूर्वजन्म सिद्ध होने पर पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है।

¹ मज्झिमनिकाय, 3/4/5

² डा. सागरमल जी, जैन बौद्ध ... अध्ययन, वही, पृ. 252

³ कम्म विपाका वसन्ति, विपाको कम्मसम्भवो।

कम्म पुनर्भवो हेति, एवं लोको पवततीति॥ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 478

जीव की जैसी प्रवृत्ति होती है, जैसे संस्कार मित्त में पड़ते हैं, उनको कर्मसंस्कार, कर्माशय या कर्म कहते हैं। ये कर्म चार प्रकार के हैं — कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल, अशुक्लकृष्ण।

अनुभवजन्य संस्कार वासना है और प्रवृत्ति जन्य कर्मसंस्कार कर्म है, वासना स्मृति को जन्म देती है और कर्म (क्लेश युक्त होने पर) जाति, आयु और भोगरूप विपाक को जन्म देता है। इस प्रकार कर्म की सिद्धि होती है।¹

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानते हैं, नित्य का अर्थ है अनादि अनन्त। अर्थात् आत्मा वर्तमान देह की उत्पत्ति से पहले और बाद में भी अस्तित्व रखती है। जिससे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों की सिद्धि हो जाती है। न्यायसूत्र में बताया है कि— मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि, रागद्वेषादि दोषों से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है।²

जब तक धर्माधर्म प्रवृत्तिजन्य संस्कार बने रहेंगे, तब तक शुभाशुभ कर्मफल भोगने के लिए जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा जिससे जीव नये-नये शरीर ग्रहण करता रहेगा।

जीवों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर, अलग-अलग शक्ति और स्वभाव हम देखते हैं, उस वैचित्र्य का कारण उस जीव के द्वारा किये गये कर्म हैं। पूर्वजन्मों के विचित्र कर्मों को माने बिना जीवों में जो भेद होता है, वह स्पष्ट नहीं हो सकता। एक ही माता-पिता के समान परिस्थिति में पले हुए बालकों में भी भेद दिखाई देता है, वह भेद पूर्वजन्म के कर्मों के कारण है। जहाँ पूर्वजन्म मानते हैं वहाँ पुनर्जन्म को मानना आवश्यक है।

शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश भी नहीं होता। आत्मा तो एक शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है। पूर्व शरीर कर त्याग मृत्यु है और नये शरीर का धारण करना जन्म है।

¹ योगदर्शन व्यासभाष्य, 2/9, 4/10

² दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोपाये।। न्यायसूत्र, 1/1/2

शरीर की उत्पत्ति विभिन्न कर्मों के कारण होती है। पूर्व शरीर से किये हुए कर्मों का फल ही जन्मों का कारणभूत है। पंचभूतों से अपने आप देह की उत्पत्ति नहीं होती। भौतिकवादी कहते हैं कि — मात्र पांच भूतों के संयोग से शरीर बन जाता है, तो फिर शरीरोत्पत्ति में निमित्त कारणरूप पूर्व कर्म मानने की आवश्यकता कहाँ है? जैसे व्यक्ति पुरुषार्थ करके भूतों से घड़ा बनाता है वैसे ही स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर भूतों से देह की उत्पत्ति हो जाती है? इस प्रश्न का न्यायवैशेषिक उत्तर देते हैं कि घटादि की उत्पत्ति में आहार आदि निमित्त की जरूरत नहीं होती, जबकि देहोत्पत्ति में इनकी आवश्यकता है। शुक्र-शोणित के संयोग से हमेशा शरीरोत्पत्ति नहीं होती, उसमें पूर्वकर्म की भी अपेक्षा रहती है। अतः सिद्ध होता है कि कर्मों के कारण विभिन्न जाति व योनियों में देह की प्राप्ति होती है।¹

गीता में कर्म और पुनर्जन्म

गीता भी आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म को स्वीकार करती है। श्रीकृष्ण कहते हैं — जैसे जीवात्मा को इस शरीर में कुमार, युवा, और वृद्ध अवस्थाएं प्राप्त होती हैं, वैसे ही इसे अन्य शरीरों की प्राप्ति भी होती है। जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को बदलकर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीर ग्रहण करता है।²

गीता में पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाले कई तथ्य मिलते हैं — जैसे कि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है।³

इसी बात को शारीरिक अवस्थाओं से परिवर्तन से स्पष्ट किया गया है कि — जिस प्रकार शरीर में कुमार, युवा एवं वृद्धावस्था होती है, उसी के समान जीवात्मा को नए शरीर की प्राप्ति होती है।⁴ इससे यह स्पष्ट होता है जीवत्व स्थिर है किन्तु शरीर बदलता रहता है। पुनर्जन्म को मानने पर गीता यह भी सिद्ध करती है कि — जीव कर्म के कारण विभिन्न योनियों में जन्म लेता है — यदि व्यक्ति की मृत्यु सत्ववृद्धिकाल (शुभभाव) में होती

¹ मोतीचन्द कापड़िया, जैनदृष्टि ए कर्म, (श्री महावीर जैन विद्यालय), पृ. 23

² गीता, अध्याय 2/22

³ गीता, 2/27

⁴ गीता, 2/13

है तो वह शुद्धलोक को प्राप्त करता है।¹ तथा राजःवृद्धिकाल में होने पर वह कर्माश्रयता मनुष्यों में जन्मता है और तमोगुण (अशुभभाव) के वृद्धि से मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।²

गीता में यह भी माना गया है कि प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के आधार पर उच्चलोक (दैवीय जीवन) मध्यलोक (मानवीय जीवन) और अधोलोक (नारकीय जीवन एवं पशु जीवन) को प्राप्त करता है।

जैनदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

जैनदर्शन ने कर्म सिद्धान्त के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। जैन विचारधारा के अनुसार प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि की जो जन्मना नैसर्गिक विषमता है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्वजन्मों के कृत्य है। अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है।

स्थानांगसूत्र में भूत, वर्तमान और भावी जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं -

1. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देवें।
2. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी (अगले) जन्मों में फल देवें।
3. भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें।
4. भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें।
5. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें।
6. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें।
7. भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें।
8. भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें।³

इस प्रकार जैन दर्शन में वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है।

जैन दर्शन के अनुसार चार प्रकार की गतियाँ हैं :

1. देव
2. मनुष्य
3. तिर्यञ्च, व
4. नरक

¹ गीता, 14/14

² गीता, 14/15

³ स्थानांगसूत्र, 8/

प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। स्थानांग सूत्र में इन गतियों में जाने के कारण भी बताये हैं कि अमुक कर्म करने से प्राणी इस गति में जाता है।

नरक गति के बन्ध-कारण

1. महारम्भ – प्रमत्तयोग के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा पर बड़े पैमाने करना।
2. महापरिग्रह – वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छाभाव व आसक्ति रखना।
3. पञ्चेन्द्रियवध – प्रमत्तयोग पूर्वक मारने की बुद्धि से वध करना।
4. मांसाहार – मांस, मछली, अंडों आदि का सेवन करना।

निम्न चार तिर्यञ्च गति के बन्ध कारण हैं –

1. माया : – छल कपट करना
2. गूढ़ माया – हृदय में किसी बात को छिपाकर उपर से अच्छा व्यवहार करना।
3. असत्य भाषण करना
4. झूठे तौल और झूठे माप रखना।

मनुष्य गति के बन्ध कारण चार हैं –

1. उत्तम भद्र प्रकृति होने से।
2. स्वभाव में विनयभाव होने से।
3. दयालु स्वभाव होने से।
4. स्वभाव में मात्सर्य न होने से।

देव गति में जाने के चार कारण हैं –

1. सरागसंयम – संयम ग्रहण कर लेने पर भी राग का अंश रहना।
2. संयमासंयम – कुछ संयम कुछ असंयम
3. बालतप – सम्यग्ज्ञान से रहित तप।
4. अकामनिर्जरा – अनिच्छा से, दबाव से, पराधीनता से कष्ट सहना।¹

¹ (क) स्थानांगसूत्र, 4/160

(ख) कर्मविज्ञान, भाग 4, वही, पृ. 338

इस प्रकार जीव जिस प्रकार के कर्म बन्धन करता है, उसे उसी प्रकार की गति मिलती है। पर यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य ही बनेगा, या तिर्यञ्च योनि से जीव मरकर पुनः तिर्यञ्चयोनि में ही जन्म लेगा, ऐसा एकान्त रूप से सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि प्राचीन इतिहास में कई उदाहरण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है प्राणी किस प्रकार अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में चित्र-सम्भूति की कथा वर्णित है उसमें उनके 6 भवों का चित्रण किया है :

1. गोपाल पुत्रद्वय ने मुनि दीक्षा ग्रहण की, आयुष्य पूर्ण कर मुनि जीवन में जुगुप्सावृत्ति के कारण दासीपुत्र हुए।
2. सर्पदंश से मरकर वन्य मृग बने।
3. शिकारी के बाण से मरकर राजहंस हुए।
4. भूलदत्त चाण्डाल के पुत्र हुए, नाम रखा गया चित्र और सम्भूति।
5. वहां से सम्भूत ब्रम्हदत्त चक्रवर्ति बना और चित्र अपनी संयमाराधना के फलस्वरूप श्रेष्ठीपुत्र बना।
6. ब्रम्हदत्त चक्रवर्ति नरक में और श्रेष्ठीपुत्र जो मुनि बने वे मोक्ष में गये।¹

इस प्रकार प्रत्येक भव में अलग-अलग योनियाँ व गति मिली।

संजयीय अध्ययन में स्पष्टतः पुनर्जन्म और शुभाशुभ कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रूप गठबन्धन बताते हुए कहा गया है – “जो सुखद या दुःखद कर्म जिस व्यक्ति ने किये हैं, वह अपने उन कर्मों से युक्त होकर परभव में जाता है, अर्थात् – अपने कृतकर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।”²

उन्नीसवें, मृगापुत्र अध्ययन भी पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट करता है। इसमें मृगापुत्र अपने पूर्वजन्म का तथा देवलोक के सुखों का साथ ही नरक ओर तिर्यञ्चगति में प्राप्त हुई भयंकर वेदनाओं का वर्णन करता है।³

¹ उत्तराध्ययनसूत्र, 13/6

² उत्तराध्ययनसूत्र, 18/17

³ उत्तराध्ययनसूत्र, 20/5

आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में “अप्यणो अत्थितपद” के प्रथम पद में यह उल्लेख किया है कि – आत्मा को पूर्वजन्म का ज्ञान जातिस्मरण से होता है। आत्मा सर्व दिशाओं और अनुदिशाओं में गति करती है, यहाँ जन्मान्तर के लिए जाते हुए जीव की गति का निर्देश है। जिसको अन्तराल गति कहते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन प्राचीनकाल से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार करता है।¹

नन्दीसूत्र के अनुयोग प्रकरण में “मूल पढमाणुओगे” में तीर्थकरों के भवान्तरों का वर्णन मिलता है। क्योंकि तीर्थकरों का विकास एक जन्म की कहानी नहीं है। पूर्वभवों के उल्लेख के साथ तीर्थकरत्व की उपलब्धि, यह सब कर्म-सिद्धान्त की प्रस्थापना के लिए बताया है।²

सुखविपाक और दुःखविपाक सूत्र में पूर्वकृत शुभ (पुन्य) और अशुभ (पाप) कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए सुखद दुःखद जन्म का तथा उसके पश्चात् उस जन्म में (प्राप्त जन्म) अर्जित शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अगले जन्म में स्वर्ग-नरक प्राप्ति रूप फल का निरूपण सुवाहुकुमार या मृगापुत्र के माध्यम से स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार समरादित्य केवली की कथा भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी अनेक घटनाओं से परिपूर्ण है। समरादित्य के साथ साथ द्वेषवश उनका विरोधी अग्निशर्मा सतत कई जन्मों तक विभिन्न योनियों में जन्म लेकर वैर वसूल करता है।

यह अटल सिद्धान्त है कि— अतीत (पूर्वजन्म) अथवा अनागत (पुनर्जन्म) जीवों के अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार ही होता है। सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण विभिन्न गतियों-योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। किन्तु एक गतिवाद वालों की मान्यता है कि यह जीव जिस योनि में जन्मा है, उसी योनि में सदाकाल रहता है। पुनः पुनः मृत्यु पाकर फिर से उसी योनि में उसी स्वरूप में जन्म लेता है, अर्थात् भूतकाल में जैसा जन्म था, मृत्यु के बाद भविष्य में वैसा ही जन्म लेता है। यदि वह मनुष्य है तो मनुष्य ही बनेगा। अश्व मृत्यु पाकर अश्व ही बनता है। गधा मृत्यु पाकर गधा ही बनता रहेगा, चाहे वह हजार लाख या करोड़ों जन्म करें तो भी वह बार-बार अश्व ही बनेगा, गधा, गधा ही

¹ आचारांगसूत्र, सूत्र 2, पृ. 1

² नन्दीसूत्र, सूत्र 207, पृ. 189

बनेगा। इनका कहना है कि जीव का एक गति से दूसरी गति में गत्यन्तर—जात्यन्तर नहीं होती है।

यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि — यदि अश्व मृत्यु पाकर पुनः अश्व ही बनता है तब प्रथम अश्व बना ही कहां से? अनादिकाल से उस जीव का अश्व के स्वरूप में ही अस्तित्व मानना पड़ेगा, और ऐसा मानते हैं तो वह जीव अश्व के स्वरूप में कैसे आया? कब आया? उस आत्मा का एकेन्द्रिय पर्याय से पञ्चेन्द्रिय पर्याय तक विकास कैसे हुआ? फिर उत्थान और पतन का सिद्धान्त ही समाप्त हो जायेगा? विकासवाद का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। दुसरा प्रश्न यह है कि — जीव सीधा ही पंचेन्द्रिय पर्याय में स्थलचर के रूप में कहां से आ गया, क्योंकि जीव की यात्रा निगोद से शुरू होती है, सभी जीव निगोद के गोले में से निकले हैं, वहां तो एक-एक गोले में अनन्त जीव है। निगोद से निकला जीव सूक्ष्म स्वरूप से उपर उठकर बादर साधारण वनस्पतिकाय में कई जन्म धारण करता है। वनस्पतिकाय का चक्र पूरा करके पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय में कई असंख्य जन्म बिताकर प्रत्येक वनस्पति में आता है, जिससे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पर्याय में आता है। वहां से पंचेन्द्रिय पर्याय में पशु-पक्षी के रूप में जन्म लेता है, इस तिर्यच गति में से निकलकर भी कई बार नरक गति में चला जाता है।

इस प्रकार जीव का विकास धीरे-धीरे होता है, क्रमशः पंचेन्द्रिय पर्याय तथा उसमें भी मनुष्यगति प्राप्त होना अन्तिम विकास है। यदि विकासवाद समाप्त हो गया तो फिर किसी का मोक्ष भी नहीं होगा। तथा धर्म या कर्मक्षय के लिए पुरुषार्थ करना, सब निरर्थक हो जायेगा। संसार को एक स्थिर स्वरूप में मानना पड़ेगा। फिर पाप-पुण्य निष्फल हो जायेंगे। पापकर्मानुसार नरक में कोई जाए और फल भोगे, यह तथ्य भी नहीं रहेगा, उसी तरह किए हुए पुण्य से स्वर्ग गमन की सम्भावना भी नहीं रहेगी। इस तरह कई विसंगतियां आयेगी। न कर्मवाद रहेगा और न ईश्वरकर्तृत्व रहेगा, जबकि ईश्वरवादी सृष्टि का कर्ता ईश्वर को मानते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति में ईश्वर की कोई उपयोगिता ही नहीं रहेगी। ईश्वर निष्क्रिय-निरर्थक सिद्ध होगा। फिर यह प्रश्न उठेगा कि ऐसी नित्यभावमयी सृष्टि ईश्वर की निरर्थकता और निष्क्रियता में कैसे बनी? कब बनी? क्यों बनी? यदि बनाई तो फिर प्रलय का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। ईश्वर ने क्यों किसी को एकेन्द्रिय में रखा, और क्यों पंचेन्द्रिय में रखा? और जिसको पंचेन्द्रिय मनुष्य में रखा उसका भी स्थान

वहां निष्फल है। करना—कराना कुछ है ही नहीं, क्योंकि परिवर्तन सम्भव नहीं है, फिर क्या है? इस तरह एक गतिवादी अपने पक्ष का कथन करते हैं किन्तु इस पक्ष से पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित होते हैं जिसका कोई निराकरण संभव नहीं है। अतः यह पक्ष सम्यक् नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव को गति के अनुसार जन्म नहीं अपितु कर्म के अनुसार जन्म मिलता है। कर्मानुसार, योनि मिलती है।¹

कर्म के अभाव में परभव नहीं मान सकते हैं, यह तथ्य विशेषावश्यकभाष्य में भगवान महावीर ने इस प्रकार दिया कि— जिस प्रकार घड़े के निर्माण में कर्ता करण आदि सामग्री की अपेक्षा है, उसी प्रकार जीव को तथा उसके परभव के शरीर आदि के निर्माण को करण की अपेक्षा है। घड़े के निर्माण में कुम्भकार प्रमुख है, वैसे ही शरीरादि के निर्माण में कर्म प्रमुख है।²

इस भव में जैसी शुभ—अशुभ विचित्र क्रिया करते हैं, विचित्र कर्म करते हैं, उसी के अनुरूप ही परभव में विचित्र फल मिलता है।

कर्मसिद्धान्त पर आक्षेप और उनका समाधान

कर्मसिद्धान्त को अस्वीकार करने वाले विचारकों ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ त्रिष्टिशलाकापुरुष चरित में उन विचारकों के द्वारा दिये जाने वाले कुछ तर्कों का दिग्दर्शन कराया है। उनका तर्क है कि — एक प्रस्तर खण्ड जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अंगराग, माला, वस्त्र, और अलंकारों से उसकी पूजा की जाती है। वहाँ यह प्रश्न उठता है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौनसा पुण्य किया था? तथा अन्य प्रस्तरखण्ड जिस पर खड़े रहकर लोग मल—मूत्र विसर्जन करते हैं, उसने कौनसा पाप—कर्म किया था? यदि प्राणी कर्म से ही जन्म ग्रहण करते हैं और मरते हैं, तो फिर जल के बुदबुद किस शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं।

कर्मसिद्धान्त के विरोध में दिया गया यह तर्क वस्तुतः एक भ्रान्त धारणा पर खड़ा हुआ है। कर्म सिद्धान्त का नियम शरीरयुक्त चेतन प्राणियों के लिए है, जबकि आलोचक

¹ अरुणविजय जी मा., कर्म की गति न्यायी, पृ. 14-15

² अहं इह भव सरिसो, परलोगो वि जइ सम्मओ तेणं।

कम्मफलं पि इहभव सरिसं, पडिवज्ज परलोए॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1781

ने अपने तर्क जड पदार्थों के संदर्भ में दिये हैं। कर्मसिद्धान्त का नियम जड-जगत के लिए नहीं है, अतः जड-जगत के दिये गये तर्क उस पर कैसे लागू हो सकते हैं? यदि हम जैनदृष्टिकोण के आधार पर उन्हें जीवनयुक्त माने तो भी यह आक्षेप असत्य ही सिद्ध होता है, क्योंकि जीवनयुक्त मानने पर यह भी सम्भव है कि उन्होंने पूर्व जीवन में कोई ऐसा शुभ या अशुभ कर्म किया होगा, जिसका परिणाम वे प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता।

कर्मसिद्धान्त पर दूसरा आक्षेप करते हैं

सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता है, और कर्म स्वयं जड होने से किसी चेतना की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ है, इसलिए कर्म को न मानकर ईश्वर को फल देने वाला मान सकते हैं। इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार किया है —

प्राणी जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नहीं चाहते हैं। पर चेतन के संग से कर्म में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे या बुरे विपाकों को नियत समय पर प्रकट करता है। फल देने के लिए ईश्वर की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सभी जीव चेतन है, वे जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, और जीव को कर्मानुसार फल मिलता है। जीव के चाहने से या न चाहने से फल नहीं मिलता।¹

विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद के अन्तर्गत सुधर्मा स्वामी जी कर्म को विचित्रता का कारण न मानकर स्वभाव को मानते हैं, उनका मानना है कि इस भव में जो खेती आदि कार्य किए जाते हैं उनका फल तत्काल मिलता है, किन्तु परभव के लिए जो दानादि कर्म किये जाते हैं, उराका कुछ भी फल नहीं मिलता, अतः परभव में विचित्रता का कोई कारण नहीं है, इसलिए मनुष्यादि का जैसा रूप इस भव में है वैसा ही परभव में प्राप्त होता है। उसमें विचित्रता की कोई संभावना नहीं है।

¹ डा. सागरमलजी जैन, जैन-बौद्ध और गीता का अध्ययन, वही, पृ. 325

भगवान महावीर ने इस शंका का समाधान दिया कि— परभव में जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है, कर्म के अभाव में निष्कारण उत्पत्ति मानने पर सादृश्यता भी घटित नहीं होती। यह निश्चित है कि उत्पत्ति निष्कारण नहीं होती वैसे ही दानादि क्रिया भी निष्फल नहीं होती।

समीक्षा

जैन दर्शन आत्मा, कर्म एवं पुनर्जन्म को मानने वाला दर्शन है। उसके अनुसार विश्व के प्रत्येक प्राणी में आत्मा और प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है, आवृत्त है। यही कर्म पुनर्जन्म का मूल कारण है। प्रत्येक आत्मप्रदेश के साथ कर्म—पुद्गलों का संयोग होता है और कर्म के उत्पन्न प्रभाव से आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करती रहती है। कर्म अपने आप में जड़ है, फिर भी आत्मा के साथ बद्ध होने से उसमें आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कर्म को हम 'चैतसिक — भौतिक बल' (Psycho-Physical Force) के रूप में जान सकते हैं। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है।

कर्म का विधान कहीं बाहर से आरोपित नहीं किया गया है, बल्कि यह हमारी अपनी ही प्रकृति में कार्य करता है। मानसिक आदतों का निर्माण, बुराई की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति का दृढ़ होना जाने वाला प्रभाव जो आत्मा की सशक्त स्वतंत्रता की जड़ खोखली करता है। कोई भी प्राणी कर्मफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं पा सकता है। कर्मविधान वैयक्तिक उत्तरदायित्व एवं भविष्यजीवन की यथार्थता पर बल देता है।

कर्म का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। किसी भी व्यक्ति का इतिहास उसके इस जन्म से प्रारम्भ नहीं है बल्कि जन्मों से चला आ रहा होता है, उन सभी जन्मों में साथ रहने वाला कर्म है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जब दृष्टिपात करते हैं तो निश्चित हो जाता है कि कर्म ही जीव को भवभागण कराता है। यह शरीर स्थूल है, यह सूक्ष्म कोशिकाओं बायोलोजिकल सेल्स से निर्मित है, लगभग 60—70 खरब कोशिकाएं हैं, उन कोशिकाओं में गुणसूत्र होते हैं, प्रत्येक गुणसूत्र 10 हजार जीन से बनता है, वे संस्कार सूत्र हैं, संस्कार सूत्रों से क्रोमोसोम बनता है, आज का शरीर विज्ञानी या जीव विज्ञानी इस विश्व की विचित्रता या तरतमता का कारण 'जीन' को मानता है, किन्तु कर्मशास्त्र की भाषा में 'असमानता' का कारण कर्म है। 'जीन' तो सिर्फ स्थूल शरीर का घटक है, किन्तु 'कर्म'

सूक्ष्म शरीर का घटक है। इसके एक एक स्कन्ध पर अनन्त अनन्त लिपियाँ लिखी हुई हैं। यही कर्म जो कार्मणा वर्गणा के पुद्गल है, वे जीव को अनेक गतियों में भेजते रहते हैं। कर्मवाद को मानने पर स्वभाववाद व एकगतिवाद का निराकरण हो जाता है। स्वभाववाद के अनुसार जीव का समान रूप से रहना ही उसका स्वभाव है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। जो इस भव में पुरुष है तो वह परभव में भी पुरुष रहेगा। स्त्री-स्त्री के रूप में ही रहेगी, कोई परिवर्तन नहीं होगा।

सुधर्मा स्वामी के मन में यह शंका थी कि जीव इस भव में जैसा होता है वैसा ही परभव में होता है, क्योंकि उन्होंने वेदों का अध्ययन किया, उनमें कुछ वाक्य ऐसे थे, जिससे सादृश्य को पुष्टि होती थी, किन्तु श्रमण भगवान महावीर ने उन पद-वाक्यों का सम्यक् अर्थ बताया, जिससे उनकी शंका का समाधान हुआ।

प्रस्तुत अध्याय में सादृश्य के समर्थक तत्व स्वभाववाद तथा वैसादृश के समर्थक कर्मवाद का परिचय देते हुए इहलोक और परलोक को अनेकान्त दृष्टि से सादृश्य और वैसादृश्य दोनों रूपों में बताया है। आचार्य जिनभद्र गणि ने विशेषावश्यकभाष्य में जो तर्कपूर्ण युक्तियाँ दी हैं, उनका समावेश इस अध्याय में किया है।

सुधर्मा स्वामी की शंका और भ. महावीर का समाधान संक्षिप्त में इस प्रकार है :-

शंका : सुधर्मा स्वामी की शंका थी कि - जैसा कारण है, वैसा कार्य होता है, अर्थात् जैसा बीज बोते हैं वही फल के रूप में उत्पन्न होता है, अतः जिस अवस्था में (नारी, पुरुष या पशु) मृत्यु होगी पुनः अगले भव में उसी रूप में उत्पत्ति होगी।

समाधान : यह एकान्त रूप से निश्चित नहीं है, कभी-कभी प्रयत्न विशेष से विचित्रता भी देखी जाती है- जैसे-गाय या बकरी के बालों से घास का होना है, तथा अन्य कई विचित्र परिणाम दृष्टिगत है। अतः भवांकुर बीज मनुष्य नहीं अपितु कर्म है, अतः जैसे कर्म होंगे, वैसी गति मिलेगी।

शंका : कर्म की विचित्रता के क्या कारण हैं?

समाधान : कर्म की विचित्रता के पाँच कारण हैं-

1. मिथ्यात्व, 2. अव्रत 3. प्रमाद 4. कषाय 5. योग

शंका : इस भव में जो फल पाने के लिए क्रिया की जाती है, वह तो प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे कृषक क्रिया। किन्तु परभव के लिए जो दानादि क्रिया है उसका फल इस भव में नहीं मिलता, अतः दानादि क्रिया व्यर्थ है?

समाधान : यदि दानादि क्रिया को असफल माने तो, कर्म की सत्ता पर प्रश्न उठेगा, कर्म के अभाव में परलोक की सत्ता नहीं रहेगी, जब परलोक ही नहीं रहेगा तो समानता और विचित्रता का कोई लाभ नहीं रहेगा।

शंका : परभव का हेतु कर्म को न मान कर स्वभाव को मान ले तो क्या हानि है?

समाधान : किसी भी वस्तु की उत्पत्ति स्वयं नहीं होती, उसे कर्ता-करण की अपेक्षा रहती है, अतः जीव को परभव में ले जाने के लिए तथा शरीर के निर्माण में जो सहायक तत्व है, वह कर्म है।

शंका : स्वभाव क्या है?

समाधान : स्वभाव वस्तु विशेष नहीं है, क्योंकि वह अनुपलब्ध है स्वभाव निष्कारण नहीं है, क्योंकि निष्कारण मानने पर वह सादृश्यता का हेतु नहीं रहेगा। स्वभाव वस्तु का धर्म भी नहीं है क्योंकि वह सदा एक समान नहीं रहता है। स्वभाव मूर्त तत्व है, जो कर्म का ही दूसरा नाम है।

व्यावहारिक स्तर पर यह मानने में कोई बाधा नहीं कि — जगत् में जो परिणमन या परिवर्तन होता है उसमें स्वभाव का महत्त्वपूर्ण अवदान होता है। किसी भी वस्तु तत्व के स्वस्वभाव की उपेक्षा सम्भव नहीं है, किन्तु यदि हम जगत् के सम्पूर्ण घटनाक्रम के पीछे स्वभाव को ही आधार मानेंगे तो फिर वस्तुओं में या व्यक्तियों में होने वाले विकारों को नहीं समझाया जा सकेगा। स्वभाव वस्तु का निजी गुण है किन्तु पर के निमित्त से उसमें विभाव भी होता है, स्वभाव को विभाव में परिवर्तन करने वाला कर्म है। यदि व्यक्ति में वैभाविक परिवर्तन स्वीकार नहीं करते हैं तो बन्धन-मुक्ति, पुण्य-पाप आदि की अवधारणाएँ निरर्थक हो जायेगी। प्रभु महावीर ने स्वभाव के साथ-साथ कर्म रूपी विभाव का भी प्रतिपादन किया है।

सप्तम अध्याय

सप्तम अध्याय बन्धन और मुक्ति की समस्या और उसका समाधान

भारतीय दर्शन में बन्धन से मुक्ति को प्रमुख प्रत्यय के रूप में माना है। भारतीय चिन्तन के अनुसार, नैतिक जीवन की समग्र साधना बन्धन या दुख से मुक्ति के लिए है। इस प्रकार बन्धन नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन दर्शन की प्रमुख मान्यता है।

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने जगत् की विचित्रता और आत्मा की परतन्त्रता को सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती "अविद्या", बौद्ध "वासना", सांख्य "क्लेश" और न्यायवैशेषिक "अदृष्ट" तथा जैन दर्शन में "कर्म" कहते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध है, समूचे लोक में फैले हुए हैं वे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बन्ध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। कर्म वर्गणा या कर्म परमाणु एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व है। इस सूक्ष्म भौतिक कर्म-द्रव्य (Karmic Matter) से आत्मा का सम्बन्धित होना ही बन्धन है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने कहा है "कषाय भाव के कारण जीव का कर्म पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्ध है।"¹ बन्धन आत्मा का अनात्म से, जड का चेतन से, देह का देही से संयोग है। यह संयोग ही दुःख है, क्योंकि समग्र दुःखों का कारण शरीर ही माना गया है। शरीर का तात्पर्य यहां पर सूक्ष्म शरीर से है, जो व्यक्ति के कर्म संस्कारों से बनता है। यह सूक्ष्म लिंग-शरीर या कर्म-शरीर ही प्राणियों के स्थूल शरीर का आधार एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण है। जन्म-मरण की इस परम्परा को ही भारतीय दर्शनों में दुःख या बन्धन माना गया है। उन दुःखों या बन्धनों से छुटकारा पाना 'मोक्ष' है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। श्री अरविंद इसे भारतीय विचारधारा का 'महानशब्द' मानते हैं। मोक्ष और मुक्ति शब्द क्रमशः मोक्ष और 'मुच' धातु से व्युत्पन्न होते हैं, जिनका अर्थ है - "स्वतंत्र होना" या "छुटकारा पाना" अर्थात् जीवन मरण के चक्र से और परिणामस्वरूप सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होना है।

भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ (मूल्य) माने गये हैं - अर्थ (आर्थिक मूल्य), काम (मानसिक मूल्य), धर्म (नैतिक मूल्य), और मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)। इनमें से आर्थिक

¹ सकषयात्वाज्जीव : कर्मणोयोग्याद् पुद्गलानादत्ते स बन्धः, तत्त्वार्थसूत्र 8/2

और नैतिक मूल्य साधन मूल्य है, तथा काम और मोक्ष साध्य मूल्य है। इस प्रकार दो मार्ग है — सांसारिक सुखों का मार्ग (काम) और कल्याण का मार्ग (मोक्ष)। कठोपनिषद में इन्हें प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया है। नचिकेता इहलौकिक और पारलौकिक सुख के प्रलोभन में नहीं पडता, वह केवल सत्य मार्ग जानने की हठ करता है। इसी प्रकार भौतिक सम्पत्ति से मैत्रीयी का असन्तोष होने पर वह सरल प्रश्न करती है कि “मैं ऐसी सम्पत्ति को लेकर क्या करूंगी, जिससे मुझे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती”। इससे ज्ञात होता है कि मोक्ष ही परम तत्व है।¹

जैन दर्शन में भी आत्मा का लक्ष्य परमात्म पद प्राप्त करने का है। जैन आचार दर्शन आत्मा के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा में पूर्ण आस्था रखता है। आत्मा की विभाव अवस्था बन्धन की अवस्था है और स्वभाव अवस्था ही मुक्ति है, अर्थात् वासनाओं के मल से युक्त अवस्था बन्धन और विशुद्ध आत्मतत्त्व की अवस्था मुक्ति है।

मुक्ति चरम सत्य की अनुभूति का विषय है, आत्मजागरण का क्षेत्र है। यह एक ऐसी अवस्था है — जहां आवागमन व जन्म-मरण का कोई प्रश्न नहीं उठता। वह अवर्णनीय है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए बन्धन से मुक्त होने के लिए बन्धन के कारणों व बन्ध का स्वरूप समझना आवश्यक है। “सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि — “किन कारणों से आत्मा बन्धती है? जिसे जानकर उन बन्धनों को दूर कर सके।”²

यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्ध होता है? या मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर अपना प्रभाव कैसे प्रभाव डालता है? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पडता, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा पर भी मूर्त कर्म का कोई प्रभाव नहीं पडना चाहिए। इन सब प्रश्नों के उत्तर आगे दिये गये हैं।

बन्धन और मुक्ति की समस्या बड़ी जटिल समस्या है। यह समस्या वर्तमान में ही नहीं, बल्कि भगवान महावीर के समक्ष भी थी। वेद-विद्वान ब्राह्मण मण्डिक जी के मन में ये शंकाएँ थीं कि जीव का कर्म के साथ संयोग ही बन्ध है तो वह बन्ध सादि है या

¹ (क) डा. अशोक कुमार लाड, भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन: एक तुलनात्मक अध्ययन मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल पृ. 4

(ख) बृहदारण्यकउपनिषद, 2/4/3

² सूत्रकृतांग सूत्र 1/1/1

अनादि? सादि मानने पर जीव और कर्म दोनों में कौन पहले उत्पन्न होता है, और अनादि होने पर जीव का मोक्ष कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। बन्ध के कारण क्या है? तथा मोक्ष में जाने के हेतु क्या है ? इसी प्रकार की शंका प्रभास जी को थी, उनको मोक्ष या निर्वाण के बारे में संशय था।

जीव के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने वाले सभी भारतीय दर्शनों ने बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व को स्वीकार किया है, अनात्मवादी बौद्धों ने भी बन्ध-मोक्ष को माना है। समस्त दर्शनों ने अविद्या, मोह, अज्ञान, मिथ्याज्ञान को बन्ध अथवा संसार का कारण और विद्या अथवा तत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। परन्तु मोक्ष के कारणभूत तत्त्वज्ञान के गौण-मुख्य भाव के सम्बन्ध में विवाद है। उपनिषदों के ऋषियों ने मुख्यतः तत्त्वज्ञान को कारण माना है और कर्म उपासना को गौणस्थान दिया है। यही बात बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, आदि दर्शनों को भी मान्य है। मीमांसादर्शन के अनुसार कर्मप्रधान है और तत्त्वज्ञान गौण है। जैन दर्शन ज्ञान-क्रिया अर्थात् ज्ञान-चरित्र के समुच्चय को मोक्ष का कारण स्वीकार करता है।¹ आचार्य उमास्वाति ने भी लिखा है "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः।"²

इस प्रकार के अनेक प्रकार के तथ्य होने के कारण मण्डिक और प्रभास जी के मन में शंका उपस्थित हुई, जिसका समाधान श्रमण भगवान महावीर ने किया व जिन भद्रगणिकृत विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद के अन्तर्गत तार्किक विवेचन दिया है, तथा उनके मन में रही शंका का निस्तार किया।

यह चिन्तन कर लेने पर हमें यह देखना है कि विशेषावश्यकभाष्य में किस प्रकार समस्याओं का समाधान किया गया है।

विशेषावश्यकभाष्य में बन्ध की समस्या और समाधान

आत्मा और कर्म परमाणुओं का संयोग होना बन्ध है। सभी भारतीय दर्शनों में कर्मबन्ध के संसरणों को एक आवश्यक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। ज्ञान, ध्यान और तप रूप समस्त साधनाएँ, बन्धन से मुक्ति के लिए ही की जाती है। कर्मबन्ध तथा बन्ध के कारणों को जान लेने पर भी कर्म और आत्मा के सम्बन्ध को लेकर कई

¹ गणधरवाद (प्रस्तावना) दलसुखभाई मालवणिया, पृ . 107

² "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" तत्त्वार्थसूत्र 1/1

प्रश्न उपरिस्थित होते हैं, कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से है, और कब तक रहेगा। यही शंका मण्डिक जी को हुई।

मण्डिक जी को सन्देह था कि जीव के बन्ध—मोक्ष है या नहीं? इस संशयोत्पत्ति का कारण वेदवाक्यों का विरोधाभास था। वेद—उपनिषदों में आत्मा के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं, और आत्मा को बन्ध—मोक्ष से रहित बताया। वह वाक्य इस प्रकार है — “स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेदः” अर्थात् यह आत्मा सत्त्वादि गुण रहित विभु है, उसे पुण्य—पाप का बन्ध है अथवा संसार नहीं है, वह कर्म से मुक्त नहीं, वह बाह्य—आभ्यन्तर कुछ नहीं जानता है।¹ इससे मण्डिक जी को यह प्रतीत हुआ कि — जीव को बन्ध और मोक्ष नहीं है। परन्तु इसके साथ दूसरा एक वाक्य ऐसा मिलता है कि — “न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोऽपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रियये न स्पृशतः” अर्थात् सशरीरी जीव के प्रिय और अप्रिय अर्थात् सुख और दुःख का नाश नहीं होता है, किन्तु अशरीरी, अमूर्त जीव को प्रिय—अप्रिय का स्पर्श नहीं होता।

अतः यह संशय होता है कि जीव को सत्य में बन्ध—मोक्ष होगा या नहीं? तब मण्डिक जी तीन युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। इसी चर्चा को विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में जिनभद्रगणि ने समाहित किया, जिसमें श्रमण भगवान महावीर ने ‘मण्डिक’ की शंकाओं का समाधान किया।

मण्डिक पुत्र की शंका

मण्डिक पुत्र के मन में शंका थी कि जीव का कर्म के साथ जो सम्बन्ध है वह सादि है या अनादि? वह सादि है तो प्रश्न होता कि पहले जीव तथा बाद में कर्म उत्पन्न होता है या पहले कर्म और फिर जीव उत्पन्न होता है? अथवा वे दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं? इस प्रकार से सादिबन्ध की सिद्धि नहीं होता², उसके लिए तीन युक्तियाँ हैं —

¹ छान्दोग्योपनिषद, 8/12/1

² “तं मण्णसि जति बंधो जोगो जीवरस कम्मणा समयं।

पुत्त्व पच्छ जीवो कम्मं व, सम्मं व तो होज्जा” विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1805

1. कर्म से पूर्व आत्मा की उत्पत्ति घटित नहीं हो सकती, क्योंकि खरशृंग की तरह उसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है।¹ यदि आत्मा की उत्पत्ति कर्मरूप कारण के अभाव में मानते हैं तो फिर आत्मा का विनाश निष्कारण मानना होगा। (जबकि आत्मा अनादिकाल से है, अतः उसकी उत्पत्ति और विनाश के लिए हेतु की आवश्यकता नहीं है) आत्मा को अनादि मानने पर आकाशवत् कर्म का बन्ध नहीं होगा, क्योंकि बन्धन का कारणभूत कर्म नहीं है, यदि कारण के अभाव में भी बंध मानते हैं तो मुक्त जीव के भी कर्मबन्ध होने लगेगा, और मोक्ष का अभाव हो जायेगा, अथवा कर्मबन्ध के अभाव में सदा मुक्त कहलायेगा। अतः पहले जीव और पीछे कर्म उत्पन्न होते हैं, यह अयुक्त है।²

2. कर्म जीव से पहले भी सम्भव नहीं है

जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी घटित नहीं होती है, क्योंकि जीव कर्म का कर्ता है, तथा कर्म की उत्पत्ति कर्ता के अभाव में नहीं हो सकती। यदि जीव रूपी कर्ता न हो तो कर्म कैसे होगा? जीव की तरह कर्म की भी निर्हेतुक उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि उत्पत्ति निष्कारण है तो विनाश भी कारण के अभाव में होना चाहिए, अतः कर्ता के अभाव में कर्म नहीं हो सकते।³

3. जीव तथा कर्म युगपद् उत्पन्न नहीं

जीव और कर्म यदि दोनों युगपद् उत्पन्न हैं तो उनमें से जीव को कर्ता और कर्म को उसका कार्य नहीं मान सकते हैं। जैसे गाय के दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं, उनमें से एक को कर्ता दूसरे को कार्य नहीं कहा जा सकता है, अतः जीव और कर्म के युगपद् उत्पन्न होने पर उनमें कर्ता कार्य का व्यवहार नहीं हो सकेगा।⁴

¹ 'न हि पुष्यमहेतुतो, खरं सिंगं वावसंभवो जुत्तो।

णिवकारण जात्यस्स य, णिवकारणतो च्चिय विणासो" वही, गाथा 1806

² (क) होज्ज व स णिव्वमुक्को, बंधाभावमिं को व से मोक्खो।

ण हि मुक्कववदेसो, बंधाभावे मतो णभसो" वही, गाथा 1808

(ख) निर्हेतुकत्वान्न हि सम्भवोऽपि, स्याद वाजिनः शृंगमिवात्र लोके॥ महावीर देशना, नरेन्द्र विजयजी, श्लोक 4, पृ. 170

³ ण य कम्मस्स ति पुव्वं, कत्तुरभावे समुब्भवो जुते।

णिवकारणओ सो वि य तह जुगवुप्पति भावो य " वही, गाथा 1809

⁴ णहि कत्ता कज्जं ति य, जुगवुघप्पतीय जीवकम्माणं।

जुत्तो ववएसोऽयं जध लोए, गोविसाणाणं" वही, गाथा 1810

जीव तथा कर्म दोनों के सम्बन्ध को अनादि मानने पर बन्ध-मोक्ष चरितार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका सम्बन्ध अनादि है उसका कभी अन्त नहीं होता। जैसे-जीव और ज्ञान का सम्बन्ध। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, वह कदापि दूर नहीं होता, वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है।¹ अनादि होने पर उसे अनन्त भी होना चाहिए। यदि अनन्त हो तो जीव को कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की युक्ति से यह सिद्ध किया कि बन्ध और मोक्ष जीव में घटित नहीं हो सकते। पर मण्डिक जी का दृष्टिकोण एकान्तिक था।

श्रमण भगवान महावीर ने शंका समाधान इस प्रकार दिया

शरीर तथा कर्म की सन्तान अनादि है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर कार्य-कारण भाव है। जैसे बीज से अँकुर तथा अँकुर से बीज होने का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है, इसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह की उत्पत्ती का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। इसलिए इन दोनों की सन्तान अनादि है। उन विकल्पों का कोई स्थान ही नहीं है कि जीव पहले या कर्म पहले।² कर्म की अनादि सन्तान की सिद्धि शरीर और कर्म के कार्य-कारण भाव से सिद्ध होती है। जैसे कि - शरीर से कर्म उत्पन्न होता है, अर्थात् कर्म शरीर का कार्य है, किन्तु यदि शरीर ने कर्म को उत्पन्न किया है तो शरीर भी पूर्वकर्म का कार्य है अर्थात् वह भी कर्म से उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों में कार्य-कारण भाव है।

मण्डिक पुत्र ने निम्न शंका प्रस्तुत की

2. शंका : कर्म की सन्तान अनादि होने पर भी जीव कर्म के बन्ध मोक्ष की चर्चा में उसकी अनादिता से क्या सम्बन्ध है? अतः कैसे कहा जा सकता है कि जीव व कर्म का संयोग अनादि है ?

इस शंका का समाधान श्रमण भ. महावीर ने इस प्रकार दिया :

¹ होज्जाणत्तियो वा संबंधो तह वि ण घडए भोक्खो।

जोऽणाति सोऽणंतो जीवणहाणं व संबंधो” वही, गाथा 1811

² संताणोऽणातीओ परोप्परं हेउ हेउ भावाओ।

देहस्स य कम्मस्स य मंडियं! बीयंकुराणं व।।” वही, गाथा 1813

इस चर्चा का सम्बन्ध है क्योंकि जो कर्म किया जाता है, वही तो बन्ध है अतः कर्म सन्तान के अनादि सिद्ध होने पर बन्ध भी अनादि सिद्ध होता है। शरीर व कर्म का कार्यकारण भाव यथार्थ है, इन दोनों में कार्य-कारण भाव न होने पर दोनों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि जीव कर्म द्वारा शरीर को उत्पन्न करता है, अतः वह शरीर का कर्ता है और जीव शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है इसलिए वह कर्म का कर्ता भी है। जैसे चाक, दण्ड आदि उपकरणों से घड़े को उत्पन्न करने वाला कुम्भकार घड़े का कर्ता कहलाता है, वैसे ही शरीर व कर्म सन्तान का सम्बन्ध अनादि सिद्ध हो जाने पर जीव व उसके बन्ध को अनादि मानना योग्य है।¹

शंका : कर्म की सिद्धि किस प्रकार होती है? कर्म जब इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है तो उसे कारण कैसे मान सकते हैं?

कर्म अतीन्द्रिय होने पर भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धि कार्य से होती है। जैसे शरीर आदि की उत्पत्ति में कोई करण होना चाहिए, जैसे घड़े आदि दण्डादि साधनों के बिना उत्पन्न नहीं होते, वैसे शरीर भी कार्य होने से करण के अभाव में उत्पन्न नहीं होता। शरीर रूपी कार्य के लिए जो करण है, वही कर्म है।

जीव और शरीर क्रमशः कर्ता और कार्य है, उन दोनों के बीच जो सम्बन्ध कराने वाला है, वही कर्म है। जैसे — कुम्भकार तथा घट ये दोनों कर्ता और कार्य हैं और दण्ड उनका करण है, वैसे आत्मा और शरीर के विषय में घटित होता है।

जैसे चेतन की कृषि आदि क्रियाएँ सफल है, वैसे ही दानादि क्रिया भी सफल होनी चाहिए, उस दान का जो फल है वही कर्म है।²

बन्ध अनादि सान्त है

मण्डिक जी का कथन कि यदि कर्म और जीव का सम्बन्ध अनादि है तो वह अनन्त भी होना चाहिए, जो अनादि है वह अनन्त अवश्य होता। इस कथन का समाधान श्रमण भगवान महावीर ने किया।

¹ कल्ता जीवो कम्मरस करणओ जध घडरस घडकरे।

एवं धिय देहरस वि, कम्मकरण संभवाउत्ति” वही, गाथा 1815

² कम्मं करणमसिद्धं य ते मती, कज्जत्तोतंय सिद्धं।

किरियाफलओ य गुणो पडिवज्ज तमग्गिभूति व्व”। वही, गाथा 1816

यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है, कि जो अनादि है वह अनन्त हो, जैसे बीज अँकुर की सन्तान अनादि है, फिर भी उसका अन्त हो जाता है। यदि बीज तथा अँकुर में से किसी का भी कार्य उत्पन्न करने से पूर्व ही नाश हो जाए तो बीजांकुर की सन्तान का नाश हो जाता है। जैसे मुर्गी और अण्डे की सन्तान अनादिकालीन है, किन्तु इन दोनों में से कोई एक अपने कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व ही यदि नष्ट हो जाता है तो इनकी सन्तान का भी अन्त हो जाता है। इसी प्रकार स्वर्ण और मिट्टी का संयोग अनादि संततिगत होने पर भी अग्नितापादि से उस संयोग का नाश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जीव एवं कर्म का संयोग भी अनादिकाल से होने पर भी सम्यकश्रद्धा आदि रत्नत्रय द्वारा नाश हो सकता है।¹

शंका : जीव और कर्म का संयोग जीव और आकाश के संयोग के समान अनादि अनन्त है या सूवर्ण-मृत्तिका के समान अनादि सान्त है। दोनों सम्बन्ध एक साथ नहीं रहते।

जीव में दोनों प्रकार के सम्बन्ध घटित होते हैं। सामान्य जीव की अपेक्षा से दोनों प्रकार के सम्बन्ध है। अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि अनन्त है — संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मयुक्त है, कर्म बन्धन और कर्मफल भोग, यह चक्र निरन्तर चल रहा है। यह कर्मफल भोग चक्र अनादिकाल से निरन्तर चल रहा है। जैनाचार्यों ने बताया है कि — प्रतिक्षण प्राचीन कर्म, फल देकर आत्मा से पृथक् होते रहते हैं और नवीन कर्म आत्मा के रागादि परिणामों से पुनः बन्धते रहते हैं। जैसे — अन्न भण्डार से पुराना धान निकालते हैं और नया भरते हैं, उसी प्रकार कर्मण शरीर — भण्डार में भी कर्मों का आगमन निरन्तर चलता रहता है।

यदि निर्जरा की प्रक्रिया नहीं हो तो वे कर्म उदय तथा बन्ध अवस्था में चलते रहते हैं, ऐसी स्थिति अभव्य जीवों की होती है, उन जीवों की अपेक्षा से कर्म-संयोग अनादि-अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

इस प्रकार बन्ध की चर्चा की गई है, जब बन्ध का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब मोक्ष अर्थात् मुक्ति का अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है। मण्डिक जी को बन्ध के

¹ (क) अण्णतरमणिव्वत्तियकज्जं, बीयंकुराणं जं विहयं।

तत्थ हओ संताणो कुक्कुडि-अण्डातियाणं च” वही गाथा 1818

(ख) जधदेह कंचणो वल संजोगोऽणातिसंतति गतो दि।

वोच्छिज्जति सोवायं तध जोगो जीवकम्माणं ” वही, गाथा 1819

विषय में संदेह था, उसका समाधान श्रमण भगवान महावीर ने किया। तदनन्तर मोक्ष तथा भव्य-अभव्य के विषय में जो शंका थी उसका निवारण किया।

इसकी विशेष चर्चा गणधरवाद में की गई है।

विशेष्यावश्यकभाष्य में मोक्ष (निर्वाण) की समस्या और उसका समाधान

भारत के समस्त आस्तिक दर्शनों और धर्मों ने मोक्ष की चर्चा की है। उन्होंने मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ही माना है। मोक्ष का क्या स्वरूप है, मोक्ष का अस्तित्व है या नहीं, इस पर दार्शनिकों ने गहन चिन्तन किया है। किन्तु चार्वाक दर्शन, जो मोक्ष को मानता ही नहीं है। उसके अनुसार – “मोक्ष किस लिए चाहिए? जब आत्मा ही नहीं है तब मोक्ष किसका होगा?” बौद्ध दर्शन में मोक्ष को निर्वाण कहते हैं, निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार जलता हुआ दीपक बुझ जाता है तब वह समाप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार निर्वाण का अर्थ है – आत्म-दीपक का बुझ जाना या नष्ट हो जाना। निर्वाण होने पर आत्मा कहीं नहीं जाती है। बौद्ध दर्शन निर्वाण को अभाववाचक मानता है।¹

न्यायदर्शन मोक्ष अवस्था में आत्मा के सभी निजगुणों का उच्छेद मानता है। वैशेषिक दर्शनानुसार भी बुद्धि (ज्ञान), सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, इन नौ गुणों का उच्छेद (विनाश) हो जाना ही मोक्ष है।²

इन परस्पर विरोधी विचार धाराओं के कारण मण्डिक जी तथा प्रभास जी के मन में शंका थी कि मोक्ष या निर्वाण है या नहीं? यदि है तो जीव को मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है? वेदों व उपनिषदों में भी कुछ वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनसे मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।³ उनके मन में जो प्रश्न समुद्भूत हुए तथा जिनका समाधान श्रमण भ. महावीर ने किया, उनकी चर्चा विशेष्यावश्यकभाष्य के अन्तर्गत गणधरवाद में की गई है। हम पूर्व में यह उल्लेख कर चुके हैं कि मण्डिक जी ने बन्ध के अस्तित्व पर शंका

¹ मण्णसि किं दीवरस्स व पासो णिव्वाणमरस्स जीवरस्स।

दुक्खकखयादिरुवा किं होज्ज व से सत्तोऽववत्था।। वही, गाथा 1975

² बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्काराणां नवानात्मगुणानां उच्छेदः मोक्षः।

³ (क) किं मण्णे णिव्वाणं अत्थि णत्थि स्ति संसयो तुज्झं। गाथा 1974

(ख) किं मण्णे बंध - मोक्खा संति न संतिसि संसओ तुज्झं। गाथा 1804

की थी। इसका समाधान होने पर इन्होंने बन्ध से छुटकारा कैसे मिलता है, बन्ध अनादि सान्त है या अनादि अनन्त है, इस पर चिन्तन किया।

मण्डिक जी ने शंका प्रस्तुत की कि

सभी जीवों के समान होने पर भी भव्य – अभव्य का भेद क्यों है? नारकादि भेद कर्मकृत है किन्तु भव्य-अभव्य का भेद स्वाभाविक है, तब जीव का स्वाभाविक भेद मानने का क्या कारण है? पुनः यदि भव्यत्व को जीवत्व के समान नित्य माने तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता? और नाश मान तो जैसे कोठार में से थोड़ा-थोड़ा धान्य निकालने पर भी वह कालान्तर में रिक्त हो जाता है वैसे ही संसार में भव्य जीवों का भी अभाव हो जायेगा?¹

इस शंका का समाधान श्रमण भ. महावीर ने इस प्रकार किया

भव्यत्व व अभव्यत्व के भेद के बारे में उन्होंने कहा कि जैसे जीव तथा आकाश में द्रव्यत्व, सत्व, ज्ञेयत्व व प्रमेयत्व के रूप में समानता है – किन्तु चेतनत्व-अचेतनत्व, जीवत्व तथा अजीवत्व के कारण स्वभाव भेद है, वैसे ही समस्त जीव, जीवत्व की अपेक्षा से समान है किन्तु स्वभाव से भिन्न हो सकते हैं। कोई भव्य हो सकता है और कोई अभव्य।²

जिस प्रकार घटादिकार्य का प्राग्भाव अनादि स्वभाव रूप होने पर भी घड़े की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही भव्यत्व भी स्वभावगत अनादि होने पर भी ज्ञान, तप, तथा अन्य क्रियाओं के आचरण से नष्ट हो जाता है।

भव्य जीव संसार से पार होकर मोक्ष जाते हैं, किन्तु इससे यह प्ररूपणा नहीं हो सकती है कि कालान्तर में संसार भव्य जीवों से रहित हो जायेगा। जैसे आकाश और भविष्यत्काल अनन्त है, वैसे ही जीव भी अनन्त है, अनागत काल की समयराशि में प्रत्येक क्षण कम होता रहता है, किन्तु वह अनन्त समय प्रमाण है, अतः उसका उच्छेद सम्भव नहीं है। आकाश के अनन्त प्रदेशों में से कल्पना से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश अलग किया जाये तो भी आकाश-प्रदेशों का उच्छेद नहीं होगा। ठीक इसी प्रकार भव्य जीव

¹ पद्मोऽस्थाऽभव्याणं भव्याणं कंचणोवलाणं व।

जीवन्ते सामण्णे भव्योऽभव्यो ति को भेत्तो॥ वही, गाथा 1821

² दव्वाइत्ते तुल्ले, जीव-नहाणं सभावओ भेओ।

जीवाऽजीवाइगओ जह, तह भव्ये-यर विसेसो॥ वही, गाथा 1823

अनन्त है, प्रत्येक समय उनमें से कुछ के मोक्ष के जाने पर भी भव्यराशि का कभी उच्छेद नहीं होता। अतीतकाल में अनन्त के अनन्तवें हिस्से के जीव मोक्ष में गये हैं, इतने ही वर्तमान और भविष्यत्काल में मोक्ष जायेंगे, तदपि संसार भव्य जीवों से रहित नहीं हो सकता।¹ सम्पूर्ण काल में भी भव्य जीवों का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि भव्य जीव अनन्त है। जितने जीव मोक्ष गये, वह निगोद के जीवों का अनन्तवाँ भाग है।

मण्डिक जी की दूसरी शंका थी कि जब भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त हो सकता तो उनमें से कितने ही भव्य जीव ऐसे हैं, जो कभी सिद्ध नहीं होते, तब उन्हें अभव्य ही कहना चाहिये?

भव्य का अर्थ है योग्य। जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, उसे भव्य कहते हैं। जिनमें योग्यता हो वे सब मोक्ष जाते हैं, ऐसा सिद्धान्त नहीं है, किन्तु जिस भव्य जीव को मुक्त होने की सम्पूर्ण सामग्री मिलती है, वही मोक्ष जाता है। जैसे – सूवर्ण, पाषाण, काष्ठ आदि में प्रतिमा बनने की योग्यता है, किन्तु जब तक उन्हें प्रतिमा के योग्य साधन नहीं मिलते हैं, तब तक वे प्रतिमा नहीं बन सकती, वैसे ही जब तक भव्यों को साधन नहीं मिलते तब तक मोक्ष नहीं जा सकते।²

सोने को सुवर्ण खान से अलग किया जा सकता है, किन्तु यह जरूरी नहीं कि सभी सुवर्ण इन पाषाणों से अलग हो। जिसे वियोग की सामग्री मिलती है, उससे ही सुवर्ण अलग होता है। वैसे ही चाहे सभी भव्य मोक्ष न जाएँ, तथापि भव्य ही मुक्त होते हैं।³ अभव्य मोक्ष नहीं जाता है।

भव्य जीव से विपरीत अभव्य जीव है, उसमें मोक्ष जाने की योग्यता नहीं होती। कितनी ही साधना—तप—जप कर ले किन्तु योग्यता के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

¹ (क) एवं भव्युच्छेत्तो कोट्टागारस्स अवचरंति वि।

तं णाणत्तणतोऽणागतकालवसणं व॥ वही, गाथा 1827

(ख) जं चतीताणागतकाला तुल्ला जतो य संसिद्धो।

एक्को अणंतभागो, भव्याणमतीतकालेणं॥ वही, गाथा 1828

² भण्णइ भव्यो जोग्गा, न च जोग्गत्तेण सिज्झए सब्बो।

जह जोग्गम्मिंवि दल्लिए, सब्बम्मिं न कीरए पडिमा॥ वही, गाथा 1834

³ (क) जहवा स एव पासाण-कण्ण जोगोऽवि जइवि जोग्गेऽवि

न विज्जुज्जइ सब्बो च्चिय स विउज्जइ जरस संपत्ती॥ विशेषावश्यकभाष्य - गाथा 1835

(ख) किं पुण जा संपत्ती सा जोग्गसेव न उ अजोग्गस्स।

तह जो मोक्खो नियमा, सो भव्याणं न इयरेसिं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1836

मण्डिक पुत्र की तीसरी शंका थी कि

यदि मोक्ष की प्राप्ति (उत्पत्ति) उपाय या निमित्त से होती है तो उसे कृतक (किसी की सहायता से जन्य) मानना होगा, और जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है। जैसे घटादि की उत्पत्ति कुम्भकार द्वारा होती है, अतः वह कृतक कहलाता है, साथ ही अनित्य भी। इसी प्रकार क्या मोक्ष भी अनित्य है?

श्रमण भ. महावीर ने समाधान किया कि—

यह निश्चित नहीं है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है। घटादि का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है (क्योंकि वह मिट्टी के रूप में ध्रुव है)। प्रध्वंसाभाव को अनित्य मानने पर उसका अभाव हो जाने के कारण घड़े आदि पदार्थ पुनः बन जायेंगे, अतः प्रध्वंसाभाव को अनित्य नहीं कहा जा सकता है। प्रध्वंसाभाव केवल अभाव—स्वरूप नहीं है, बल्कि वह घट के विनाश से उत्पन्न विशेष प्रकार का पुद्गल—संधात—रूप है, अतः वह भाव रूप वस्तु है।¹ जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यह अनुमान सत्य नहीं है, मोक्ष कृतक किस रूप में है। मोक्ष का अर्थ है — कर्म—पुद्गलों का जीव से पृथक् होना। किन्तु पृथक् होने पर जीव में ऐसी क्या विशिष्टता आई जिससे मोक्ष को कृतक माने।

जैसे — आकाश में स्थित घट को दण्ड से फोड़ने पर आकाश में कोई विशेषता नहीं आती, घड़ा जरूर फूट जाता है, वैसे ही तपस्यादि से कर्म को नष्ट करने पर जीव में किसी प्रकार की नवीनता नहीं आती। क्योंकि जीव का स्वभाव तो पहले से ही वही था, परिवर्तन कर्मों ने लाया, और वे हट गए तब जीव पुनः अपनी पूर्वावस्था में आ गया। तब मोक्ष को एकान्त रूप से कृतक कैसे माना जा सकता है? आत्मा आकाश के समान अवरिथत होने से नित्य है।

अपेक्षाभेद से मोक्ष कथंचित रूप से अनित्य है, क्योंकि विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्य—पर्याय की अपेक्षा से नित्यानित्य है।²

¹ कथं गार्ह मत्तणाओ, मोक्खो विच्चो ण होइ कुंभोव्व
नो घट्टंसाभावो, भुदि तद्धम्मा पि जं निच्चो।। गाथा 1837

² किं वेगंतेण कयं पोग्गलमेत्त विलयम्मि जीवस्स।
किं निव्वत्तियमहियं नभसो घडमेत्तविलयम्मि।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1839

मोक्ष को एकान्त रूप से कृतक कहना उचित नहीं है, क्योंकि —

1. मोक्ष कोई वस्तु नहीं है जिसका निर्माण या रचना की जा सके, अपितु यह तो जीव की वह विशिष्ट स्थिति है जो उससे कर्मों के सर्वथा पृथक् हो जाने से प्राप्त होती है। अतः उसे कृतक कहना उचित नहीं है। इसे हम युं भी कह सकते हैं कि वस्तु-रचना की अपेक्षा से मोक्ष निर्मित या कृतक नहीं है।
2. मोक्ष जीव की एक विशिष्ट स्थिति है जो जीव से कर्मों के सर्वथा अलग हो जाने की दशा है, क्योंकि यह दशा भी प्रयत्न पूर्वक प्राप्त की जाती है, तथा प्रयत्न के अभाव में प्राप्त नहीं होती है, अतः स्थिति व प्रयत्न की अपेक्षा से इसे कृतक भी माना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष को एकान्त रूप से कृतक नहीं कहा जा सकता है।

बौद्धदर्शन सभी वस्तुओं को कृतक (संस्कृत) मानता है किन्तु वह भी निर्वाण को असंस्कृत ही मानता है।

राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया — ऐसी कोई वस्तु है, जो कर्मजन्य न हो हेतुजन्य न हो, और ऋतुजन्य न हो? प्रत्युत्तर में भदन्त नागसेन ने कहा कि — आकाश और निर्वाण ये दो वस्तुएँ ऐसी हैं कि जो कर्म, हेतु या ऋतु से उत्पन्न नहीं होती। तब मिलिन्द ने पुनः प्रश्न किया कि भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश किसलिए दिया है? उसके कारणों की चर्चा किसलिए की है? इसके उत्तर में भदन्त नागसेन ने कहा — मोक्ष का साक्षात्कार करना और उसे उत्पन्न करना, ये दोनों बातें अलग अलग हैं। जैसे कोई भी मनुष्य हिमालय तक अपने निजी प्राकृतिक बल से पहुंच सकता है, किन्तु वह उसे उसी बल से उठाकर दूसरी जगह नहीं रख सकता है। कोई मनुष्य नौका का सहारा लेकर सामने के किनारे पर जा सकता है, किन्तु वह उस किनारे को उठाकर अपने पास किसी भी प्रकार से नहीं ला सकता, इसी प्रकार निर्वाण का साक्षात्कार करने का मार्ग भगवान दिखा सकते हैं, परन्तु निर्वाण को उत्पन्न करने वाले हेतुओं को नहीं बता सकते। इसका कारण यह है कि निर्वाण असंस्कृत है।¹

¹ मिला प्रकाश : खिला बसन्त, पृ. 277

मण्डिक पुत्र ने अपनी अगली शंका रखी कि—

जैसे घट के नाश हो जाने पर उसके कपाल के साथ आकाश का संयोग बना रहता है, वैसे ही जीव ने जिन कर्मों की निर्जरा कर दी उनके साथ भी संयोग रहना चाहिए, क्योंकि वे कर्म और जीव दोनों आकाश में स्थित हैं। जिससे उनका संयोग बना ही रहता है तो फिर पुनः जीव व कर्म का बन्ध क्यों नहीं होता?

भगवान ने समाधान दिया कि— जैसे निरपराधी को कारागृह की सजा नहीं मिलती, वैसे ही आत्मा में भी बन्ध—कारण का अभाव होने से वह पुनः बद्ध नहीं होती। मुक्त जीव अशरीरी है अतः कर्म बन्ध के कारणभूत मन—वचन—काया का योग न होने से उसका पुनः कर्म बन्ध नहीं होता। केवल कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग होने पर कर्मबन्ध नहीं होता। क्योंकि ऐसा होने पर सभी जीवों का भाव से कर्म—बन्ध होने लगेगा।¹

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा मुक्त होने पर पुनः संसार में आती है, पर जैन दर्शन में इस मिथ्या मत का निरसन किया है कि मुक्त जीव संसार में जन्म नहीं लेता, जैसे बीज के नष्ट होने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, वैसे कर्म—बीज नष्ट होने पर भवोत्पत्ति नहीं होती, अतः मुक्तात्मा सदा मुक्त रहते हैं तथा मुक्तात्मा नित्य है, क्योंकि वह आकाश की भाँति द्रव्य होने पर भी अमूर्त है।² यहाँ प्रश्न होता है कि यदि आत्मा आकाश के समान नित्य है तो वह सर्वव्यापी भी होना चाहिए?

शंका : मण्डिक जी प्रश्न करते हैं कि क्या आत्मा एकान्त रूप से नित्य है?

विशेषावश्यकभाष्यकार ने इस प्रश्न का समाधान दिया कि — आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, क्योंकि वह कर्ता है आत्मा देहप्रमाण होती है, यह मान्यता उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। कौषीतकी उपनिषद् में उल्लेख है — जैसे तलवार अपनी ग्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में, नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है।³

¹ सोऽणवराहो व्व पुणो न बज्झए बंधकारणाभावा।

जोगा य बंधहेऊ न य ते तस्सासरीरोत्ति।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1840

² न पुणो तस्स पसुई, बीयाभावादिछंक्कुरस्सेव।

बीयं च सस् कम्मं न य तस्सासरीरोत्ति।। वही, गाथा 1841

³ कौषीतकी उपनिषद्, 4/20

तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन सब आत्माओं को शरीर-प्रमाण बताया गया है।¹

श्रमण महावीर ने समाधान दिया कि वस्तुतः सभी पदार्थ 'उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त' है। जैसे घट का उत्पाद, मृतपिण्ड का विनाश, और मृत्द्रव्य का दोनों अवस्थाओं में अवस्थित रहना ध्रौव्य है इसी प्रकार मुक्तात्मा का संसारी रूप से नाश, सिद्धत्व रूप से उत्पन्न हुआ और दोनों अवस्थाओं में उपयोगादि स्वभाव से अवस्थित रहा, अतः ध्रौव्य है। तथा मुक्त जीव प्रथम समय के सिद्ध रूप में नाश, द्वितीय समय के सिद्ध रूप का उत्पाद और दोनों समय में जीवत्व तथा द्रव्यत्व रूप धर्म की अपेक्षा से अवस्थित है। अतः पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है तथा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है।²

मण्डिक पुत्र ने प्रश्न किया कि - मुक्तात्मा कहाँ रहते हैं? जबकि उनमें कर्मों का अभाव है, और गमनागमन तो कर्माधीन है, वे लोकाग्र पर कैसे पहुंचते हैं?

श्रमण भ. महावीर ने समाधान दिया कि - मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग पर 45 लाख योजन की सिद्धशिला है, उस शिला पर सिद्ध (मुक्तात्मा) विराजित होते हैं।

ऊर्ध्वलोक में सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्ध नामक देवलोक है, इस देवलोक की स्तूपिका के अग्रभाग से 12 योजन की दूरी पर ईषत् प्राग्भारा नामक पृथ्वी है, जिसे सिद्धशिला कहते हैं।

मुक्तात्मा कर्मों का क्षय कर चुके हैं, जिससे वे कर्म भार से हल्के हैं। फलस्वरूप ऊर्ध्वगतिरूप स्वाभाविक परिणाम के कारण जीव एक ही समय में लोकान्त तक पहुंच जाता है। मुक्तात्मा कर्म के अधीन नहीं होने पर भी पूर्वप्रयोग से ऊर्ध्व गति करता है।

पूर्व प्रयोग - पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उसमें प्राप्त वेग (आवेश) जैसे - कुम्भकार का चाक्र, दण्ड एवं हाथ के हटा लेने पर भी पूर्व प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता है, वैसे ही कर्म-मुक्त जीव भी, पूर्वकर्म से प्राप्त आवेश के स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्वगति ही करता है।³

¹ तैत्तिरीय उपनिषद्, 1/2

² को वा निच्यग्गाहो सच्चयिय विभव भंग टिड्यमयं।
पज्जार्यतरमेतप्पणाद निच्चाइववएसो।। वही, गाथा 1843

³ सर्वार्थसिद्धि, 10/5/275/201

संग का अभाव जैसे मिट्टी के अनेक लेपों से युक्त तुम्बी पानी में डालने पर वह डूब जाती है, तथा लेपों के छूटने पर वह पानी के ऊपर आ जाती है, वैसे ही जीव भी प्रतिबन्धक कर्म द्रव्य से मुक्त होकर ऊर्ध्व गति करता है।¹

बन्धन से मुक्ति — जिस प्रकार कोष में रहा हुआ एरण्ड बीज कोष के चटकने पर उपर उछलता है, वैसे ही जीव भी कर्मकोष से बाहर निकलने पर स्वाभाविक रीति से ऊर्ध्व गमन करता है।²

तथा गति परिणाम — जैसे अग्नि शिखा और धूम स्वभावतः ऊपर जाते हैं, वैसे ही जीव भी कर्ममुक्त होते ही स्वाभाविक गति परिणाम से ऊपर गमन करता है। वैसे ही जीव भी ऊर्ध्व गति करता है।³

शंका : मण्डिक पुत्र पुनः एक शंका रखते हैं कि — आत्मा अरूपी द्रव्य है अतः वह सक्रिय कैसे हो सकती है, जैसे आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय है तब आत्मा भी निष्क्रिय होगी?

इस शंका का समाधान श्रमण भ. महावीर ने इस प्रकार किया — आकाश अरूपी होने के साथ-साथ अचेतन है, किन्तु आत्मा अरूपी होते हुए भी चैतन्य रूप विशेष धर्मी है, तथा सक्रियत्व रूप धर्म से युक्त है। यह प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है तथा अनुमान से भी सक्रियत्व सिद्ध होता है।

जैसे कुम्भकार कर्ता और भोक्तादि स्वरूपवान है, अतः वह सक्रिय है, वैसे ही आत्मा कर्ता और भोक्ता स्वभाव वाला है अतः सक्रिय है और देह के हलन-चलन से भी आत्मा का सक्रियत्व स्पष्ट दिखता है।⁴

यदि यह माने कि परिस्पन्दन देह में है, अतः देह को सक्रिय मानकर आत्मा को निष्क्रिय मान लें। पर आत्मा के प्रयत्न से ही देह में परिस्पन्दन होता है। यदि आत्मा अक्रिय हो तो उसमें आकाश की तरह क्रिया भी नहीं होनी चाहिए, तथा अमूर्त प्रयत्न

¹ व्याख्या. शतक, 7/3/1 पृ. 265

² वही, शतक, 7/3/1, पृ. 265

³ वही, शतक, 7/3/1, पृ. 265

⁴ सक्रियोऽमात्मा कर्तृत्वात् कुलालवत्। अथवा भोक्तृवति। अथवा सक्रिय आत्मा प्रत्यक्षत एवं देह परिस्पन्द दर्शनात् यन्न पुरुषवत् - विशेष्यावश्यक, टीका पृ. 772

देहपरिस्पन्दन में हेतु नहीं हो सकता, अगर हो तो अमूर्त आत्मा को ही हेतु मानना चाहिए, फिर प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।

देह परिस्पन्दन का कारण अदृष्ट माने तो यह प्रश्न होता है कि वह मूर्त है या अमूर्त? यदि अमूर्त हो तो आत्मा भी अमूर्त है। और यदि मूर्त है तो वह कर्मणशरीर हो सकता। वह कर्मणशरीर परिस्पन्दन से युक्त होने पर ही बाह्य शरीर के परिस्पन्द का कारण बन सकता है, तब पुनः प्रश्न होता है कि उस कर्मणशरीर में परिस्पन्द का कारणभूत तत्त्व कौन है? क्योंकि कर्मणशरीर में स्वाभाविक रूप से परिस्पन्दन नहीं मान सकते हैं, इसका कारण यह है कि शरीर की चेष्टाएँ अनेक प्रकार की होने से एक जैसी नहीं रहती है, अतः उन्हें स्वाभाविक नहीं मान सकते हैं, फलतः कर्मसहित आत्मा को ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में व्यापार-रूप होना चाहिए। इससे आत्मा सक्रिय सिद्ध होती है।

मुक्तात्मा की गतिक्रिया स्वाभाविक तथा गति परिणाम के कारण होती है। मुक्तात्मा सिद्ध क्षेत्र में जाकर रुक जाते हैं, इससे आगे नहीं बढ़ते हैं, क्योंकि जीव और पुद्गलों की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है, धर्मास्तिकाय लोक में ही है, अलोक में नहीं, अतः जीव लोकाग्र सिद्धक्षेत्र को छोड़कर आगे नहीं जाता है।¹

यह कैसे कह सकते हैं कि लोक से भिन्न अलोक का अस्तित्व है? प्रथम समाधान यह है कि — लोक का विपक्षी तत्त्व होना आवश्यक है, जैसे — घट का विपक्ष, अघट; ज्ञान का विपक्ष अज्ञान, वैसे ही लोक का विपक्ष अलोक है। तथा दूसरा समाधान यह है कि जितने आकाशक्षेत्र में धर्म और अधर्म है, वह लोक है, तथा जहाँ ये दोनों अस्तिकाय नहीं हैं, वह अलोक है। यदि इन दोनों का विभाग न होता तो जीव और पुद्गल अप्रतिहित गति वाले हो जाते, क्योंकि किसी प्रकार का गति में प्रतिघात ही नहीं होता है। परिणामस्वरूप अलोक अनन्त है तो गति का भी अन्त नहीं होता। गति का अन्त न होने पर जीव और पुद्गल का सम्बन्ध नहीं होगा, जिससे पुद्गलस्कन्धों की औदारिक आदि रचना नहीं हो पायेगी, बन्ध, मोक्ष, सुख-दुःख आदि सांसारिक व्यवहार का अभाव हो

¹ (क) किं सिद्धालय परतो ण गती, धम्मस्त्थिकाय विरहातो।

सो गतिउवग्गह कसे, लोणम्मि जम्मत्थि णालोए।। विशेष्यावश्यक, गाथा 1850

(ख) तत्त्वार्थसूत्र 10/8

जायेगा। अतः लोक—अलोक का विभाग मानना आवश्यक है। सिद्ध जीव लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाते हैं।¹

मण्डिक पुत्र ने शंका प्रस्तुत की — 'सिद्धस्य स्थानं सिद्ध स्थानम्' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध और स्थान ये दोनों परस्पर में पृथक्—पृथक् है। जैसे वृक्ष के अग्रभाग से फल का पतन होता है, वैसे सिद्ध स्थान से सिद्धों का पतन क्यों नहीं होता?

श्रमण भगवान महावीर ने समाधान दिया कि — 'सिद्धों का स्थान' में जो छठी विभक्ति है, वह कर्ता के अर्थ की द्योतक समझनी चाहिए, इसका अर्थ है — सिद्ध कर्तृक स्थान, अर्थात् सिद्ध रहते हैं। अतः सिद्ध तथा उनके स्थान में भेद नहीं है अथवा सिद्ध स्थान को सिद्ध से भिन्न मानने पर भी पतन सम्भव नहीं है, क्योंकि पतन के कारण जो कर्म है, कर्म के अभाव में पतन नहीं हो सकता, तथा सिद्ध में गतिक्रिया मात्र एक समय के लिए ही होती है, वह भी पूर्व—प्रयोग से। गतिक्रिया के अभाव में पतन नहीं होता, पतन के कई कारण हैं — जैसे स्व प्रेरणा, आकर्षण, विकर्षण और गुरुत्वादि। मुक्तात्मा में इन कारणों का अभाव है, अतः पतन नहीं हो सकता। यह कथन कि — "स्थान है अतः पतन हो सकता है, यह युक्त नहीं है। आकाश का स्थान नित्य होने पर भी पतन नहीं होता।"²

संसार में से कई जीव मुक्त हो गये हैं पर यह नहीं कह सकते हैं कि कौन प्रथम सिद्ध हुआ है, जैसे — दिन और रात आदि मान होते हुए भी अनादिकाल के कारण किसी एक दिन या रात को सर्वप्रथम नहीं कह सकते हैं, इसी प्रकार मुक्त जीवों के सादि होने पर भी काल के अनादि होने से किसी मुक्त को सर्वप्रथम नहीं कह सकते।³

यह प्रश्न भी होता है कि अनादिकाल से भव्य जीव सिद्ध हो रहे हैं जबकि सिद्ध क्षेत्र परिमित है, तो उसमें अनन्त सिद्ध कैसे समा जाते हैं? इसका समाधान यह है कि मुक्त जीव अमूर्त है, अतः परिमित क्षेत्र में भी अनन्त का समावेश हो जाता है। जैसे सिद्धों के ज्ञान में अनन्त द्रव्य समा जाते हैं, एक नर्तकी पर हजारों—लाखों दृष्टियां समाविष्ट

¹ लोगविभागाभावे पडिघायाभावओऽणवत्थाओ।

संबवहाराभावो, संबंधाभावओ होज्जा। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1853

² (क) न्ह निच्चत्तणओ वा, थाणाविप्पास पयणं न जुत्तंसे।

तह कम्माभावाओ, पुणक्किया भावओ वा वि। विशेष्यावश्यक, गाथा 1857

(ख) निच्चत्थाणाओ वा वोमाईणं पऽणं पसज्जेज्जा। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1858

³ भवओ सिद्धो ति मई, तेणाहमसिद्ध संभवो जुत्तो।

कालाणाइत्तणओ, पट्ठम खरीरं व तदजुत्तं। वही, गाथा 1859

हो जाती है, और एक मकान में अनेक दीपकों की प्रभा समाविष्ट होती है, वैसे ही सिद्धक्षेत्र में अनन्त सिद्ध समा जाते हैं।¹

वेदवाक्यों का समन्वय

वेदों में भी इसी प्रकार बन्ध मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध की गई है, जैसे – “नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।”² इस वाक्य के पूर्वार्द्ध में सशरीरी तथा उत्तरार्द्ध में अशरीरी जीव के विषय में कहा गया है। साथ ही बन्ध और मोक्ष का प्रतिपादन किया है। तथा ‘स एष विगुणो विभुर्न विद्यते’ इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि संसारी जीव के बन्ध मोक्ष नहीं है, किन्तु यह वाक्य मुक्त जीव के स्वरूप का प्रतिपादक है। इस प्रकार वेद-उपनिषदों में मोक्ष का सद्भाव है।

निर्वाण विषयक प्रभास जी की शंका—

वेदों के ज्ञाता प्रभास जी के मन में यह सन्देह उद्भूत हुआ कि ‘निर्वाण है या नहीं?’, क्योंकि वेदों में कई प्रकार के वाक्य थे जो परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले थे, जैसे – “जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्” अर्थात् जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करो।” यदि मोक्ष हो तो उसके लिए भी कहीं उल्लेख मिलता, तथा दूसरी जगह यह लिखा है कि “सेषा गुहा दुखगाहा” वह मोक्ष गुफा संसार में आसक्त जीवों के लिए दुष्प्रवेश्य है” अथवा “द्वे ब्रह्मणि परमपरं च तत्र पर सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मः”³ पर तथा अपर ब्रह्म में परब्रह्म का अर्थ भी मोक्ष है। इस प्रकार के वाक्यों से असमंजस हो गया, बौद्धों के निर्वाणविषयक विचारों एवं मीमांसकों के निर्वाण सम्बन्धी विचारों को पढ़कर शंका हुई।

प्रभास जी के मन में सन्देह होने का कारण निर्वाण या मोक्ष की विभिन्न परिभाषाएँ थीं, जैसे कि – मीमांसा दर्शन की यह मान्यता है कि वैदिक कर्मकाण्ड जीवनपर्यन्त करना आवश्यक है, जबकि जीवों की हिंसा होने से यह यज्ञविधि सावद्य पापकारी है – “यज्ञस्य सावद्य विधि स्वसुपात्” चाहे इस विधि से स्वर्ग प्राप्त हो जाये किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, “न मोक्ष सिद्धिर्घटते कदापि।”⁴

¹ परिमियदेसऽणंता, किह माया मुक्ति विरहियत्ताओ।

नियम्मि व नाणाई, दिहिओ वेगरुवम्मि।। वही, गाथा 1860

² छन्दोग्य उपनिषद् 8/12/1

³ शतपथ ब्राह्मण, 12/4/1/1

⁴ महावीरदेशना, श्लोक 3, पृ. 238

कोई कहता है कि – “सत् अर्थात् विद्यमान जीव के राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, दुःख रोगादि का क्षय हो जाने से जो विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है, वही मोक्ष है।”

इस प्रकार विरोधी मतों से यह निश्चय नहीं कर सकते कि निर्वाण का वास्तविक स्वरूप किसे मानें? यह भी शंका कि – जीव और कर्म का संयोग आकाश के समान अनादि है, अतः उस संयोग का नाश कैसे हो सकता है?

इन प्रश्नों का युक्तिपूर्ण समाधान श्रमण भगवान महावीर के मुख से विशेषावश्यकभाष्य में दिलवाया है – जीव और कर्म का अनादिकालीन संयोग नष्ट होता है – जैसे सूवर्ण-पाषाण तथा सूवर्ण का संयोग अनादिकाल से है, किन्तु प्रयत्न अर्थात् पुरुषार्थ से उन दोनों को पृथक् किया जा सकता है, वैसे ही कर्म तथा जीव के संयोग को तप, जप आदि सम्यक् क्रियाओं से पृथक् किया जा सकता है।¹

प्रभास जी ने पुनः शंका प्रस्तुत की -- यह संसार नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य देव रूप जीवों से युक्त है, किन्तु इन पर्यायों से रहित शुद्ध जीव दृष्टिगत नहीं है, अतः जब नारकादि रूप पर्याय का नाश होता है तब उसका संयोगी जीव का भी नाश हो जाता है, तो मोक्ष किसका होगा?

यह शंका अयुक्त है, नारकादि पर्यायों के नाश होने से जीव द्रव्य का नाश नहीं होता, जैसे – स्वर्ण की अंगुठी, केयूर आदि पर्यायविशेषों का नाश होने पर भी स्वर्ण वस्तु का नाश नहीं होता है, स्वर्णत्व सदैव विद्यमान रहता है, वैसे ही जीव द्रव्य विद्यमान रहता है और मुक्ति को प्राप्त करता है।²

कर्म नाश से जीव का नाश नहीं – यह तर्क किया कि – जैसे कर्म के नाश से संसार का नाश होता है, वैसे ही जीव का भी नाश हो जाना चाहिए। जीव के न होने पर मोक्ष का अभाव निश्चित रूप से है।

इसका समाधान है कि – संसार कर्मकृत है, अतः कर्म के नाश हो जाने से संसार का नाश मानने योग्य है, किन्तु जीवत्व कर्मजन्य नहीं है, अतः कर्म का नाश होने पर भी

¹ षड्वाज्ज मण्डिओ इव वियोगमिह कम्मजीव जोगस्स।

तमणाइणोऽवि कंचण धाऊण व णाण-किरियाहिं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1977

² महावीर देशना, श्लोक 8, पृ. 242

जीवत्व का नाश नहीं होता। यदि कारण निवृत्त हो तो कार्य की भी निवृत्ति हो जाती, पर कर्म, जीव का कारण नहीं है, इसलिए कर्म के निवृत्त होने पर भी जीव का अभाव नहीं होता।

जीव अविनाशी है – जीव विनाशशील नहीं है, क्योंकि उसमें आकाश द्रव्य की तरह अवयवविच्छेद नहीं दिखता। जो विनाशी होता है उसका अवयव विच्छेद घटादि का मुद्गरकृत ठीकरी आदि रूप में दिखता है, इसलिए जीव के नित्य होने से मोक्ष भी नित्य है।

बौद्ध दर्शन में मानते हैं कि दीप जैसे निर्वाण को प्राप्त होता है, तब वह पृथ्वी, आकाश या किसी दिशा-विदिशा में नहीं जाता, किन्तु तेल समाप्त होने पर वह मात्र शान्त हो जाता है— बुझ जाता है। वैसे ही जीव भी जब निर्वाण प्राप्त करता है, तब वह पृथ्वी या आकाश में नहीं जाकर मात्र शान्ति को प्राप्त करता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है। यदि पदार्थ नित्यानित्य है तो बौद्ध दर्शन की पूर्वोक्त मान्यता कैसे सिद्ध होगी कि मोक्ष में जीव का नाश हो जाता है?

इसका समाधान दिया कि – दीपकवत् जीवन का नाश होना, मोक्ष नहीं है, क्योंकि दीपक की अग्नि भी सर्वथारूपेण नष्ट नहीं होती, किन्तु परिणामान्तर हो जाता है। जैसे दूध का परिणामान्तर दही बनता है, मुद्गर के प्रहार से घट का परिणामान्तर ठीकरी रूप में होता है, वैसे ही दीपशिखा का परिणामान्तर अन्धकार रूप में हो जाता है, दीपशिखा का सर्वथा विनाश नहीं होता। दीपशिखा प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं देती, कारण कि वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करती है, जैसे आकाश में बादल बिखर जाने से सूक्ष्म परिणामों के कारण दिखाई नहीं देते, अंजन राशि जब हवा में उड़ जाती है, वह दिखाई नहीं देती, वैसे ही दीप शिखा के बुझने के पश्चात् उसकी ऊर्जा अरित-रूप होते हुए भी सूक्ष्मपरिणाम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती।¹

यह भी तथ्य है कि पुद्गलों का परिणमन विचित्र प्रकार से भी होता है। जैसे – सुवर्णपत्र के रूप में प्रथम चक्षुग्राह्य होता है बाद में शुद्ध करने के लिए उसे अग्नि में डालने पर और भस्म के साथ मिलने फिर वह स्पर्शग्राह्य हो जाता है, और पुनः भस्म से पृथक् होने पर चक्षुग्राह्य होता है। इसी प्रकार नमक, सोंठ, हरडे, और गुड आदि के

¹ दीपोयथा निवृत्तिमभ्युपेतो सोब्दखण्ड, 16/28/29

पुद्गल स्कन्ध पहले तो चक्षुग्राह्य होते हैं किन्तु उनका चूर्ण, अवलेह करने पर वे रसनेन्द्रिय ग्राह्य बन जाते हैं। कर्पूर, कस्तुरी पहले चक्षु से दिखाई देती है, किन्तु वायु द्वारा अन्यत्र जाने से घ्राणग्राह्य हो जाता है, और कभी कभी ज्यादा दूरी होने पर घ्राणग्राह्य भी नहीं रहती।¹ इसी प्रकार नमक चक्षुग्राह्य है, परन्तु पानी में मिला देने पर वह रसग्राह्य बन जाता है, पुनः पानी को उबालने पर आँखों से दिखाई देता है। इस प्रकार पुद्गलों का विचित्र परिणाम है।

वायु स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य है, रस जीभ से, गंध नाक से, रूप चक्षु से, तथा शब्द श्रोत्र से ही ग्राह्य है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थ किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी परिणामान्तर को प्राप्त कर अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हो जाते हैं।

इन पुद्गलों की विचित्र परिणति के कारण दीपशिखा जलते समय चक्षु ग्राह्य होती हैं और बुझ जाने पर घ्राणग्राह्य बन जाती है, किन्तु सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे दीपक का सर्वथा विनाश नहीं होता है, वैसे जीव का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। जैसे – परिणामान्तर प्राप्त दीप 'निर्वाण' प्राप्त कहलाता है। वैसे कर्मरहित अमूर्त स्वभावरूप अव्याबाध परिणामान्तर प्राप्त जीव 'निर्वाण' या निवृत्ति या मोक्ष प्राप्त हुआ कहलाता है। इससे सिद्ध हुआ कि सुख-दुःखादि के क्षय होने पर शुद्ध शाश्वत जो जीव की अवस्था है, वही मोक्ष है।²

कई स्थानों पर मुक्ति का उल्लेख है – "स्वाभाविक भाव शुद्धिसहित जीव चन्द्र के समान है, चन्द्रिका के समान उसका विज्ञान है तथा बादलों के सदृश उसका आवरण है³ तथा मुक्तात्मा अनाबाधा सुख वाला है क्योंकि उसमें बाधाओं के हेतुओं का अभाव है। कहा भी है – बाधा के अभाव में तथा सर्वज्ञता के कारण मुक्त जीव परमसुखी होता है।"⁴

प्रभास जी ने शंका रखी कि निर्वाण/मोक्ष अर्थात् दुःखक्षय वाली अवस्था है। तथा उसमें शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं है, तो फिर मुक्तात्मा को सुख कहां से प्राप्त होता

¹ होऊण इंदियतरं गेज्झा, पुणरिंदियंतरणहणं।

खंधा एंति न एंतिय पोग्गल, परिणामया चित्ता। विशेष्यावश्यक, गाथा 1989

² जह दीवोनिव्वाणो परिणामन्तरमिओ तहा जीवो।

भण्णइ परिणिव्वाणो पत्तोऽणावाह परिणामं।। विशेष्यावश्यक, गाथा 1991

³ स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्याभावशुद्धया।

चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमक्षवत्।। योगदृष्टि समुच्चय 181

⁴ तत्त्वार्थभाष्य टीका, पृ. 318 प

है? इस प्रश्न के पीछे लोगों की भ्रान्तधारणा रही हुई है, वे लोग सोचते हैं कि जिस मोक्ष को पाने के लिए साधक दिन-रात गीत गाते हैं, आध्यात्मिक पुरुष जिस मोक्ष की इतनी प्रशंसा करते हैं, उसी को प्राप्त करने के लिए इतना ज्ञान, श्रद्धाभक्ति, कठोर चरित्र पालन एवं कठिन दीर्घतप करते हैं। इतनी दीर्घकालीन साधना के बाद क्या ऐसा ही रूखा-सूखा मोक्ष मिलेगा? जहां पत्थर की शिला पर निकम्मा जीवन जीने या जड़वत् पड़े रहना होता है, वहां भला क्या सुख प्राप्त होता होगा? यह शंका वैशेषिक दर्शन के निर्वाण स्वरूप को पढ़कर होती है।

भगवान ने इस शंका का समाधान दिया —

मुक्त जीव को मिथ्यभिमान से रहित स्वाभाविक, नैसर्गिक प्रकृष्ट सुख होता है, क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के बाद जन्म, जरा, व्याधि, मरण, क्षुधा, पिपासा, काम, क्रोध, मद आदि समस्त बाधाओं का अभाव होता है, यूं तो काष्ठ-प्रतिमा आदि जड़ पदार्थों में भी जन्मादि की बाधा नहीं होती है, किन्तु उन्हें सुखी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है। मुक्तात्मा में पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि ज्ञानावरण के हेतुओं का अभाव है।¹ जैसे चन्द्रमा, मुक्तात्मा चन्द्र के समान स्वाभाविक प्रकाश से प्रकाशित है, क्योंकि उस प्रकाश के समस्त आवरण नष्ट हो चुके हैं।²

यहाँ यह प्रश्न होता है कि — मुक्तात्मा पूर्णज्ञानी नहीं हैं, वह आकाशवत् अज्ञानी होगी क्योंकि उसमें इन्द्रियों का अभाव है। इस प्रश्न के साथ एक प्रतिप्रश्न उदभूत होता है कि — यदि करण के अभाव में अज्ञानी मानते हैं तो उसे अजीव भी मानना पड़ेगा। जबकि किसी भी वस्तु की स्वाभाविक जाति, अत्यन्त विपरित जाति — रूप में परिणत नहीं हो सकती। जीव में जीवत्व, द्रव्यत्व, तथा अमूर्तत्व के समान स्वाभाविक जाति है, इसलिए जीव कभी भी अजीव नहीं हो सकता। यदि जीवत्व करण (इन्द्रिय) का कार्य हो, जैसे — धूम अग्नि का कार्य है, अतः अग्नि के अभाव में धूँए का अभाव होगा, वैसे ही

¹ क्षीण निःशेषावरणत्वात् प्रकृष्ट ज्ञानवानसौ, वेदनीय कर्मदीनां च सर्वेषामायाबाध हेतुनां सर्वथाऽपशमात् सर्वाऽऽबाधरहितोऽयमिति। प्रयोगः स्वाभाविकेन स्वेन प्रकाशेन प्रकाशवान् मुक्तात्मा समस्त प्रकाशावरण रहितत्वात् तुहिनांशुवत्। विशेष्यावश्यक, टीका, पृ. 821

² मुत्तस्स परं सोक्खं, जाणाणाब्हाओ जहा मुणियो।

तद्धम्मा पुण विरहादावरणा - 55 बाह हेऊणं। विशेष्यावश्यक, गाथा 1992

करण के अभाव में जीवत्व का भी अभाव होगा, किन्तु जीवत्व जीव का अनादिनिधन-पारिणामिक भाव होने से नित्य है।¹

ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, इन्द्रियों से नहीं। जैसे कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने पर भी स्मरणादि ज्ञान होते हैं, तथा कभी-कभी इन्द्रियों के सन्नियोग में अन्यमनस्क होने पर ज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रियों के अभाव में भी ज्ञान होता है, क्योंकि ज्ञान जीव का स्वभाव है।² जैसे - गृह गवाक्ष से देवदत्त देखता है, वैसे ही आत्मा इन्द्रियरूपी गवाक्षों से ज्ञान प्राप्त करती है। गृह विध्वंस होने पर देवदत्त के ज्ञान का विस्तार बढ़ जाता है, अर्थात् बाहर से बाधारहित ज्ञान होता है, इसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर इन्द्रियरहित आत्मा भी निर्बाध से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ होती है।

ज्ञान जीव का स्वभाव है, इसे कैसे जाना जाता है?

ज्ञान जीव का स्वभाव है, यह स्वानुभव से सिद्ध होता है कि हमारी आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अथवा श्रवण न करने पर तथा न देखने पर भी अर्थ को क्षयोपक्षम के द्वारा जानने की जो क्षमता है, उससे सिद्ध होता है कि हमारी आत्मा ज्ञानगुण से युक्त है।

मुक्तात्मा में ज्ञान का अभाव है, यह कथन सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। "जीवो उवओग लक्खणो।" जैसे - परमाणु कभी भी रूपादि से रहित नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी ज्ञानरहित नहीं हो सकती। यदि आत्मा अर्थात् जीव ज्ञानरहित हो जायेगा तो वह जड़ बन जायेगा। जड़ और चेतन दोनों अत्यन्त विलक्षण जाति वाले हैं, अतः जड़ कभी चेतन नहीं बन सकता और चेतन कभी जड़ नहीं बन सकता।³

अनुमान से भी सिद्ध होता है कि हमारी आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। जैसे - हमारे शरीर में आत्मा है, वैसे ही दूसरों के शरीर में भी आत्मा है। वह आत्मा भी ज्ञान-स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति है। यदि वह आत्मा ज्ञान से रहित हो तो इष्ट में

¹ दव्वाऽमुत्तत्त सहगवजाइओ तरुस दूरविवरीयं।

न हि जच्चंतरगमण जुत्तं नभसो व जीवत्तं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1994

² तदुवरमे वि सरणो, तव्वावारे वि नोवलंभाओ।

इदियभिन्वो आया, पंचगवक्खोवलद्धा वा॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1996

³ नाणरहिओ न जीवो, सरुवओऽणुव्व मुत्तिभवेणं।

जं तेण विरुद्धमिदं, अत्थि य सो नाणरहिओ य॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1997

प्रवृत्ति तथा अनिष्ट में निवृत्ति नहीं कर सकती। अतः परदेहगत आत्मा को ज्ञान—स्वरूप मानना चाहिए।¹

जब तक आत्मा सदेही है तब तक उसका ज्ञान मर्यादित होता है किन्तु विदेही होने पर कर्मों के आवरण दूर होने पर शुद्धतर स्वच्छ आकाश में विद्यमान सूर्य के समान अपने सम्पूर्ण ज्ञान—स्वरूप में प्रकाशित होती है। इन्द्रियाँ ज्ञानस्वरूप है ही नहीं, जिससे कि उसके अभाव में ज्ञान ही न हो।²

मुक्तात्मा सम्पूर्ण ज्ञानवान है, उसका ज्ञान अतीन्द्रिय है, अतः अतिविशुद्ध है। उसे तीन लोक व तीन काल का ज्ञान होता है। जैसे — छिद्र वाली चटाई से आने वाले दीप—प्रकाश की अपेक्षा से निरावरण दीप का प्रकाश अधिक स्पष्ट होता है, वैसे ही आत्मा भी अपने समस्त आवरणों के दूर हो जाने के कारण पूर्णरूप से प्रकाशित होती है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा पूर्णज्ञानी है।³

प्रभास जी पुनः प्रश्न किया —

जैन दर्शन की मान्यतानुसार मुक्तात्मा का सुख निराबाध होता है, यह मान्यता युक्त नहीं है क्योंकि सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है, अतः मुक्त आत्माओं को पाप नष्ट हो जाने से दुःख नहीं होता, उसी प्रकार पुण्य नष्ट हो जाने से सुख भी नहीं होना चाहिए, फिर मोक्ष में अव्याबाध सुख का कथन कैसे सत्य हो सकता है? अथवा सुख और दुःख का आधार शरीर है, जबकि मुक्तात्मा अशरीरी है, अतः मुक्तात्मा में भी आकाश के समान सुख—दुःख का अभाव होना चाहिए।⁴

भगवान ने समाधान दिया — पुण्य से होने वाला सुख भी निश्चय में सुख नहीं है, वह भ्रम है, क्योंकि वह कर्मों के उदय से होता है, उन कर्मों के हट जाने पर नहीं होता। इसी कारण बड़े—बड़े चक्रवर्ती या देव कोई भी संसारी जीव निश्चय में सुखी नहीं है। हम जिसे सुख मानते हैं वह सुखाभास है। जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में दाद होने पर उसे

¹ किह सो नाणसरुवो, नणु पच्चक्खाणुभूइओ नियए।

परदेहम्मि वि गज्झो, स पवित्ति—निवित्ति लिंगाओ॥ वही, गाथा 1998

² सव्वावरणावगमे, सो सुद्धयरो भवेज्ज सूरु व्व।

तम्मय भावाभावण्णाणि, तं न जुत्तं से॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1999

³ सुबहपयरं वियाणइ मुत्तो, सव्वप्पिहाणविगमाओ।

अवणीय धरो त्व परो, विगयावरणप्पई वो त्व॥ वही, गाथा 2001

⁴ आधारे देहोच्चिय, जं सुहदुक्खो व लद्धीणं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2003

मीठी खुजली होती है, उसे खुजलाते हुए सुख का अनुभव होता है, पर वह वस्तुतः सुख न होकर दुःख है। संसार के सभी पदार्थों के विषय में यह बात कही जा सकती है, राज्य में सुख मानते हैं, यह बात मूढ़मति ही मानते हैं, राजा का कथन है कि — जब तक व्यक्ति राजा नहीं बनता है तब तक उत्सुकता होती है, पर बाद में प्राप्त राज्य की जिम्मेदारी व चिन्ता दुःख दिया करती है तथा विषयों में भी सुख नहीं है अतः विषयजन्य सुख को औपचारिक सुख है और मुक्त जीव का सुख पारमार्थिक है।¹

कहा गया है कि — कर्मक्षय से जीव सिद्धत्वरूप परिणाम को प्राप्त करता है, वैसे कर्मक्षय से संसारातीत सत्य सुख भी प्राप्त होता है। संसार के सुखों के समान मुक्तात्मा का सुख प्रतिकार रूप में नहीं है, वह निष्प्रतिकार है।

देह के बिना सुख की उपलब्धि नहीं होती, यह भ्रान्त धारणा है, क्योंकि शरीर के माध्यम से जो सुख मिलता है, वह तो नश्वर होने से केवल दुःख ही है, शाश्वत सुख के लिए शरीर व इन्द्रियों का अभाव आवश्यक है। सिद्ध अशरीरी है, उनका सुख सांसारिक सुख की सीमा को पार करने वाला विलक्षण सुख है।²

मुक्तात्मा में अनन्त सुख है, इस कथन की सिद्धि इस प्रकार भी की जा सकती है — जीव अनन्त ज्ञानमय है किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान का उपघात होता है, जैसे — बादल—सूर्य के प्रकाश का उपघात करते हैं, यदि बादलों में छिद्र हो तो वे सूर्य—प्रकाश में उपकारी बनते हैं, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान प्रकाश पर इन्द्रिय रुपी छिद्र अनुग्रह करते हैं तब आत्मा का ज्ञान प्रकाश स्वल्प रूप में प्रकाशित होता है। तथा ज्ञानावरणीय का सम्पूर्ण नाश होने पर निरभ्र आकाश में सूर्य के समान सम्पूर्ण शुद्ध रूप से आत्मा प्रकाशित होती है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा स्वरूपतः स्वाभाविक रूप से अनन्त सुखमय है, उस सुख का पापकर्म से उपघात होता है तथा पुण्य—कर्म उस सुख का अनुग्रह करने वाला है। तथा जब सर्व कर्म का नाश हो जाता है तब आत्मा सकल, परिपूर्ण, स्वाभाविक अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

¹ विसयसुहं दुक्खं चिय दुक्खपडियारओ तिगिच्छ व्व।

तं सुहमुवयारात्तो ण, उवयासे विणा तच्चं॥ वही, गाथा 2006

² जो वा देहिंदियजं, सुह मिच्छइ तं पडुच्च देसोडयं।

संसारार्इयमिदं, धम्मतरमेव सिद्धिसुहं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2012

प्रभास जी पुनः शंका रखते हैं कि :

मुक्तात्मा का सुख और ज्ञान चैतन्य का धर्म है, अतः वह रागवत् अनित्य है? तथा वह सुख और ज्ञान तपादि से काया को कष्ट देने से उत्पन्न होता है, अतः घटवत् कृतक होने से अनित्य है?

प्रभु ने इस प्रकार समाधान दिया कि यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि जो नश्वर होता है वह अनित्य है, मुक्तात्मा का ज्ञान और सुख नश्वर नहीं है। ज्ञान के आवरण का कारण है ज्ञानावरण और सुख का आवरण वेदनीय है, मुक्तात्मा में दोनों कर्मों का अभाव है। तथा कर्मबन्ध के कारण योग कषाय का भी वहां अभाव है, अतः सुख और ज्ञान अनित्य नहीं है। सुख और ज्ञान की नवीन उत्पत्ति नहीं हुई, ये गुण आवरित थे। वे आवरण हट जाने से अनन्त सुख और ज्ञान की प्राप्ति हुई।

अनेकान्तदृष्टि से ज्ञान व सुख नित्य भी है और अनित्य भी है। प्रत्येक क्षण में पर्याय रूप से ज्ञेय का विनाश होने से ज्ञान का भी नाश होता है तथा सुख का भी प्रत्येक क्षण में नवीन परिणाम उत्पन्न होता है, इस आधार से अनित्य भी है।¹

इन सब तर्कपूर्ण समाधानों से यह सिद्ध हुआ कि — निर्वाण का अस्तित्व है, जीव भी विद्यमान रहता है, निर्वाणावस्था में जीव को परमसुख की प्राप्ति होती है। अब वेदवाक्यों का सम्यक् अर्थ करने पर पूर्ण निश्चित हो जायेगा।

वेदवाक्यों का समन्वय

वेद—उपनिषदों में यह वाक्य है — “न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोर पहतिरस्ति अशरीर वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” इस वाक्य से मोक्ष का अस्तित्व, मोक्ष में जीव का अस्तित्व, और निरूपम सुख का अस्तित्व सिद्ध होता है।

‘अशरीर’ का अर्थ जीव के नष्ट होने का सूचक नहीं है, वह निषेधसूचक शब्द है। जैसे — अधन, अर्थात् विद्यमान देवदत्त के पास धन नहीं है, वैसे ही विद्यमान जीव के लिए ‘अशरीर’ शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् शरीर विहीन जीव। यदि खरविषाण

¹ कथमाइ भावओ वा, नावरणाऽऽबाह कारणाभावा।
उपायदिठइ भंगस्सहावओ वा न दोसोऽयं॥ वही, गाथा 2014

की तरह देवदत्त का अभाव होता तो अधन शब्द का प्रयोग नहीं होता। जीव तो अशरीर और सशरीर दोनों में है।¹

‘वा वसन्तं’ यह भी विद्यमान जीव का ही कथन करता है, क्योंकि रहने का धर्म विद्यमान पदार्थ का है अविद्यमान का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि सदेही वीतरागी को सुख—दुःख स्पर्श नहीं करता है। अथवा वा अवसन्त ऐसा विश्लेषण करने पर भी अशरीरी मुक्तात्मा जीव अथवा ज्ञानादि गुण विशिष्ट विद्यमान अशरीरी जीव को भी सुख—दुःख स्पर्शता नहीं है, ‘वा’ अर्थात् वीतरागी जिनके चार घाति कर्म नष्ट हो गये हैं किन्तु जो शरीर धारण किये हुए हैं, वैसे जीवन्मुक्त वीतराग को कुछ भी इष्ट या अनिष्ट न होने से सुख—दुःख का स्पर्श नहीं होता।²

‘अशरीरं वा अवसन्तं’ इसका अर्थ यह करते हैं कि अशरीरी कहीं भी वास नहीं करता (जो सर्वथा है ही नहीं)। किन्तु यह भ्रान्ति है।

प्रियाप्रिययोर पहति रस्ति — प्रिय—अप्रिय का स्पर्श नहीं होता — इसमें जो स्पर्श करने की बात आयी है, वह ‘जीव’ के अस्तित्व को सूचित करता है। यदि जीव ‘बन्ध्यापुत्र’ की तरह सर्वथा असत् हो तो, जैस — बन्ध्यापुत्र को प्रियाप्रिय कुछ भी नहीं है’ यह कहना व्यर्थ है, वैसे अशरीर को प्रियाप्रिय कुछ भी नहीं है, यह कथन व्यर्थ है। जिसमें प्रिय—अप्रिय प्राप्ति की सम्भावना ही नहीं है तो, उसका निषेध कैसे हो सकता है?

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि मुक्त जीव को जब प्रिय अप्रिय दोनों का स्पर्श नहीं होता, तो फिर परमसुख की प्राप्ति कैसे होती है? इसका समाधान यह है कि मुक्त जीव में पुण्यकृत सुख और पापकृत दुःख नहीं है। वेदों में जिन प्रियाप्रिय का निषेध किया गया है, वह सांसारिक है, अतः मुक्त पुरुष को सांसारिक सुख—दुःख से कोई सरोकार नहीं है। उनका सुख स्वाभाविक है, अकर्मजन्य है, निरुपम है, अनश्रतिकार रूप है। अतः यह सिद्ध होता है कि मोक्ष है, मोक्ष में जीव है, और उसे सुख भी है।

“जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्” अर्थात् वृद्धावस्था में मरण पर्यन्त भी स्वर्गदायक अग्निहोत्र करना चाहिए। इसका सामान्य अर्थ लेकर व्यक्ति स्वर्ग तक ही जाने की इच्छा

¹ असरीरव् वएसो, अधणो व्व सओ निसेहाओ॥ वही, गाथा 2017

² जं च वसन्तं तं संतमाह वासदतो सदेहं पि।

ण फुसेज्ज वीतरागं, जोगिणमिट्ठेतरविसेसा॥ विशेष्यावश्यक, गाथा 2019

करता है, किन्तु 'वा' शब्द से स्वर्ग से आगे मोक्ष का संकेत मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि मोक्ष के निमित्तभूत भी अनुष्ठान करने चाहिए।

इस प्रकार मोक्ष/निर्वाण का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रभास जी की निर्वाणविषयक चर्चा में कई वादों व मतों का निरसन किया है। तथा मण्डिक जी की बन्ध-मोक्ष विषयक चर्चा में विशेषावश्यककार ने उन-उन दर्शनों की एकान्त मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया है।

भारतीय दर्शन में मात्र चार्वाक दर्शन ऐसा है कि जिसने जीव के बन्ध-मोक्ष को स्वीकार नहीं किया है, जबकि अन्य दर्शनों ने इसे स्वीकृत किया है। सांख्य दर्शन में बन्ध-मोक्ष माना, किन्तु जीव के स्थान पर प्रकृति को माना है, उनका मन्तव्य है कि प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है, अन्य दर्शनों में इसे चेतन और अचेतन का विवेक कहते हैं। मोक्ष की सत्ता सबने स्वीकार की है।

कतिपय दर्शन यह मानते हैं कि - भव्यों के मोक्ष जाने से संसार रिक्त हो जायेगा, उसके उत्तर में विशेषावश्यकभाष्यकार ने बताया कि जीव अनन्त है, अतः ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। योगभाष्यकार में बताया है कि - "संसार का अन्त है या नहीं, यह बताया नहीं जा सकता। यह निश्चित है कि कुशल का संसार समाप्त होता है तथा अकुशल का संसार समाप्त नहीं होता, यह संसार का कभी उच्छेद नहीं होता।"

जैन दर्शन में यह माना जाता है कि भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ, जीव अनन्त है और उसका अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध है।

दूसरा तथ्य है कि - मोक्ष को जो कृतक मानते हैं उनके लिए यह स्पष्टीकरण दिया, जैसे - बौद्ध दर्शन सभी वस्तुओं को क्षणिक व कृतक मानते हैं, किन्तु उन्होंने निर्वाण को असंस्कृत ही माना है।

भदन्त नागसेन ने इस मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि - निर्वाण असंस्कृत है, इसलिए उसे उत्पन्न, अनुत्पन्न, अतीत-अनागत, प्रत्युत्पन्न, पंचेन्द्रिय, विज्ञेय, जैसे किसी भी शब्द से वर्णित नहीं किया जा सकता है, वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। वेदान्त मत में भी मोक्ष को उत्पन्न किया जाने वाला नहीं है, बल्कि उसका साक्षात्कार

होता है, यह माना है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को दूर कर उसके शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना ही मोक्ष है।

जैन एवं जैनेत्तर दर्शन में बन्ध का स्वरूप

बन्ध का स्वरूप – जीव और कर्म का सम्बन्ध (जैन दर्शन)

संसार में सर्वत्र ईंट, सीमेंट, आदि पदार्थ मकान के रूप में बन्धे हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अनेक कागजों को परस्पर मिलाकर उन्हें सीलकर पुस्तक की जिल्द बांधी जाती है, यह कागजों का परस्पर बन्ध भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। संसार में कई प्रकार के बन्ध होते हैं – जैसे कि माता-पुत्र वात्सल्यभाव से, गुरु-शिष्य उपकार्य उपकारक भाव से बंधे हुए होते हैं।

ये सब वस्तुएं एक दूसरे के साथ बन्धन के रूप में प्रत्यक्ष बद्ध दिखाई देती हैं, किन्तु जीव के साथ कर्मबन्ध चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता है, इस कारण कई लोगों के मन में शंका उपस्थित होती है कि कर्मबन्ध कैसे होता है?

चर्मचक्षुओं से न दिखाई देने के कारण वस्तु के सद्भाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। उन वस्तुओं को आगम, अर्थापत्ति, अथवा अनुमान के आधान पर मानना ही पड़ता है। अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न सर्वज्ञ वीतराग आप्त पुरुषों ने कर्मबन्ध को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखा है, उन प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों ने फरमाया है – जैसे – शब्दादि विषयों में आसक्त बने हुए अश्व पाश से बांधे गये, वैसे ही पंचेन्द्रिय विषयों में रत जीव परम दुःख के कारणरूप घोर कर्मबन्ध को प्राप्त होते हैं।¹ इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि – “जो साधक अयतना (अविवेक) से चर्या करता है, अयतना से खडा होता है, बैठता है, तथा सोता है या खाता है, बोलता है, वह अन्य प्रणियों की और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करता है, वह पापकर्म का बन्ध करता है।²

कर्मबन्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध है। किसी भी संसारी जीव के लक्षणों प्रवृत्तियों अथवा स्वभावों आदि पर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि “इस जीव या मनुष्य ने पुनर्जन्म में अथवा इस जन्म में पहले अमुक-अमुक कर्म

¹ ज्ञाताधर्मकथंग सूत्र 17/4

“जहां सद्धाइसु गिद्धा, बद्धा आसा, तहेव विसयरया।
पावति कम्मबंध, परमासुहं कारण घोरं ”

² दशवैकालिक सूत्र अ. 4, गाथा 1-6

बांधा होगा, वही कर्म अब उदय में आया है, जिसका फल यह अमुक रूप में भोग रहा है।" जैसे कि समुद्रपाल ने अपने प्रसाद में बैठे हुए बध्य व्यक्ति के शरीर पर मण्डित चिह्नों को देखकर संवेगप्राप्त होकर कहा "अहो! इस चोर के द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का ही यह पापरूप फल है।¹

बन्ध का स्वरूप

आत्मा या जीव तत्त्व तथा अनात्मा अर्थात् अजीव तत्त्व ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी इन दोनों का जो विशिष्ट संयोग होता है, वही बन्ध है।

बंध का शाब्दिक अर्थ है — बंधना, जुड़ना, मिलना। दो या दो से अधिक परमाणुओं का बंध होता है। कर्मण पुद्गलों का जीव के साथ भी बन्ध होता है। सूक्ष्म धातु जीवात्मा में प्रवेश करती है। राग एवं द्वेष के सहयोग से जीव के साथ जुड़ती है, और रासायनिक सांयोगिक (Chemical Combination) प्रक्रिया होती है जिसे बन्ध कहते हैं।²

तत्त्वार्थवार्तिक और आप्तमीमांसा वृत्ति में बताया गया है कि "जो आत्मा को परतंत्र कर देता है, वह, (आत्मा का परतंत्रीकरण) बंध है"।³

विवेकविलास में कर्मों के बन्ध कारण को 'कर्मबन्ध' कहा गया है।⁴

कर्मग्रन्थ के तृतीय भाग में बताया है कि 'नये कर्मों को ग्रहण करना बन्ध है'।⁵

आचारांग निर्युक्ति में कहा गया है कि 'कर्मद्रव्य के साथ जीव का जो संयोग होता है, उसे ही बन्ध मानना चाहिए।⁶

कर्मस्तव में बताया है कि 'मिथ्यात्व आदि हेतुओं के द्वारा अभिनव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का ग्रहण करना बन्ध कहलाता है'।⁷

¹ "अहोऽयुहाणं कम्मणं, निज्जाणं पावणं इमं" उत्तराध्ययन 21/8

² डा. ज्ञानप्रभा, जैनदर्शन में जवतत्त्व, धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अहमदनगर, पृ. 305

³ (क) "बध्यतेऽस्वतंत्रीक्रियते, अस्वतंत्रीकरणं वा बन्धः", तत्त्वार्थवार्तिक 1/4/10

(ख) बंधो नाम कर्मणाऽस्वतंत्रीकरणं आप्तमीमांसा 40

⁴ "कर्मणा बन्धनात् बन्धो", विवेकविलास 8/252

⁵ "अभिनव कम्मग्गहणं बंधो", कर्मस्तव 3

⁶ "कम्मदव्वेहिं समं संजोगो होइ उ जीवस्स, सो बंधो नायव्वो", आचारांग निर्युक्ति, 260

⁷ "मिथ्यात्वादि हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य कर्मणः ज्ञानावरणदेग्रहणं उपादानं बन्ध इत्युच्यते" कर्मस्तव, स्वेपज्ञ पृ. 3

आत्मा जिस शक्ति से कर्म परमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव प्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा कर्म परमाणु और आत्मा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्ध है। जैसे दीपक अपनी ऊष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में बदल लेता है, वैसे ही यह आत्मरूपी दीपक अपने रागभाव रूपी ऊष्मा के कारण क्रियाओं रूपी बत्ती के द्वारा कर्म—परमाणुओं रूपी तेल को आकर्षित कर उसे शरीर रूपी लौ में बदल देता है।¹

पण्डित मालवणिया का मन्तव्य है कि जड एवं जीव का विशिष्ट संयोग ही बन्धन है।²

आत्मा के साथ सूक्ष्म जाति के कर्मपुद्गलों का नीरक्षीर के समान अथवा लोहाग्नि के समान एक हो जाना ही बन्ध है। राजवार्तिक के अनुसार “आत्मकर्मणोरन्योन्य प्रवेशलक्षणो बन्धः”³ अर्थात् जैसे लोहे और अग्नि का एक ही क्षेत्र है और नीर तथा क्षीर मिलकर एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होकर, सूक्ष्म पुद्गल एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। जीव के एक—एक प्रदेश पर कर्मों के अनन्त प्रदेश अत्यन्त सघन और प्रगाढ रूप से अवस्थित होकर रहते हैं।

श्री जिनेन्द्र वर्णी ने बन्ध के संश्लेष संबंध की व्याख्या करते हुए कहा है कि बन्ध को प्राप्त मूल पदार्थ, भले ही वे जड हो या चेतन अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत होकर एक विजातीय रूप धारण कर लेते हैं। जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन। ये दोनों गैसों अग्नि को भड़काने की शक्ति रखती है, परन्तु परस्पर बन्ध को प्राप्त हो जाने पर जल का रूप धारण कर लेती है। दोनों गैसों संश्लेष संबंध को प्राप्त होकर यद्यपि विजातीय रूप धारण कर लेती है, परन्तु वस्तु के स्वाभाविक गुण उस अवस्था में भी नष्ट नहीं होते, अव्यक्त अवश्य हो जाते हैं, जिन्हें पुनः व्यक्त या आविर्भूत किया जा सकता है। जैसे प्रयोग विशेष द्वारा जल को पुनः आक्सीजन और हाइड्रोजन में बदला जा सकता है, वैसे ही आत्मा

¹ डा. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, पृ 355

² जैनदर्शन में जीव तत्व, वही पृ 305

³ राजवार्तिक पृ. 26

और कर्म का संश्लेष संबंध यद्यपि विजातीय हो जाता है। इस बन्ध अवस्था में भी जीव और पुद्गल के गुण अत्यक्त हो जाते हैं, किन्तु नष्ट नहीं होते।¹

निष्कर्षतः बन्ध वही है जो आत्मा को बंधन में डालता है आत्मा की शक्तियों को कुण्ठित कर देता है, आत्मा के ज्ञान और दर्शन रूप स्वाभाविक गुणों को आवृत कर देता है। सार यही है कि आत्मा के अपने स्वभाव को उपलब्ध होने देने में जो अवरोधक कारण है, वही बन्ध है।

बन्ध के स्वरूप पर चिन्तन करने के पश्चात् बन्ध के कारणों पर चिन्तन करना आवश्यक है।

बन्ध के कारण

कर्म और बन्ध को प्रायः सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। जीव और अजीव तत्वों के एक हो जाने से ही संसार में समस्याएं उत्पन्न होती हैं दोनों तत्वों के पृथक् हो जाने से सब समस्याएं स्वतः ही दूर हो जाती हैं। जीव और अजीव तत्वों का परस्पर में बन्ध किस कारण से होता है, यह जानकर ही इससे मुक्ति का उपाय किया जा सकता है। कर्मबन्ध के कारणों को सभी दर्शनों में विभिन्न रूप से कहा गया है।

विभिन्न दर्शनों में कर्मबन्ध के कारण

1. उपनिषदों में कर्मबन्ध का कारण

उपनिषदों में कर्मबन्ध का कारण बताते हुए कहा गया है कि — देहादि अनात्म पदार्थों में आत्माभिमान करना ही कर्मबन्ध का कारण है, इसे ही असुरों का ज्ञान भी कहा गया है जिसके कारण आत्मा परवश हो जाता है।² परवश हो जाने पर आत्मा व्यापक ज्ञान से वंचित रह जाती है और जन्म, जरा, मृत्यु आदि को ही यथार्थ मानकर कर्म-बन्ध करता रहता है। अविद्या के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के प्रभाव से जीव इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत के वास्तविक स्वरूप का अज्ञात रहता है, इस अज्ञान के

¹ डा. मनोरमा जैन, जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त : एक अध्ययन, पृ 94

² (क) छन्दोग्य उपनिषद्, अध्याय 8, खण्ड 8, मंत्र 4-5
(ख) वही, अध्याय 7, खण्ड 23, मंत्र 1

फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है। बन्धन को उपनिषद में 'ग्रन्थि' भी कहा गया है। इस तरह जीव जन्म—जरा—मृत्यु को यथार्थ मानकर कर्मबन्ध करता रहता है।

बौद्ध दर्शन में कर्म बन्ध का कारण

बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्त्यों में द्वितीय आर्यसत्य, दुःखसमुदाय में दुःख के कारणों का निर्देश किया गया है। दुःख के बारह कारणों को एक श्रृंखला के रूप में निर्दिष्ट किया गया है : इसको द्वादश प्रतीत्यसमुत्पाद (The doctrine of dependent origination) कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक विषय का कुछ न कुछ कारण होता है। बौद्धदर्शन में दुःख को 'जरामरण' कहा गया है। जरा का अर्थ वृद्धावस्था और मरण का अर्थ मृत्यु होता है। 'जरामरण' का कारण जाति (Rebirth) है। जन्म—मरण ग्रहण करना ही जाति कहा जाता है, यदि मानव शरीर नहीं धारण करता तो उसे सांसारिक दुःख का सामना नहीं करना पड़ता। जाति का कारण 'भव' (The tendency to the born) है। जन्म ग्रहण करने को भव कहा गया है। भव का कारण उपादान (Mental clinging) है, सांसारिक वस्तुओं से आसक्त रहने की चाह को उपादान कहा जाता है। उपादान का कारण 'तृष्णा' (craving) है। शब्द, स्पर्श, रंग इत्यादि विषयों के भोग की वासना को 'तृष्णा' कहा जाता है। तृष्णा का कारण वेदना (Sense experience) है। पूर्व इन्द्रियानुभूति को वेदना कहा जाता है। वेदना का कारण स्पर्श (Sense Contact) है। इन्द्रियों का वस्तुओं के साथ जो सम्पर्क होता है, उसे "स्पर्श" कहा जाता है। स्पर्श का कारण 'षडायतन' (six sense organs) है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन के संकलन को षडायतन कहा जाता है। षडायतन का कारण 'नाम—रूप' (Mind body organism) है। मन और शरीर के समूह को 'नाम—रूप' कहा जाता है। 'नाम—रूप' का कारण विज्ञान (consciousness) है, विकास का होना। विज्ञान का कारण संस्कार (Impression) हैं। संस्कार का अर्थ है व्यवस्थित करना। 'संस्कार' का कारण 'अविद्या' (Ignorance) है।¹

अविद्या का अर्थ है सम्यग् ज्ञान का अभाव। जो वस्तु अवास्तविक है, उसे वास्तविक समझना, जो वस्तु दुःखमय है उसे सुखमय समझना। अविद्या ही समस्त दुःखों व बन्धन का कारण है। आश्रय अविद्या के कारण होता है, अविद्या भी अकारण नहीं है।

¹ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 51

जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती है, वैसे ही अविद्या से आश्रव और आश्रव से अविद्या (मित्थ्यात्व) की परम्परा परस्पर सापेक्षरूप से चलती रहती है।¹

न्यायवैशेषिक दर्शन में कर्मबन्ध का कारण

न्यायदर्शन में बन्ध के प्रमुख कारण तीन माने हैं – राग, द्वेष और मोह।² राग से काम, मात्सर्य, स्पृहा, तृष्णा, और लोभ ये पाँच दोष उत्पन्न होते हैं, द्वेष से क्रोध, ईर्ष्या, असूया, तृष्णा और आमर्ष ये पाँच दोष उत्पन्न होते हैं। और मोह से मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान और प्रमाद ये चार दोष उत्पन्न होते हैं।³ इन चौदह दोषों के कारण ही संसार में बन्ध को प्राप्त होता है। इन दोषों में मोह, सबसे प्रधान दोष माना जाता है,⁴ क्योंकि मोह के कारण अविद्या राग व द्वेष उत्पन्न होते हैं। जिससे देहादि अनात्म वस्तुओं में, आत्मा की प्रतीति होने लगती है।

वैशेषिक दर्शन में अविद्या के चार कारण बताये गये हैं –

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। इनसे कर्मों का बन्ध होता है।

मीमांसा दर्शन में कर्मबन्ध के कारण

मीमांसा दर्शन में कर्म अनेक प्रकार के कहे गये हैं। कर्म पर मीमांसकों ने बहुत जोर दिया है जिससे ईश्वर का स्थान गौण हो गया। कर्म के भेद बताये हैं –

1. नित्य कर्म : स्नान, ध्यान, संध्या आदि दैनिक कार्य।
2. नैमित्तिक कर्म : विशेष अवसरों पर किये जाने वाले कर्म।
चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण के समय गंगा नदी में स्नान करना।
3. काम्यकर्म : जो निश्चित फल की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं। पुत्रप्राप्ति, धनप्राप्ति आदि के लिए।
4. निषिद्ध कर्म : जिन कर्मों को करने का निषेध रहता है, जिनके करने से मनुष्य पाप का भागी होता है।

¹ (क) वही, पृ. 99

(ख) मज्झिमनिकाय, 1/1/9

² तत्रैराशयं रागद्वेषमोहार्यन्तराभावात् न्यायसूत्र, 4,4,3

³ वात्सयायन भाष्य, न्यायसूत्र 4/1/3

⁴ “तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येत्तरेतरोत्पतेः” न्यायसूत्र 4/1/6

इन चारों में से नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म से कर्म-बन्ध नहीं होता। काम्यकर्म तथा गोवधादि निषिद्धकर्म बन्ध के कारण है।

कुमारिल ने कहा है कि – जो शरीर के बन्धन से छुटकारा पाना चाहता है उसे काम्य और निषिद्धकर्म नहीं करना चाहिए।¹

सांख्य योग दर्शन में कर्मबन्ध के कारण

सांख्य दर्शन संसार को दुःखमय मानता है, उसके अनुसार विश्व में तीन प्रकार के दुःख पाये जाते हैं –

1. **आध्यात्मिक दुःख** : जो मनुष्य के निजी शरीर और मन से उत्पन्न होते हैं। मानसिक व्याधियाँ और शारीरिक व्याधियाँ ही आध्यात्मिक दुःख है।
2. **आधिभौतिक दुःख** : जो बाह्य पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। जैसे कि काँटे का गढ़ना, तीर का चूमना।
3. **आधिदैविक दुःख** : यह दुःख बाह्य एवं अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है। नक्षत्र, भूत-प्रेतादि से प्राप्त दुःख।

कर्म बन्ध के कारण दुःख होता है, बन्धन अर्थात् अज्ञान। आत्मा और प्रकृति (अनात्मा) के भेद का ज्ञान न रहना ही बन्धन है। बन्धन का कारण अविवेक (Non-discrimination) और अहंकार है।²

बन्धन तीन प्रकार का है : 1. प्राकृतिक 2. वैकृतिक और 3. दाक्षणिक

1. **प्राकृतिक** : प्रकृति को आत्मा मानकर उसकी उपासना करना, प्राकृतिक बन्ध है।
2. **वैकृतिक** : इन्द्रिय, पंचमहाभूत, अहंकार और बुद्धि को ही पुरुष मानकर उपासना करना।
3. **दाक्षणिक बन्ध** : यज्ञ की समाप्ति पर प्राप्त दक्षिणा में ही आस्था रखकर आजीवन यज्ञादि कर्म करते रहना।

¹ भारतीयदर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, वही, पृ. 285

² वही पृ. 285

महर्षि रमण के अनुसार "चेतन और जड़ जगत के बीच भ्रामक अहं का रहस्यमय आविर्भाव ही बन्ध का कारण है।"¹ प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही बन्धन है, यह बन्धन अविवेक के कारण होता है।

वास्तव में तो पुरुष निर्विकार, अकर्ता एवं दृष्टा है और प्रकृति कर्त्री है, किन्तु बुद्धि तत्त्व से चेतन पुरुष भी संक्रान्त हो जाता है और अनुभूयमान वस्तु भी संक्रान्त हो जाती है। फलस्वरूप चेतन पुरुष उस वस्तु से प्रभावित होता है, और बन्धन को प्राप्त हो जाता है।

योग सूत्र में बन्धन के पाँच कारण माने गये हैं — 1. अविद्या, 2. अस्मिता (अहंकर), 3. राग (आसक्ति), 4. द्वेष और 5. अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।²

गीता में बन्धन का कारण

गीता में मिथ्या दृष्टिकोण को संसार भ्रमण का कारण कहा गया है। मिथ्यात्व के पाँच प्रकार 1. एकान्त, 2. विपरीत, 3. संशय, 4. विनय (रूढिवादिता) और 5. अज्ञान। जो प्रमाद तमोगुण से प्रत्युत्पन्न है, उसे अधोगति का कारण माना गया है। आसुरीसम्पदा बन्धन का हेतु है, उसमें दम्भ, दर्प, अभिमान, पारुष्य (कठोर वाणी) एवं अज्ञान को आसुरी-सम्पदा कहा गया है। यह अज्ञान ही कर्म-बन्धन का कारण है।³

श्री कृष्ण कहते हैं — दम्भ, मान, मद से समन्वित दुष्पूर्ण आसक्ति (कामनाओं) से युक्त तथा मोह से मिथ्यादृष्टित्व को ग्रहण कर प्राणी असदाचरण से युक्त हो संसार-परिभ्रमण करते हैं।⁴

जैनदर्शन में बन्ध के कारण

जैनदर्शन में भी यद्यपि अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति अज्ञान, अविद्या, क्लेश आदि बन्ध के कारणों का उल्लेख है, किन्तु बन्धन सम्बन्धी विचारों में कुछ विशिष्टता है, क्योंकि जैनदर्शन जीव और पुद्गल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है।

¹ डा. मनोरमा जै, जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त, एक अध्ययन, पृ. 111

² योगसूत्र, 2/3

³ जैन बौद्ध और गीता के अचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, वही, पृ. 363

⁴ गीता, 16/10

प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिरूप – चतुष्टय पाया जाता है। जीव का पुद्गल से संबंध हो जाने पर बन्ध की अवस्था में अनन्त शक्तियाँ आवृत हो जाती हैं। बन्ध के कारणों पर अनेक दार्शनिकों व चिन्तकों ने चिन्तन किया है।

सुखलाल संघवी के अनुसार जैन दर्शन में बन्ध के कारणों की चर्चा तीन प्रकार से की गई है— एक परम्परा में – कषाय और योग दो ही बन्ध के हेतु हैं, दूसरी परम्परा के अनुसार, मिथ्यात्व, अविरत्ति, कषाय और योग ये चार बन्ध के हेतु हैं। तीसरी परम्परा के अनुसार मिथ्यात्व, अविरत्ति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।¹

वाचक उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में इन पाँच हेतुओं का उल्लेख किया है—
“मिथ्यात्वाविरत्ति—प्रमादकषाय योगाः बन्धहेतवः”²

आचारांगसूत्र में स्पष्ट रूप से बन्धकारणों का उल्लेख नहीं है किन्तु कुछ संदर्भ है — जिनसे बन्धकारणों को जाना जा सकता है क्योंकि उसमें यह उल्लेख है कि “जो बन्ध और मोक्ष का अन्वेषण करता है वही मेधावी है”³ यहाँ बन्धन के अन्वेषण का तात्पर्य उसके कारणों को जानना ही है। आचारांग के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में साधक को यह कहा गया है कि ‘वह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्व, जन्म, मृत्यु, नरक, *तिर्यञ्च* और दुःख का निवर्तन करें।’⁴ यहाँ पर कार्यकारण भाव का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि — क्रोधादि, राग, द्वेष एवं मोह—जन्म—मरण, नरक, *तिर्यञ्च* आदि दुःख के कारण हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से आचारांग में राग—द्वेष आदि कषायों एवं मिथ्यात्व को बन्धन का कारण माना है।

समवायांगसूत्र में राग—द्वेष को बन्धन का कारण कहा गया है।⁵ इसमें मिथ्यात्व, अविरत्ति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच आश्रवधारों या बन्ध हेतुओं की भी चर्चा है।⁶

¹ तत्त्वार्थसूत्र पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, पृ. 192

² तत्त्वार्थसूत्र , 8/1

³ से मेहादी अणुघातस्स खेयण्णे जे य बंधपमोक्खण्णेषि, आचारांगसूत्र, 1/2/6/104

⁴ वही, 3/4/30

⁵ “दुविहे बंधणे पण्णते, तंजहा राग बंधणे चेव दोसबंधणे चेव, समवायांग सूत्र , 2/9

⁶ “पंच आसवदारा पण्णता, तंजहा - मिच्छत्तं अविरड् पमाया कसाया योग” वही पृ. 5/26

भगवतीसूत्र में बन्धन—कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “जीव, प्रमाद एवं योग के निमित्त से कर्मों को बाँधता है।¹

प्रज्ञापनासूत्र में कर्मबन्ध के प्रमुख कारणों का विस्तृत उल्लेख है। सर्वप्रथम उसमें बन्धन के दो कारण राग—एवं द्वेष बताये हैं। तदनन्तर राग के माया एवं लोभ एवं द्वेष के क्रोध और मान ऐसे दो उपभेद किये हैं।²

उत्तराध्ययनसूत्र में राग एवं द्वेष को ही कर्मबन्धन का मूल बीज कहा गया है।³

प्रवचनसार में बताया है कि — जिस जिस भाव से जीव विषयगत पदार्थ को देखता है, जानता है, उसी भाव (अध्यवसाय) के कारण वह विकारभाव को प्राप्त होता है, उसी से उसके शुभ—अशुभ कर्मबन्ध होता है।⁴

समयसार में बताया है कि — रागादि परिणाम से विशिष्ट जीव ही कर्मों का बन्ध करता है।⁵

इस तरह मूल रूप से बन्धन का कारण आश्रव है। आश्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। क्लेश या मल ही कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के सम्पर्क में आने का कारण है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना आश्रव है।

आश्रव के दो भेद हैं — भावाश्रव और द्रव्याश्रव। आत्मा की विकारी मनोदशा भावाश्रव और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्याश्रव है। इस प्रकार भावाश्रव कारण है और द्रव्याश्रव कार्य या प्रक्रिया है। द्रव्याश्रव का कारण भावाश्रव है, लेकिन यह भावात्मक परिवर्तन भी अकारण नहीं है, वरन् पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म के कारण भावाश्रव और भावाश्रव से द्रव्याश्रव और द्रव्याश्रव से कर्म का बन्धन होता है।⁶

¹ भगवतीसूत्र 1/3/27

² “दोहि ठणेहिं - तंजहा- रागे य दोसे य, रागे दुविहे पण्णते जाया य लोभे य, दोसे दुविहे-कोहे माणं”, प्रज्ञापना - 23/6

³ “रागो य दासो विय कम्मबीयं”, उत्तरा. पृ. 32/7

⁴ “भावेण जेण जीवो पेच्छदि, जाणदि आशदं विसे।

रज्जदि तेणैव पुणो, बज्जदि कम्मत्ति उवेदेसो” प्रवचनसार - 176

⁵ “रत्तो बंधदि कम्मं” समयसार गाथा 150

⁶ ‘भारतीय दार्शनिक निबन्ध’ (डा. सागरमल जैन) पृ. 299

आश्रव दो प्रकार का माना गया है – 1. ईर्यापथिक और 2. साम्परायिक।¹ कषायवृत्ति से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा जो आश्रव होता है, उसे ईर्यापथिक आश्रव कहते हैं। जिस प्रकार चलते हुए मार्ग में रही धूल पहले क्षण में सूखे वस्त्र पर लगती है, लेकिन गति के साथ ही दूसरे क्षण में अलग हो जाती है, उसी प्रकार कषायरहित क्रियाओं से पहले क्षण में आश्रव एवं बन्ध होता है और दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता है, तथा दूसरी जो क्रियाएँ कषायसहित हैं, वह साम्परायिक आश्रव है। साम्परायिक आश्रव आत्मा के स्वभाव को विभाव में बदल देता है।

तत्त्वार्थसूत्र में साम्परायिक आश्रव की निम्न 4 प्रकार की क्रियाएँ मानी गयी हैं –

- 1-5 हिंसा, असत्य, चोरी, मैयुन, और परिग्रह।
- 6-9 क्रोध, मान, माया और लोभ।
- 10-14 पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन।
- 15-38 24 साम्परायिक क्रियाएँ।²

वैसे तो आश्रव का मूल कारण योग क्रिया है, किन्तु यह क्रिया रूप व्यापार स्वतः प्रसृत नहीं है उसके भी प्रेरक सूत्र है, जिन्हें आश्रवद्वार या बन्धहेतु कहा गया है। वे पाँच कारण इस प्रकार हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। दोनों में पाँच कारण समान हैं, अन्तर यह है कि प्रथम क्षण में कर्मस्कन्धों का आगमन-आश्रव होता है, आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण में कर्मवर्गणाओं की आत्मप्रदेशों में अवस्थिति होती है, उसे बन्ध कहते हैं। यही दोनों में अन्तर है। आश्रव में योग की प्रमुखता है और बन्ध में कषायादि की।

जैसे राज्यसभा में अनुग्रह या निग्रह करने योग्य पुरुषों को प्रवेश कराने में राज्यकर्मचारी मुख्य होता है, किन्तु प्रवेश होने के पश्चात् उन व्यक्तियों का सम्मान करना या दण्ड देना इसमें राजाज्ञा प्रमुख होती है, इसी प्रकार योग की प्रमुखता से कर्मों के आगमन का द्वार खोल दिया जाता है, तथा समागत कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह होकर संश्लेष्य होना या न होना, कषायादि की प्रमुखता से होता है।

¹ तत्त्वार्थसूत्र 6/5

² जैन, बौद्ध और गीता के आ. दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जी जैन, पृ. 357

ये पाँच हेतु कर्मबन्ध के हेतु कैसे बनते हैं? यद्यपि आत्मा शुद्ध रूप में ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनन्त गुणों का समूहरूप है। उसका कर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाली मिथ्यात्व आदि चार या पाँच मुख्य शक्तियाँ हैं। ये पाँचों कर्म के सामान्य बन्धहेतु है। शुद्धात्मा को इन पाँच कारणों से कर्म लग जाते हैं। सर्वप्रथम कर्म का सम्बन्ध जुड़ता है — मिथ्या भ्रम से। तत्पश्चात् सांसारिक विषमभोगों का, हिंसादि विकारों का उपभोग करने से कर्म चिपकते हैं, अर्थात् कर्मबन्ध होता है। इसी प्रकार आत्मा प्रमाद, और असावधानी से प्रवृत्ति करता है, तब भी कर्म का बन्ध होता है तथा आत्मा में प्रादुर्भूत क्रोधादि से या राग-द्वेष से कर्म आत्मा में लगते हैं। इन चारों के साथ मन, वचन और काया की प्रवृत्ति जुड़ जाती है, तब आत्मा कर्म से आबद्ध होती है।¹

1. **मिथ्यात्व** : सत्य के प्रति विपर्यास अथवा सत्य दर्शन से विपरीत जानना, मानना और श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से आत्मा का मुख्य गुण-ज्ञान आवृत हो जाता है, प्राणी जानता तो है पर सम्यक् नहीं जान पाता है। यह अयथार्थ दृष्टिकोण है, यह पाँच प्रकार का है —

- | | | |
|--------------|----------------|---------------|
| 1. आभिग्रहिक | 2. अनाभिग्रहिक | 3. आभिनिवेशिक |
| 4. सांशयिक | 5. अनाभोगिक। | |

2. **अविरति** : जहाँ विरति न हो, (विरति का अर्थ व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, नियम या संयम का स्वीकार तथा आचरण करना) यह अभर्यादित एवं असंयमित जीवन प्रणाली है। "आभ्यन्तर में, निजपरमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न, परम सुखामृत का अनुभव करते हुए भी, बाह्य विषय में अहिंसादि व्रतों को धारण करना ही अविरति है।² यह पाँच प्रकार की है —

- | | | | | |
|----------|--------|---------|----------|-------------|
| 1. हिंसा | 2. झूठ | 3. चोरी | 4. कुशील | 5. परिग्रह। |
|----------|--------|---------|----------|-------------|

3. **प्रमाद** : समान्यतया समय का अनुपयोग या दुरुपयोग प्रमाद है। लक्ष्योन्मुख प्रयास के स्थान पर लक्ष्य विमुख प्रयास समय का दुरुपयोग है, जबकि प्रयास का अभाव अनुपयोग है। वस्तुतः प्रमाद आत्मचेतना का अभाव है।³

¹ कर्मविज्ञान, भाग 4, पृ. 124 -127

² द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 30, पृ. 88

³ जैन बौद्ध और गीता के आ.द. का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जी जैन, पृ. 357

प्रमाद से आत्मा अपनी संस्कृति व गुणों को भूलकर पर-पदार्थों में, परभावों में बहने लगता है। “कुशल कार्यो में अनादर भाव का होना प्रमाद है”। यह भी पाँच प्रकार का है – मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा।¹

4. **कषाय** : आत्मा के भीतरी कलुष परिणामों को कषाय कहते हैं। कष+आय इन दो शब्दों से बना है। ‘कष’ का अर्थ है संसार, कर्म अथवा जन्म-मरण। जिसके द्वारा प्राणी कर्मों से बांधा जाता है, अथवा जिससे जीव पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है। मूल रूप से कषाय चार है – 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ। इनकी तीव्रता और मन्दता के आधार पर 16 मनोदशाएँ हो जाती है।² ये चार हैं – 1. अनन्तानुबन्धी, 2. अप्रत्याख्यानावरण, 3. प्रत्याख्यानावरण एवं 4. संज्वलन।

5. **योग** : कर्मबन्ध का पंचम कारण योग है। योग का अर्थ है— मन, वचन और काया की क्रियाएँ।³ इन तीनों की क्रियाओं से कर्मबद्ध आत्मा में पुनः पुनः कर्मों का संचय होता रहता है। योग दो प्रकार का होता है – कषाय सहित और कषाय रहित। कषाय सहित योग का कारण होने से साम्प्रायिक कहलाता है, (संम्प्राय संसार का पर्यायवाची है) कषायरहित योग ईर्यापथिक क्षणिक बन्ध का कारण होता है।

बन्धन के कारणों को संक्षेप में करने पर तीन कारण रहते हैं – राग (आसक्ति), द्वेष और मोह। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उसमें राग ही प्रमुख है, राग के कारण ही द्वेष होता है। आचार्य कुन्दकुन्द राग को बन्धन का प्रमुख कारण बताते हुए कहते हैं – “आसक्त आत्मा ही कर्मबन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान का उपदेश है।”⁴ मोह तथा राग परस्पर एक दूसरे के कारण है, अतः वास्तविक रूप में राग-द्वेष और मोह यह तीन ही जैन परम्परा में बन्ध के कारण है।

यह सिद्ध होता है कि आत्मा के बन्धन का कारण मात्र आत्मा नहीं है, जिरा प्रकार कुम्हार चक्र आदि निमित्तों के बिना मिट्टी स्वतः घट का निर्माण नहीं कर सकती, उसी प्रकार आत्मा बिना किसी बाह्य निमित्त के कोई भी ऐसी क्रिया नहीं कर सकता जो उसके बन्धन का कारण हो। वस्तुतः क्रोध आदि कषाय, राग, द्वेष और मोह आदि

¹ “प्रमादः कुशलेष्वनादरः” सर्वार्थसिद्ध, पृ. 374

² डॉ. रतनलाल जैन, जैन कर्म सिद्धान्त और मनोविज्ञान, पृ. 97

³ “काय वाङ् मनः कर्मयोगः” तत्त्वार्थसूत्र, 6/1

⁴ समयसार, गाथा 157

मनोवृत्तियाँ भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती, जब तक कि वे कर्मवर्गणाओं के विपाक के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होती। मनोविज्ञान में बताते हैं कि शरीर रसायन और रक्त रसायन में परिवर्तन संवेग (मनोभावों) के कारण होता है, संवेग में परिवर्तन रसायन परिवर्तन से होता है, दोनों परिवर्तन सापेक्ष हैं, वैसे ही कर्म करने के लिए आत्मतत्त्व और जडतत्त्व परस्पर सापेक्ष हैं। जड वर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं, और मनोभावों के कारण पुनः जड कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है, जो अपनी विपाक अवस्था में पुनः मनोभावों (कषायों) का कारण बनते हैं। इस प्रकार मनोभावों (आत्मिक प्रवृत्ति) और जड कर्म परमाणुओं की पारस्परिकता प्रभाविकता का क्रम चलता रहता है। जैसे वृक्ष और बीज में पारस्परिक सम्बन्ध है, इसी प्रकार आत्मा का अशुद्ध मनोवृत्तियाँ (कषाय एवं मोह) और कर्मपरमाणुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है। जड कर्म परमाणुओं और आत्मा में बन्धन की दृष्टि से निमित्त और उपादान का सम्बन्ध माना गया है।

जैन विचारक एकान्त रूप से न तो आत्मा को स्वतः ही बन्धन का कारण मानते हैं और न जड कर्मवर्गणाओं को, अपितु यह मानते हैं कि जड कर्मवर्गणाओं के निमित्त से आत्मा बन्ध करता है।

जीव और कर्म का सम्बन्ध

जैन दर्शन में कर्म मूर्त है आत्मा अमूर्त है, तो प्रश्न उठता है कि मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्धित होते हैं ? जैन विचारकों की दृष्टि से इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे मूर्त घट अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्धित होते हैं, वैसे ही मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं।¹ विशेषावश्यकभाष्यकार ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है, जैसे – अंगुली आदि मूर्त द्रव्य है किन्तु उससे आकुंचन-प्रसारण आदि अमूर्त क्रिया से समवाय सम्बन्ध हैं। वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध है तथा स्थूल शरीर मूर्त है, परन्तु उसका आत्मा से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध है, भवान्तर में गमन करते हुए जीव का कार्मण शरीर का सम्बन्ध है तभी नए स्थूलशरीर का ग्रहण करना सम्भव है।

¹ मुत्तस्सामुत्तिमत्ता जीवेण कंघ हवेज्ज संबंघो।

सोम्म! घडस्स व णभत्ता जंघ वा दव्वस्स किरियाए॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1635

दूसरा समाधान है कि अनादिकाल से जीव कर्मों से बंधा हुआ है, कर्मबद्ध आत्माएँ कथंचित मूर्त होती हैं, संसारी दशा में मूर्त रहती हैं। जो आत्मा पूर्णरूप से कर्म मुक्त हो जाता है, उसको कभी भी कर्म का बन्धन नहीं होता, जो आत्मा कर्मबद्ध है, उसी के कर्म बन्धते हैं।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध नीर-क्षीरवत् अथवा अग्नि-लौहपिण्डवत् माना है। जैसे "ज्ञान" आत्मा का गुण होने के कारण अमूर्त है, परन्तु मदिरा सेवन कर लेने से आत्मा का ज्ञान गुण लुप्त हो जाता है, अमूर्त गुणों पर मूर्त मदिरा का प्रभाव जैसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अमूर्त जीव से मूर्त कर्मों का संबन्ध भी संभव है।¹

आत्मा को पूर्णरूप से अमूर्त नहीं मानकर कथंचित मूर्त मानना होगा, क्योंकि पुण्य पाप के बंधन से जीव अमूर्तिक होते हुये भी मूर्तिक हो जाता है। जैसे- पुण्य-पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्गलिक या मूर्तिक होते हैं। उनके परिणामस्वरूप प्राप्त सुख दुःख रूपी फलों को (जो मूर्तिकजन्य होने से रूपी होते हैं) भोगता हुआ अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक हो जाता है। जब जीव पुण्य पाप के बन्धन से छुट जाता है तब स्व-रूप में स्थित होकर अमूर्तिक हो जाता है।

जिनेन्द्रवर्णी जी कर्मपुद्गल व जीव सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि- जीव द्रव्यको हम अमूर्तिक कहते हैं, पर वास्तव में वह आकाशवत् सर्वथा अमूर्तिक नहीं है? जिस प्रकार घी नामक पदार्थ मूलतः दूध में रहता है, परन्तु एक बार घी बन जाने पर उसे पुनः दुग्ध रूप में परिणत करना सम्भव नहीं है। अथवा जिस प्रकार स्वर्ण मूलतः पाषाण के रूप में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे पुनः किट्टीका के साथ मिलाया जाना असम्भव है, इसी प्रकार जीव (आत्मा) पदार्थ मूलतः शरीर में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः उसका शरीर के साथ बंध जाना असंभव है। इस कारण यह माना जाता है कि घी तथा स्वर्ण की भाँति जीव मूलतः अमूर्तिक या शरीर रहित नहीं है, बल्कि शरीर के साथ द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव रूप से संश्लेष संबन्ध को प्राप्त होने के कारण वह अपने अमूर्तिक स्वभाव से च्युत हुआ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार वह मूलतः अमूर्तिक न होकर

¹ मुत्तेणामुत्तिमुत्तो, उवघाताणुग्गहा कधं होज्ज।
जघ विण्णागादीणं, मदिसपाणोसघादीहिं। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1637

कथंचित मूर्तिक है। ऐसा मानने पर संसारावस्था में जीव का शरीररूप मूर्तिक पदार्थ के साथ बन्ध हो जाना, सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है।¹

छह द्रव्यों में चार द्रव्य तो तटस्थ है, किन्तु जीव और कर्म पुद्गल ये दो द्रव्य बंध को प्राप्त होते हैं। ये दोनों द्रव्य भी तभी बन्ध को प्राप्त होते हैं, जब आत्मा और कर्म की परस्पर अनुकूलता हो, प्रतिकूल पदार्थों का सम्बन्ध नहीं होता। प्रवचनसार में कहा गया है कि — “यथायोग्य स्निग्ध रुक्षत्व रूप स्पर्श से पुद्गल कर्मवर्गणाओं का परस्पर पिण्डरूप बन्ध होता है।”² जीव के रागादि या कषायादि परिणामों का निमित्त पाकर जीव—पुद्गल का बन्ध होना जीव—पुद्गल (कर्म) बन्ध है। परमाणु में स्पर्श, रस गन्ध तथा रूप ये चार प्रधान गुण हैं, इनके अतिरिक्त उसमें स्निग्ध तथा रुक्ष रूप से परिणमन करने की शक्ति भी है। इसी के कारण पुद्गल और जीव एक—दूसरे से बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे — सोने के साथ ताम्बा मिलकर एक डली बन जाती है। स्निग्ध का अर्थ आकर्षणयुक्त (Proton) और रुक्ष का अर्थ विकर्षणयुक्त जैसे (Electron) निकट सम्पर्क को प्राप्त होने पर ये भिन्न गुणधारी परस्पर में नीर—क्षीरवत् मिलकर एकाकार हो जाते हैं।³

मूर्त पदार्थों का अमूर्त के साथ सम्बन्ध होता है, यह ठीक है, किन्तु अमूर्त पदार्थ पर मूर्त पदार्थों का असर कैसे होता है? जैसे वायु और अग्नि आकाश में स्थित है, फिर भी आकाश पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो फिर अमूर्त आत्मा को मूर्त कैसे प्रभावित कर सकता है?

इसका समाधान है कि अग्नि दो तरह से पदार्थ पर प्रभाव डालती है। एक तो यह कि जिस प्रदेश में आग रहे, वह अग्निमय दिखाई दे और दूसरा यह कि उस प्रदेश को जलाकर भस्म कर दे। यह निश्चित है कि अग्नि आकाश को जला नहीं सकती, परन्तु जिस स्थान में आग है वह आकाशप्रदेश अग्निमय दिखाई देता है। वह आग से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यदि जलने का प्रश्न है तो वह अमूर्त पदार्थ ही नहीं, कई ऐसे मूर्त पदार्थ भी हैं जिन पर अग्नि का कोई असर नहीं होता, जैसे वस्तुओं को पानी के प्रभाव से बचाने के लिए “वाटर प्रूफ” वस्त्र का निर्माण किया गया, उसी तरह वैज्ञानिकों ने “फायर प्रूफ” वस्त्र का भी निर्माण कर लिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अग्नि बहुत से

¹ जिनेन्द्र वर्णी, कर्म—सिद्धान्त, जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला, पृ. 37

² प्रवचनसार टीका, 2/85

³ जिनेन्द्र वर्णी - कर्म सिद्धान्त, पृ. 21

मूर्त पदार्थों को भी नहीं जला सकती है, परन्तु वह वस्तु अग्नि की लपटों से अग्निमय दृष्टिगोचर होती है। वैसे ही आकाश अग्निमय प्रतीत होता है, किन्तु अग्नि शान्त होते ही आकाश फिर से निर्मल और स्वच्छ प्रतीत होता है। यही बात आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध में भी है।

कर्म आत्मा के अस्तित्व को समाप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। आत्मा कर्म के प्रभाव से इतना ही प्रभावित होता है कि जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तब तक वह कर्ममय दिखाई देती है। परन्तु कर्म का स्रोत सूखते ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दो स्वतंत्र सत्ताओं – जडकर्म और चेतन आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार किया जायेगा तो फिर मुक्तावस्था में भी जड कर्म परमाणु आत्मा को प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगे, और मुक्ति का कोई अर्थ नहीं होगा। यदि वे परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने में सक्षम नहीं है तो फिर बन्धन ही कैसे सिद्ध होगा? आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि – जैसे स्वर्ण कीचड़ में रहने पर भी विकृति (जंग) नहीं लाता, जबकि लौह तत्त्व में विकार आ जाता है, इसी प्रकार शुद्धात्मा स्वर्ण समान है, वह कर्म परमाणुओं के मध्य रहते हुए भी उसके निमित्त से विकारी नहीं बनता, जबकि अशुद्ध आत्मा लौहवत् विकारी बन जाता है। यह निश्चित है कि आत्मा जब तक भौतिक शरीर से युक्त होती है, तब तक भौतिक कर्म-परमाणु उसे प्रभावित कर सकते हैं। जैसे ही कर्म-परमाणु से वियोग होता है उसी समय जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मोक्ष का स्वरूप विभिन्न दर्शनों में

बन्ध चर्चा में यह बताया गया है कि अनात्म में आत्माभिमान ही बन्ध कहलाता है। तो इससे यह स्पष्ट होता है कि अनात्म में आत्माभिमान का दूर होना ही मोक्ष है। इस विषय में सभी दार्शनिकों का एक मत है। अब यह विचार करना आवश्यक है कि मोक्ष अथवा मुक्त आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है?

भारतीय दर्शन में मूल्य के रूप में मोक्ष को सर्वोच्च स्थान दिया है। मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। मोक्ष जीवन मरण के चक्र से तथा सभी प्रकार के दुःखों से हमेशा के लिए मुक्ति पाना है। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि वह मोक्ष से कम

किसी मूल्य को जीवन का परम शुभ स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यहाँ कतिपय दर्शनों में मोक्ष के विषय में क्या मत हैं, इस पर ध्यान देंगे।

उपनिषदों में मोक्ष का स्वरूप

उपनिषद् परमतत्त्व से सम्बन्धित वह गुह्य विद्या है जो शिष्य अपने गुरु के चरणों में बैठकर प्राप्त करते थे। उपनिषद् के ऋषियों ने परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र और निर्भीक प्रयत्न किये। वे किसी नित्य वस्तु की खोज में थे जिसे प्राप्त करके फिर खोना न पड़े। क्योंकि धर्म का फल स्वर्ग भी नित्य नहीं है, पुण्यों का क्षय हो जाने पर स्वर्ग से भी लौटना पड़ता है। नित्य वस्तु दो हैं – आत्मज्ञान तथा मोक्ष।

जिसने आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान या मोक्ष प्राप्त कर लिया है उसका फिर जन्म नहीं होता। जन्म ग्रहण करने का मूल कारण भवतृष्णा या सांसारिक भोगों को भोगने की अतृप्त इच्छा है। आत्मज्ञानी की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। जिस प्रकार सागर से मिलने पर विभिन्न नदियाँ अपना नाम और रूप खो देती हैं, सागर के साथ एक होकर स्वयं सागर बन जाती हैं, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म में अपने नाम और रूप खो देते हैं और ब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं।

उपनिषदों में मोक्ष तत्त्व को स्वीकार किया है, उनके मतानुसार – मोक्ष की अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है, तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता हो जाती है। जीव का ब्रह्म से मिल जाना ही मोक्ष है।

मुण्डक – उपनिषद् में बताया गया कि – “जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उसकी हृदय ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके कर्मों का क्षय हो जाता है।¹ आगे बताया है कि –

“जो ब्रह्म को जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है वह शोक से तर जाता है, पाप को पार कर लेता है और अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।”² जिसने आत्मज्ञान, या ब्रह्मज्ञान या मोक्ष प्राप्त कर लिया है, उसका फिर जन्म नहीं होता है।³

¹ मुण्डकोपनिषद्, 2/28

² मुण्डकोपनिषद्, 3,2,9

³ बृहदारण्यक उपनिषद्, 3/3/1

बृहदारण्यक उपनिषद में यह उल्लेख है — मुक्त आत्मा सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर अभय हो जाती है, मुक्ति बन्धन का विनाश है और बन्धन अज्ञान की उपज है।

मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना गया है मोक्ष की अवस्था में जीव का ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। ब्रह्म आनन्दमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है। इस प्रकार ऋषियों ने मोक्ष को विभिन्न रूपों में स्वीकार किया है।

न्याय—वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

न्याय और वैशेषिक दोनों वस्तुवादी दर्शन है। न्याय मुख्यतया ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र की समस्याओं पर विचार करता है, वैशेषिक मुख्य रूप से तात्विकप्रश्नों पर विचार करता है। परन्तु दोनों का लक्ष्य मोक्ष है।

न्याय वैशेषिककार की दृष्टि से सभी प्रकार के दुःखों का हमेशा के लिए नाश हो जाना ही मोक्ष या अपवर्ग कहलाता है।¹ मोक्ष की स्थिति सुख एवं दुःख दोनों का अतीत है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें सभी प्रकार के सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभवों का विनाश है। आत्मा सभी प्रकार के अनुभवों एवं संसार में व्याप्त विभिन्नताओं, जो पिछले कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, उनसे मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष है।

मोक्ष में जाने का क्रम वे इस प्रकार बताते हैं कि — तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है, मिथ्याज्ञान के दूर होने पर दोष दूर हो जाते हैं। दोषों के दूर होने पर कर्म जन्य प्रवृत्ति दूर हो जाती है, जब कर्म नहीं होते तो पुनर्जन्म भी नहीं होता, पुनर्जन्म के रूक जाने से दुःख दूर हो जाते हैं, और दुःखों के दूर होने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।² मोक्ष में बुद्धि, सुख—दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य—पाप तथा पूर्व अनुभवों के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद होता है।

न्याय—वैशेषिक दर्शन के अनुसार — मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी प्रकार के अनुभवों को मात्र सत्ता में रखता है। वह उस अवस्था में न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर

¹ (क) आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति मोक्षः

(ख) चरम दुःख ध्वंसः - तर्क दीपिका।

² (क) तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावाश्च मोक्षः, वैशेषिकसूत्र, 5/2/18

(ख) आत्यन्तिको दुःखाभावः, न्यायवार्तिक

सकता है और न शुद्ध चैतन्य का। आनन्द और चेतना ये दोनों आत्मा के आकस्मिक गुण हैं, तथा मोक्ष अवस्था में आत्मा सभी आकस्मिक गुणों का परित्याग कर देता है।¹

मोक्ष पाने के लिए न्याय दर्शन में श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर जोर दिया गया है।

सांख्य – योग दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

सांख्य और योग एक ही विचारधारा के दो पहलू हैं, एक सैद्धान्तिक है तो दूसरा व्यावहारिक है। सांख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर चिन्तन करता है, जबकि योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों पर बल देता है।

सांख्यदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह पुरुष (चैतन्य) तथा प्रकृति (जडतत्व) के द्वैत को प्रतिपादित करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों एक-दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न हैं। प्रकृति अर्थात् सत्त्व-रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है तब उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होते हैं, जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं और प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती, ठीक इससे विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है, और न स्वयं किसी से उत्पन्न। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड चैतन्य मात्र है, बन्ध और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृति की अवस्था हैं। इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उड़ान भरता हुआ पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में गिरता है, पर वह मात्र प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बन्ध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं।²

सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान है। पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, और स्वयं का प्राकृतिक तथ्यों से मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही पुरुष का अज्ञान है, और यही उसके बन्धन का कारण है। बन्धन के इन कारणों को जानकर जब पुरुष यह भेद ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

¹ तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः

गुणानामात्मनोर्ध्वंसः, सोपवर्ग प्रतिष्ठिता।। न्यायमंजरी, पृ. 508

² अम्बा. अभिनन्द. ग्रन्थ, लेख - मोक्ष और मोक्षमार्ग, धर्मज्योति परिषद्, पृ. 261

सांख्य दो प्रकार की मुक्ति को मानता है 1. जीवन मुक्ति 2. विदेह मुक्ति । जब जीव को तत्वज्ञान का अनुभव होता है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान होता है, वह मुक्त हो जाता है। यद्यपि वह मुक्त हो जाता है, फिर भी पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से उसका शरीर विद्यमान रहता है। जिस प्रकार कुम्भकार के दण्ड को हटा लेने पर भी पूर्ववेग के कारण कुम्भकार का चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों के कारण जिनका फल समाप्त नहीं हुआ है, मुक्ति के बाद भी शरीर कुछ समय तक कायम रहता है। इस प्रकार की मुक्ति को जीवनमुक्ति भी कहा जाता है।¹

जो मुक्ति मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है वह विदेहमुक्ति कही जाती है। इस मुक्ति की प्राप्ति पूर्वजन्म के शेष कर्मों के फल का अन्त हो जाने पर होती है। इस मुक्ति में शरीर का अभाव रहता है। इसे जैन दर्शन में सयोगीकेवली व अयोगीकेवली के नाम से अभिहित किया है। जब तक योग है तब तक वे संसार में रहते हैं, योगों का निरुन्धन होते ही वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार 'पुरुष स्वभावतः मुक्त है, वह न बन्धन में पडता है, और न उसका पुनर्जन्म होता है, प्रकृति ही विभिन्न उपादानों से बन्धन में पडती है, पुनर्जन्म को प्राप्त करती है, और मोक्ष का लाभ करती है। जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों का मनोरन्जन करके रंगमंच से चली जाती है, ठीक इसी प्रकार प्रकृति किसी विशेष पुरुष के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर उसके सामने से हट जाती है।

योग दर्शन के अनुसार मनुष्य में मोक्ष प्राप्त करने की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। योग सांख्य की तत्वमीमांसा और उसके कैवल्य को स्वीकार करता है। परन्तु योगदर्शन में योगाभ्यास द्वारा जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तो वह प्रकृति में लय होने लगती है, जिसमें से उसका विकास हुआ था। पुरुष को भी भेद-विज्ञान हो जाता है और अज्ञान का स्वरूप समझ में आ जाता है अज्ञान से सम्बन्ध हटते ही पुरुष कैवल्य प्राप्त कर लेता है। जीव को जब विवेक की प्राप्ति होती है तब कैवल्य प्राप्त होता है।²

¹ भारतीयदर्शन में मोक्षाचिन्तन, पृ. 66

² सतपुरुषयो शुद्धिसामे कैवल्यम्, योगसूत्र, 3/55

सांख्य-योग दर्शन के अनुसार — अष्टांग योग से कैवल्य प्राप्त किया जा सकता है —

1. **यम** — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
2. **नियम** — शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति।
3. **आसन** — साधक निश्चल भाव से सुख-पूर्वक एक आसन से बैठ सके।
4. **प्राणायाम** — श्वाँस और प्रश्वाँस का रुक जाना ही प्राणायाम है।
5. **प्रत्याहार** — प्राणायाम का अभ्यास करने पर जब मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को नियंत्रित कर लेने का अभ्यास करना।
6. **धारणा** — मन को ध्यान के विषय पर केन्द्रित करना।
7. **ध्यान** — ध्येय वस्तु पर एकाग्रचित्त से मन लगाना।
8. **समाधि** — ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है, उस समय के ध्यान को समाधि कहते हैं।¹

बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा

अन्य दर्शनों में जिसे मोक्ष कहा है, उसे बौद्धदर्शन में निर्वाण की संज्ञा प्रदान की है। बुद्ध के मतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है, क्योंकि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणभंगुर है, एकमात्र निर्वाण ही साध्य है।

अभिधम्म महाविभाषा शास्त्र में निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बताई हैं, जैसे — वाण का अर्थ पुनर्जन्म का मार्ग और "निर्" का अर्थ छोड़ना अर्थात् स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी मार्गों को छोड़ देना। वाण का अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नहीं' है। अर्थात् निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है।

महात्मा बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्णक्षय आत्मा का नहीं है, बल्कि लालसा, तृष्णा व जिजीविषा का तथा उसकी तीन जड़ों का है। जिस प्रकार अग्नि ईंधन के अभाव में बूझकर शान्त हो जाती है उसी प्रकार तृष्णा रुपी

¹ योगसूत्र, 2/29

ईधन के अभाव में राग-द्वेष रूपी अग्नि बुझकर शान्त हो जाती है। इस अर्थ में निर्वाण का अर्थ 'बुझना' है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि बुद्ध उच्छेदवादी नहीं थे, उनका मन्तव्य आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण नाश नहीं था बल्कि अहंकार तथा आत्माभिमान का विनाश, से है। तथा बुझने के अर्थ में आत्मा का बुझ जाना नहीं, बल्कि मन की पापपूर्ण स्थिति का बुझ जाना है।¹

बुद्ध ने निर्वाण को सर्वोच्च अवस्था के रूप में स्वीकार किया है, और उसे परमसूक्ष्म माना है — स्वास्थ्य सबसे बड़ी देन है, सन्तोष सबसे बड़ा धन है, विश्वास सबसे बड़ा सम्बन्ध है, और निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।

निर्वाण क्या है? इस शब्दों में अभिव्यक्त करना संभव है कोई भी मानवीय भाषा इस सत्य को व्यक्त नहीं कर सकती।² भगवान बुद्ध उस समय मौन हो गये जब उनसे पूछा गया कि निर्वाण क्या है? इस सम्बन्ध में बुद्ध के वचन उपलब्ध हैं — 'भिक्षुओं! न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरा है न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है, यही दुःखों का अन्त है। अनन्त को समझना कठिन है, निर्वाण को समझना आसान नहीं है, जिस ज्ञान की तृष्णा नष्ट हो जाती है उसे (रागादिक्लेश) कुछ नहीं हैं।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण को इस प्रकार अनिर्वचनीय बताया है।³ निर्वाण की व्याख्या भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों रूपों में की गई है।

निर्वाण की भावात्मक व्याख्या — इस संदर्भ में बुद्ध का कथन है —

भिक्षुओं! निर्वाण अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है। क्योंकि इसमें जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम होता है।⁴

¹ अम्बालाल जी मा. अभिनन्दन ग्रन्थ, लेख - आ. देवेन्द्रमुनि, पृ. 263

² भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार, शिवमुनि, पृ. 160

³ जैन बौद्ध गी. के आ. द. का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जी, पृ. 428

⁴ (क) उदान, 8/3

(ख) इतियुत्तक, 2/2/6

धम्मपद में निर्वाण को परमसुख¹ सुत्तनिपात में प्रणीत एवं अमृतपद² कहा गया है, जिसे प्राप्त कर लेने पर नच्यूति का भय होता है, न शोक होता है, उसे शान्त, संसारोपशम एवं सुखपद भी कहा गया है।³

आचार्य बुद्धघोष ने निर्वाण की भावात्मकता का समर्थन करते हुए विशुद्धिमार्ग में लिखा है कि — निर्वाण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। भव और जरामरण के अभाव से वह नित्य है, अशिथिल—पराक्रम—सिद्धि विशेषज्ञान से प्राप्त किये जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण विद्यमान हैं।⁴

ये अभावात्मक व्याख्या इस प्रकार है — लोहे के धन की चोट पडने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं, वे तुरन्त ही बुझ जाती हैं, वे कहाँ गईं, कुछ पता नहीं चलता, इसी प्रकार कामबन्धन से मुक्त हुए निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई पता नहीं लगा सकता।⁵

निर्वाण को अभावात्मक इसलिए कहा जाता है कि अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में भावात्मक भाषा की अपेक्षा अभावात्मक भाषा अधिक युक्तिपूर्ण होती है।

बौद्ध परम्परा में भी दो प्रकार के निर्वाण माने गये हैं — प्रथम सोपादिशेष निर्वाण धातु अर्थात् जो इस शरीर में बार—बार लाने वाली तृष्णा के क्षय के बाद प्राप्त होती है तथा दूसरी अनुपादिशेष निर्वाण धातु अर्थात् जो शरीर के छूटने के बाद प्राप्त होती है।⁶

भगवान बुद्ध ने निर्वाण मार्ग के 8 चरण बताये हैं —

- | | |
|------------------|-------------------|
| 1. सम्यक् दृष्टि | 5. सम्यक् आजीव |
| 2. सम्यक् संकल्प | 6. सम्यक् व्यायाम |
| 3. सम्यक् वाक् | 7. सम्यक् स्मृति |
| 4. सम्यक् कर्म | 8. सम्यक् समाधि |

इन आठ अवस्थाओं को प्राप्त करके साधक निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

¹ धम्मपद, 203-204

² सुत्तनिपात, 13/4

³ धम्मपद, 368

⁴ विशुद्धिमग्ग, भाग 2, पृ. 119-121

⁵ उदान, 8/10

⁶ जै.बौ.गी. के आचार. दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डा. सागरमल जी, पृ. 416

गीता में मोक्ष का स्वरूप

गीता में साधना का लक्ष्य है — परमतत्व, ब्रह्म, अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति। गीताकार इसे ही प्रकारान्तर में मोक्ष, परमपद, निर्वाण, परमगति, परमधाम कहता है। उनकी दृष्टि से संसार पुनरागमन और जन्म-मरण की प्रक्रिया से युक्त है, जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म-मरण का अभाव है।

गीता में कहा गया है — “जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं लौटना होता है, वही परमधाम है, उसकी गवेषणा करनी चाहिए।”¹ तथा गीता का ईश्वर भी यही कहता है कि “जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं आना होता है, वही मेरा परमधाम है। परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त कर दुःखों के घर, अस्थिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। ब्रह्मलोक पर्यन्त समग्र जगत् पुनरावृत्ति से युक्त है, लेकिन जो भी मुझे प्राप्त कर लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।”²

मोक्ष का निर्वचन स्वरूप का गीता में उल्लेख है कि “इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्व है जो सभी प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना-पर्यायों में जो अव्यक्त है, उनसे भी परे उनका आधारभूत आत्मतत्व है।” चेतना की अवस्थाएँ नश्वर हैं, लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्व सनातन है, जो प्राणियों में चेतना पर्यायों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है और उसे ही परमगति भी कहते हैं, वही परमधाम है, वही मेरा परमात्मस्वरूप या आत्मा का निजस्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निर्वर्तन नहीं होता।”³

भगवद्गीता में मुक्तपुरुष को कई नामों से अभिहित किया है — उसे जीवनमुक्त (इसी जीवन में, शरीर रहते हुए भी मुक्त), गुणातीत (जो सभी गुणों से ऊपर उठ चुका है) अर्थात् जिसने इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया है कि वह साक्षी आत्मा या *तटस्थ* पुरुष है और सभी कर्म प्रकृति और उसके विकार मन, इन्द्रियों द्वारा किये जा रहे हैं। स्थितप्रज्ञ (जिसका मन या चित्त स्थिर हो गया है, जो सुखों में चंचल या दुःखों में विचलित नहीं

¹ गीता, 8/15-14

² गीता, 8/15-20

³ गीता, 8/20-21

होता), भक्त (जिसने अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दिया है और स्वयं को ईश्वर का केवल निमित्त समझता है), ज्ञानी (जिसने ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लिया है), कर्मयोगी (जिसने निष्काम भाव से कर्म करने के आदर्श को प्राप्त कर लिया है) इत्यादि कई नामों से पुकारते हैं।¹ गीता में दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी है – जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति।

जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप

जैन तत्त्वमीमांसा के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध तथा निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है, वह मोक्ष है। कर्ममलों के अभाव में कर्मबन्धन भी नहीं रहता, और बन्धन के अभाव में ही मुक्ति है। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है।

जो आत्मा अभी संसारावस्था में बन्धनयुक्त है, उस आत्मा का संसारबन्धन से मुक्त होकर अपनी विशुद्ध स्थिति में पहुंच जाना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति की अवस्था है, जहां आत्मा सर्वथा निर्मल एवं धवल हो जाता है। मोक्ष में आत्मा का विसर्जन नहीं होता है बल्कि जो मिथ्याज्ञान व मिथ्यादृष्टिकोण तथा मिथ्याचरण है, उनका विसर्जन होकर उनके स्थान पर क्रमशः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का पूर्णतया सर्वतोभावेन विकास हो जाता है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से निर्वाण अथवा मोक्ष चेतन तत्व की विशुद्ध अवस्था है। वह आत्मा के द्वारा आत्मा की अनुभूति है, जिसमें आत्मा सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है, वह सभी प्रकार के दुःखों से मुक्तावस्था है। जहाँ न जन्म है, न मरण है, न रोग है, न सम्बन्ध है, न पृथकता है न स्वीकृति है और न अस्वीकृति जैसे कोई तत्व ही हैं। वह समस्त अशुभों की परिसमाप्ति, लोभ से मुक्ति, क्रोध का वर्जन, और सभी प्रकार की अशक्तियों से मुक्ति है। वह समस्त सांसारिक प्रक्रियाओं का अन्त है, उसे सर्वोत्तम, शाश्वत, विशुद्ध व अविनश्वर, अवस्था कहा जाता है।

¹ भारतीय दर्शन में मोक्षचिन्तन, डा. अशोक कुमार, पृ. 26

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार निर्वाण समस्त कार्मिक पुद्गलों से मुक्तावस्था है, जहां आश्रव और बन्ध के समस्त कारण निर्जीर्ण हो जाते हैं "बन्धहेत्वाभावः निर्जराम्भ्यां कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः।"¹

जैनागमों में मोक्ष या निर्वाण पर तीन दृष्टियों से विचार हुआ है – 1. भावात्मक दृष्टिकोण 2. अभावात्मक दृष्टिकोण 3. अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

1. **भावात्मक दृष्टिकोण** : जैन दार्शनिकों ने मोक्ष अवस्था को निर्बाध अवस्था कहा है। मोक्ष अवस्था में समस्त बन्धनों के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाते हैं। मोक्ष बाधक तत्वों की अनुपस्थिति और आत्मशक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण है। मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा में निहित ज्ञान, भाव और अव्यक्त शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष की भावात्मक अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है— "शुद्ध, अनन्त-चतुष्टय युक्त, शाश्वत, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य, अविचल और अनालम्ब है।"² मोक्ष में विद्यमान तत्त्व हैं – 1. पूर्णसौख्य 2. पूर्णज्ञान 3. पूर्णदर्शन 4. पूर्णवीर्य 5. अमूर्तत्व 6. अलघु-अगुरुत्व 7. अस्तित्व और 8. सप्रदेशता।

दशाश्रुतस्कन्ध में भी यही बताया है कि – जिस प्रकार दग्ध बीज पुनः अंकुरित नहीं होते हैं, उसी प्रकार जब कर्म रूपी बीज पूर्णतः दग्ध हो जाते हैं तो मुक्तात्मा संसार में पुनः नहीं आते। वहाँ पूर्ण सुख है।³

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार मुक्त जीव हमेशा पंक रहित अपने स्वरूप में लीन निराबाध आकाश के समान स्वच्छ, परमात्मा, सर्वोच्च अवस्था में स्व-पर प्रकाशक होता है।⁴

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में यह बात स्पष्ट रूप से बतायी गई है कि देह का नाश होने पर आत्मा के सभी आवरण दूर हो जाते हैं, अतः वह शुद्धतम होकर स्वच्छ आकाश में विद्यमान सूर्य के समान अपने सम्पूर्ण ज्ञान स्वरूप में प्रकाशित होती है।⁵

¹ तत्त्वार्थसूत्र, 10/3

² नियमसार, 176/177

³ दशाश्रुतस्कन्ध, 5/15

⁴ पुरुषार्थसिद्ध्युपायः, 223/224

⁵ विशेषावश्यकभाष्य, 1999

बीजरूप में अनन्त-चतुष्टय सभी जीवों में स्वाभाविक गुण के रूप में विद्यमान है। मोक्षदशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से यह पूर्णरूप से प्रकट हो जाते हैं। जैसे कि आठ कर्मों के क्षय से आठ गुण प्रकट होते हैं -

1. ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान या पूर्णज्ञान से युक्त होता है।
2. दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से अनन्तदर्शन प्रकट होता है।
3. वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने विशुद्ध अनश्वर आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है।
4. मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि से युक्त होता है।
5. आयुर्कर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी होता है, अतः वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता।
6. गोत्रकर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघु होता है, अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं, उनमें छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच का भेद नहीं होता।
7. अन्तराय कर्म का प्रहाण हो जाने से आत्मा बाधा रहित होता है, अर्थात् अनन्त - शक्ति सम्पन्न होता है।
8. नाम-कर्म का क्षय होने पर अरूपित्व गुण प्रकट होता है।

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार 'सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धान्त के स्वरूप के सम्बन्ध में जो एकान्तिक मान्यताएं हैं, उनके निषेध के लिए है।'¹

जैसे कि - मुक्तात्मा में केवलज्ञान और केवलदर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड़ मानने वाली वैभाषिकबौद्धों और न्याय वैशेषिकों की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर अभावात्मक रूप में मानने वाले जड़वादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया है।

विशेष्यावश्यकभाष्य में प्रभास जी ने शंका की कि- मुक्तात्मा ज्ञानी नहीं, बल्कि अज्ञानी है, क्योंकि आकाश के समान उसमें भी ज्ञान साधन इन्द्रियों (कारण) का अभाव है।

¹ जैन, बौद्ध और गीता के आ.द. का तुलनात्मक अध्ययन, डा. सागरमल जी जैन, पृ. 422

भगवान ने समाधान दिया कि – इन्द्रियादि करण (साधन) मूर्त होने के कारण घटादि के समान ज्ञान क्रिया का कर्ता नहीं बन सकते। वे केवल ज्ञान क्रिया के द्वार हैं – साधन है, उपलब्धि का कर्ता तो जीव ही है। ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। जैसे परमाणु कभी भी रूपादि से रहित नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी ज्ञान रहित हो सकती।¹

मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले जडवादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है।

अभावात्मक दृष्टिकोण

जैनागमों में मोक्षावस्था का चित्रण निषेधात्मक रूप में भी हुआ है। जैसे कि आचारांगसूत्र में किया गया है। आचारांगसूत्र में मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण इस प्रकार हुआ है – मोक्षावस्था में समस्त कर्मों के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का अभाव होता है, अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण वाला नहीं है। वह गन्ध-रस-स्पर्शादि से युक्त नहीं है। अवेदी है।²

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं – मोक्षदशा में न सुख है, न दुःख है, न वेद है, न बाधा है, न जन्म-मरण है, न वहां इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (शुद्ध) विचारों का भी अभाव है। मोक्षावस्था तो सर्वसंकल्पों का अभाव है। वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रान्त है।³ इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

अनिर्वचनीय दृष्टिकोण

मोक्ष का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से अनिर्वचनीयता की ओर ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से मुक्तात्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

आचारांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है – ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक

¹ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, 1995

² आचारांगसूत्र, 1/5/6/171

³ वियमसार, 178-179

हो जाती है, तर्क तथा बुद्धि उसे ग्रहण करने में असमर्थ है। किसी उपमा के द्वारा समझाया नहीं जा सकता। वह अनुपम है, अरूपी है, सत्तावान है।¹

मोक्ष के कई पर्यायवाची शब्द हैं — अमरकोश में, मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेय, अपवर्ग, मोक्ष आदि रूप मिलते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में विभिन्न स्थानों पर मोक्ष के नाम मिलते हैं — निर्वाण, बहिर्विहार, सिद्धलोक, आत्मवसति, अनुत्तरगति, प्रधानगति, सुगति, वरगति, ऊर्ध्वदिशा, अनुपरावृत्त, शाश्वत, अव्याबाध, लोकोत्तम आदि समानार्थक शब्दों का उल्लेख किया गया है।²

जैन दार्शनिकों ने मोक्ष के दो भेद किये हैं— द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष।

जब आत्मा चार प्रकार के घातिकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) से मुक्त हो जाती है तो आत्मा भावमोक्ष को प्राप्त कर लेती है, और जब वह सभी प्रकार के अघाति कर्मों (वेदनीय, आयुष, नाम, गोत्र) से भी मुक्त हो जाती है, तो वह द्रव्य मोक्ष (वस्तुनिष्ठ मोक्ष) को प्राप्त कर लेती है।

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार “ऐसी मानसिक स्थिति जो जीव को सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त करती है, या जीव के सभी कर्मों का नाश करती है, भावमोक्ष है, तथा सभी प्रकार के कर्मों का वास्तविक नाश या उनका जीव से छूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म केवल मानसिक और शरीरिक क्रियाएं नहीं हैं, वे वस्तुगत सत्ताएं हैं। कर्म अणुरूप द्रव्य है। जीव की प्रत्येक मानसिक एवं शरीरिक प्रक्रिया के साथ कुछ क्रियाओं से परिवर्तन होते हैं, रस परिवर्तन के दो पहलू हैं — आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ।

आत्मनिष्ठ परिवर्तन जैन दर्शन की शब्दावली में “भाव” कहलाता है। आत्मनिष्ठ परिवर्तन के समानान्तर ही कर्म जगत में भी परिवर्तन होता है और भाव के अनुरूप कर्म—कण जीव में प्रवेश कर जाते हैं, और वे एकरूप होकर उसके वास्तविक स्वरूप को ढंकने लगते हैं, इस घटना को ‘द्रव्य’ कहते हैं।

¹ आचार्यसूत्र, 1/5/6/172

² उत्तराध्ययनसूत्र, उद्धृत - जैनदर्शन में जीव, 340

जैन दर्शन के अनुसार जीव के बन्धन से उसके मोक्ष या कैवल्य तक की यात्रा के विभिन्न सोपान इस प्रकार है – आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । कर्म-कण जीव की ओर प्रवाहित होते हैं, इस को आस्रव कहते हैं। आस्रव दो प्रकार के हैं – भावास्रव और द्रव्यास्रव। जीव का किसी कार्य को करने का संकल्प करना 'भावास्रव', और संकल्प के परिणामस्वरूप तत्काल ही कर्मकणों का जीव में प्रवेश कर उसके वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देना 'द्रव्यास्रव' कहलाता है। आस्रव जीव के बन्धन का कारण है। वह मानसिक स्थिति जो कर्मों के प्रवेश का कारण है, वह 'भावबन्ध' कहलाती है, यह भावास्रव का परिणाम है, इस स्थिति में जीव अपने ही राग-द्वेषों से बँधता जाता है। कर्मों द्वारा जीव के वास्तविक बन्धन को 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं।

साधक के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि जो कर्म आत्मा में प्रवेश कर रहे हैं उन्हें रोक दिया जाय। कर्मों के आत्मा में प्रवेश को रोक देने की प्रक्रिया को संवर कहते हैं। मोक्ष के लिए आत्म प्रदेशों पर कर्मों का प्रवेश का रूकना ही पर्याप्त नहीं है। जिन्होंने पहले से ही जीव के स्वरूप को आवरित कर रखा है, ऐसे कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। पहले से सम्बद्ध कर्मों को जीव से छुड़ाना ही 'निर्जरा' कहलाती है।

निर्जरा दो प्रकार की है – अविपाक और सविपाक। कर्मों को अपना फल देने के पूर्व ही तप इत्यादि साधनों द्वारा जीव से कर्मों का बाहर निकालना 'अविपाक निर्जरा' कहलाती है। इसके विपरीत अपना फल देकर जब कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं तो ऐसी निर्जरा 'सविपाक निर्जरा' कहलाती है। निर्जरा मोक्ष की ओर ले जाती है। जब किसी जीव में नये कर्मों का आस्रव रुक जाता है और पुराने कर्मों की निर्जरा पूर्ण रूप से हो जाती है तो जीव मुक्त हो जाता है और तत्क्षण तीन घटनाएं एक साथ घटित होती है। जीव का शरीर से विच्छेद हो जाना, विच्छेदित होकर ऊर्ध्वगमन करना, और लोकाकाश के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच जाना, जिसे जैनदर्शन में सिद्धशिला कहा जाता है।

मोक्ष की अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् अनन्त चतुष्टय का साक्षात्कार कर लेता है। वह त्रिरत्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का

मूर्तिमन्त रूप होता है। सभी प्रकार के व्रतों, धर्मों और तपस्याओं में उसने पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसी अवस्था मुक्तावस्था कहलाती है।

आ. उमास्वाति के अनुसार ऐसा साधक जिसके चार प्रकार के घाति कर्मों का नाश हो जाता है, केवलज्ञान या सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है, ऐसे साधक को सयोगी केवली कहते हैं तथा जिसके शेष चार अघाति कर्म नष्ट हो चुके हैं उसे अयोगी केवली या मुक्त कहते हैं।¹ विशेषावश्यकभाष्य में भी दो प्रकार के केवली बताये हैं – सदेही और विदेही।

इस प्रकार जैनदर्शन में मोक्ष (निर्वाण) के सम्बन्ध में गहराई व विविध दृष्टियों से ऊहापोह किया गया है, मनन किया गया है। आगमों में भी मोक्ष का वर्णन विस्तृत रूप में मिलता है।

सूत्रकृतांगसूत्र में निर्वाण को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया है।² यह भी बताया है कि – मोक्ष आत्मस्वातंत्र्य रूप सर्वोत्तम वस्तु है, जैसे तारों में चन्द्रमा सर्वोत्तम है।³

आत्म समाहित होना ही आत्मस्वातंत्र्य की प्राप्ति है⁴ (मोक्ष की प्राप्ति है) आत्म समाहित या आत्मानुभाव की ऐसी ऊँचाई पर जीव अवस्थित होता है जहाँ वह सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता। यही वास्तविक स्वतंत्रता है, यह अर्हत् अवस्था है।⁵

परमात्म अवस्था ही निर्वाण अवस्था है। मोक्ष आत्मा की विशुद्धि का वह स्थान है, जहाँ आत्मा सर्वथा अमल एवं धवल होती है।⁶

जैन दर्शन में मोक्ष मंजिल तक पहुँचने के लिए तीन साधन बताये हैं – 1. सम्यग्दर्शन, 2. सम्यक्ज्ञान और 3. सम्यक्चारित्र। इन तीनों को समन्वित होने पर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

¹ भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 154-155

² सूत्रकृतांगसूत्र

³ सूत्रकृतांगसूत्र, 1/11, 22

⁴ आचारांगसूत्र, 1/2/1

⁵ प्रवचनसार, 3/41

⁶ नियमसार, 17/8

जैन दर्शन के अनुसार – साधक और सिद्ध अवस्था में अन्तर क्षमताओं का नहीं, बल्कि क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जैसे – बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही आत्मा के निज गुण पूर्णरूप में प्रकट हो जाते हैं।

विशेषावश्यकभाष्य में मोक्ष के विषय में चर्चा की गई, वह कई मिथ्या मान्यताओं को दूर करती है।

समीक्षा

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति प्रभृति 5 वेदज्ञ विद्वानों की शंकाओं का भगवान महावीर द्वारा दिये गये समाधानों की चर्चा हम इससे पूर्व के अध्यायों में कर चुके हैं। आर्य सुधर्मा के शंका-समाधानोपरान्त श्रमण भगवान महावीर के पास दीक्षित हो जाने पर उन्हीं के विद्वद मण्डल के आर्य मण्डिक जी भी श्रमण भगवान महावीर के समवशरण में उपरिथित हुए तथा श्रमण भगवान महावीर द्वारा उनके मन में रही हुई बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी शंका का उल्लेख किये जाने पर आश्चर्यचकित हुए।

उन्होंने अपनी शंका को स्वीकारा, तथापि उनके तर्कों के द्वारा जैसे कि 1. पहले जीव और पश्चात् में कर्म के उत्पन्न होने, 2. पहले कर्म और बाद में जीव के उत्पन्न होने, 3. दोनों के साथ ही उत्पन्न होने; के बारे में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था घटित नहीं होने के बारे में तर्क दिये।

भगवान महावीर ने उनके संशय का निवारण करते हुए यह बतलाया कि उनकी युक्ति का सारांश यही था कि जीव कर्म का सम्बन्ध नहीं घट सकता था, तथा यह स्पष्ट किया कि इन दोनों में कार्यकारण भाव होने से शरीर और कर्म की सन्तान बीजांकुर की तरह अनादि है, अतः कर्म-सन्तान के अनादि होने से बन्ध भी अनादि सिद्ध होता है, उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि कर्म के अतीन्द्रिय होने पर भी वह कार्य द्वारा सिद्ध है तथा वह शरीर के लिए कारण रूप है।

उनकी इस शंका का कि बन्ध अनादि होने से वह अनन्त भी होना चाहिए तथा इस प्रकार मुक्ति की सम्भावना नकारने के बारे में भगवान महावीर ने यह स्पष्ट किया कि जिस प्रकार बीजांकुर सम्बन्ध अनादि होने पर भी दोनों में से किसी विशिष्ट बीज या अंकुर के अपने कार्य को उत्पन्न करने से पहले (जैसे किसी बीज को भून दिया जाना या

पीस दिया जाना) नाश हो जाये तो उस बीज का अंकुर विशेष की संतति का भी अन्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी यदि कर्म का अपने कार्य करने से पूर्व नाश हो जाये तो अनादि बंध का भी अन्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि भव्यत्व और अभव्यत्व के संदर्भ में जीव और कर्म का संयोग क्रमशः अनादि सान्त और अनादि अनन्त होता है।

इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने आर्य मण्डिक जी के निम्न संशयजन्य तर्कों का भी समाधान किया —

- (अ) मण्डिक जी की इस शंका का कि सभी जीवों में समान होने पर भी भव्य—अभव्य का भेद क्यों है, श्रमण भगवान महावीर ने यह समाधान दिया कि 'यह भेद स्वभावगत है।'
- (ब) इस शंका का कि — भव्य जीवों का कर्म सम्बन्ध शान्त होते हुए भी सभी भव्य जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाते? भगवान महावीर ने समाधान दिया — भव्यत्व का अर्थ जीव की मोक्ष प्राप्ति की योग्यता से है किन्तु उसका मुक्त होना उसके कर्म—निर्जरा में किये गये प्रयास पर निर्भर होने से जब तक इसका पूर्ण प्रयास से सम्पूर्ण निर्जरा नहीं हो जाती तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती।
- (स) मण्डिक जी की तीसरी शंका मोक्ष के कृतक होने से नित्यत्व के बारे में थी। इस पर श्रमण भगवान महावीर ने कहा (1) मोक्ष एकान्त रूप से कृतक नहीं है, क्योंकि यह जीव की वह विशिष्ट स्थिति है जो आत्मा से कर्मों के सर्वथा पृथक् हो जाने पर प्राप्त होती है। वस्तु रचना की अपेक्षा से मोक्ष कृतक नहीं है। (2) यह दशा प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की जाती है, अतः प्रयत्न की अपेक्षा से कृतक माना जा सकती है। अतः मोक्ष एकान्त रूप से कृतक नहीं होने से अनित्य नहीं हो सकता।
- (द) मण्डिक जी की अगली शंका थी कि एक बार मुक्त हो जाने से जीव का पुनः कर्मबन्ध क्यों नहीं होता? भगवान महावीर ने इसका समाधान इस प्रकार दिया कि मुक्त जीव अशरीरी होने से उसमें योग प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, योगप्रवृत्ति के अभाव में कर्माश्रव सम्भव नहीं है। आश्रव के अभाव में बन्ध सम्भव नहीं है। दूसरा यह है कि कषायों के पूर्ण अभाव में ही मुक्ति संभव होती है। कर्मबन्ध करने में और

विशिष्ट रूप से स्थिति बन्ध में कषाय ही कारण है, अतः कारण का अभाव में मुक्तात्मा में कर्मरूपी कार्य संभव नहीं है।

(च) मण्डिक पुत्र की अगली समस्या यह थी कि जीव का गमनागमन कर्म के निमित्त से ही सम्भव होता है, मुक्तात्मा में कर्म का अभाव होता है, अतः वह लोकाग्र तक कैसे पहुंचती है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है, अतः वह ऊर्ध्व की ओर गति करके लोकाग्र तक पहुंच जाता है, दूसरा यह है कि जैसे बन्दूक से निकली गोली पूर्व दबाव के कारण दूर तक जाती है। कर्मजन्य शरीर के त्याग से उत्पन्न शक्ति आत्मा को लोकाग्र तक पहुंचा देती है।

(छ) मण्डिक पुत्र की अगली शंका थी कि आत्मा अरूपी होते हुए भी सक्रिय कैसे? जबकि आकाशादि अरूपी द्रव्य निष्क्रिय हैं। श्रमण भगवान महावीर ने इसका समाधान देते हुए कहा 'आकाशादि पदार्थ अचेतन हैं किन्तु आत्मा अरूपी होते हुए भी चैतन्य है, तथा सक्रियत्व उसका विशेष स्वभाव है।

प्रभासजी की शंका थी कि निर्वाण है या नहीं? निर्वाण जीव की कर्मरहित अमूर्त स्वभावरूप अव्याबाध परिणामान्तर प्राप्त अवस्था है, अतः इसका अस्तित्व है। प्रभासजी की दूसरी शंका थी कि मोक्ष को जीव की अनन्त सुखमय अवस्था मानी जाती है, जब निवृत्त अवस्था में जीव को शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं है तो मुक्तात्मा को सुख कहाँ से प्राप्त होगा? श्रमण भगवान महावीर द्वारा इसका समाधान दिया गया – मुक्त जीव को मिथ्याभिमान से रहित स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है, वहाँ जन्म, जरा, व्याधि, मरण, क्षुधा, पिपासा, काम, क्रोध मद आदि समस्त बाधाओं का अभाव होने से आत्मा या जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है। वस्तुतः मुक्ति का सुख विकारों के उपशमन से होने वाला आत्मिक सुख है। जैसे किसी व्यक्ति को 105° ज्वर हो किन्तु जब वह ज्वर उतर जाता है तब उसे सुख की अनुभूति होती है। यह सुख बाह्य उपलब्ध नहीं है किन्तु रोग के उपशान्त होने से है, वैसे ही मुक्ति का सुख बाह्य उपलब्ध नहीं है किन्तु यह विभावदशा की समाप्ति और स्वभावदशा की उपलब्धि रूप है।

प्रभासजी की अगली शंका थी कि सुख और दुःख के कारण पुण्य और पाप है, मुक्त जीव के पुण्य-पाप के क्षय हो जाने से दोनों नहीं हो सकते, किन्तु भगवान महावीर की दृष्टि में मोक्ष का सुख है वह कर्मजन्य नहीं है। कर्मजन्य सुख और दुःख बाह्य

निमित्तों के कारण होते हैं। मुक्तात्मा बाह्यनिमित्तों से अप्रभावित रहता है, अतः दुःख का संवेदन उसके लिए संभव नहीं है। मुक्ति के सुख को दुःख का अभावरूप ही मानना चाहिए वह आत्म उपलब्धि रूप सुख है, पदार्थजन्य सुख नहीं।

प्रभासजी पुनः शंका करते हैं कि मुक्तात्मा का सुख कृतक है और कृतक होने से वह अनित्य होगा। महावीर ने इसके समाधान में कहा कि – मुक्तात्मा का सुख स्वभावजन्य है, जिससे वह कृतक नहीं है तथा कृतक नहीं होने से अनित्य भी नहीं है। अतः मुक्तात्मा आत्मगत शाश्वत सुख का अनुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत शंका-समाधान के माध्यम से विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि ने जैनदर्शन की अवधारणाओं के सम्बन्ध में जो-जो भी तर्क उपस्थित किये जा सकते थे, उन सब की संभावनाओं का विचार कर आत्मा, पुनर्जन्म बन्धन-मुक्ति आदि के स्वरूप को सम्यक् रूप से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय पुण्य और पाप की समस्या और उसका समाधान

पुण्य और पाप

भारतवर्ष में अनेक दर्शन एवं धर्म हैं। प्रत्येक दर्शन एवं धर्म की तात्विक मान्यताएं अन्य दर्शनों एवं धर्मों की मान्यताओं से भिन्न हैं। यही बात धर्म-अधर्म, एवं पुण्य -पाप पर भी घटित होती है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने धर्म - अधर्म एवं पुण्य - पाप को माना है। सभी ने हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और दुराचार, अनाचार आदि को पाप व अधर्म माना है तथा इससे विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सदाचार तथा शील को पुण्य माना है।

जैन दर्शन के अनुसार सांसारिक जीव जब तक अयोगी अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक कर्म पुण्य या पाप के रूप में आते जाते रहते हैं। सयोगी केवली अवस्था तक कर्मों का आवागमन जारी रहता है। जब तक जीव के साथ शरीर लगा हुआ है, तब तक शरीर क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है। शरीर से प्रवृत्ति करते समय मन जब शुभ भावों में संलग्न होगा तब पुण्याश्रव (शुभ कर्मों के आगमन) को आमंत्रित कर लेगा और जब अशुभ भावों से युक्त होगा तब पापाश्रव निमंत्रण को देगा।

बौद्ध तथा वैदिक दर्शन भी पुण्य-पाप को स्वीकार करते हैं - जैसे कि बौद्ध दर्शन में तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं - 1. अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म 2. कुशल या शुक्ल कर्म 3. अकुशल या कृष्ण कर्म। गीता में भी तीन प्रकार के कर्म निरूपित हैं - 1. अकर्म, 2. कर्म, 3. विकर्म।

जैन दर्शन का ईर्यापथिक कर्म बौद्धदर्शन के अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म, तथा गीता के अकर्म के समान है। इसी प्रकार जैनदर्शन का पुण्यकर्म, बौद्धदर्शन के कुशल कर्म तथा गीता के सकाम कर्म के समान है। जैन दर्शन का पाप कर्म बौद्ध दर्शन के अकुशल कर्म तथा गीता के विकर्म के समान है।¹

1 डा. सागरमल जी जैन, जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ. 331

प्रश्न होता है कि क्या पुण्य और पाप का स्वतंत्र भिन्न-भिन्न अस्तित्व है अथवा वे एक ही हैं? जैन परम्परा में सर्वप्रथम वाचक तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आश्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके जो विरुद्धधर्मी थे उन्हें सजातीय बना दिया।¹ बहुत से लोग कहते हैं पुण्य-पाप जैसा कुछ नहीं है, यह जगत स्वाभाविक रूप से विचित्र है। पर श्रुति और धर्मशास्त्रों में पुण्य-पाप का स्पष्ट प्रतिपादन है। धर्मशास्त्र एक स्वर से पुण्य के उपार्जन और पाप के त्याग करने का उपदेश देते हैं। प्रत्यक्षतः दृष्टिगत है कि भलाई का फल भला और बुराई का बुरा होता है। आम का बीज बोने पर आम और नीम का बीज बोने पर नीम उत्पन्न होता है। आम बोने से नीम और नीम बोने से आम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जगत में जो विचित्रता देखी जाती है, अथवा शुभ और अशुभ होता है उसके पीछे भी एक निश्चित नियम है, जिसे आध्यात्मिक क्षेत्र में पुण्य-पाप कहते हैं।

अनुभूति से भी स्पष्ट है कि अच्छा काम करने पर मन में सुख सन्तोष और आनन्द की प्रतीति होती है, जबकि बुरा काम करने पर मन में असन्तोष या दुःख होता है, ये दोनों प्रकार के अनुभव ही पुण्य पाप की प्रतीति कराते हैं।

किन्तु अचलभ्राता जी के मन में "पुरुषएवेदग्नि सर्वम्"² जैसे वेदवाक्यों से (जिनमें पुरुष को सर्वोपरि माना है) तथा दूसरी ओर पुण्य-पाप को माना जाता है, इस कारण यह शंका उत्पन्न हुई कि - 1. पुण्य पाप का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं? 2. पुण्य - पाप दोनों एक हैं? 3. या जगत की विचित्रता स्वभावगत है। तब भगवान महावीर द्वारा अचलभ्राता जी की इन शंकाओं का समाधान किया गया। उसका विस्तृत वर्णन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत 'गणधरवाद' में किया है।

विशेषावश्यकभाष्य में पुण्य-पाप की अवधारणा

गणधर अचलभ्रता जी की शंका

अचलभ्राताजी के मन में पुण्य-पाप के सम्बन्ध में कई मत उपस्थित थे जैसे कि-

1. केवल पुण्य ही है, पाप नहीं है, क्योंकि पुण्य के उत्कर्ष अपकर्ष से सुख व दुःख को प्राप्ति होती है।

1 स आश्रवः - शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य - तत्त्वार्थसूत्र, 6/2-3

2 पुरुषएवेदग्नि सर्व यद्यच्च भाष्यम्, उतामृतत्वस्थेशानो यदन्नेनातिरोहति, ऋग्वेद 10/9/2 आदि चारों वेदों में।

2. केवल पाप ही है पुण्य नहीं है, क्योंकि पाप की वृद्धि होने पर दुःख तथा हानि होने पर सुख की प्राप्ति होती है।
3. पुण्य और पाप साधारण वस्तु है, भिन्न-भिन्न नहीं।
4. पुण्य और पाप भिन्न-भिन्न है।
5. स्वभाव ही सब कुछ है, पुण्य – पाप कुछ नहीं है।¹

इन शंकाओं का समाधान भ. महावीर ने किया, तथा यह सिद्ध किया कि पुण्य और पाप दोनों स्वतंत्र तत्त्व है, विशेष्यावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि ने इस चर्चा को विस्तार रूप से उल्लेखित किया है। इस प्रकार उन विविध मतों का विवेचन इस प्रकार है:—

पुण्यवाद—मात्र पुण्य है पाप नहीं?

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि जीव के सुख—दुःख का हेतु मात्र पुण्य ही है, पाप नहीं, इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि — जैसे जैसे क्रमशः पुण्य का उत्कर्ष होता है, अर्थात् यथाक्रम से जीव के पुण्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, तदनुरूप क्रमशः सुख की वृद्धि होती जाती है — “उत्कर्षता ह्यपचयेन च पुण्यमेव” तथा अन्त में पुण्य का परम उत्कर्ष होने पर स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है।² यदि पुण्य की क्रमशः हानि होती है तो उतने ही प्रमाण में सुख की क्रमशः हानि होती है और दुःख की वृद्धि होती जाती है, जब पुण्य न्यूनतम रह जाता है तब नरक में निकृष्ट दुःख मिलता है। पुण्य का भी सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केवल पुण्य मानने से सुख और दुःख दोनों घटित हो सकते हैं, अतः पृथक् से पाप को मानने की आवश्यकता नहीं है।

पुण्यवादी इस तथ्य की पुष्टि के लिए उदाहरण देते हैं : जैसे पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्यवृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्य की वृद्धि होने से सुखवृद्धि होती है, और पथ्याहार कम होने पर आरोग्य की हानि होती है, रोग की वृद्धि होती है। वैसे ही पुण्य न्यून होने पर दुःख बढ़ता है। यदि पथ्याहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाये तब मरण

¹ मण्णसि पुण्णं - पावं, साहारणमहव दो वि भिन्नाइं।

होज्ज न वा कम्मंचिय, समभावओ भवपंचोऽयं” - विशेष्यावश्यकभाष्य, गाथा 1908

² महावीर देशना, 3/205

निश्चित है, वैसे ही सर्वथा पुण्य का क्षय होने पर मोक्ष होता है। अतः पुण्य को ही मानना चाहिए।¹

पापवाद—मात्र पाप ही है पुण्य नहीं

कुछ विद्वानों का मत है कि — “सौख्यासुखप्रदमिंद ननुपाप मेव” अर्थात् जीव को सुख दुःख की प्राप्ति का हेतु पाप है।² वे मात्र पाप को मानते हैं, पुण्य को नहीं। उनका मन्तव्य है कि अपथ्याहार की वृद्धि से रोग की वृद्धि तथा अपथ्याहार कम करने से आरोग्य लाभ होता है, वैसे ही पाप की वृद्धि से अधमता अथवा दुःख की वृद्धि और पाप के अपकर्ष से सुख की वृद्धि होती है। पाप के परम प्रकर्ष से नरक का दुःख प्राप्त होता है और पाप न्यूनतम हो तब देवों का उत्कृष्ट सुख मिलता है। पाप के सर्वथा नाश होने से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार जब एक मात्र पाप को मानने से सुख — दुःख घटित हो सकते हैं, तब फिर पुण्य को पृथक मानने की आवश्यकता ही नहीं है।³

पुण्य—पाप दोनों एक है

कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि पुण्य अथवा पाप ये दोनों स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, किन्तु दोनों साधारण तथा एक ही वस्तु हैं। ‘ध्रुवमेकमेव’ जैसे कि अनेक रंग मिलने से एक साधारण संकीर्ण वर्ण बनता है, जैसे — विविध रंगी मेचक मणि एक ही है, जिस प्रकार सिंह और नर का रूप धारण करने वाला नरसिंह एक ही है, वैसे ही सुख और दुःख रूप फल देने वाला कोई एक ही साधारण तत्त्व है। यदि सुख वृद्धि होती है तब पुण्य और दुःख की वृद्धि होती है तब पाप कहलाता है। पुण्यांश का अपकर्ष होने पर पाप और पापांश का अपकर्ष होने पर पुण्य कहलाता है।⁴

पुण्य और पाप दोनों स्वतंत्र है

कुछ विचारकों का मन्तव्य है कि “पृथक—पृथगि में इति” अर्थात् पुण्य और पाप ये दोनों स्वतंत्र वस्तुएँ हैं। इस पक्ष के समर्थन में वे युक्ति देते हैं कि सुख और दुःख दोनों

¹ पुण्युक्करिसे सुभया, तरतम जोगावगरिसओ हाणी।

तरसेव खए मोक्खो, पत्थाहारोवमाणाओ” - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1909

² महावीर देशना, श्लोक 3, पृ. 205

³ पावुक्करिसेऽहमया, तरतमजोगावगरिसओ सुभया। तरसेव खए मोक्खो, अपत्यभत्तोवेमाणाओ” विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1910

⁴ साहारण वण्णदिव, अह साहारण भहेगमत्ताए। उक्करिसावगरिसओ, तरसेव य पुण्यपाववखा।।। विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1911

भिन्न कार्य है, किन्तु दोनों का अनुभव एक साथ नहीं होता, इसलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। अतः सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है।¹

स्वभाववाद

कतिपय दार्शनिकों का मन्तव्य है कि पुण्य-पाप जैसे कोई पदार्थ इस संसार में नहीं है। पुण्य-पाप की कल्पना करना व्यर्थ है। बल्कि सभी शरीरधारियों का सुख-दुःख रूपी भवप्रपंच स्वाभाविक है, "स्वभाविक तनुभूतमिह दुःख सौख्ये"²

इन पाँच मतों में मतभेद के कारण अचलभ्राता जी के मन में दुविधा के भाव थे कि पाप-पुण्य को माना जाए या ना माना जाए? पुण्य-पाप को स्वतंत्र रूप में माने अथवा सम्मिलित रूप में मान्य करें?

विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित अचलभ्राता जी की शंकाओं के श्रमण भ. महावीर द्वारा दिये गए समाधान इस प्रकार है : -

एकान्त पुण्यवाद का निरास - पाप की सिद्धि :

जीव को जिस प्रकृष्ट दुःख का अनुभव होता है, उसका कारण केवल पुण्य का अपकर्ष ही नहीं है। यदि दुःख पुण्य के अपकर्ष (कम होने) से होता हो तब उसमें सुख के साधनों का अपकर्ष ही कारण होना चाहिए, दुःख के साधनों का प्रकर्ष आवश्यक नहीं है। किन्तु दुःख के प्रकर्ष में सुख साधनों की कमी तथा दुःख के साधनों की वृद्धि दोनों बाते जरूरी है। पुण्य की न्यूनता से इष्ट साधनों की कमी हो सकती है किन्तु अनिष्ट साधनों की वृद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए उनका दूसरा स्वतंत्र कारण पाप को मानना ही चाहिए।

यदि पाप के समान कोई स्वतंत्र पदार्थ न हो तो शरीर रूपी होने के कारण पुण्य के उत्कर्ष से ही उसे विशाल होना चाहिए तथा अपकर्ष से लघु। वस्तुतः ऐसा नहीं होता है, चक्रवर्ती की अपेक्षा हरित का शरीर वृहद् है, फिर भी पुण्य का प्रकर्ष चक्रवर्ती में है, हाथी में नहीं। जबकि हाथी का शरीर वृहद् है। पुण्य अल्प अथवा तीव्र हो तो भी शुभ ही रहता है। जैसे अल्प सुवर्ण से घट छोटा बनता है, किन्तु वह सुवर्णघट परिवर्तित होकर

¹ स्वतंत्रे ह्यानां पुण्य-पापे तत्कार्यभूतयोः सुखदुःखयोर्योग पद्येनुभवा भावात् अतोऽन्वैव भिन्न कार्यदर्शनेन तत्कारण भूतयोः पुण्य पापर्यो भिन्नताऽनुभीयत। विशेषावश्यकभाष्य टीका पृ 794

² "स्वभाविके तनुभूतामिह दुःख-सौख्ये" महावीर देशना, श्लोक 4, पृ. 206

मिट्टी का नहीं बन जाता है, वैसे ही पुण्य से जो कुछ निष्पन्न हो वह शुभ ही होना चाहिए, अशुभ किसी भी दशा में नहीं। अतः पाप को अशुभ का कारण मानना उपयुक्त है।¹

एकान्त पापवाद का निरास : पुण्यसिद्धि :

एकान्त पापवाद का निरसन करते हुए विशेषावश्यकभाष्यकार बताते हैं कि जैसे—पुण्य के अपकर्ष (कम होने) से दुःख नहीं हो सकता, वैसे ही पाप के अपकर्ष से सुख नहीं हो सकता। यदि अधिक मात्रा वाला विष बहुत हानिप्रद होता है, तो अल्पमात्रिक विष कम हानिप्रद होगा, किन्तु वह स्वास्थ्य लाभ कैसे दे सकता है? इसी प्रकार कहा जा सकता है कि अल्प पाप अल्प दुःख देगा, किन्तु सुख के लिए पुण्य को मानना आवश्यक है।²

पुण्य पाप दोनों एक नहीं है :

कई विचारकों का यह मन्तव्य है कि — यदि पाप और पुण्य को एक मान लिया जाये तब उत्कर्ष—अपकर्ष सम्बन्धी विचारणा का विवाद ही नहीं रहेगा, पर यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कोई भी कर्म पुण्य—पाप उभयरूप नहीं हो सकता। कर्म का कारण है योग। योग एक समय में शुभ या अशुभ रूप में होता है किन्तु शुभाशुभ उभयरूप नहीं हो सकता है। अतः उसका कार्य भी पुण्य रूप शुभ या पापरूप अशुभ होगा, मिश्रित नहीं।

कर्मबन्ध के हेतु 5 है : मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन पाँच हेतुओं में से योग एक ऐसा कारण है जिसका कर्मबन्ध के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ कर्मबन्ध होता है वहाँ योग अवश्य पाया जाता है। योग तीन प्रकार के है — मन, वचन, और काया योग। ये योग एक समय में शुभ रूप में अथवा अशुभ रूप में ही हो सकते हैं।

¹ (क) तह बज्ज साहण प्पगरिसंग, भावादि हण्णया न तयं । विवरीय बज्ज साहण, बलप्पगरिसं अवेक्खेज्जा ॥ विशेष्या गा. 1932

(ख) देहो नावचयकओ पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमतोओ । होज्ज व स हीणतरओ, कहम सुमयरो महल्लोय ॥ विशेष्या गा. 1933

(ग) गणधरवाद (प्राकृत भारती अकादमी) पृ. 142 - 143

² एवं विव विवरीयं, जोएज्जा सव्व पाव पक्खे वि। न य साहारण रुवं, कम्मं तक्कारणा भावा ॥ विशेष्या. भाष्य गा. 1934

जो पुण्य-पाप को संकीर्ण रूप से मानते हैं उनका एक तर्क है कि किसी पुरुष के मन में दान देने का विचार उत्पन्न हुआ, वह विचार यदि कुपात्रदान का है तब उस पुरुष का मनोयोग शुभाशुभ मिश्र रूप है क्योंकि दान देने की भावना शुभ है किन्तु अविधिपूर्वक रूप दान अशुभ योग का सूचक है। उसी प्रकार अविधिपूर्वक दान देने की प्रेरणा करने वाले व्यक्ति का वचन योग भी शुभाशुभ उभय रूप होगा, तथा जो व्यक्ति जिन-पूजा अथवा वन्दन विधिपूर्वक-सम्यक् प्रकार से नहीं करता है, उसकी चेष्टा भी शुभाशुभ मिश्रित काय योग है। इस प्रकार तीनों योग उभयरूप में हुए।

इस तर्क का समाधान यह है कि योग दो प्रकार के है - द्रव्य योग व भावयोग। द्रव्ययोग अर्थात् मन वचन काय का परिस्पन्दन, तथा भावयोग का तात्पर्य अध्यवसाय है। द्रव्ययोग में शुभाशुभरूपता हो सकती है किन्तु भावयोग में उभय रूपता नहीं होती है। द्रव्ययोग भी व्यवहारनय से उभयरूप है निश्चयनय की अपेक्षा से वह एक समय में शुभ या अशुभ रूप ही होता है। अतः जब अध्यवसाय शुभ हो तब पुण्यकर्म का और जब अध्यवसाय अशुभ हो तब पापकर्म का बन्ध होता है। उभयरूप अध्यवसाय नहीं होने से उभयरूप कर्म भी सम्भव नहीं है।

भावयोग को शुभाशुभ उभयरूप नहीं मानने का कारण यह है कि भावयोग ध्यान और लेश्यारूप है। ध्यान एक समय में धर्म और शुक्ल रूप शुभ अथवा आर्त-रौद्र रूप अशुभ में होता है। ध्यान निवृत्ति होने पर लेश्या भी तेजस, पद्म-शुक्ल आदि कोई एक शुभ अथवा कृष्ण, नील, कापोत आदि एक अशुभ होती है। किन्तु उभयरूप लेश्या नहीं होती। अतः भावयोग के निमित्त से बंधने वाला कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ ही होगा। एतदर्थ पाप और पुण्य को स्वतन्त्र मानना उपयुक्त है।¹

पुण्य-पाप को न मानने वाले स्वभाववाद का खण्डन :

स्वभाववादी मानते हैं कि स्वभाव ही समस्त भवप्रपंच है तथा कर्म या पुण्य-पाप जैसा वस्तु ही नहीं है, किन्तु संसार में जो सुख दुःख की विचित्रता है, वह स्वभाव से

¹ (क) कम्मं जोगनिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एणसमयम्मि। होज्ज न उ उभयरूपो, कम्मं बितओ तयणुरुवं ॥ विशेषा. गा. 1935

(ख) ज्ञाणं सुभमसुभं वा न उ मीसं जं च ज्ञाण विरमेदि। लेसा सुभाऽसुभा वा, सुभमसुभ तओ कम्मं ॥ विशेषा. गा. 1937

घटित नहीं होती, इसका कारण यह है कि यह उत्पन्न स्वभाव कैसा है? वह वस्तु रूप है अथवा निष्कारण है या वस्तुधर्म है? इन तीनों विकल्पों के अनुसार स्वभाव को वस्तु नहीं माना जा सकता।

इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार है — स्वभाव को वस्तु नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अनुपलब्ध है, यदि वस्तु मानते हैं तो प्रश्न उठता है कि — वह मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि मूर्त मानते हैं तब स्वभाव और कर्म में कोई अन्तर नहीं है, तथा अमूर्त मानते हैं तो उपकरण रहित होने से वह शरीर आदि कर्मों का उत्पादक नहीं कहला सकता, जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव में घट का निर्माण नहीं कर सकता। वैसे ही स्वभाव भी उपकरण रहित होने से विचित्रता का उत्पादक नहीं हो सकता। अतः स्वभाव को वस्तु नहीं माना जा सकता है।

यदि स्वभाव को वस्तु के धर्म के रूप में स्वीकार किया जाये तो जीव और कर्म का पुण्य और पाप रूप परिणाम ही सिद्ध होता है। यदि स्वभाव को निष्कारण माने तो भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि निष्कारण का अर्थ यह हुआ कि कार्योत्पत्ति कारणवशात् नहीं है। ऐसा होने पर सभी वस्तुओं के समान खर-विषाण की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? क्योंकि खर-विषाण में कुछ भी कारण नहीं है। जबकि उत्पत्ति निष्कारण नहीं मानी जा सकती। यह सिद्ध होता है कि — सुख-दुःख रूप आदि जगत् में जो विचित्रता है वह स्वभाव से नहीं है, अपितु पुण्य पापात्मक रूप कर्म से है।²

अनुमान द्वारा पुण्य — पाप कर्म की सिद्धि :

पुण्य और पाप की सिद्धि अनुमान से भी होती है, जैसे कृषि क्रिया का कार्य शालि-यव गेहूँ आदि सर्वमान्य है, उसी प्रकार दान आदि क्रिया तथा हिंसादि क्रिया है, ये कारण रूप है तब इनका कोई कार्य होना चाहिए (कार्य कारण का एक दूसरे से सम्बन्ध है)। वह कार्य अन्य कुछ नहीं है, बल्कि जीव और कर्म का पुण्य एवं पापरूप परिणाम है। इस कारणानुमान से दानादि क्रिया का कार्य पुण्य और हिंसादि क्रिया का कार्य पाप है। इन दोनों को कार्यरूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

¹ योऽयं स्वभाव उदितः स च कीदृशोऽस्ति।। महावीर देशना, श्लोक 7, पृ. 209,

² (क) गणधरवाद (प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर) पृ. 136-137

(ख) मुर्तोयवा नभ इवायममूर्त रूपः, महावीर देशना, श्लोक 7, पृ. 209

देह आदि की रचना कारण के अभाव में नहीं होती है, क्योंकि घट के समान कार्य रूप है। देहादि रचना का जो कारण है, वह कर्म है। शुभ देहादि, धन, वैभव, कीर्ति, आदि की प्राप्ति होना पुण्य कर्म और कुरूपता, निर्धनता, अपकीर्ति होना पाप कर्म का कार्य है।¹

पुण्य— पाप रूप अदृष्ट कर्म की सिद्धि :

प्रश्न यह उठता है कि जब देह को उत्पन्न करने वाले माता—पिता है, तब अदृष्ट कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान भ. महावीर ने दिया कि — एक ही माता के दो पुत्र होते हैं किन्तु एक रूपवान और दूसरा कुरूप होता है, जबकि दृष्ट कारण समान है, तब उस विचित्रता के लिए अदृष्ट कारण कर्म को मानना आवश्यक है, कर्म के कारण से ही विभिन्नता व विचित्रता देखी जाती है। यह कर्म भी दो प्रकार का है— पुण्य और पाप। सुन्दरता, शुभ देह, पुण्यकर्म के कारण और कुरूपता पाप कर्म के कारण मिलती है। इस प्रकार पुण्य और पाप ये दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजातीय सिद्ध होते हैं।

कारण रूप मानने पर पुण्य—पाप की सिद्धि :

सुख और दुःख दोनों कार्य हैं, दोनों को उसके अनुरूप कारण चाहिए। जैसे घट का अनुरूप कारण मिट्टी के कण है, तथा वस्त्र का अनुरूप कारण तन्तु है, वैसे ही सुख का अनुरूप कारण पुण्य कर्म तथा दुःख का पापकर्म है। इस प्रकार दोनों में भिन्नता है।²

पुण्य—पाप रूपी है या अरूपी?

जैसे सुख दुःख आत्मा के परिणाम होने से अरूपी है, वैसे ही सुख—दुःख के कारण पुण्य तथा पाप कर्म भी अरूपी होना चाहिए ? जबकि कर्म रूपी है, अतः प्रश्न है कि कार्य के अनुसार कारण होना चाहिए, तब पुण्य—पाप रूपी है या अरूपी?

इस शंका का समाधान श्रमण भ. महावीर ने इस प्रकार दिया कि — यह आवश्यक नहीं कि कारण सर्वथा कार्य के अनुरूप होता हो। कारण और कार्य दोनों को सर्वथा अनुरूप मानने पर दोनों के सभी धर्म समान मानने पड़ेंगे, जिससे दोनों में भेद नहीं

¹ तं चिय देहाइणं, किरियाणं पि य सुभासुभताओ। पडिवज्ज पुण्णपावं, सहावओ भिन्न जाईयं ।। विशेषा. गा. 1920

² सुह—दुःखाणं कारणमणुरुवं कज्जभावओऽवस्सं। परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्णपावाइं।। विशेषा गा. 1921

रहेगा। सर्वथा भेद भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि दोनों में एक को वस्तु तथा दूसरे को अवस्तु मानना पड़ेगा। अनुरूपता और अननुरूपता सापेक्षता से होती है।

जिस प्रकार नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी अमूर्त तत्प्रतिभासीज्ञान को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करता है। यह भी तर्क हो सकता है मूर्त कर्म भी दृष्टिगत नहीं है तब दृष्ट अन्न, जल आदि को सुख-दुःख का कारण मान सकते हैं? किन्तु हम देखते हैं कि अन्नादि दृष्ट मूर्त साधन समान होने पर भी उनका फल सुख-दुःखादि समान नहीं होता, जैसे कि अन्न से एक व्यक्ति को आरोग्य लाभ मिलता है, वहीं उसी अन्न से दूसरा व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार दृष्ट अन्न समान होने पर भी सुख-दुःखादि रूप फल में जो विभिन्नता दिखती है, वह कारण सहित है। अतः कर्म अदृष्ट होते हुए भी मूर्त है तथा हेतु के अनुरूप पुण्य पाप भी मूर्त है, जब कि उसके फल अमूर्त हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि देहादि कार्य के अनुसार कर्म मूर्त हो तथा सुख-दुःखादि कार्य के अनुसार अमूर्त हो। पर कार्य के मूर्त या अमूर्त होने पर उसके सभी कारण मूर्त या अमूर्त होने चाहिए, यह आवश्यक नहीं है। सुखादि अमूर्त कार्य का कारण केवल कर्म ही नहीं है, आत्मा भी है। दोनों में अन्तर इतना है कि आत्मा समवायीकारण है तथा कर्म समवायी कारण नहीं है। अतः सुख-दुःखादि के अमूर्त होने से उनके समवायी कारण रूप आत्मा की अमूर्तता का अनुमान हो सकता है। अतः देहादिकार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए।¹

संसार में कर्म पुद्गल ठसाठस भरे हैं और उनमें शुभाशुभ का कोई भेद नहीं होता, अर्थात् ये आकाशप्रदेश शुभ पुद्गलों के धारक है या ये अशुभ पुद्गलों के धारक है? ऐसी अवस्था में जीव पुण्य-पाप रूप पुद्गलों को कैसे ग्रहण करता है?

इसका समाधान है कि जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर निर्वस्त्र होकर खुले स्थान पर बैठे तो तेल के परिमाण के अनुसार उसके पूरे शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है, वैसी ही राग-द्वेष युक्त जीव कर्म वर्गणा में रहे हुए कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है, जब तक जीव ने कर्म पुद्गलों को ग्रहण नहीं किया, तब तक वे पुद्गल शुभ या अशुभ इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट नहीं होते। जैसे ही जीव ग्रहण करता है वैसे

¹ जगधरदाद, वही, पृ 139-142

ही कर्म पुद्गलों को शुभ – अशुभ रूप में परिणत कर देता है। जीव के जैसे अध्यवसाय होते हैं वैसे कर्म भी परिणत हो जाते हैं।¹

जैसे कि समान आहार होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण विभिन्न परिणाम दिखते हैं। गाय और सर्प को एक ही प्रकार का आहार दिया जाये, लेकिन गाय का आहार दूध रूप में तथा सर्प का विष रूप में परिणत होता है। वैसे ही शुभ या अशुभ अध्यवसाय वाले कर्म पुद्गल अपने आश्रय भूतजीव से आकृष्ट होकर शुभ या अशुभ रूप में परिणत हो जाने का सामर्थ्य रखते हैं तथा आश्रयभूत जीव में भी उन उन कर्म पुद्गलों को ग्रहण करके शुभ या अशुभ रूप में (पुण्य-पाप) परिणत कर देने की शक्ति है।²

कर्म- पुद्गल के ग्रहण करते समय जीव कर्म प्रदेशों में अपने अध्यवसाय के कारण सब जीवों से अनन्त गुणा रसविभाग उत्पन्न करता है।³ जैसे कि आठ कर्म हैं उनमें से सबसे थोड़ा भाग आयु कर्म का है, उससे अधिक किन्तु परस्पर भाग नाम और गोत्र का है, उससे अधिक भाग ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय का है, किन्तु तीनों का परस्पर भाग समान है इसी कारण स्थिति भी एक समान 30 कोटाकोटी सागरोपम की है। इनसे अधिक भाग मोहनीय का है, यही कारण है कि 10 वे गुणस्थान तक इसका साम्राज्य रहता है, सर्वाधिक भाग वेदनीय का है। वेदनीय सुख-दुःख का कारण है, अतः उसका भाग सर्वाधिक है।⁴

एक ही शरीर में एक रूप आहार लेने पर भी उसमें सार व असार परिणाम तत्काल हो जाते हैं। वैसे एक ही जीव गृहीत कर्म पुद्गलों को शुभ-अशुभ परिणामों के द्वारा पुण्य और पाप रूप में परिणत कर देता है। इससे यह सिद्ध होता है पुण्य और पाप दोनों स्वतंत्र हैं। व्यक्ति को या तो मात्र सुख का अनुभव होता है या मात्र दुःख का। जैसे

¹ गिण्हइ तज्जोमं चिय रेणुं परिसो जहा काअब्भंजे। एगवखन्तो गाढ जीवो सप्पएसेहि।। विशेषा. गा. 1941

² अविसिद्धं चिय तंसो, परिणामाऽऽसयं भावओ खिप्पं। कुरुते सुभंमसुभं वा, गहणे जीवो जहाऽऽहारं। विशेषा. गा. 1943

³ गहणसमयमिंम जीवो, उप्पाएइ गुणे सपच्चयओ सब्वजीवाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु।। कर्मप्रकृति - बन्धनकारण, गाथा -29

⁴ बन्धशतक, गाथा 89-90

देवों में केवल सुख का नारकों में दुःख का। इसलिए पुण्य और पाप दोनों को स्वतंत्र मानना चाहिए।¹

पुण्य और पाप को एक मानकर भी देवों में सुखातिशय तथा नरक में दुःखातिशय का अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि जब पुण्यांश की वृद्धि और पापांश की हानि हो तब सुखातिशय का अनुभव तथा जब पापांश की वृद्धि व पुण्यांश की हानि हो तब दुःखातिशय का अनुभव हो सकता है।

यदि पुण्य व पाप सर्वथा एक रूप हो तो एक की वृद्धि होने पर दूसरे की भी होनी चाहिए। जैसे — राम की वृद्धि होने पर लक्ष्मण की वृद्धि नहीं होती, इससे सिद्ध होता है कि वे दोनों भिन्न हैं। पुण्य की वृद्धि होने पर पाप की वृद्धि नहीं होती, अतः दोनों भिन्न हैं। एकान्त रूप से भिन्न भी नहीं है, कर्मरूप से अभिन्न भी है।

वेदों में यह बताया है 'संसार में केवल पुरुष ही है, तथा उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि पुण्य-पाप का अस्तित्व नहीं है। यदि पुण्य-पाप नहीं हो तो स्वर्ग के उद्देश्य से वेदों में जो अग्निहोत्रादि बाह्य अनुष्ठानों का विधान है, वह गलत हो जाता है, तथा जगत में दान का फल पुण्य और हिंसा का फल पाप माना जाता है, यह मान्यता भी असंगत हो जाती है। अतः पुण्य-पाप के कारण ही जीव को सुख और दुःख की प्राप्ति होती है तथा दोनों स्वतंत्र तत्व हैं।²

जैन कर्मसिद्धान्त में भी पुण्य और पाप का विवेचन मिलता है, जिन्हें शुभ कर्म और अशुभ कर्म के नाम से जाना जाता है, जिसका वर्णन आगे परिच्छेद में किया गया है।

जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में पुण्य-पाप की प्रकृतियों का स्वरूप :

जैन धर्म-दर्शन में तत्त्वों को श्रद्धा का विषय माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि — तत्त्व श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।³ तत्त्वों की चर्चा सर्वप्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के पाँचवे अध्ययन में की गई है, उसमें 32 तत्त्व बताये हैं —

¹ ऊह वेगसरीरम्मि वि, सायऽसायापरिणामयामइ। अविस्मिदो आहारो, तह कम्म सुभाऽसुभविभागो ॥ विशेषा, भाष्य, गाथा - 1945

² असई बहि पुण्य पावे, जमग्गिहोत्ताइं सग्गकामस्स। तदसंबद्धं सत्वं, दाणाईं फलं च लोअम्मि ॥ विशेषा, गाथा 1947

³ "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं", तत्त्वार्थसूत्र, 1/2

1. लोक	2. अलोक	3. जीव	4. अजीव
5. धर्म	6. अधर्म	7. बन्ध	8. मोक्ष
9. पुण्य	10. पाप	11. आस्रव	12. संवर
13. वेदना	14. निर्जरा	15. क्रिया	16. अक्रिया
17. क्रोध	18. मान	19. माया	20. लोभ
21. राग	22. द्वेष	23. चतुरंग संसार	24. सिद्धस्थान
25. देव	26. देवी	27. सिद्धि	28. असिद्धि
29. साधु	30. असाधु	31. कल्याण और	32. अकल्याण ¹

सूत्रकृतांग के ही द्वितीय श्रुतस्कंध में यह सूची संकुचित रूप में मिलती है, उसमें 12 तत्त्वों को स्वीकार किया --

1. जीव	2. अजीव	3. पुण्य	4. पाप
5. आस्रव	6. संवर	7. वेदना	8. निर्जरा
9. क्रिया	10. अधिकरण	11. बन्ध	12. मोक्ष ²

जैनागमों में 9 तत्त्वों का निर्देश है—

1. जीव	2. अजीव	3. पुण्य	4. पाप
5. आस्रव	6. संवर	7. निर्जरा	8. बंध
9. मोक्ष तत्त्व।			

जब कि तत्त्वार्थसूत्र में 7 तत्त्वों का उल्लेख है, उनके अनुसार 'शुभ कर्मों का आगमन पुण्यास्रव और अशुभकर्मों का आगमन पापास्रव है, तथा शुभकर्मों का बन्ध पुण्यबन्ध और अशुभकर्मों का बन्ध पापबन्ध है, इस दृष्टि से पुण्य और पाप इन दोनों तत्त्वों का अन्तर्भाव आस्रव तथा बन्ध में किया गया है।

जैन आचार्यों ने पुण्य और पाप दोनों को परिभाषित किया है

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं चैतसिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने पुण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि — पुण्य अशुभ कर्मों

¹ सूत्रकृतांग 2/5/765-78

² सूत्रकृतांग, वही, 2/715

का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।¹ आचार्य अभयदेव के अनुसार, 'पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करे। आचार्य अभयदेव की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्व है। मुनि सुशीलकुमार जी के अनुसार, 'पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को अक्सर से शीघ्र पार करा देती है।' पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल है, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना में सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है।²

पाप का अर्थ है -- वैयक्तिक संदर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों को क्षय करे, वह पाप है।³ जिस आचार, विचार और उच्चार से अपना और पर का अहित हो, और जिसका फल अनिष्ट प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है।⁴

सामाजिक संदर्भ में जो परपीडा या दूसरों के दुःख का कारण हो, वह पाप है।⁵

नैतिक जीवन को दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ-घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, वे पाप कर्म हैं।⁶

पुण्य और पाप आस्रव के रूप में :

जब मानसिक, वाचिक या कायिक कोई भी प्रवृत्ति करते समय जीव शुभभावों से युक्त होता है तब पुण्य कर्म के आस्रव का बीज बोता है और जब अशुभ भावों से युक्त होता है तब पाप कर्म के आस्रव का बीज बोता है। यही पुण्यास्रव और पापास्रव है।

पुण्य-पापास्रव का लक्षण :

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है -- शुभः पुण्यस्य । अशुभः पापस्य । 'शुभयोग पुण्य के आस्रव का कारण है और अशुभयोग पाप के आस्रव का कारण है।'⁷

¹ योगशास्त्र, 4/107

² जैन धर्म, मुनि सुशीलकुमार, पृ. 84

³ अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड 5, पृ. 876

⁴ जैन धर्म, सुशीलकुमार, वही, पृ. 85

⁵ कन्हैयालाल जी लोढा, पुण्य-पाप तत्व, प्रकृत भारती अकादमी, जयपुर स. 1999, पृ. प्रस्तावना अट्ट

⁶ जैन जौ. गौत. के आ.द. का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमहा जैन, पृ. 332

⁷ तत्त्वार्थसूत्र, अ. 6, सूत्र 3/4

'प्रवचनसार' में पुण्य और पाप का लक्षण निर्धारित किया है कि -- पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।¹

"द्रव्यसंग्रह के अनुसार"—शुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्यरूप होता है और अशुभ परिणामों से युक्त जीव पापरूप।²

इसी बात को "विशेषावश्यकभाष्य में कहा है कि जो स्वयं शुभ वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श युक्त हो वह पुण्य तथा इससे विपरीत पाप है।"³

पापकर्म का स्थानांगवृत्ति में निर्वचन किया गया है -- "जो आत्मा को पतन में ग्रथित कर देता है, आत्मा का पतन कर देता है, अर्थात् आत्मा के आनन्दरस को सोख लेता है, शुष्क कर देता है, नष्ट कर देता है, वह पाप है।"⁴

पुण्यास्रव के कारण :

पंचास्तिकाय के अनुसार जिस जीव में प्रशस्त राग है, जिसके परिणाम अनुकम्पा से युक्त है, जिसके चित्त में कलुषता नहीं है, उस जीव के पुण्यास्रव होता है।⁵

मूलाचार में बताया है कि -- जीवों के प्रति अनुकम्पा, शुद्ध, मन, वचन, काय की क्रिया, सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग ये पुण्यकर्म आस्रव के कारण हैं। इसके विपरीत जीवों के प्रति निर्दयता, अशुद्ध मन-वचन-काय की क्रिया तथा मिथ्यादर्शन ज्ञान रूप उपयोग पापास्रव के कारण है।⁶

प्रवचनसार के अनुसार पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है, और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप है।⁷

¹ 'सुहपरिणामो पुण्यं, असुहो पापं दि, भणियमण्णेषु । प्रवचनसार, गाथा 181

² सुह-असुह भावयुक्ता, पुण्य-पापं हन्वति खलु जीवा । द्रव्य संग्रह 38/158

³ सोहण वण्णाई गुणं, सुभाणुभावं च जं तथं पुण्यं, विवरीय मओ पावं ।। विशेषा. गाथा 1940

⁴ पाशयति गुण्डयति आत्मानं पातयति, दात्तनः आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्, स्थानांगवृत्ति, स्थान ।

⁵ रागो जरस परस्त्वो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो । दित्तम्मि नत्थि कलुषं, पुण्यं जीवरस आसवेदि ।।

पंचास्तिकाय, गाथा 135

⁶ पुण्यस्सा सव भेदा, अणुकंपा सुद्ध एवं उवओगोः मूलाचार, गाथा 235

⁷ तत्र पुण्य पुद्गल बन्ध कारणत्वात् शुभ-परिणामः पुण्यम् अशुभ परिणामः पापम् । प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 18।

पापाश्रव के हेतु रूप परिणाम :

सर्वार्थसिद्धि में पाप का निर्वचन किया गया है — जो आत्मा को शुभ से बचाता है, अर्थात् दूर रखता है, उससे पाप का आश्रव होता है।¹ जैसे — असातावेदनीय आदि।

पञ्चास्तिकाय के अनुसार— जिसकी चर्या प्रमाद बहुल हो, हृदय में कलुषता हो, विषयों के प्रति लोलुपता हो, पर का संताप करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, वह पापाश्रव करता है।²

पुण्य—पाप का आश्रव वस्तु या क्रिया के आधार पर नहीं, बल्कि कर्ता के परिणाम या भावों से होता है। किसी को सुख—दुःख देने मात्र से भी पुण्य—पापाश्रव नहीं होता है, अपितु उसके पीछे कर्ता के आशय तथा उसकी प्रवृत्ति को भी देखा जाता है। सर्वार्थसिद्धि में इस विषय को एक दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि — जैसे कोई दयालु वैद्य किरसी संयमी साधु के फोड़े की चीर—फाड़ करके मरहम पट्टी करता है, यद्यपि उस समय उस संयमी मुनि को दुःख देने में वह वैद्य निमित्त बनता है, तथापि उस वैद्य के परिणाम उन्हें दुःख देने के नहीं है, अपितु सुख उपजाने के होते हैं। अतः दुःखोत्पादन के इस कारणमात्र से पापकर्म बन्ध या पूर्वकारण रूप पापाश्रव नहीं होता है, अपितु पुण्याश्रव एवं पुण्यबन्ध होता है। वस्तुतः पुण्य—पाप आश्रव में अन्तरंग भावों, शुभ—अशुभ परिणामों या शुभाशुभ उपयोगों की प्रधानता है।³

पण्डित सुखलालजी के अनुसार — पुण्य और पापाश्रव की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।

शुभ—अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका घाव चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ हो जाए, परन्तु डाक्टर पाप कर्म का बन्धन करेगा। इसके विपरित वही डाक्टर करुणा से प्रेरित होकर घाव चीरता है, और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो वह डाक्टर अपनी शुभ—भावनाओं के कारण पुण्याश्रव या पुण्यबन्ध करता है।⁴

¹ “पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्” सर्वार्थसिद्धि 6/3/320

² सण्णाओ य ति लेस्सा, इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ज्ञाणं च दुष्पउत्तं, मोही पावप्पदा होंति ॥ पंचास्तिकाय, मू. 140

³ सर्वार्थसिद्धि, 6/11/330

⁴ जैन धर्म, मुनि सुशीलकुमार, पृ. 160

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य स्वरूप उपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है।

सूत्रकृतांगसूत्र में आर्द्रककुमार, बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं – जो माँस जाने या अनजाने खाता हो, तो भी उसको पाप लगता है। यदि कोई कहे कि हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष नहीं लगता, ऐसा कहना असत्य है। क्योंकि पहली बात तो यह है कि माँस हिंसा के बिना मिलता नहीं, दूसरे वह स्वभाव से ही अपवित्र है, रौद्रध्यान का हेतु है।¹

यह स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैनदर्शन एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है, वह व्यक्ति सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानता है और समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। उसमें द्रव्य और भाव दोनों का मूल्य है। योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि इसमें मनोवृत्ति ही प्रमुख कारण है।²

साधारण लोग यह बात नहीं समझते हैं, उनके अनुसार 'अमुक काम करने से पुण्य का तथा अमुक काम करने से पाप का बन्ध नहीं होगा, इससे वे उस काम को छोड़ देते हैं, पर उनकी मानसिक क्रिया नहीं छुटती, फलस्वरूप वे पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नहीं कर सकते हैं।'³

आप्तमीमांसा में बताया गया है कि – यदि दूसरे को सुख या दुःख देने से ही यदि पुण्य-पाप का नियम होता तो काँटे, विष, छूरी, तलवार आदि अचेतन पदार्थों को

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, हेमचन्द्रजी मा., पृ. 372

² जै. बौ.गी. के आ. दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डा. सागरमल जैन, पृ. 336

³ पुण्य-पाप तत्त्व, कन्हैयालाल जी लोढ़ा, वही, पृ. XXIX

पाप तथा दूध, फल, रोटी, पदार्थों को पुण्य हो जाता। अतः यह मानना उचित है कि परिणामों की शुद्धि, अशुद्धि के कारण ही पुण्य-पाप आस्रव होते हैं।¹

शुभ-अशुभ परिणाम से पुण्यास्रव और पापास्रव कैसे होता है, इसे उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं - जैसे बहुत बड़े निश्चल जल वाले सरोवर में लघु तृण गिर जाने पर पूरे सरोवर में लहरें पैदा हो जाती है, वैसे ही हमारे मन, वचन या शरीर में किंचित मात्र हलचल हुई कि वहां अनन्त कर्मों का आगमन हो जाता है, उन तरंगों में यदि शुभ एवं पवित्र विचार हों तो जितने भी कर्म परमाणु है, वे सब पुण्य-प्रवृत्ति में परिणत हो जाते हैं, अगर हलचल का कारण कषाय हो, क्रोध, अभिमान, मायाचार, राग-द्वेष, ईर्ष्या हो अथवा किसी भी अशुभ भाव के कारण तरंगे पैदा हुई तो उस समय आने वाले अनन्तानन्त कर्म परमाणु पाप प्रवृत्ति में परिणत हो जाते हैं। कर्म-परमाणु स्वयं कुछ नहीं है, वे न शुभ है और न अशुभ है। वे तो जड पदार्थ है। जैसे मन के विचार होते हैं, वैसे ही रूप धारण करेंगे। जैसे - वस्त्र, धागा, रूई अपने मूल रूप में श्वेत है, लेकिन जिस रंग में डालेंगे, वे उसी रंग में परिवर्तित हो जाते हैं, इस क्रिया को पुण्य प्रकृति और पाप-प्रकृति कहा जाता है। यह प्रश्न अचलभ्राता जी के मन में उद्भूत हुआ कि संसार में कर्मपुद्गल ठसाठस भरे हैं और उनमें शुभाशुभ भेद नहीं होता है कि अमुक आकाश प्रदेश में शुभ पुद्गल और अन्यत्र अशुभ पुद्गल हो। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती है तब वे कर्मपुद्गल शुभ अर्थात् पुण्य और अशुभ, पाप में परिणत कैसे होते हैं ? भ. महावीर ने इसका समाधान दिया है कि - "जीव के जैसे परिणाम या अध्यवसाय होते हैं, कर्मपुद्गल उन रूपों में परिणत हो जाते हैं।"²

शुभ परिणामों तथा क्रियाओं के आधार पर पुण्यास्रव का अर्जन किया जाता है, जिन्हें पुण्य बन्ध के हेतु कहे जाते हैं :

शास्त्रों में पुण्य कर्म के उपार्जन के 9 प्रकार बताये हैं :

1. अन्नपुण्य - भोजनादि देकर भूखे व्यक्ति की भूख मिटाना।
2. पानपुण्य - तृषापिडित व्यक्ति को पानी पिलाना।
3. लयनपुण्य - पात्र को स्थान देना।

¹ आप्तमीमांसा, 92-95

² "कर्म जोगविमित्तं, सुभोऽसुभो वा", विशेषः. गाथा, 1935

4. शयन पुण्य – शय्या बिछौना आदि सोने की सामग्री देना।
5. वस्त्र पुण्य – शीत से कौंपते वस्त्रहीन व्यक्ति को वस्त्र देना।
6. मन पुण्य – मन से शुभ विचार करना।
7. वचन पुण्य – शुभ वचन बोलना।
8. काया पुण्य – काया से सेवा करना।
9. नमस्कार पुण्य – गुणीजनों एवं महापुरुषों को नमस्कार करना। इन कारणों से पुण्यास्रव होता है।¹

अशुभ परिणामों तथा क्रियाओं के आधार पर पापास्रव :

1. प्राणातिपात – जीव हिंसा करना।
2. मृषावाद – असत्य बोलना।
3. अदत्तादान – चोरी करना।
4. मैथुन – अब्रह्मचर्य सेवन करना।
5. परिग्रह – धन आदि पदार्थों का संग्रह और उन पर ममत्व रखना।
6. क्रोध – क्रोध, गुस्सा करना।
7. मान – अहंकार या मद करना।
8. माया – कपट करना।
9. लोभ – तृष्णा करना।
10. राग – सांसारिक पदार्थों पर आसक्ति या मोह करना।
11. द्वेष – पदार्थों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या घृणा करना।
12. कलह – क्लेश करना।
13. अभ्याख्यान – मिथ्यादोषारोपण करना।
14. पैशुन्य – चुगली करना।
15. परपरिवाद – परनिन्दा करना।

¹ (क) नवविहे पुण्णे पण्णते.....। स्थानांगसूत्र, 9/25, मधुकरमुनि, व्यावर, पृ. 669
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन, केवलमुनि जी मा., पृ. 258

16. रति-अरति – भोगों में प्रीति तथा संयम में अप्रीति रखना।
17. माया-मृषावाद – कपट सहित असत्याचरण करना।
18. मिथ्यादर्शनशल्य – मिथ्यात्व या असत्प्ररूपणा करना।¹

यह संसार कर्म भूमि है। कर्म – उसका फल और फलभोग। इस प्रकार संसार का चक्र कर्म की धूरी पर चल रहा है। जो जैसा कर्म करता है, उसे उसी के अनुरूप फल मिलता है, शुभ कर्म का फल पुण्य के रूप और अशुभ कर्म का पाप के रूप में प्राप्त होता है।

जैन दर्शन में ज्ञानावरणीय आदि आठ मूलकर्म कहे गये हैं, उन 8 कर्मों की उत्तर प्रकृतियां 148 हैं। उनमें से पुण्य प्रकृतियां 42 तथा पाप प्रकृतियां 82 हैं। अचलभ्राता जी ने भ. महावीर से प्रश्न किया कि शुभ कर्म पुण्य है और अशुभ कर्म पाप है, किन्तु इन 148 कर्म प्रकृतियों में से कौनसी शुभ है और कौनसी अशुभ है? यह बताने की कृपा करें? तब इसका समाधान महावीर ने दिया कि – सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति मोहनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र ये पुण्य हैं, इसके अतिरिक्त शेष सब पाप हैं।² इन शुभ अशुभ प्रकृतियों को ही पुण्य – पाप फल के नाम से जाना जाता है।

नवतत्त्व में पुण्यफल भोगने के 42 प्रकार बताये हैं, वे निम्न हैं –

पुण्य फल भोगने के 42 प्रकार :

- | | | |
|-------------------------|-----------------------|--------------------|
| 1. साता वेदनीय | 2. उच्चगोत्र | 3. मनुष्यगति |
| 4. मनुष्यानुपूर्वी | 5. देवगति | 6. देवानुपूर्वी |
| 7. पंचेन्द्रिय जाति | 8. औदारिक शरीर | 9. वैक्रिय शरीर |
| 10. आहारक शरीर | 11. तैजस शरीर | 12. कार्मण शरीर |
| 13. औदारिक अंगोपांग | 14. वैक्रिय अंगोपांग | 15. आहारक अंगोपांग |
| 16. वज्रत्रयभनाराचसंहनन | 17. समचतुरस्र संस्थान | 18. शुभ वर्ण |
| 19. शुभ गंध | 20. शुभ रस | 21. शुभ स्पर्श |

¹ (क) कर्मविज्ञान, भाग 3, आ. देवेन्द्रमुनि जी, वही, पृ. 637

(ख) स्थानांगसूत्र, 9/26, पृ. 669 (ब्यावर)

² सायं-सम्मं हासं-पुरिस-रई-सुभाउ-नाम गोत्ताइ
पुण्णं सेसं पावं, नेयं सविवाग-अविवागं।। विशेष. गाथा, 1947

22. अगुरुलघु नामकर्म	23. पराघात नाम कर्म	24. उच्छ्वास नाम कर्म
25. आतप नाम कर्म	26. उद्योत नाम कर्म	27. शुभ विहायोगति नाम कर्म
28. शुभ निर्माण नाम कर्म	29. त्रस नाम कर्म	30. बादर नाम कर्म
31. पर्याप्त नाम कर्म	32. प्रत्येक नाम कर्म	33. स्थिर नाम कर्म
34. शुभ नाम कर्म	35. सुभग नाम कर्म	36. सुस्वर नाम कर्म
37. आदेय नाम कर्म	38. यशकीर्ति नाम कर्म	39. देवायु नामकर्म
40. मनुष्यायु नाम कर्म	41. तिर्यञ्चायु नाम कर्म	42. तीर्थकर नाम कर्म ¹

पाप कर्म का फलभोग :

पापस्थानों का फल 82 प्रकार से भोगा जाता है :

- 1-5 पाँच ज्ञानावरणीय (मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यव, केवल)
- 6-10 पाँच अन्तराय (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यान्तराय)
- 11-15 पाँच प्रकार की निद्रा (निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि)
- 16-19 चार दर्शनावरणीय (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल)
- 20 नीच गोत्र
- 21 असातावेदनीय
- 22 मिथ्यात्वमोहनीय
- 23 -32 स्थावरदशक (स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति)
- 33-35 नरकत्रिक (नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी)
- 36-51 अनन्तानुबन्धी 4, अप्रत्या. 4, प्रत्या. 4, संज्वलन 4 (क्रोध, मान, माया और लोभ)
- 52-60 हास्यनवक (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद)
- 61-62 तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी
- 63-66 जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चउरेन्द्रिय)
- 67 अशुभ विहायोगति
- 68 उपघात नाम
- 69-72 वर्णचतुष्क (अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श)
- 73-77 संहनन पंचक (ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्ति)

¹ नवतत्त्व प्रकरण सार्थ, गाथा, 15-16-17, (हीरालाल जी दुगड़) आदिनाथ जैन श्वेताम्बर संघ, बेंगलोर, पृ. 86

78-82 संस्थान (न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन, हुण्डक)¹

जैनागमों में पुण्य और पाप के फलभोग की चर्चा विशदरूप से की गई है :

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि पुण्यशाली जीव उच्च देवलोक की स्थिति पूर्णकरके मनुष्ययोनि पाकर दशविध भोग सामग्री से युक्त स्थान में जन्म लेते हैं, वे 10 स्थान इस प्रकार हैं :

- | | | | |
|--------------|-----------------------|-------------------------|-----------------------------|
| 1. क्षेत्र | 2. वास्तु | 3. स्वर्ण | 4. पशुसमूह ये चार कामस्कन्ध |
| 1. दास-पोष्य | 2. मित्रवान | 3. उत्तम ज्ञाति सम्पन्न | 4. उच्चगोत्र |
| 5. सुरूप | 6. स्वरथ | 7. महाप्रज्ञ | 8. अभिजात |
| 9. यशस्वी और | 10 बलवान ² | | |

धवला में पुण्य के फलों का उल्लेख इस प्रकार किया है - तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल हैं। पाप के फल बताये हैं कि - नरक, तिर्यञ्च तथा कुमानुष की योनियों में उत्पत्ति तथा जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, वेदना और दरिद्रता की प्राप्ति पाप के फल हैं।³

आचारांगसूत्र में उल्लेख है कि - जो षट्जीवनिकाओं की हिंसा रूप पापकर्म करता है, वह हिंसा उसके अहित के लिए तथा अबोधि के लिए होती है। वह निश्चय ही उसके लिए कर्मों की गौंठ है, वह मोह है, वही मृत्यु है वही नरक है।⁴

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है - पापकर्मकर्ता अपने ही कर्मों से पीडित होता है।⁵

सुखविपाकसूत्र में उन विशिष्ट पुण्यशालियों का जीवनवृत्त दिया गया है, जिन्होंने अपने जीवनकाल में श्रावक व्रतों का निरतिचार रूप से पालन किया, जिस पुण्यराशि के फलस्वरूप उन्हें उच्चदेवलोक प्राप्त हुआ तथा दुःखविपाक सूत्र में ऐसे व्यक्तियों के

¹ (क) आ. जयन्तसेन, मिला प्रकाश खिला बसन्त, वही, पृ. 226-227

(ख) नवतत्त्व प्रकरण सार्व, गाथा . 18, पृ. 96

² उत्तराध्ययनसूत्र, 3/16-17-18

³ काण्डि पुण्यफलानि "तित्थयर-गणहर दालिदादिणि" धवला - 1/1

⁴ आचारांगसूत्र, 1/1/7 पृ. 58-59 (ब्यावर)

⁵ सकम्मुणा किच्चइ पावकारी, उत्तराध्ययनसूत्र, 4/3

उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिन्होंने अपने पूर्वजन्म में पापकर्म उपार्जित किये थे, फलस्वरूप विविध दुःखों का सामना करना पड़ा।

सूत्रकृतांगसूत्र में पुण्य-पाप के अस्तित्व के सम्बन्ध में अन्यतीर्थिकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके स्वपक्ष को सिद्ध किया है -

कई अन्यतीर्थिकों का कथन है कि इस जगत् में पुण्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पाप ही है। पाप कम हो जाने पर सुख उत्पन्न होता है वृद्धि हो जाने पर दुःख होता है।

दूसरे दार्शनिक कहते हैं - जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पुण्य ही है, पुण्य घट जाता है, तब दुःख उत्पन्न होता है। और घट जाने पर सुख होता है।

तीसरे मतवादी कहते हैं - पुण्य - पाप दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि जगत् की विचित्रता, नियति, स्वभावकाल आदि के कारण होती है।

सूत्रकार ने इसका समाधान किया है कि - ये सभी दार्शनिक भ्रम में हैं, पुण्य और पाप दोनों का नियत सम्बन्ध है, एक का अस्तित्व मानने पर दूसरे का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। यदि सब कुछ नियति या स्वभाव से होने लगे तब कोई व्यक्ति सत्कार्य में प्रवृत्त क्यों होगा? किसी को अपने द्वारा कृत शुभाशुभ क्रिया का फल भी प्राप्त नहीं होगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है, शुभ कर्म तथा अशुभ कर्म फल दोनों भिन्न-भिन्न रूप से दृष्टिगत होते हैं, अतः पुण्य-पाप का स्वतंत्र अस्तित्व व फलभोग मानना ठीक है।¹

पुण्य और पाप बन्ध के रूप में :

पुण्य और पाप के फलभोग व अस्तित्व की चर्चा कर लेने पर यह सिद्ध है कि ये दोनों आश्रव में परिगणित हैं, किन्तु जैन दार्शनिकों ने पुण्य-पाप को बन्ध तत्त्व में समाविष्ट किया है, क्योंकि कर्मों के आश्रव होने पर वे जीव के साथ बन्ध जाते हैं तभी वे फलभोग दे सकते हैं, अन्यथा नहीं।

¹ सूत्रकृतांगसूत्र, श्रुत. 2, अध्या. 5, गाथा 16

नत्थि पुण्णे पावे वा, एव सज्जं निवेसए।

अत्थि पुण्णे व पावे वा, एव सज्जं निवेसए॥ विवेचन - हेमचन्द्र जी मा.सा., पृ. 319

इस कारण पुण्य और पाप को बन्ध में भी अन्तर्भाव कर सकते हैं, क्योंकि कर्म का आगमन आस्रव है और उनका संसारी जीवों के साथ मिल जाना, बन्ध है। जैसे कि – शुभ कर्म के आगमन को/उपार्जन को पुण्य कहा जाता है, उसका आस्रव में समावेश होता है, उन शुभ कर्मों का जीव के साथ सबन्ध होने पर पुण्य बन्ध के रूप में समावेश कर सकते हैं।

तत्त्वार्थधिगम की सिद्धसेन गणिकृत टीका में उल्लेख है “पुण्यपापयोश्च बन्धेऽन्तर्भावात्” अर्थात् पुण्य तथा पाप का बन्ध में अन्तर्भाव होता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भी कहा है -- “पुण्यपापपदार्थोपसंङ्ख्यानमिति चेत् न आस्रवे बन्धे वाऽन्तर्भावात्”।

जो परम्परा पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्व नहीं मानती है, वह इन्हें आस्रव के अन्तर्गत समाविष्ट कर लेती है। अगर सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो पुण्य और पाप केवल शुभाशुभ आस्रव रूप ही नहीं है, अपितु शुभाशुभ कर्मबन्ध में तथा शुभाशुभ कर्मफल के रूप में भी स्वीकार किया गया है। आस्रव की तरह बन्ध और विपाक के भी शुभ और अशुभ के भेद से दो-दो भेद करने होंगे। ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहते हैं कि – पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं।¹

आचार्य कुन्दकुन्द, पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हैं। समयसार में बताया है कि -- अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म संसार (बन्धन) का कारण है, जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।²

आचार्यों ने पुण्य-पाप को द्रव्य और भावरूप से दो दो प्रकार के बताए हैं -- 1. शुभ कर्म पुद्गल रूप द्रव्य पुण्य तथा 2. अशुभ कर्म पुद्गल रूप द्रव्य पाप। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत है। आत्मा से कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्यबन्ध तत्त्व है। द्रव्यपुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय है, जो भावपुण्य है, और द्रव्य-पाप का कारण अशुभ अध्यवसाय है, जो

¹ इसिभासियाईं सुत्तं, 9/2

² समयसार, 145-146

भावपाप है। दोनों का बन्धतत्व में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषयिक अध्यवसाय ही भावबन्ध है।

शुभ-अशुभ आस्रव कर्मों के आगमन के बीज है और शुभाशुभ बन्ध उन्हीं के अंकुर है। शुभाशुभ आस्रव पूर्वक्षणवर्ती है, और शुभाशुभ बन्ध उत्तरक्षणवर्ती है। पहले आस्रव होता है फिर बन्ध की प्रक्रिया होती है। बन्ध के चार भेद हैं - 1. प्रकृति 2. स्थिति 3. अनुभाग और 4. बन्ध। इन चारों के अनुसार पुण्य-पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पुण्य कर्म का बन्ध - पुण्य कर्म का बन्ध चार प्रकार का है -

1. प्रकृतिबन्ध
2. स्थिति बन्ध
3. अनुभागबन्ध
4. प्रदेशबन्ध।

1. **प्रकृतिबन्ध** : कर्मों के भिन्न - भिन्न स्वभाव के उत्पन्न होने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। आठ कर्मों में से वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की पुण्य-प्रकृतियाँ होती हैं।

वेदनीय की 1+आयुष्यकर्म की 3+ नाम कर्म की 31+ गोत्र कर्म 1 - 42

2. **स्थितिबन्ध** : पुण्य की 42 प्रकृतियों में से आयुत्रिक को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का स्थितिबन्ध कषाय से होता है। कषाय जितना तीव्र होता है, उतना ही स्थितिबन्ध अधिक होता है। परन्तु ये प्रकृतियाँ अघाति होने से इनका स्थितिबन्ध जीव के लिए कुछ भी हानिकारक नहीं है।

3. **अनुभाग बन्ध** : कर्म सिद्धान्त में बताया गया है कि पाप का अनुभाग कषाय से होता है, परन्तु पुण्य का अनुभाग कषाय से नहीं होकर कषाय की अल्पता से, कषाय की न्यूनता से होता है। जितना कषाय कम होता है, आत्मा पवित्र होती जाती है उतना पुण्य का अनुभाग या रस बढ़ता जाता है। फलदान शक्ति रसरूप होने से पुण्य का अनुभाग ही पुण्य का सूचक है।

4. **प्रदेशबन्ध** : पुण्य प्रकृतियों के दलिकों का बन्धना पुण्य कर्म का प्रदेशबन्ध है।

पापकर्म का बन्ध :

1. प्रकृतिबन्ध : पूर्वोक्त 82 प्रकृतियाँ।
2. स्थितिबन्ध : मनुष्य, देव और तिर्यज्ज्व आयु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों में बंधने के कारण अशुभ है।

3. अनुभाग बन्ध : 82 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। (अप्रशस्त प्रकृतियों का रस नीम, कांजी हलाहल विष के समान होता है)।

4. पाप प्रकृतियों के दलिकों का बन्धना पापकर्म का प्रदेशबन्ध है।¹

इस प्रकार पुण्य – पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पुण्यास्रव व पुण्यबंध में अन्तर :

पुण्य का आगमन कषाय की मन्दता, संयम, त्याग, तपरूप शुभभाव व अनुकंपा, वात्सल्य, करुणा, दया, दान रूप सद्प्रवृत्तियों से होता है। इनके अनुभाग का वर्जन होता है। पुण्यास्रव में पुण्य-प्रकृतियों की स्थिति को नहीं लिया गया है, क्योंकि स्थिति कषाय रूप पाप या अशुद्ध भाव से निर्मित होती है, शुद्ध भाव से नहीं। जितना जितना पुण्य का आस्रव बढ़ता है, उतना-उतना पापकर्मों के बंधनों का क्षय होता है।

पुण्यबंध :

कर्मों का आत्मा के साथ रहना बंध है, इससे कर्म सत्ता को प्राप्त होते हैं, और भविष्य में उदय आकर अपना फल देते हैं। यह स्थिति बंध शुभ या शुद्ध भाव से नहीं होता है, कषाय से ही होता है। अतः स्थिति बन्ध अशुभ है।

आस्रव व बन्ध के हेतु 5 है — मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय, योग।² इनमें से कर्मबन्ध के दो कारण माने गये हैं— योग और कषाय। योग से कर्मण-वर्गणाओं के दलिकों का अर्जन होता है, इन कर्मण वर्गणाओं का बंधन तभी होता है, जब ये कषाय से युक्त होती है। अन्यथा ये कषाय के अभाव में, स्थितिबन्ध न होने से ऐसे ही निर्जरित हो जाती है, जैसे दीवार पर फेंकी गई शुष्क बालू रेत दीवार को छूकर गिर जाती है। इस प्रकार इनका बंध अबंध समान ही है, लेकिन पाप प्रकृतियों के अर्जन के समय योग के साथ कषाय नियम से होता है, और इस कषाय से पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग इन दोनों का पोषण होता है। अतः इनमें जहाँ आस्रव है वहाँ बंध नियम से है, क्योंकि इनके उपार्जन रूप आस्रव व बंध का एक ही कारण है, और वह है कषाय। पुण्य

¹ कन्हैयालाल जी लोढ़ा, पुण्य-पापतत्त्व, वही, पृ. 35-36

² (क) मिथ्यादर्शनविरति प्रमाद कषाययोगा बन्ध हेतवः”, तत्त्वार्थसूत्र, 8/1

(ख) पंच आस्रवदारा पण्णतां तंजहा.....”, समदायांग, समवाय 5

प्रकृतियों के बंध का कारण कषाय की अधिकता या तीव्रता है, ये दोनों परस्पर विरोधी कारण हैं।

जैसे दण्ड, ध्वजा, रज्जु व उसका बन्धन ये चारों अलग-अलग हैं एक नहीं है, परन्तु दण्ड के साथ ध्वजा को रज्जु से बांध देने पर उस दण्ड के ध्वजा बंध जाती है। इसी प्रकार आत्मा, आस्रव, कषाय व कर्मबन्धन ये चारों अलग-अलग हैं, एक नहीं है। परन्तु जब कर्मण वर्गणाओं के समुदाय रूप ध्वजा, कषाय रूपी रज्जु से दण्ड रूप आत्मा के साथ बंध जाता है तो यह कर्मबन्ध कहलाता है। जिस प्रकार दण्ड के साथ ध्वजा के बंधनों में मुख्य कारण रज्जु है, इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म दलिक के बंध अवस्था को प्राप्त होने में मुख्य कारण कषाय है। जिस प्रकार ध्वजा के साथ उसमें रहे हुए रंग, चित्र आदि भी दण्ड से अनायास ही बंध जाते हैं उसी प्रकार कर्मण वर्गणाओं रूप आस्रव के साथ रहे हुए अनुभाग आदि भी बंध अवस्था को सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यदि रज्जु न हो तो ध्वजा भी नहीं बंधेगी और न ध्वजा में रहे हुए रंग, चित्र ही बन्धेंगे, इसी प्रकार यदि कषाय नहीं है तो न आस्रव और न अनुभाग आदि बंध अवस्था को प्राप्त हो।

पुण्य के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि – पुण्योपार्जन की क्रियाएँ जब अनासक्त भाव से की जाती हैं, तो वे शुभ बन्ध कारण न होकर कर्मक्षय (संवर-निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर-निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव या फलाकांक्षा से युक्त होते हैं तो वे कर्मक्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं।

इस तरह पुण्यास्रव व पुण्यबन्ध में अन्तर है।¹

पुण्य-पाप के चार रूप :

पुण्य-पाप के स्वरूप को समझने के लिए इन चार रूपों को समझना आवश्यक है –

पुण्यानुबंधी पुण्य :

वह दशा जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो जिससे ऐसे पुण्य का अर्जन होता रहे कि जो उज्ज्वल भविष्य का कारण बने। इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी रहते हैं और भविष्य में भी सुखी रहते हैं। यह जीव को शुभ से

¹ कन्हैयालाल जी लोढ़ा, पुण्य-पापतत्त्व, वही, पृ. 126-127

शुभतर की ओर ले जाता है। ज्ञानसहित और निदानरहित, धर्म का आचरण करने से इसका अर्जन होता है। इसका महानतम फल तीर्थकरत्व है तथा उससे न्यूनतम फल मोक्षगामी चक्रवर्ती के रूप में होता है।

पापानुबंधी पुण्य :

जो पूर्व पुण्य का सुखरूप फल पाते हुए वर्तमान में पाप का अनुबंध कर रहे हैं। ऐसे प्राणी पाप करते हुए भी पूर्व पुण्योदय से सुखी व समृद्ध होते हैं। हिटलर, मुसोलिनी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। आगमों में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण आता है, जो चक्रवर्ती होकर भी पाप का संचय कर नरक में गया। इस प्रकार जो पुण्य वर्तमान में सुख रूप फल देकर भी भविष्य को दुष्प्रवृत्ति से अंधकार मय बनावे (दुर्गति में ले जावे) जीव को पतनोन्मुख करे, उसे पापानुबंधी पुण्य कहते हैं।

पुण्यानुबंधी पाप :

पूर्वभव में किये पाप रूप अशुभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवृत्ति से पुण्य बंध करे, उसे पुण्यानुबंधी पाप कहते हैं। जैसे — चण्डकौशिक, पाप का उदय होते हुए भी भगवान महावीर के निमित्त से शुभ भावों में प्रवृत्ति कर शुभ का बंध कर लिया। पाप स्थिति में रहकर भी पुण्य का अर्जन कर लेना।

पापानुबंधी पाप :

पूर्वभव के पाप से जो यहां भी दुःखी रहते हैं और आगे भी दुःख का संचय करते हैं। श्वान, बिल्ली, सिंहादि व क्रूर प्राणी इसी भेद में आते हैं। जैसे — धीवर, कसाई, वेश्या आदि का पाप कर्म। तन्दुलमत्स्य भी इसका उदाहरण है, जो पूर्वकृत पाप कर्म के फलस्वरूप अल्पायु होकर पापमय अशुभ भावों से सप्तम नरक का बन्ध कर लेता है।¹

इस प्रकार जैन दर्शन में पुण्य-पाप की चर्चा विराट रूप से की गई है। अन्य दर्शनों में भी पुण्य-पाप के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

¹ (क) कर्मविज्ञान, भाग 2, वही, पृ. 452-453

(ख) नवतत्त्व प्रकरण, (पं. हीरालाल जी दुग्ड़) पृ. 7-8

अन्य दर्शनों में पुण्य – पाप की चर्चा :

बौद्ध-दर्शन में पुण्य-पाप की अवधारणा

महात्मा बुद्ध भी शुभ-अशुभ दोनों कर्मों को मानते थे। शुभ नामक भाणवक ने भगवान बुद्ध से एक बार पूछा था – हे गौतम! मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूप वालों में हीनता और उत्तमता दिखाई देती है, इसका क्या हेतु है? इसका उत्तर तथागत बुद्ध ने दिया – भाणवक! प्राणी कर्मस्वक है, कर्म दायद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियों को हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।¹

सुगति या दुर्गति का पाना, कर्म के शुभ या अशुभ होने पर निर्भर है। सदाचार से सुगति और दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है।

बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधारों पर 10 प्रकार के पापों का अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है।

- | | | |
|-----------------|---|---------------------------|
| 1. कायिक पाप : | 1. प्राणातिपाप (हिंसा) | 2. अदन्तादान (चोरी), |
| | 3. कामेसुमिच्छाचार (काम भोग सम्बन्धी दुराचार) | |
| 2. वाचिक पाप : | 4. मुसावाद (असत्य भाषण) | 5. पिसुनावाचा (पिशुन) |
| | 6. फरुसावाचा (कठोर वचन) | 7. सम्फलाप (व्यर्थ आलाप) |
| 3. मानसिक पाप : | 8. अभिज्जा (लोभ) | 9. व्यापाद (मानसिक हिंसा) |
| | 10. मिच्छादिदिठ (मिथ्या दृष्टिकोण) ² | |

अभिधम्मत्थसंगहो में 14 अकुशल चैतसिक बताये गये हैं :

1. मोह (चित्त का अन्धापन)
2. अहिरिक (निर्लज्जता)
3. अनोत्ताप (पाप कर्म में भय न मानना)
4. उद्धच्चं (चंचलता)
5. लोभो (लोभ)
6. दिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)
7. मानो (अहंकार)

¹ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, आ. नरेन्द्रदेव, पृ. 475

² बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 480

8. दोसो (द्वेष)
9. इस्सा (ईर्ष्या)
10. मच्छरियं (मात्सर्य)
11. कुक्कुच्च (कौकृत्य)
12. थीन
13. मिद्धं
14. विचिकिच्छा (विचिकत्सा)¹

पुण्य के बारे में संयुक्तनिकाय में कहा गया है— अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन, एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएं आ गिरती हैं।

अभिधम्मत्थ संगहो में बताया है —

- | | | |
|--|-------------------|----------------------------|
| 1. श्रद्धा, | 2. अप्रमत्तता | 3. पाप कर्म के प्रति लज्जा |
| 4. पाप कर्म के प्रति भय | 5. अलोभ | 6. अद्वेष |
| 7. समभाव | 8. मन की पवित्रता | 9. शरीर की प्रसन्नता |
| 10. मन का हलकापन | 11. मन की मृदुता | 12. शरीर की मृदुता |
| 13. मन व शरीर की सरलता। इन को कुशल चैतसिक कहा गया है। ² | | |

बौद्धदर्शन में सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है।

सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं, वैसे ही मैं हूँ, इस प्रकार सभी को समान समझकर किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।

वैदिक दर्शन में पुण्य — पाप की चर्चा :

पुण्यक्रिया के सुफल की चर्चा करते हुए, 'योगवसिष्ठ' में कहा गया है — "हे सज्जन! मानसिक व्यथाएं (आधि) और शारिरिक व्याधियां शुद्ध पुण्यक्रिया और साधुसेवा से नष्ट हो जाती हैं। पुण्य से मन उसी प्रकार निर्मल (पवित्र) हो जाता है, जिस प्रकार कसौटी पर कसने से सोना निर्मल हो जाता है। हे राघव! पुण्यकर्म से देह शुद्ध होने पर

¹ अभिधम्मत्थ संगहो, पृ. 19/20

² डा. सागरमल जी जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, वही, पृ. 332-333

चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है। सत्व की शुद्धि से प्राणवायु व्यवस्थित रूप से शरीर में प्रवाहित होती है।

छान्दोग्य — उपनिषद् में बताया है कि — वास्तव में यह जीव पुण्यकर्म से पुण्यशाली होता है अर्थात् पुण्य योनियों में जन्म पाता है, और पापकर्म से पापात्मा होता है, अर्थात् पाप-योनियों में जन्म ग्रहण करके दुःख प्राप्त करता है।¹

वाल्मिकी रामायण में भी कहा है — हे कल्याणि! कर्ता शुभ अथवा अशुभ जैसा भी आचरण करता है, उस कर्म का फल उसी रूप में वह पाता है।

जैसे — कोई कृषक अपने खेत में धान बोये और गेहूँ की फसल काटना चाहे, यह कदापि सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार पापकर्म करके पुण्यफल प्राप्त करना चाहे, यह असम्भव है।²

‘योगदर्शन में पुण्य-पाप का साक्षात् फल बताते हुए कहा गया है — वे जन्म, आयु और भोग —पुण्य-पाप हेतुक होने से आल्हाद और परिताप रूप (सुख — दुःख रूप) फल वाले होते हैं, अर्थात् पुण्य हेतु वाले जाति, आयु और भोग सुखमय तथा पाप हेतु वाले जाति, आयु और भोग दुःखरूप होते हैं।³

मनुस्मृति में कहा है — दुराचारी पापात्मा व्यक्ति इस लोक में निन्दित, दुःखभाजन, रोगी और अल्पायु होते हैं। इसके विपरीत श्रेष्ठ आचरण करने वाला दीर्घ जीवी होता है, वह श्रेष्ठ सन्तान और सुसम्पन्नता प्राप्त करता है।

यह सुस्पष्ट है कि शारीरिक, मानसिक रोग सन्ताप, दरिद्रता, दुर्घटना, अकाल मृत्यु, विपत्ति, संकट आदि अनेकों आकस्मिक विपदाओं के मूल कारण पूर्वकृत पापकर्म ही होते हैं।

इस प्रकार विविध दर्शनों में कर्म के भेद किए हैं, उनमें से पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी दर्शनों को मान्य है। प्राणी जिस कर्म के फल को अनुकूल अनुभव करता है, वह पुण्य है और जिस फल को प्रतिकूल समझता है, वह पाप है।

¹ पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन, साधुकारी साधु भवति, पापकारी पापे भवति ॥ छान्दोग्योपनिषद्।

² यदाचरति कल्याणी! शुभं वा यदि वाऽशुभम्।

तदेव लभते भद्रे, कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ वाल्मिकी रामायण, अयोध्या काण्ड 6/6

³ ते आल्हादः - परिताप फलाः, पुण्या-पुण्य हेतुत्वात् ॥ योगदर्शन 2/14

योगदर्शन में स्पष्ट रूप से बताया है — कर्माशय रुपी वृक्ष के दो प्रकार के फल पैदा होते हैं — कडवे और मीठे। जब मनुष्य स्वार्थ तजकर अन्य प्राणियों के कल्याण हेतु परोपकार की भावना से काम करता है तो उन कर्मों के अनुसार जाति, आयु, भोग पाकर सुख पाता है, यही फल मीठे हैं, और जो मनुष्य दूसरे प्राणियों को स्वार्थवश काम, क्रोध, लोभ, मोह से दुःख देने की मनोवृत्ति रखता है, उसे उन कर्मों के अनुकूल पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनि, आयु, भोग पाकर दुःख भोगता है। यही कडवे फल हैं। यह पुण्य-पाप ही है।¹

वैशेषिक दर्शन में बताया है कि मनुष्य जो कर्म करता है उससे संस्कार और भोग की उत्पत्ति होती है। कर्म के अनुसार उत्पन्न संस्कार ही भोग के समय सुख या दुःख की अनुभूति करता है। अच्छे आचरण वाले को श्रेष्ठ फल मिलेगा, और बुरे आचरण वाले को दुःख मिलेगा। यदि ऊसर भूमि में बीज बोया जाये तो अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसा बीज बोया जायेगा, वैसा ही अन्न उत्पन्न होगा। सुपात्रदान से पुण्य तथा हिंसादि से पापकर्म का उपार्जन होता है।²

न्यायदर्शन में तीन कार्य बताते हुए स्पष्ट किया है — शारीरिक कार्य, वाचिककार्य तथा मानसिक कार्य। जिस कार्य का कर्म का फल सुखरूप हो, वह पुण्य कर्म है और जिसका फल दुःख रूप हो, वह पापकर्म है।³

गीता में पुण्य-पाप की अवधारणा

गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के हैं — 1. कर्म, 2. विकर्म, 3. अकर्म।

1. कर्म — फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।
2. विकर्म — समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, उन्हें विकर्म कहा गया है। गीता में कहा गया है — जो तप मूढतापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर को पीड़ासहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के विचार से किया जाता है, वे तामस कहलाते हैं, जिन्हें विकर्म कहा जाता है।

¹ योगदर्शन, श्री राम शर्मा, पृ. 149

² वैशेषिक दर्शन, श्री राम शर्मा, पृ. 154

³ न्याय दर्शन, श्री राम शर्मा, पृ. 33

3. अकर्म – फलासक्तिसहित होकर अपना कर्तव्य समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उस कर्म का नाम अकर्म है।¹

गीता रहस्य में तिलक ने दस प्रकार के पापचरण का वर्णन किया –

- (अ) कायिक – 1. हिंसा 2. चोरी 3. व्यभिचार
(ब) वाचिक – 4. मिथ्या 5. ताने मारना 6. कटुवचन
7. असंगत वाणी।
(स) मानसिक – 8. परद्रव्य की अभिलाषा 9. अहितचिन्तन
10. व्यर्थ आग्रह²

इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं – कर्म अर्थात् पुण्य तथा विकर्म अर्थात् पाप।

समीक्षा

उस काल में विभिन्न धर्म सम्प्रदाय में पुण्य और पाप विषयक पुण्यवाद, पापवाद, स्वभाववाद आदि अनेक मत मतान्तर प्रचलित होने से वेदज्ञ विद्वान अचलभ्राता जी के मन में इसके विषय में अनेक शंकाए थी।

उनके मन में अनेक विकल्प थे – यथा

1. केवल पुण्य ही है पाप नहीं ।
2. केवल पाप ही है पुण्य नहीं।
3. पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है भिन्न-भिन्न नहीं
4. पुण्य-पाप भिन्न – भिन्न है तथा
5. स्वभाव ही सब कुछ है, पुण्य-पाप कुछ नहीं ।

इन शंकाओं का समाधान श्रमण भ. महावीर ने किया, जिसका वर्णन आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेष्यावश्यक भाष्य में किया है। उन सब तथ्यों को इस अध्याय में समाहित किया गया है। अचलभ्राता जी की शंका का समाधान करते हुए निष्पक्ष रूप से पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व माना है।

¹ जैन. बौ. गी. के आ. द. का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जैन, पृ. 347

² जैन. बौ. गी. के आ. द. का तुलनात्मक अध्ययन, सागरमल जैन, पृ. 333

अचलभ्राता ने जो पाँच प्रकार के विकल्प रखे, उन में से चौथा विकल्प ही युक्तियुक्त है। पाप व पुण्य दोनों स्वतंत्र हैं। एक दुःख का कारण है और दूसरा सुख का हेतु है। तथा स्वभाववाद सर्व युक्तियों से बाधित है।

एकान्तवाद में यह माना जाता है कि पुण्य की हानि से दुःख होता है तथा वृद्धि से सुख होता है या पाप की वृद्धि से दुःख तथा हानि से सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यह मिथ्या दृष्टिकोण है। दुःख की प्रकृष्टता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से सिद्ध होती है, जैसे कि - सुख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पुण्य-प्रकर्ष है, वैसे ही दुःख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पाप -प्रकर्ष है। अतः दुःखानुभव का कारण पुण्य का अपकर्ष नहीं अपितु पाप का प्रकर्ष है। इसी प्रकार केवल पापवाद का भी निरसन किया गया है।

संकीर्णपक्ष का निरास करते हुए भ. महावीर ने कहा कि कोई भी कर्म पुण्य-पाप उभयरूप नहीं हो सकता क्योंकि कर्मबन्ध का कारण योग है, योग एक समय में या तो शुभ होगा या अशुभ। वह शुभाशुभ उभयरूप नहीं हो सकता अतः उसका कार्य भी या तो शुभ होगा या अशुभ, वह उभयरूप नहीं हो सकता।

जैन कर्म सिद्धान्त में पुण्य-पाप को आस्रव और बन्ध में समाहित किया है। पुण्यास्रव -पापास्रव या पुण्य बन्ध - पाप बन्ध के नाम से जाना जाता है, जिसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

जैन दर्शन में जितना पुण्य-पाप के बारे में विवेचन मिलता है, उतना अन्य दर्शन में नगण्य सा है। पुण्य और पाप को समझ लेने के बाद साधक कर्मों के बन्धन से दूर रहता है, हित-अहितकार्य के ज्ञान होने पर वह आत्मा को अपवित्र कार्यों से बचाता है।

भारत के सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का सार है - लोकमंगल या विश्वकल्याण। जैन धर्म में तीर्थंकर का, बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्व का, हिन्दू धर्म में अवतार का चरम लक्ष्य लोक कल्याण की साधना ही है। यह लोक-कल्याण की प्रवृत्ति ही परोपकार, सत्कर्म, कुशलकर्म, पुण्यकर्म आदि नामों से अभिहित की जाती है। करुणा, सेवा, रक्षा, परपीड़ा की निवृत्ति आदि इसके प्रमुख अंग हैं। इससे विपरीत दूसरों को दुःख देना, पीड़ा पहुँचाना, पाप के मुख्य कार्य हैं।

इसे तत्त्व की भाषा में कहें तो आस्रव तत्त्व कहा जाता है। जैनदर्शन के नवतत्त्वों में आस्रव भी एक तत्त्व है। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है, उससे कर्म—परमाणु आत्मा की ओर खींचते हैं। क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि — आस्रव तत्त्व एक है, वह पुण्य और पाप परस्पर विरोधी रूपों में कैसे प्रकट हो सकता है? इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है — एक पौधा है, भूमि, पानी और खाद आदि एक हैं, किन्तु उसी पर गुलाब का फूल खिलता है, महकता है, अपनी सुगन्ध से जन—मन के चित्त को प्रसन्न करता है और उसी डाली पर काँटा भी उत्पन्न होता है, जो शूल है, कष्टदायी है, अप्रिय है।

अर्थात् पुष्प—पुण्य का प्रतिरूप है तथा कंटक पाप का। इस प्रकार आस्रव दोनों रूपों में होता है — शुभ भी और अशुभ भी। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में पुण्य—पाप को माना है किन्तु जैन दर्शन में इस विषय में विस्तृत चर्चा उपलब्ध है।

नवम अध्याय

नवम अध्याय परलोक के अस्तित्व सम्बन्धी समस्या और उसका समाधान

जीवन का स्वरूप जो वर्तमान में दिखाई दे रहा है, वह उतने तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध अनन्त भूतकाल और अनन्त भविष्यत्काल के साथ जुड़ा हुआ है। वर्तमान जीवन उस अनन्त शृंखला की एक कड़ी मात्र है। अगले भव में जीवात्मा को जो लोक प्राप्त होता है, वह परलोक है। परलोक का अर्थ है — मृत्यु के बाद का लोक। जितने आस्तिक दर्शन हैं वे आत्मा और कर्म को केन्द्र में रखकर चर्चा रखते हैं, वे भी परलोक को स्वीकार करते हैं, क्योंकि परलोक को मानने पर ही कर्म व्यवस्था सुचारु रूप से जम सकती है।

कर्म और परलोक — विचार ये दोनों परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि, एक के अभाव में दूसरे की संभावना नहीं है। जब तक कर्म का अर्थ केवल प्रत्यक्ष क्रिया ही किया जाता था, तब तक उसका फल भी प्रत्यक्ष देखा जाता था। जैसे किसी ने वस्त्र सीने का कार्य किया और उसे फलस्वरूप सिला हुआ वस्त्र मिल गया। किसी ने भोजन बनाने का काम किया और उसे रसोई तैयार मिली। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि प्रत्यक्ष क्रिया का फल साक्षात् और तत्काल माना जाए, किन्तु मनुष्य के सामने वह वक्त भी आता है कि उसकी सभी क्रियाओं का फल साक्षात् नहीं मिलता और न ही तत्काल प्राप्त होता है। किसान खेती करता है, परिश्रम भी करता है, किन्तु यदि ठीक समय पर वर्षा न हो तो उसका सारा श्रम धूल धूसरित हो जाता है। फिर यह भी देखते हैं कि — नैतिक नियमों का पालन करने पर भी संसार में एक व्यक्ति दुःखी रहता है और दूसरा दुराचारी होने पर भी सुखी। यदि सदाचार से सुख की प्राप्ति होती हो तो सदाचारी को सदाचार के फलस्वरूप सुख तथा दुराचारी को दुराचार का फल दुःख के रूप में साक्षात् और तत्काल क्यों नहीं मिलता? नवजात बालक ने ऐसा क्या किया कि वह जन्म लेते ही सुखी या दुःखी हो जाता है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करते हुए जब मनुष्य ने कर्म के सम्बन्ध में अधिक गहन विचार किया तब इस तथ्य ने जन्म लिया कि कर्म केवल साक्षात् क्रिया नहीं है, अपितु अदृष्ट-संस्कार-रूप भी है।¹ इसके साथ ही परलोक पर भी चिन्तन होने लगा।

¹ गणधरवाद, दलसुखभाई मालवणिया, पृ. 150

यह माना जाने लगा कि, मनुष्य के सुख-दुःख का आधार केवल उसकी प्रत्यक्ष क्रिया नहीं, परन्तु इसमें परलोक या पूर्वजन्म की क्रिया का जो संस्कार अदृष्ट-रूप से उसकी आत्मा से बद्ध है, भी एक महत्वपूर्ण भाग है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष सदाचार के अस्तित्व में भी मनुष्य पूर्वजन्म के दुराचार का फल दुःख रूप से भोगता है और प्रत्यक्ष दुराचारी होने पर भी पूर्वजन्म के सदाचार का फल सुख रूप में भोगता है। अतः यह स्पष्ट है कि मृत्यु के साथ ही जीवन का अन्त नहीं होता, बल्कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की परम्परा चलती रहती है।

इसके उपरांत भी कतिपय धर्म, दर्शन, मत या पन्थ इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि, इस लोक (इस जन्म) के बाद परलोक (अगला जन्म) भी होता है। जैसे कि— चार्वाक दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर के साथ ही नष्ट होने वाला तत्त्व है, पाँच भूतों के सम्मिश्रण से आत्मा का आविर्भाव होता है और इनके नष्ट होते ही आत्मा भी समाप्त हो जाती है, जब आत्मा ही नहीं है तो इहलोक-परलोक की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। और न ही कर्म के अस्तित्व को स्वीकारते हैं। कर्म के सद्भाव से ही जीव की भवयात्रा निरन्तर चलती रहती है। यह अटल सिद्धान्त है कि 'कर्म जन्म-जन्मान्तर तक फल देते हैं, और जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वे अविच्छिन्न रूप से उसके साथ संलग्न रहते हैं। कुछ कर्मों का फल तो तत्काल मिल जाता है किन्तु कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता, अगले जन्मों में या फिर कई जन्मों के बाद मिलता है।'

इन सब तर्कों के कारण दसवें गणधर भैतार्य के मन में प्रश्न उद्भूत हुआ कि, "परलोक है अथवा नहीं?"² मृत्युपरान्त जीव की जो विविध गतियाँ होती हैं, उनमें देव, प्रेत और नारक ये तीनों अप्रत्यक्ष हैं (दिखाई नहीं देते हैं) अतः शंका हुई कि मनुष्य गति व तिर्यञ्च गति रूप यह लोक तो दिखाई देता है किन्तु देव-नारक रूप परलोक दृष्टिगत नहीं होता है, अतः इस जन्म के अतिरिक्त दूसरा जन्म है या नहीं?

गणधर मौर्यपुत्र की देवलोक के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका थी, क्योंकि वैदिक परम्परा में देवलोक व देवों का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं है।³ वेदों में जिन देवों की

¹ जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, आ. महाप्रज्ञ, पृ. 293

² किमस्ति नो वा परलोक वस्तु "इति त्वदीयः किल संशयोस्ति" महावीरदेशना, श्लोक 2, पृ. 226

³ मायोपमानव सुसन् नबु कोऽहिपश्येत्, तत् ते विरुध्दकथनात् किलदेवशंका, महावीरदेशना, पृ. 180

कल्पना की, वे प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर की गई। प्रारम्भ में अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थों को देव माना गया, धीरे-धीरे अग्नि आदि देवों की कल्पना की गयी। कुछ देवताओं का सम्बन्ध क्रिया से माना गया, जैसे कि त्वष्टा, धाता, विधातादि। पर यह कल्पना बाद में स्पष्ट हुई कि देवलोक मनुष्य की मृत्यु के बाद का परलोक है। नरक और नारकी सम्बन्धी विचार वेदों में सर्वथा अस्पष्ट है। इसी कारण अकम्पित जी को शंका हुई कि नारक या नरक है या नहीं? परम्परागत मान्यता है कि श्रमण भगवान महावीर ने इन गणधरों की परलोक, देव और नारक सम्बन्धी शंका का समाधान युक्तिपूर्वक दिया, जिसका विस्तृत वर्णन आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेष्यावश्यक भाष्य के गणधरवाद के अन्तर्गत किया।

परलोक (पुनर्जन्म) सम्बन्धी शंका साधकों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि वह दार्शनिकों या तार्किकों तक पहुंच गई। साधकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कथन किया, किन्तु परोक्षज्ञानी, प्रत्यक्षज्ञानी के अनुभव को नहीं पकड़ सकता है, फलस्वरूप वह तर्क के आधार पर किसी भी तथ्य को कसौटी पर कसता है। पुनर्जन्म, परलोक, देवलोक, नरकलोक के विषयों को दार्शनिकों ने अपने तर्कों से परखा, तदनन्तर उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि परलोक वास्तविकता में है।

विशेषावश्यकभाष्य में परलोक, स्वर्ग-नरक की अवधारणा तथा समाधान मेतार्य जी की शंका तथा उसका कारण

मेतार्य मूलतः वैदिक परम्परा के विद्वान् थे। वैदिक परम्परा के साहित्य में जहाँ एक ओर ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जो पुनर्जन्म के विरोध में जाते हैं जैसे कि – “विज्ञानधन एवं एतेभ्यो भूतेभ्यः” किन्तु इसके विरुद्ध वैदिक साहित्य में विशेष रूप में उपनिषदों में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जो पुनर्जन्म की पुष्टि करते हैं। यथा – “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।” ऐसे दोनों प्रकार के वचनों के कारण ही उनके मन में परलोक सम्बन्धी शंका का जन्म हुआ और जिसके समाधान हेतु वे महावीर के पास पहुंचे थे।¹

महावीर के युग में और उसके परवर्ती दर्शन युग में दर्शन के क्षेत्र में आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म का विषय बहुत मौलिक और चिन्तनपरक है। आत्मवादी आत्मा को

¹ चितं त्वदीये किल संशेयोऽयं, यन्नारका सन्ति नवेति सौम्य। महावीर देशना, श्लोक 2, पृ. 192

शाश्वत मानते हैं, इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म (परलोक) के सिद्धान्त की स्थापना की। मृत्यु के पश्चात् प्राणी की क्या गति होती है, इस विषय में तीन अवधारणाएँ हैं —

1. आत्मा है, पुनर्जन्म नहीं है।
2. आत्मा भी नहीं है, पुनर्जन्म भी नहीं है।
3. आत्मा है, पुनर्जन्म है।

ईसाई व इस्लाम दर्शनों में आत्मा को स्वीकार किया है, पुनर्जन्म को नहीं। चार्वाक दर्शन आत्मा-परमात्मा, परलोक किसी की भी सत्ता नहीं मानते, उनके लिए वर्तमान जीवन ही सब कुछ है। चार्वाकेंतर दर्शन की लगभग सभी शाखाओं ने इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। आत्मा त्रैकालिक है, जिसका पूर्व में अस्तित्व था, भविष्य में अस्तित्व रहेगा और वर्तमान सत्ता इसके अस्तित्व की सिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन सब की चर्चा से मेटार्य जी को यह शंका थी कि — परलोक है या नहीं?

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि — पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ना, बोलना आदि सब क्रियाएँ करते हैं, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है। जैसे — गुड़, धतूरा आदि मद्य के अंगों या सामग्री से मद-धर्म भिन्न नहीं होता, वैसे ही भूतों का धर्म चैतन्य यदि भिन्न न हो तो परलोक को मानना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि भूतों के नाश के साथ ही चैतन्य का भी नाश हो जाता है। फिर परलोक या पुनर्जन्म किस रूप में मान्य होगा।¹

जैसे श्वेत वस्त्र का धर्म श्वेतत्व, वस्त्र से अभिन्न है, वस्त्र के नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है, वैसे ही भूतों (शरीर) का धर्म चैतन्य, भूतों से अभिन्न हो तो भूतों के नाश के साथ ही उसका भी नाश हो जायेगा।²

यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न माना जाए तो भी परलोक स्वीकारने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भूतों से उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। जैसे — अरणि नाम की लकड़ी से उत्पन्न होने वाली अग्नि विनाशी है, वैसे ही भूतों से उत्पन्न होने

1 मण्णसि जइ चेयण्णं, मज्जिमगुल्लो व्व भूयधम्मो त्ति।
तो नत्थि परलोगो, नन्नासे जेण तन्नासो॥ - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1952

2 अहं वि तदत्थंतरया, न यं निच्छत्तणमओ वि तदवत्थं।
अवलस्स वाऽरणीओ, भिन्नस्स विणासधम्मस्स॥ - विशेषावश्यक भाव गाथा 1953

वाला चैतन्य भी विनाशी होना चाहिए, अतः भूतों से भिन्न होने पर भी वह नष्ट हो जायेगा।

एकात्मवादियों की यह मान्यता थी कि इस जगत् में सब कुछ ब्रह्म-स्वरूप है, उसके सिवाय विभिन्न दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ नहीं हैं, अर्थात् चेतन-अचेतन, पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ सब एक ब्रह्मरूप हैं। सूत्रकृतांग सूत्र में इस मान्यता के सम्बन्ध में बताया गया है कि, "जैसे एक ही पृथ्वी-पिण्ड, नदी, समुद्र, शिला, बालू, धूल, गुफा, कंदरा आदि के भेद से विभिन्न प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब में एक पृथ्वी तत्त्व व्याप्त रहता है, उसी प्रकार एक ब्रह्म ही चेतन-अचेतन रूप समग्र लोक में व्याप्त है।"¹ ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् का एक श्लोक इस तथ्य की पुष्टि करता है -

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः,

एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥²

अर्थात् एक ही भूतात्मा सब भूतों में व्यवस्थित है, वह एक होने पर भी जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब की भाँति विभिन्न रूपों में दिखाई देता है।

कठोपनिषद् में एक ही आत्मा के अनेक रूपों को अग्नि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि, जैसे अग्नि जगत् में प्रवेश कर अनेक रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही एक आत्मा सब भूतों की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो विविध रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है।

इस प्रकार की मान्यता से परलोक की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण संभव नहीं है, संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे संभव हो सकता है?³

परलोक नहीं मानने का दूसरा कारण यह है कि परलोक अर्थात् देव अथवा नारक का भव, माना जाता है जबकि वह मनुष्य या तिर्यञ्च की भाँति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं

1 (क) 'जहा य पुढ्वीथूभे, एणे नाणा हि दीसइ।
एवं भो कसिणे लोए, विण्णू नाना हि दीसइ ॥ - सूत्रकृतांग सूत्र 1-1-9 (मुनि हेमचन्द्र जी,
सूत्रकृतांगसूत्र विवेचन, पृ. 83)
(ख) युवाचार्य मधुकर मुनि, सूत्रकृतांगसूत्र, ब्यावर, पृ. 24
(ग) युवाचार्य महाप्रज्ञ, सूयगदो, लाइन्स, पृ. 8
2 ब्रह्मबिन्दुपनिषद् - 11
3 अह एणो सव्वगओ, निक्किरिओ तह वि परलोओ।
संसरणाभावाओ, वोमस्स व सव्व पिंडेसु ॥ - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1954

होता फिर भी वेद—उपनिषदों में कहीं कहीं देव—नारक लोक के प्रतिपादक वाक्य मिलते हैं,¹ जिससे शंका होती है कि परलोक का अस्तित्व है या नहीं।

विशेषावश्यकभाष्य में शंकाओं का प्रस्तुतिकरण व समाधान

श्रमण भगवान महावीर ने शंका का युक्तिपूर्वक समाधान किया — परलोक के अस्तित्व की सिद्धि से पहले यह मानना आवश्यक है कि आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है।

आत्मा भूत से भिन्न चैतन्य—स्वरूप है। भूत समुदाय से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि प्रत्येक भूत में भी चैतन्य विद्यमान नहीं है। जैसे मद्य की सामग्री के प्रत्येक अंग (महुए के फूलों, गुड़) में मद्य की अल्पाधिक मात्रा है, अतः समुदाय में भी वह उत्पन्न होता है। प्रत्येक में होने पर ही समुदाय में होता है। मात्र भूतों के समुदाय से यदि चैतन्य प्रकट होता तो मृत शरीर में भी वह उपलब्ध होना चाहिए। भूत से भिन्न चैतन्य द्रव्य है, यह अनुमान से भी सिद्ध होता है, जैसे — पाँच गवाक्षों में उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने से गवाक्षों से भिन्न व्यक्ति का धर्म चेतना है, वैसे ही भूतादि से भिन्न ऐसा कोई पदार्थ है जिसका धर्म चेतना है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि चैतन्य आत्मा का स्वतंत्र धर्म है।² चैतन्य भूत और इन्द्रियों से भिन्न है, वह जातिस्मरणादि हेतु से अर्थात् जातिस्मरण में पूर्वभवों का ज्ञान होता है अतः द्रव्य की अपेक्षा से नित्य तथा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नहीं होती और न ही आत्मा किसी भी अवस्था में अनात्मा बनती है, इस दृष्टि से उसे नित्य कहते हैं। परन्तु आत्मा में ज्ञान—विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, तथा देव—नारक, मनुष्य आदि पर्यायों के कारण अनित्य है किंतु द्रव्यापेक्षा परिणामी नित्य है।

आत्मा की एकता—अनेकता की समीक्षा

वेदान्त दर्शन की मान्यता है कि जीव ब्रह्म एक है, संसार में दिखाई देने वाली अनेक आत्माएँ उस एक मौलिक आत्मा के कारण से ही हैं, वे सब स्वतंत्र नहीं हैं। इसके

¹ असूर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः।

तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये केवात्महन्ते जनाः॥ ईशावास्योपनिषद् - 3

² तदुवरमे वि सरणओ, तव्वाकारे वि नोवलंभाओ।

इंदियभिन्नस्स मई, पंचगवक्खाणुभविणो व्व॥ - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1657

विपरीत इतर पक्ष का कथन है कि — “संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माओं में प्रत्येक स्वतंत्र आत्मा है।”

शंकराचार्य का कथन है कि मूल रूप में ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जीवों के रूप में दृग्गोचर होता है, जैसे — अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म में अनेक जीवों की प्रतीति होती है, इसीलिए उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। शंकर के इस मत को ‘केवलाद्वैतवाद’ कहा जाता है, क्योंकि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म—आत्मा को ही सत्य मानते हैं, शेष समस्त पदार्थों को मायारूप अथवा मिथ्या मानते हैं।¹

सत्योपधिवाद — भास्कराचार्य भी एक ब्रह्म को मानते हैं किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अनेक जीवों को मिथ्या नहीं मानते। उनके अनुसार — निरुपाधिक ब्रह्म अनादिकालीन सत्य, उपाधि के कारण अनेक जीव के रूप में प्रकट होता है।

विशिष्टाद्वैतवाद — रामानुज के अनुसार, ब्रह्म कारण और कार्य दोनों है, सूक्ष्म चिद् और अचिद् की दृष्टि से ब्रह्म कारण और स्थूल चिद् और अचिद् की अपेक्षा से वह कार्य है। क्योंकि ब्रह्म के सूक्ष्मचिद् के विभिन्न स्थूल परिणाम स्वरूप अनेक जीव है। फिर भी वे मानते हैं कि जीव और ब्रह्म भिन्न होते हुए भी एक हैं।

भेदाभेदवाद — जीव ब्रह्म का अंश है और उसमें अंश अंशी का भेदा—भेद सम्बन्ध है जिस प्रकार वृक्ष और पत्र में भेदाभेद है उसी प्रकार परमात्मा में भी चित् और अचित् इन दोनों का भेदाभेद है। ऐसे जीव अनेक है, पर ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह आचार्य निम्बार्क की मान्यता है।

जीव को एक और अनेक मानने के सम्बन्ध में समस्त दार्शनिकों की दो विचारधाराएँ काम कर रही हैं, उपनिषद्, वेदान्त और शैव अद्वैतवाद को मानते हैं, और शेष न्याय—वैशेषिक, सांख्य बौद्ध आदि अवैदिक दार्शनिक अनेक जीव मानते हैं।²

¹ भूइंदियाइ रिक्तस्स, चेयणा सो य दव्वओनिच्चो।

जाइस्मरणाहिं, पडिवज्जसु वाउभूइव्व।। विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1956

² गणधरवाद, (दलसुखभाई मालवणिया), प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर (प्रस्तावना), पृ. 96

जैन दर्शन द्वारा अद्वैतवाद की समीक्षा

जैन दर्शन ने दो मूल तत्त्व माने हैं – जीव और अजीव। जीव भी एक नहीं, अनेक माने हैं। विशेष्यावश्यक भाष्य में भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम की शंकाओं का निराकरण करते हुए विश्व के मूल में एक ब्रह्म मानने की बात को तात्त्विक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित बताया और अनन्त जीवों के स्वतंत्र अस्तित्व को वास्तविक बताया।

बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है – आकाश एक और विशुद्ध है, लेकिन तिमिर रोगी उसे अनेक मात्राओं--रेखाओं से चित्र-विचित्र देखता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी विकल्पशून्य एक और विशुद्ध है, किन्तु अविद्या द्वारा उसके कलुषित हो जाने से वह भिन्न-भिन्न अनेक भासित होता है।¹

आत्मा को एक मानने की समीक्षा करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आत्मद्रव्य को एक नहीं माना जा सकता। आत्मा को एक मानने पर कई समस्याएँ उद्भूत होती हैं। आकाश की तरह सभी शरीरधारियों में एक आत्मा सम्भव नहीं है, क्योंकि आकाश का सर्वत्र अवगाहन रूप लिंग-लक्षण दिखने से आकाश सभी स्थानों पर एक ही है, किन्तु जीव के विषय में ऐसा दिखाई नहीं देता है। प्रत्येक शरीर में आत्मा अलग है। यदि जीव एक ही हो तो, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि की भी व्यवस्था बन नहीं सकती। हम देखते हैं कि संसार में एक जीव सुखी है और दूसरा दुःखी है, एक बन्धनों में आबद्ध है और दूसरा बन्धन मुक्त। अतः एक ही जीव एक ही समय में बद्ध और मुक्त संभव नहीं है।² जैसे – किसी के सारे शरीर में रोग व्याप्त हो, और मात्र एक अंगुली ही रोगमुक्त हो, तो उसे रोगी ही कहा जाता है, वैसे ही जीवों का बहुभाग दुःखी हो अर्थात् उनके अधिकांश में दुःख व्याप्त हो, तो जीव को दुःखी ही कहना पड़ेगा। वह सुखी नहीं कहला सकता। तथा किसी जीव के मुक्ति भी सम्भव न होने से उसका सुखी होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जीव का अधिकांश भाग तो बद्ध ही है। इस प्रकार सभी जीवों को एक मानने से कोई सुखी या मुक्त नहीं कहलायेगा।³

1 बृहदारण्यकउपनिषद् 3/4/43-44

2 सुह-दुःख-बंध-मोक्ष-भावो य जओ तेदगते।। विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1582

3 एगते पत्थि सुही, बहव घाउ ति देस निरुडव्य।

बहुतर बद्धतणओ, न य मुक्को देस मुक्को व्व।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1585

आत्मा (जीव) को अनेक मानने का दूसरा प्रमाण – उपयोग है। सभी जीवों में उपयोग रूप सामान्य लक्षण होने पर भी प्रत्येक शरीर में उपयोग का वैशिष्ट्य अनुभव होता है। अर्थात् जीवों में उपयोग के अपकर्ष और उत्कर्ष का तारतम्य अनन्त प्रकार का होने से जीवों को भी अनन्त मानना उपयुक्त है, जब जीवों को अनेक मानते हैं तो परलोक की भी सिद्धि हो जाती है।¹

आत्मा के सर्वगतत्व की समीक्षा

आत्मा के आकार के सम्बन्ध में उपनिषदों में अनेक कल्पना दिखाई देती हैं –

आत्मा को व्यापक मानने का कारण औपनिषदिक चिन्तन की विविधता है, क्योंकि उपनिषदों में आत्मा को कहीं देह प्रमाण, कहीं अंगुल प्रमाण तो कहीं सर्वव्यापक कहा है।

‘कौषीतकी उपनिषद में आत्मा को देह प्रमाण कहा है – जिस प्रकार तलवार म्यान में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से शिख तक व्याप्त है।²

बृहदारण्यक में ‘चावल या जौ जितना बड़ा कहा है।³ कठोपनिषद⁴ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद⁵ में अंगुष्ठ प्रमाण माना है, मुण्डकोपनिषद में उसे व्यापक कहा है। इस तरह न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसक ने आत्मा को व्यापक माना है, किन्तु जैनदर्शन आत्मा को देह-प्रमाण मानता है।

जहाँ शरीर है वहाँ आत्मा है, जैसे – घट के गुण घट के अतिरिक्त बाह्य देश में उपलब्ध नहीं होने से वह व्यापक नहीं है, वैसे ही आत्मा के गुण भी शरीर के बाहर उपलब्ध नहीं होते, अतः वह शरीर प्रमाण ही है।

आत्मा अणु या चावल, जौ के दाने या अंगुष्ठ परिमाण भी नहीं है, यदि आत्मा अणुरूप है तो वह सारे शरीर में न रहकर शरीर के किसी एक निश्चित विभाग में रहेगा। इससे वह शरीर के किसी भी भाग में होने वाली सुख-दुःखानुभूति नहीं कर सकेगा। यदि आत्मा अणुरूप है तो वह शरीर के जिस भाग में है, उसे छोड़कर अन्य भाग में किसी भी

1 जेणोवओग लिंगो, जीवो भिब्बो य सो पइ सरीरं।

उवओगो उक्करिसा-वगरिसओ तेण तेऽणंता॥ - विशेष्यादश्यक भाष्य, गाथा 1583

2 कौषीतकी उपनिषद, 4-20

3 ‘यथा ब्रीहिर्वा यवो वा’ बृहदारण्यक उपनिषद (5/6/1)

4 कठोपनिषद, 2/2/12

5 “अंगुष्ठमात्रं पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः” श्वेताश्वतरोपनिषद, 3/13

तरह के स्पर्श आदि की अनुभूति नहीं होनी चाहिए, परन्तु शरीर के हर भाग में स्पर्श आदि की अनुभूति होती है, जैसे – शरीर के किसी एक भाग पर सूई चुभाने से सम्पूर्ण शरीर में वेदना की अनुभूति होती है। अतः आत्मा अणुरूप नहीं, बल्कि शरीर-परिमाण है।¹

आत्मा को व्यापक मानने पर भी समस्या होगी कि – सूक्ष्म जीवों के शरीर में व्याप्त नहीं सकने से वह शरीर के बाहर रहेगी? पर ऐसा होता नहीं है। क्योंकि आत्मा के गुण शरीर के बाहर उपलब्ध नहीं होते। आत्मा संकुचित-विस्तार स्वभाव वाली है, उसे जिस तरह का साधन मिलता है, उसमें अपने आत्म-प्रदेशों को फैला देती है। जैसे – दीपक अपने प्रकाश से पूरे कमरे को जगमगा देता है, परन्तु जब उसी दीपक को छोटी सी कटोरी के नीचे रखा जाता है, तो वह उतने से स्थान को प्रकाशित कर पाता है। इसी तरह आत्म-प्रदेश भी स्वभाव से संकोच-विस्तार वाले होते हैं। अतः संसारी आत्मा शरीरव्यापी है।

आत्मा के निष्क्रियत्व की समीक्षा

आत्मा कर्ता एवं भोक्ता है या नहीं, इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उपनिषदों में आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा है – यह जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्ता है और किए हुए कर्मों का भोक्ता भी है।² बृहदारण्यक उपनिषद में जीवात्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्रकट किया है – शुभ काम करने वाला शुभ बनता है और अशुभ काम करने वाला अशुभ।³

नैयायिक-वैशेषिकों ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों धर्म स्वीकार किये हैं। अनात्मवादी बौद्ध पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं – उनके मत में नाम-रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नामरूप से दूसरा नामरूप उत्पन्न होता है। जिस नामरूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है, किन्तु उससे दूसरे नामरूप की उत्पत्ति

¹ जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 278

² श्वेताश्वतर उपनिषद - 5/7

³ बृहदारण्यक उपनिषद - 3/3/13 - पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।

होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाये जाते हैं।¹

किन्तु सांख्य दर्शन पुरुष को अकर्ता मानता है, उसके अनुसार सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप आदि कर्म पुरुष के नहीं होते, मोक्ष भी पुरुष को नहीं होता। ये सभी कार्य प्रकृति के होते हैं, इस प्रकार सांख्यदर्शन का पुरुष निष्क्रिय है। किन्तु भोक्ता जरूर माना है।

इस कथन की समीक्षा करें तो ज्ञात होता है कि, यदि पुरुष निष्क्रिय, उदासीन एवं तटस्थ है तब वह भोक्ता कैसे कहा जा सकता है? जो कर्म करता है फल भी उसी को मिलेगा, कर्म अन्य व्यक्ति करे और उसका फल अन्य व्यक्ति को मिले, ऐसा नहीं होता।

जैनदर्शन में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। उत्तराध्ययन में "कम्मा णाणाविहा कट्ठ" अनेक प्रकार के कर्म करके, "कडाणकम्माण न मोक्ख अत्थि" किए हुए कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है। इत्यादि उद्धरण मिलते हैं।

सांख्य दर्शन को छोड़कर प्रायः समस्त दर्शन आत्मा को सक्रिय मानते हैं।²

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मद्रव्य को सर्वगत और निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता है।

आत्मा और विज्ञान नित्यानित्य है

परलोक का अस्तित्व नहीं है, इस तथ्य के लिए मेटार्य जी एक तर्क रखते हैं — यदि जीव को विज्ञानमय अर्थात् ज्ञानगुण से युक्त मानों, तो विज्ञान अनित्य है, वह नष्ट हो जाता है, उसके साथ ही जीव भी नष्ट हो जायेगा, तब परलोक किसे होगा? यदि जीव को विज्ञान से भिन्न मानों, तो जीव ज्ञानी नहीं कहलायेगा। जैसे — जड़ वस्तु में उपयोग गुण न होने से वह अज्ञानी है।³

¹ गणधरवाद, दलसुखभाई, पृ. 104-105

² ज्ञानमुनि जी मा., हमारे समाधान, श्री शालिग्राम जैन प्रकाशन समिति, खरड़, पृ. 66

³ जीवो विन्नाणमओ, तं चाणिच्चं ति तो न परलोगो।

अह विन्नाणादण्णो, तो अणभिण्णो जहागासं।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1959

आत्मा को एकान्त नित्य माना जाये, तो आत्मा में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व घटित नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य वस्तु सदा एक रूप रहती है, और यदि आत्मा कर्ता न हो तो परलोक सिद्ध नहीं होगा, आत्मा कर्म करेगी ही नहीं, अतः फल भोग भी नहीं होगा।

इस तर्क का उचित समाधान श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार दिया कि – आत्मा को अनित्य पर्यायापेक्षा की अपेक्षा से बताया है क्योंकि वह उत्पत्तिशील है। जैसे विज्ञान उत्पत्तिशील होने से अनित्य है। वस्तु का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अर्थात् किसी भी वस्तु में मात्र उत्पाद ही नहीं होता। जहाँ उत्पाद है वहाँ ध्रौव्यत्वभी है। अतःएव यदि उत्पत्ति के कारण वस्तु कथंचित् अनित्य कहलाती है, तो ध्रौव्य के कारण कथंचित् नित्य भी कहलायेगी।¹

जैसे – घट विनाशी और अविनाशी दोनों है, मिट्टी के पिण्ड का गोल आकार और उसकी शक्ति ये दोनों पर्यायों जिस समय नष्ट होती हैं, उसी समय वह मिट्टी का पिण्ड घटाकार और घटशक्ति रूपी पर्याय स्वरूप से उत्पन्न होता है। इस प्रकार घट उत्पाद और विनाश होने से अनित्य है किन्तु पिण्ड में रहे रूप-रस-गंध-स्पर्श और मिट्टी रूप द्रव्य स्थित रहता है, इस अपेक्षा से घट नित्य है। इस प्रकार पूर्वावस्था की व्यय और अपूर्व अवस्था की उत्पत्ति घट में होने से वह विनाशी कहलाता है, किन्तु उसका रूप, रस तथा मिट्टी दोनों अवस्था में ज्यों की त्यों है, अतः अविनाशी है। संसार की समस्त वस्तुएँ नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। विज्ञान भी उत्पत्तिशील होने से अविनाशी भी है अतः विज्ञान से अभिन्न आत्मा भी अविनाशी सिद्ध होती है, आत्मा नित्य है किन्तु पर्याय बदलते रहने से परलोक की सिद्धि होती है।²

विज्ञान नित्यानित्य किस प्रकार होता है? जैसे – जीव का विशेष उपयोग घट में है तो उस समय घट विज्ञान कहलायेगा, वह उपयोग जब घट से हटकर वस्त्र में लगता है तब घट चेतना का नाश होगा, तथा पट चेतना उत्पन्न होती है। तथापि जीव रूप

1 'मण्णसि विणासि वेओ, उप्पत्तिमदादिओ जह कुंओ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1961

2 (क) रुव-रस-गंध-फासा, संखा संरण-दव्व-सत्तीओ।

कुंभोत्ति ज जाओ, ताओ पसूई-विच्छित्ति-धुवधन्मा। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1963

(ख) इह पिंडो पिंडोगार-सत्ति पज्जाय विलय समकालं

उप्पज्जई कुंभागार - सत्ति पज्जाय रुवेण।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1964

(ग) एवं उप्पाय-व्वय-धुव सहावं मयं सव्वं।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1965

सामान्य चेतना दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है। एतदर्थ विज्ञान में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध होता है।

परलोकगत जीवों के बारे में यह कथन सत्य है कि कोई जीव इस लोक में से जब मनुष्य रूप से मरकर देव होता है तब उस जीव का मनुष्य रूपी इहलोक नष्ट हुआ और देवरूपी परलोक उत्पन्न हुआ, किन्तु जीव सामान्य तो अवस्थित है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से उस जीव को इहलोक या परलोक नहीं कहते, किन्तु मात्र 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार जीव को उत्पाद-विनाश और ध्रुव स्वभाव वाला मानने से परलोक सिद्ध होता है।¹

यदि यह प्रश्न हो कि वस्तु को उत्पाद, व्यय स्वरूप ही माने किन्तु ध्रौव्यगुणयुक्त न माने? क्योंकि वस्तु की उत्पत्ति होने से पहले वह वस्तु नहीं थी, तब उससे पहले उसे विद्यमान कैसे मानें? पर इस प्रश्न में तथ्य नहीं है क्योंकि सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, तथा जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में तीनों गुण होते हैं।²

जैसे सुवर्णपिण्ड की गेंद थी उसे तोड़कर हार बनाया गया, हार की उत्पत्ति हुई और गेंद का नाश हुआ, इन दोनों अवस्थाओं में सुवर्णपिण्ड स्थित रहा। ऐसे ही जीव भी त्रयात्मक होने से मृत्यु के बाद भी कथंचित अवस्थित है, अतः परलोक का अभाव नहीं माना जा सकता।

परलोक का अस्तित्व जीवों के सुख-दुःख भोग से भी होता है - इस संसार में जीव नाना प्रकार के कर्मों का बन्ध करते हैं। कोई नारकी योग्य कर्मों का बन्ध करते हैं तो कोई देवयोनि योग्य। यह तथ्य सबको ज्ञात है, अब यदि परलोक न माना जाये तो इसी भव में ही देवों के सुख और नारकों के दुःख का अनुभव नहीं किया जा सकता। उनके सुख और दुःख के भोग के लिए क्रमशः देव और नरकयोनि पृथक् से माननी पड़ेगी, यह योनि का पार्थक्य ही इस लोक से भिन्न परलोक की सिद्धि करता है।³

1 (क) घड़ चेषणया णासो, पडचेयणया समुब्भवो समय।

संताणोणावत्था, तहेह परलोअ जीवाणं।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1966

(ख) मणुएह लोग नासो, सुराइ परलोग संभवो समयं

जीवतयाऽवत्थाणं, नेह भवो नेय परलोओ।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1967

2 तोऽवत्थियरस केण वि, विलओ धम्मणेण भवणमन्लेण।

सव्वुच्छेओ न मओ, संववहारो वरोहाओ।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा - 1969

³ महावीर देशना, श्लोक 8, पृ. 233

दूसरी युक्ति यह है कि – संसार में जो विषमता व विविधता दिखती है, भले ही वह शरीर की हो या बुद्धि की हो। वे सब भिन्नताएँ इस जन्म की ही हैं, नहीं, बल्कि वह परलोकगत हैं, जिस जीव ने जैसे कर्म किये, तदनुसार यह सब साधन-सामग्री प्राप्त हुई है।

प्रायः लोग कहते हैं कि कृषि, व्यापार आदि क्रियाओं का फल तत्काल मिल जाता है, कोई व्यक्ति चोरी करता है, पकड़े जाने पर दण्ड भोगता है, यह प्रत्यक्ष है तब यह कैसे मानें कि परलोक है? यह नियम नहीं है कि इस भव में किये गये कर्मों का तत्काल फल मिल जाये और परभव में नहीं मिले। यह कर्मों पर निर्भर करता है, कुछ कर्म अन्तर्मुहुर्त के बाद फल देना प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ दिनों, महिनों, वर्षों के बाद अपना फल देते हैं। जैसे – कृष्ण वासुदेव के लघुभ्राता गजसुकुमाल को 99 लाख जन्मों के पश्चात् अपने कर्मों का फल भोगना पड़ा था। इस परम्परा से स्पष्ट हो जाता है कि – कर्म परभव में भी भोगने होते हैं। यह सिद्ध होता है इसभव की तरह ही परभव है।

परलोक का सद्भाव सिद्ध करने वाला – जातिस्मरणज्ञान है। कई जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान करके 'मैं देवता था' ऐसा कहते हैं।¹ इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि परलोक है।

वेदों में परलोक का अभाव नहीं माना गया है क्योंकि यदि अभाव मानते तो 'स्वर्ग के इच्छुक को अग्निहोत्रादि करना चाहिए' यह पद व्यर्थ होता तथा दानादि का जो व्यवहार चल रहा है, वह भी नहीं होता। इसलिए स्पष्ट है कि वेदों को परलोक का अभाव इष्ट नहीं है।²

इस प्रकार मेतार्य जी को कई युक्तियों द्वारा श्रमण भगवान महावीर ने परलोक के अस्तित्व को स्पष्ट किया।

गणधर मौर्यपुत्र की देवलोक सम्बन्धी शंका व समाधान

वैदिक परंपरा के ग्रन्थों में देवों या देवलोक के विषय में एक मत नहीं है। प्राचीन कल्पना के अनुसार देव द्यु और पृथ्वी की सन्तानें हैं। उषा को देवों की माता कहा गया

¹ महावीर देशना, श्लोक 9, पृ. 234

² असङ्ग व परमिमलोए, जमग्मि होताइं सग्गकामस्स

तदसंबद्धं सत्त्वं, दाणाइं फलं च लोअग्मि॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1970

है, वह स्वयं द्यु की पुत्री है। इस प्रकार देवों की उत्पत्ति के विषय में एक निश्चित मत वेदों में उपलब्ध नहीं है, जबकि जैन-दर्शन में देवों को वैक्रिय-शरीर धारी बताया है, वे किसी गर्भ से जन्म नहीं लेते अपितु औपपातिक होते हैं। वेदों में कहीं पर देवों का अस्तित्व बताया गया है, और कहीं पर उनके अस्तित्व पर शंका की गई है, जैसे कि यज्ञायुध अर्थात् यज्ञ सम्पन्न (यज्ञ करने वाले) "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति" अर्थात् यज्ञ जिनका शस्त्र है, वह यजमान निश्चित रूप से स्वर्गलोक में जाता है।¹

हे अमृत सोम! हमने तुझे पिया और अमर हुए। प्रकाश को प्राप्त किया और देवों को जाना। अतः अब शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? मरणशील मानव की धूर्तता से हमारा क्या प्रयोजन है।² इन वाक्यों से देवों का अस्तित्व सिद्ध होता है, किन्तु इनसे विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वेदवाक्य भी हैं, जैसे कि, "मायोपम इन्द्र-वरुण यम कुबेरादि देवों को कौन जानता है?"³ इन परस्पर विरोधी वाक्यों से शंका उत्पन्न होती है।

इस प्रकार गणधर मौर्यपुत्र के मन में शंका उद्भूत हुई कि - देवों का अस्तित्व है या नहीं?⁴

दूसरा कारण यह था कि देवों में शक्ति सामर्थ्य होते हुए भी वे प्रत्यक्ष नहीं दिखते हैं, जैसे कि - नारकी परतंत्र है, तथा दुःखों से पूर्ण है अतः वे मृत्यु लोक में नहीं आ सकते, किन्तु देव समर्थ होने के कारण आ सकते हैं। एतदर्थ देवों के अस्तित्व पर शंका होती है।⁵

समाधान - श्रमण भगवान महावीर ने कई युक्तियों से देवों के अस्तित्व को सिद्ध किया है।

जैन मान्यतानुसार देव चार प्रकार के होते हैं -

1. भवनपति
2. वाणव्यन्तर

1 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति' - विशेष्यावश्यक भाष्य, भाग 2, संपादक - पू. वज्रसेन विजय जी. प्रका. भद्रंकर प्रकाशन (अहमदाबाद), पृ. 127

2 अपामसोम अमृतम् अमृतम् अगमत् ज्योतिरविदाम् देवान्, किं नूनमस्मान् कृणवदराति, किमु द्युतिममृत मर्त्यस्य। - विशेष्यावश्यक भाष्य, वही, पृ. 127

3 को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्र-यम-वरुण कुबेरादिन्।। विशेष्यावश्यक भाष्य, वही, पृ. 127

4 किं मण्णे अत्थि देवा उयाहु णत्थि त्ति संसाओ तुज्झ।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1866

5 सच्चंद्रयारिणो पुण, देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य।

जं न कयाइ वि दरिसणमुवेति तो संसाओ तेसु।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा, 1868

इन चार निकायों में से भवनपति देव अधोलोक में, वाणव्यन्तर व ज्योतिषी देव मध्यलोक में और वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं। तीर्थंकर की देशना सुनने चारों निकायों के देव आते हैं। इससे भी देवों का अस्तित्व सिद्ध होता है।¹

दूसरा प्रमाण है — सूर्य—चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव। इन्हें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से देखता है, अतः देव— प्रत्यक्ष है। अनुमान से सिद्ध करना चाहें तो, मनुष्यलोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा दोनों दिखाई देते हैं, यदि देवता किसी पर प्रसन्न हो जाये तो वैभव प्रदान करते हैं और रुष्ट हो जाते हैं तो वैभव का नाश करते हैं। जैसे — राजा, प्रजा का भला—बुरा करता है।²

यदि सूर्य—चन्द्र को विमान माने तो उसमें रहने वाला कोई प्राणी होना चाहिए, अन्यथा उसे आलय नहीं कहा जा सकता। जैसे नगर में बने आलयों में मानव रहते हैं, इसीलिए वे आलय कहलाते हैं। इसी प्रकार सूर्य—चन्द्र यदि आलय हो तो उनमें रहने वाले जो प्राणी हैं वे ही देव हैं। उन विशिष्ट आलय या विमानों में सामान्य मानव नहीं रह सकता।

यह तर्क हो सकता है खाली मकान को भी आलय कहते हैं अतः वे विमान भी खाली (शून्य) हो सकते हैं, किन्तु यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि जो मकान हैं वे पूर्णरूप से शून्य नहीं हो सकते। उनमें कोई न कोई तो रहता ही है, इस न्याय से चन्द्रादि विमानों में निवास करने वाले देव सिद्ध होते हैं।³

यदि यह मानें कि सूर्य अग्नि का गोला और चन्द्र स्वभावतः स्वच्छ जल हो अथवा यह भी सम्भव है कि ज्योतिष्क विमान प्रकाशमान रत्नों के गोले हों या किसी मायावी की माया हो। पर इन्हें रत्नों के गोले न मानकर विमान मानना ही उपयुक्त है, क्योंकि ये विद्याधरों के विमान के समान हैं, तथा आकाश में भ्रमण करते हैं, यूं तो आकाश में बादल

1 (क) पेच्छसु पच्चक्खं चिय, चउव्विहे देव संघाए॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा, 1869

(ख) देवाश्चतुर्निकायाः, तत्त्वार्थसूत्र, 4/1, सुखलाल जी संघवी, वाराणसी, पृ. 95

2 सन्त्येद देवाः लोकस्य तत्कृतानुग्रहोपघात दर्शनात्। - विशेष्यावश्यक, टीका, पृ. 780

3 (क) आलयमेतं च मई पुरं व, तव्वसिणो तह वि सिद्धा।

जे ते देव ति मया, न य निलया निच्च परिसुण्ण॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1871

(ख) को जानइ व किमेयं ति होज्ज निस्संसयं विमाणाइं

स्वणमय न भोगमणादिहं जह विज्जहासाईणं॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1872

और हवा भी गमन करते हैं किन्तु वे विमान नहीं कहलाते, कारण कि वे रत्न-निर्मित नहीं हैं। यदि इन्हें मायिक मानें तो प्रतिप्रश्न होता है कि ऐसी माया करने वाले कोई देव ही होगा? मनुष्य ऐसी माया कर ही नहीं सकते हैं। मायावी के बिना माया कैसे सम्भव है? किन्तु ये मायिक नहीं है क्योंकि माया क्षणिक है वह क्षण भर में नष्ट हो जाती है, जबकि ये विमान सदा रहते हैं।¹

देवों के अस्तित्व को सिद्ध करने का एक प्रमाण यह भी है, जैसे – इस लोक में जो व्यक्ति प्रकृष्ट पाप या गलत आचरण करते हैं, उनको उसका फल भोगने के लिए परलोक में नारकों का अस्तित्व माना गया है। वैसे ही इस लोक में जो दान धर्म आदि उत्कृष्ट पुण्य करते हैं उनके लिए उसका फल भोगने के लिए देवों का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। मनुष्यलोक में भी सुखी-दुःखी प्राणी हैं, किन्तु उन्हें सुख के साथ रोग-जरा-मरण का दुःख होता है और दुःख के साथ अल्प सुख रहता ही है किन्तु प्रकृष्ट दुःख भोग नरक में और उत्कृष्ट सुख का भोग देवयोनि में ही होता है।²

देवों की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से होती है – इस लोक में देवों के एक-देशरूप ज्योतिष्क देवों की निश्चित सत्ता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। तथा अनुमान द्वारा भी सिद्ध है – लोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा (दुःख) दोनों हैं, जैसे – मनुष्यलोक में मनुष्यों का अच्छा बुरा करने में समर्थ राजा का अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार देव भी किसी को धन-सम्पत्ति आदि वैभव दे देता है और किसी के वैभव का नाश कर देता है, इसलिए राजा के समान देवों का अस्तित्व मानना चाहिए।

अन्य अनुमान है – कई जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान करके स्वयं देव थे ऐसा कहते हैं। कितने ही विद्या-मन्त्र आदि के द्वारा देवों को वश में करके उनके द्वारा अपने इच्छित कार्य की सिद्धि करते हैं। अथवा कितने ही मनुष्यों में ग्रह विकार अर्थात् भूत-पिशाचकृत विक्रिया दिखती है। इत्यादि हेतुओं से देवों के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

1 होज्ज मई माएयं, तथा वि तक्कारिणो सुरा जे ते।

न य मायाइ विगारा, पुरं व निच्चोवलभाओ।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1873

2 (क) सुबहुग पुण्य फल भुंजो, पवज्जियत्वा सुरगणा वि। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा, 1874

(ख) यब्बारका विविधपापफलान्यदन्ति, यद्भुजते च शुभपुण्यफलानि देवाः। महावीर देशना, श्लो. 9, पृ. 186

यह तर्क हो सकता है कि — जब देवों का अस्तित्व है तो वे प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखते हैं? इसका समाधान यह है कि -- हमारी नैत्र इन्द्रिय औदारिक स्थूल पुद्गलों को देखने में सक्षम हैं। देवों का शरीर औदारिक पुद्गलों से नहीं, बल्कि सूक्ष्म वैक्रिय पुद्गलों से बनता है, इसी कारण वे हमारे इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं।¹ जो तीर्थकरों के समवशरण में दृष्टिगोचर होते हैं, वह देवों द्वारा निर्मित वैक्रिय शरीर से बनाया हुआ उत्तर-वैक्रिय शरीर है। देवों में यह योग्यता है कि वे शरीर को अपनी शक्ति से छोटे-बड़े, आदि विचित्र रूपों को धारण करके चर्म-चक्षुओं द्वारा ग्राह्य बना देते हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि — जब देवों का अस्तित्व है तब देव मनुष्यलोक में क्यों नहीं आते हैं? इसका समाधान यह है कि देवगण देवलोक में उत्पन्न होने पर स्वर्ग की दिव्य वस्तुओं में आसक्त हो जाते हैं, विषय भोगों में लिप्त हो जाते हैं तथा मनुष्यलोक की दुर्गन्ध उन्हें असह्य लगती है, इस कारण वे यहाँ नहीं आते। अपवाद स्वरूप वे कभी-कभी इस लोक में आते भी हैं— जैसे तीर्थकर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण, कल्याणकों का प्रसंग होने पर हर्ष व्यक्त करने आते हैं।

कतिपय देव भक्ति से कतिपय देव उनका अनुसरण करते हुए आते हैं और कुछ अपनी शंका का समाधान करने आते हैं। इसके अतिरिक्त भी पूर्वभव के पुत्र, मित्र आदि से स्नेह के कारण, मित्र आदि को प्रतिबोध देने के लिए आने का पूर्व संकेत हो तो मृत्युलोक में आते हैं। तप-साधना से प्रभावित होकर, पूर्वभव के वैरी को पीड़ा देने के लिए या किसी स्नेही का उपकार करने आते हैं। स्थानांगसूत्र में भी देव आगमन के चार कारण बताये हैं —

1. उपकारी गुरु के दर्शन हेतु,
2. तपस्वी मुनि के दर्शन निमित्त से,
3. अपने स्वजनों को ऋद्धि बताने के लिए,
4. वचनपूर्ति हेतु मित्र को उद्बोधन करने हेतु।²

देवसिद्धि के अन्य प्रमाण भी हैं — जैसे —

¹ देवास्तथा च मनुजान् प्रतिदुःख सौख्ये, यल्लभ्यन्त इति सौम्ये। सुसिद्धमेव।

यस्माच्च ते न नयनायनगोचराःस्यु, तत्कारणं भवति वैक्रियकाय योगः॥ महावीर देशना, श्लोक 7, पृ. 185

² स्थानांगसूत्र, 4/434, मधुकरमुनि, ब्यावर, पृ. 353

1. जातिस्मरणज्ञानी प्राप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर यह बताते हैं कि वे देव थे।
2. कुछ तपस्वियों को तप के प्रभाव से देव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।
3. कई साधक विद्या, मंत्र, उपयाचना द्वारा देवों से अपने कार्य की सिद्धि करवाते हैं। (जैसे कृष्ण वासुदेव ने अपनी माँ देवकी की इच्छा पूर्ण करने के लिए तेला तप किया, और देव द्वारा कार्य सिद्धि की।)
4. कुछ मनुष्यों में ग्रह-विकास अर्थात् भूत-पिशाचकृत विक्रिया दिखाई देती है। (उस समय मानव न कर सकने योग्य कार्य भी कर लेता है।)
5. तप, दानादि क्रिया से उपार्जित उत्कृष्ट पुण्य का फल मिलना चाहिए।
6. 'देव' यह सार्थक पद है, जैसे कि गुणसम्पन्न गणधर और ऋद्धिसम्पन्न चक्रवर्ती आदि ये संसार में 'देव' कहलाते हैं, पर ये तब देव कहलाते हैं जब मुख्य रूप से देव हों। यदि कोई मुख्य सिंह न हो तो उपचार से भी सिंह नहीं कह सकते हैं, वैसे ही मूल रूप से यदि देव नहीं हो तो देव शब्द सार्थक नहीं हो सकता। अतः देव सार्थक शब्द है।¹

वेदवाक्यों का सम्यक् अर्थ समझ लेने से भी देवों का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे कि वेदों को यदि देवों का अस्तित्व मान्य न हो तो वेदों में अनेक स्थलों पर लिखा गया है कि "स्वर्ग इच्छुक अग्निहोत्र करें।" तब यह वाक्य अयुक्त सिद्ध होगा। क्योंकि यदि देवों का अस्तित्व न हो तो स्वर्ग किसे मिलेगा? यह लोक मान्यता है कि दानादि का फल स्वर्ग में मिलता है, देवों के अभाव में यह मान्यता भी व्यर्थ सिद्ध होगी। "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्ग लोक गच्छति" से देवों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

को जानाति मायोपमान.....' वाक्य से देवों का अभाव नहीं बताया गया है, बल्कि यह समझाया है कि जब देवों की ऋद्धि-सिद्धि भी अनित्य है, तब दूसरी सिद्धियाँ तो अनित्य ही होंगी, मानव को अनासक्त रहने के लिए यह वाक्य दिया है, जिससे व्यक्ति इन सिद्धियों में डूबकर अपना लक्ष्य न भूल जाये।²

1. सन्नि देवा - जातिस्मरणकथनात् कस्यचित् प्रत्यक्षदर्शनात् विद्यामंत्रोपयाचन सिद्धेः, ग्रहविकारात् उत्कृष्ट पुण्यसंचय फलभावात् देवाः इति अभिधानात् देवानां सिद्धिः। - विशेष्यावश्यक, टीका, पृ. 783

2. देवाभावे विफलं, जमग्निहोत्ताइयाण किरिपाणं।

सग्गीयं जन्नाणं य, दाणाइ फलं च तदजुत्तं।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1882

इस प्रकार अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि देवों का अस्तित्व है। अभाव नहीं है।

यदि इन्द्रादि देव न हो इन्द्र को आह्वान निरर्थक सिद्ध होता है, जैसे कि "इन्द्र आगच्छ मेघातिथे मेघवृषण", अर्थात् हे इन्द्र! वर्षा के लिए आओ। इत्यादि वाक्यों द्वारा जो इन्द्रादि का आह्वान होता है, वह भी निरर्थक हो जायेगा। इस प्रकार वेद, शास्त्र और युक्तियों से देवों की सत्ता सिद्ध होती है।

गणधर अकम्पित जी की नरकलोक सम्बन्धी शंका व समाधान

ऋग्वेद काल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक स्थान का विचार नहीं किया था, किन्तु उपनिषदों में यह चिन्तन विद्यमान है। नरक कहाँ है? क्या है, इस विषय में विस्तृत चर्चा नहीं है। किन्तु यह कहा गया है कि नरक लोक अन्धकार से आवृत है, उसमें आनन्द का नाम नहीं है। इस संसार में अविद्या के उपासक मरणोपरान्त नरक को प्राप्त करते हैं।

जैसे – नचिकेता ने अपने पिता को बूढ़ी गायों का दान करते हुए देखा तो पिता के भविष्य के विचार से दुःखी होकर उसने सोचा कि मेरे पिता इनके बदले मुझे ही दान में क्यों नहीं दे देते? क्योंकि यह मान्यता थी कि बूढ़ी गायों का दान करने वाला नरक में जाता है।¹ नरक के विषय में पुराणकालीन वैदिक परम्परा में कुछ विवरण मिलते हैं किन्तु स्पष्ट रूप से नहीं होने के कारण शंका होती है।

कहीं पर नरक का अस्तित्व बताया है कि "जो ब्राह्मण शुद्र का अन्न खाता है, वह नारक बनता है।"²

कहीं पर नारकों का अभाव सूचित करने वाले वाक्य मिलते हैं, "जीव मरकर नारक नहीं बनता।" इस प्रकार के अस्तित्व सूचक व अभावसूचक वाक्यों से वेदज्ञ अकम्पित जी को शंका हुई कि नारक है या नहीं?

दूसरा कारण यह था कि चार गतियाँ मानी गई हैं नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें से मनुष्य-तिर्यञ्च गति इस लोक में प्रत्यक्ष है तथा देव, चन्द्र, सूर्य के रूप में

1 कठोपनिषद, 1.1.3

2 (क) नारको वै एषं जायते यः शुद्रान्नमश्नाति।

(ख) न हवै प्रेत्य नारकाः - विशेष्यावश्यक भाष्य, वही, पृ. 133

प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तथा उनकी अनुमान से भी सिद्धि होती है। किन्तु 'नारक' शब्द केवल पढ़ने या सुनने में आता है। अतः इसका अस्तित्व कैसे माना जाये? वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता है। अतः कैसे स्वीकार करें कि नारकों का अस्तित्व है?¹

समाधान

नारक प्रत्यक्ष है, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग प्रभु अपने ज्ञान से अन्य जीवादि पदार्थों की तरह नारकों को भी देखते हैं, किन्तु सामान्य छद्मस्थ प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, अतः उनको शंका होती है। जैसे सिंह, शरभ, हंस आदि प्राणियों को जो दुर्लभता से दिखाई देते हैं, किन्तु फिर भी उन्हें अप्रत्यक्ष (है ही नहीं) नहीं कहा जा सकता। इस संसार में कई देश, गाँव, नगर, नदी व समुद्र हैं, उनको सब लोग नहीं देख सकते, किन्तु किसी न किसी को तो प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार सर्वज्ञ को नारक प्रत्यक्ष होने से उन्हें अप्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

यदि यह शंका करें कि नारक चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हैं तब उनको प्रत्यक्ष कैसे कहा जाता है? तब इसका समाधान इस प्रकार दिया कि – इन्द्रिय से जो प्रत्यक्ष दिखता है वह उपचार से प्रत्यक्ष कहलाता है, पर वास्तविक प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय से होने वाला है। इन्द्रियज्ञान को उपचार प्रत्यक्ष इसलिए कहा जाता है क्योंकि धूम जैसी बाह्यवस्तु के ज्ञान की उसमें अपेक्षा नहीं रहती है, जैसे अनुमान में अग्नि के ज्ञान के लिए धूम की अपेक्षा है। वस्तुतः इन्द्रियज्ञान परोक्ष है क्योंकि आत्मा को वस्तु का साक्षात् ज्ञान नहीं होता, बल्कि इन्द्रियों के द्वारा होता है। अनुमान के समान होने से वह परोक्ष है। वास्तविक प्रत्यक्ष इन्द्रियातीत ज्ञान (केवलज्ञान) है।²

यदि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ या वस्तु को जानती है, तब आत्मा को उपलब्धिकर्ता न मानकर, इन्द्रियों को मान सकते हैं। फिर इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। किन्तु इन्द्रियों को उपलब्धिकर्ता नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ घटादि पदार्थ की तरह पौद्गलिक और अचेतन हैं। जब उपलब्धिकर्ता नहीं है तब इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकते। इन्द्रियाँ मात्र उपलब्धि कराने का साधन हैं। जैसे – गवाक्ष

1 जे पुण सुइ मेत्त फला, नेरइयत्ति किय ते गहेयव्वा।

सक्खमणुमाणओ वीडवणुलभा भिन्न जाईया॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1889

2 (क) ज कासइ पच्चक्खं, पच्चक्खं तं पि घेप्पइ लोए।

जह सीहाइ दरिसणं, सिद्धं न य सब्ब पच्चक्खं॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा, 1891

(ख) उवयार मेत्तओ तं, पच्चक्खमणिदियं तत्तं। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1892

स्वयं कुछ नहीं देखते किन्तु उसके द्वारा मानव देखता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी द्वार हैं अर्थात् करण हैं, उसके द्वारा कर्ता जीव उपलब्धि करता है।¹

यदि यह शंका करें कि इन्द्रियों को ही आत्मा मान लिया जाये, आत्मा को अलग मानने में क्या लाभ है? तब इसका समाधान निश्चित है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। हम वस्तु को इन्द्रियों से जान लेते हैं फिर इन्द्रियों का व्यापार समाप्त हो जाता है, किन्तु उस वस्तु की स्मृति तो बनी रहती है और कई बार आँख—कान खुले होने पर मन की अस्थिरता के कारण हम उस वस्तु को देख—सुन नहीं पाते। इन कारणों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।²

पुनः यह प्रश्न होता है कि आत्मा यदि इन्द्रियों की सहायता नहीं लेती हैं तो अल्प ज्ञान ही जान सकेंगी, अतः ऐसा ज्ञात होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा इन्द्रियज्ञान अधिक जानता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि — केवलज्ञान या अतीन्द्रियज्ञान ऐसा ज्ञान है कि उसमें किसी इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे — घर में बैठकर हम कुछ पदार्थों को जान सकते हैं पर खुले आकाश में रहकर हम बहुत कुछ जान सकते हैं। वैसे ही जीव के जब ज्ञान दर्शन के समस्त आवरण दूर हो जाते हैं तब जीव बिना किसी मर्यादा के बहुत अधिक जान व देख सकता है।

अन्य दार्शनिक इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं जबकि जैनदर्शन उसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कहता है। प्रत्यक्ष शब्द में जो अक्ष शब्द है उसका अर्थ आत्मा करते हैं, लेकिन अन्य दर्शन अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय मानते हैं और जो इन्द्रियजन्य हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु यहाँ इन्द्रियज्ञान को परोक्ष और आत्मज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का समर्थन किया है।

व्यवहार में भी इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाता है जबकि सर्वज्ञ भगवान द्वारा उसे परोक्ष कहा गया है, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक रूपादि धर्म का ही ज्ञान होता है, अतः वह अनुमान के समान परोक्ष है। जैसे — अनुमान ज्ञान में किसी एक कृतकत्व आदि धर्म के द्वारा कोई एक अनित्यत्वादि धर्म से विशिष्ट

1 मुत्ताइ भावओ नो वलद्धिमतिंदियाइं कुंभा व्व।
उवलंभद्वाराणि, ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1893
2 तदुवर्मे वि सरणओ, तव्वावारे वि नोवलंभाओ।
इन्द्रियभिन्नो नाया, पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥ - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा, 1894

“घड़ा” सिद्ध होता है जैसे ही इन्द्रियज्ञान में भी किसी एक धर्म का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने से उस धर्मक विशिष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। दूसरा कारण यह है कि — परोक्ष ज्ञान में जिस प्रकार संकेत स्मरण की आवश्यकता होती है, जैसे ही इन्द्रियज्ञान में भी पूर्वोपलब्ध स्मरण सहकार आवश्यक है। अन्यथा जिसने कभी घड़ा न देखा हो, उसे भी ‘यह घड़ा है’ ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिए, लेकिन होता नहीं। अतः परोक्ष है।

तीसरा कारण यह है कि — इन्द्रियज्ञान में निमित्त की अपेक्षा होती है। जैसे — अग्नि को जानने के लिए धूँआ निमित्त है, यह अनुमानात्मक परोक्ष है। जैसे ही इन्द्रियज्ञान में भी आत्मा को इन्द्रियों की अपेक्षा होने से इन्द्रियाँ निमित्त हैं।¹

पाँच ज्ञान हैं, उनमें से केवलज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और अवधिज्ञान प्रत्यक्ष हैं क्योंकि इन्द्रियों एवं मन की सहायता के बिना ये ज्ञान होते हैं, शेष मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। अवधि मनःपर्यव एवं केवलज्ञान से नारकों की सिद्धि होती है, अतः प्रत्यक्ष है।

नारक सिद्धि के लिए अनुमान

जिस प्रकार नारक सिद्धि के लिए यह अनुमान दिया है कि जघन्य तथा मध्यम कर्मफल के भोक्ता मनुष्य और तिर्यञ्च हैं, जैसे ही प्रकृष्ट पापकर्म फल के भोक्ता कोई होना चाहिए, तब सिद्ध होता है कि वे नारक हैं। हम भी देखते हैं कि उत्कृष्ट सुख का फल भोग देवों को मिलता है, वैसा ही प्रकृष्ट दुःख का फल भोग किसे प्राप्त होता है। मनुष्य-तिर्यञ्चों में दृष्टिगत नहीं है, जैसे — तिर्यञ्च में ताप, भय, भूख, प्यास आदि का दुःख होता है पर अल्प मात्रा में सुख भी होता है। मनुष्य को मानसिक और शारीरिक अनेक प्रकार के सुख और दुःख दोनों होते हैं। मात्र नारकी में ही तीव्र परिणामी दुःख सतत् लगा रहता है, इस अनुमान से नारक की सिद्धि होती है।²

सर्वज्ञ कथित होने पर नारक सिद्धि

सर्वज्ञ अर्थात् राग-द्वेष मोह रहित जो केवलज्ञान के धारी है। जिनके वचन में असत्य नहीं, मोहादि दोषरहित होने के कारण जिनके वचन त्रिकाल सत्य हैं। वे अपने

1 (क) जो पुण अण्दिउ च्चिय, जीवो सव्वप्पिहाण विगमाओ।

सो सुबहुयं विद्याणाइ, अवणीयधसे जहा दद्वय।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1895

(ख) पुव्वोव्वलद्ध संबंघ सरणओ वानलो व्व धूमाओ।

अहव निमित्तंतरओ, निमित्तभक्खस्स करणाइं।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1897

2 पावफलस्स पणित्ठस्स, भोइणो कम्मओऽवसेसं व्व।

संति धुवं तेऽभिमया, वेरइया अह मई होज्जा।। - विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1899

ज्ञान से नारकों को तथा उनकी वेदना को प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः नारकों का अस्तित्व सिद्ध होता है।¹

वेदवाक्यों के सम्यक् अर्थ से सिद्धि

यदि वेदों में नारकों का अस्तित्व नहीं होता तो वे यह नहीं बताते कि "जो शूद्रों का अन्न खायेगा वह नरक में जायेगा।" दूसरा वाक्य है कि "न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति" यह वाक्य नारकों के अस्तित्व को नकारता है पर यह वाक्य अभावसूचक नहीं है, इसमें यह बताया है कि परलोक में मेरु आदि की तरह नारक शाश्वत नहीं है। यहाँ जो पापाचरण करते हैं, वे मरकर नारक होते हैं। इसलिए ऐसे पाप नहीं करना चाहिए कि जिससे नरक में जाना पड़े। यह संदेश दिया गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा वेदवाक्यों के समन्वय से नारकों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जैन एवं जैनेतर दर्शनों में पुनर्जन्म (परलोक) सम्बन्धी चर्चा

जैन दर्शन में पुनर्जन्म सम्बन्धी चर्चा

दार्शनिक जगत् में यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि किसी भाव या सत् का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं होता। सत् की जैन दार्शनिक परिभाषा है "उत्पाद, व्यय और धौव्य से युक्त होना।" प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण परिवर्तन और परिणमन होते रहते हैं, जो परिवर्तित होती है उसे पर्याय कहते हैं। जब एक पर्याय नष्ट होती है तभी दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वस्तु की सत्ता नष्ट नहीं होती है, वह ध्रुव है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। एक जन्म के शरीर का व्यय (नाश) और दूसरे जन्म के शरीर का उत्पाद (उत्पत्ति) यही पुनर्जन्म है।²

भगवान महावीर ने निर्द्वन्द्व भाव से पुनर्जन्मवाद को प्रतिष्ठित किया। जैन दर्शन का प्राचीनतम आगम आचारांग सूत्र का प्रारम्भ भी इसी संदर्भ से होता है – "मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली नहीं है। मैं पूर्वजन्म में कौन था?"

¹ नारको वै जायते यः शुद्रान्नमश्नाति, विशेषावश्यकभाष्य, टीका, पृ. 103

² बलभद्र जैन, जैन धर्म का सरल परिचय, सन् 1996, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, पृ. 9

यहाँ से च्युत होकर परलोक में क्या होऊंगा? इस जिज्ञासा के समाधान में आचारांग सूत्र में तीन हेतुओं का निर्देश दिया है –

1. स्वस्मृति
2. परव्याकरण
3. दूसरों के पास से सुन कर¹

1. स्वस्मृति

कुछ जीवों को बाल्यावस्था में ही पूर्वजन्म की सहज स्मृति प्राप्त होती है। ऐसी अनेक घटनाएँ मिलती हैं। आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की सहज स्मृति से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का संग्रह किया है।

2. परव्याकरण

कई जीव किसी आप्त के साथ व्याकरण प्रश्नोत्तरपूर्वक मनन कर उस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। परव्याकरण का आशय है – तीर्थंकर द्वारा व्याख्यात। गौतम स्वामी को भगवान महावीर की वाणी सुनकर पूर्व सम्बन्ध का ज्ञान हुआ।

3. दूसरों के पास से सुनने से

बिना पूछे किसी अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वतः ही निरूपित तथ्य को सुनकर कोई पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेता है।²

इसी सूत्र में आगे कहा गया है कि – अतीत (पूर्वजन्म) अथवा भविष्य (पुनर्जन्म) जीवों के अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार होता है, अतः पवित्र आचरण युक्त महर्षि इस सिद्धान्त को, अथवा पूर्वजीवन, पुनर्जीवन या वर्तमान जीवन के कर्म से अविच्छिन्न सम्बन्ध को जानकर कर्मों को धुनकर क्षय कर डाले।³

कुछ मनुष्यों को पूर्वजन्म की स्मृति जन्मजात नहीं होती लेकिन किसी निमित्त के मिलने पर स्मृति जागृत होती है।

¹ आचारांगसूत्र, 1/1/1/2

² “सह सम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा”, आचार्य महाप्रज्ञ, आचारांग भाष्य, जैन विश्वभारती लाइब्ररी, पृ. 19

³ “अवरेण पुविं व सरंति विहुपकप्ये एयाणुपस्सी।। - आचारांग सूत्र 1/3/3/40, मधुकर मुनि जी, ब्यावर

1. मोहनीय कर्म का उपशम — उत्तराध्ययनसूत्र में 'नमिपवज्जा' में नमि राजा को मोहनीय कर्म के उपशम से पूर्वजन्म के स्मरण का उल्लेख है।¹
 2. अध्यवसान शुद्धि — उत्तराध्ययनसूत्र के 19वें अध्ययन के अनुसार मृगापुत्र ने साधु को देखकर जातिस्मृति प्राप्त की। उसने जब एक संयत श्रमण को जाते हुए देखा तब मन ही मन सोचा कि 'ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है। जिससे वह अपने देवलोक के पूर्वजन्म का तथा उससे भी पूर्वजन्म में आचरित पंचमहाव्रत रूप श्रमण धर्म का स्मरण करता है। साथ ही वह नरक और तिर्यञ्चगति में प्राप्त हुई भयंकर वेदनाओं को सहन करने का भी वर्णन करता है।²
- उत्तराध्ययनसूत्र के 'चित्र-संभूति' अध्ययन से भी पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है, चित्र और संभूत के साथ-साथ जन्म लेने की घटनाएँ पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की शृंखला का ज्वलन्त प्रमाण हैं। उनके 6 जन्म इस प्रकार हैं —

- | | | |
|--------------------|--------------------|---|
| 1. गोपाल पुत्रद्वय | 2. दासी पुत्र द्वय | 3. मृगयुगल |
| 4. हंस युगल | 5. चित्र-संभूत | 6. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ति-मुनि ³ |

इसके अतिरिक्त विषाक सूत्र व निरयावलिका सूत्र में भी प्रत्यक्षज्ञानी आप्त पुरुषों ने यही प्रतिपादित किया है कि — "जो आत्मवादी होता है, वह लोकवादी अवश्य होता है" अर्थात् वह इहलोक-परलोक या स्वर्ग, नरक, मनुष्यलोक व तिर्यञ्चलोक को मानता है, दूसरे शब्दों में पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को असंदिग्ध रूप से मानता है। जो लोकवाद को मानता है, उसे इहलोक में आने, जन्म लेने और मृत्यु के बाद विविध परलोकों में जाने के मुख्य कारण 'कर्मवाद' को मानना पड़ेगा।⁴

सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है कि "सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण विभिन्न गतियों-योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।"⁵

1 "घड्डुण देवलोगाओ, उदवण्णो माणुसम्मि लोगाम्मि।

उवसंतमोहणिज्जो, सरई घोराणिय जाइं।। - उत्तराध्ययन सूत्र, 9/1

2 "देवलोग-चुओ संतो, माणुसं भवमागओ।

सन्निनाणे समुप्पन्नो जाई सरई पुराणयं।। - उत्तराध्ययन सूत्र, 19, प्रक्षिप्त, हस्तीमल जी मा., सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, पृ. 317

3 उत्तराध्ययन सूत्र 13/5-7

4 "से आयावाई लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई" - आचारंग सूत्र 1/1/1/5

5 सव्वे सयकम्म कप्पिया - सूत्रकृतांग सूत्र 1/2/16/18

भगवती सूत्र में भगवान गौतम स्वामी को बताते हैं – हे गौतम! तू मेरे साथ चिर संश्लिष्ट है (मेरे साथ चिरकाल से स्नेह से बद्ध है), गौतम! तू मेरे साथ चिरसंस्तुत है, चिरपरिचित है तथा चिरसेवित, प्रीतिवंत है। हे गौतम! इससे (पूर्व के) देव-भव में और उससे अनन्तर मनुष्य-भव में तेरा मेरे साथ सम्बन्ध था। इस भव में मृत्यु के पश्चात् इस शरीर के छूट जाने पर हम दोनों तुल्य और एकार्थ वाले हो जायेंगे।¹

इस प्रकार जैन आगमग्रन्थों व चरित्त काव्यों में बार-बार पुनर्जन्म का उल्लेख हुआ है। जैन धर्म एक आचारप्रधान धर्म है, जिसमें अहिंसा व सदाचार को बहुत महत्व दिया गया है। इनके अनुसार कर्मदोष की निवृत्ति के लिए जीवात्मा को अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। पुष्पदन्त के 'जसहर चरियं' में महाराज यशोधर की माता चन्द्रावति द्वारा आटे के मुर्गे की बलि देने के परिणामस्वरूप हुई भावहिंसा के कारण उन दोनों के मयूर, नेवला, कुत्ता, मत्स्य, बकरी, भैंसा, मुर्गा आदि अनेक योनियों में जन्म लेकर नाना प्रकार के कष्ट भोगने का वर्णन है।²

पुनर्जन्म को समझने के लिए कर्म चेतना समझना आवश्यक है। कर्म के द्वारा हम अतीत के जन्म को समझ सकते हैं और भावी जन्म को भी जान सकते हैं। व्यक्ति के वर्तमान जन्म को देखकर जाना जा सकता है कि उसका पूर्वजन्म किस प्रकार का रहा है? एक पशु को देखकर यह जाना जा सकता है कि उसने पूर्वजन्म में कैसे कर्म किये हैं? जो व्यक्ति बहुत कपट करता है, माया-मृषा, कुट माप-तोल करता है, वह पशु योनि में उत्पन्न होता है। जैसे पूर्व आचरण और बद्ध कर्मों के आधार पर वर्तमान आचरण के आधार पर यह निर्धारण जीव की व्याख्या की जा सकती है, वैसे ही वर्तमान आचरण के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति कहाँ, किस योनि में उत्पन्न होगा।³

पुनर्जन्म के परिप्रेक्ष्य में कर्मफलन की प्रक्रिया कार्य करती है। उदाहरणार्थ – 'अमुक मरने वाले व्यक्ति ने जो सुखकर अथवा दुःखकर कार्य अर्थात् कर्म किया वह उसी के साथ परभव में जाता है।

1 भगवती सूत्र, शतक 14, उदे. 7

2 डा. श्री राजनारायण पाण्डेय, कल्याण (पुनर्जन्म विशेषांक), लेख-जैन मत में पुनर्जन्म तथा कर्मसिद्धान्त, पृ. 466

3 आचार्य महाप्रज्ञ, अध्यात्मविद्या, सन् 1994, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, पृ. 54

जिस प्रकार पर्वत के ऊपरी भाग में स्थित जड़ भग्न वृक्ष ऊपर से भारी होने के कारण वहाँ से गिर पड़ता है। वैसे ही कर्मभार से भारी जीव आयुष्य रूपी जड़ के कटने से पुनर्जन्म में नारक तिर्यञ्चादि निम्न गतियों में पतित होता है।

कर्मफल की दृष्टि से जीव का सर्वयौनिक पुनर्जन्म सम्भव बताते हुए कहा गया है— 'संसारि स्थावर प्राणी भी (जन्मान्तरों में) त्रस हो जाते हैं, त्रस प्राणी भी स्थावर होकर जन्मते हैं। प्रत्येक जीव प्रत्येक योनि में (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव के रूप में) उत्पन्न हो सकता है।'¹

पुनर्जन्म के अनुसार परलोक की धारणा भी विकसित हुई, परलोक के अन्तर्गत स्वर्ग—नरक को माना गया। जैन दर्शन भी परलोक की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जैसे कि — पाप करने वाला, अपने जीने के लिए दूसरों को कष्ट देने वाला, तथा तुच्छ एवं असंयमी जीव नरक में जाने वाला माना गया है। इसके विपरीत सदाचरण करने वाले और अहिंसा का व्यवहार करने वाले जीवों को स्वर्गगामी माना गया है। यह विशेषावश्यकभाष्य में बताया है।²

जैन दर्शन में समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया गया है। जैन दर्शन में देव तथा नरकलोक के विषय में निम्नानुसार वर्णन मिलता है — देवों के चार निकाय हैं —

1. भवनपति — अधोलोक में भवनों में रहने वाले।
 2. वाणव्यन्तर — मध्यलोक में गिरि—कन्दरा एकान्त स्थान पर रहने वाले।
 3. ज्योतिषी — चन्द्र—सूर्य आदि ज्योति प्रदान करने वाले।
 4. वैमानिक — ऊर्ध्वलोक में विमान में निवास करने वाले।³
1. भवनपति निकाय के देवों का निवास जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में है। ये भवनों में रहते हैं, अतः इन्हें भवनपति देव कहते हैं। ये 10 प्रकार के हैं —

¹ डा. एस.आर. व्यास, पुनर्जन्म का सिद्धान्त, सं. 1960, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ. 117-118

² जह नारगपयन्मापगिट्ट, पावफल भोइणो तेण।

सुबहुग पुण्णफलभुंजो, पवज्जियव्वा सुरगणा वि। विशेष. गाथा 1874

³ "चउव्विहा देवा पण्णता", भगवतीसूत्र, शतक 2, उदे. 7

1. असुरकुमार
 2. नाग कुमार
 3. विद्युत कुमार
 4. सुवर्णकुमार
 5. अग्नि कुमार
 6. वातकुमार
 7. स्तनित कुमार
 8. उदधिकुमार
 9. द्वीप कुमार
 10. दिक् कुमार¹
2. व्यन्तर निकाय — ये देव तीनों लोकों में रहते हैं, गिरि, कन्दरा, गुफा, वृक्ष, श्मशान, आदि स्थानों में रहते हैं। इनके आठ प्रकार हैं —
1. किन्नर
 2. किम्पुरुष
 3. महोरग
 4. गन्धर्व
 5. यक्ष
 6. राक्षस
 7. भूत, और
 8. पिशाच²
3. ज्योतिष्कदेव — ज्योतिषी देव मेरुपर्वत के समतल भूमि भाग से 790 योजन की ऊँचाई से शुरु होने वाले ज्योतिश्चक्र में रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहाँ से 110 योजन परिमाण पर्यन्त है। ज्योतिष्क देवों के पाँच प्रकार हैं — सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व प्रकीर्ण तारे।³
4. वैमानिक देव — ज्योतिष्चक्र से ऊपर असंख्यात योजन की ऊँचाई के अन्तर पर उत्तरोत्तर एक-दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में रहते हैं। वैमानिक देवनिकाय के दो भेद हैं —
1. कल्पोपन्न
 2. कल्पातीत
- कल्पोपन्न के 12 भेद हैं —
1. सौधर्म
 2. ईशान
 3. सनत्कुमार
 4. महाशुक्र
 5. सहस्रार
 6. आनत्

¹ (क) तत्त्वार्थसूत्र, 4/11

(ख) भवणवई दसविहा घण्णता, प्रज्ञापना, प्रथम पद, देवाधिकार

² (क) तत्त्वार्थसूत्र, 4/12

(ख) प्रज्ञापना, प्रथम पद, देवाधिकार

³ तत्त्वार्थसूत्र, 4/13

- | | |
|--------------|---------------------|
| 4. माहेन्द्र | 10. प्राणत् |
| 5. ब्रह्मलोक | 11. आरण |
| 6. लान्तक | 12. अच्युत्, देवलोक |

नवग्रेवेयक के नाम –

- | | |
|----------------|-------------|
| 1. सुदर्शन | 6. सुमनस् |
| 2. सुप्रतिबद्ध | 7. सौमनस |
| 3. मनोरम | 8. प्रियंकर |
| 4. सर्वभद्र | 9. आदित्य |
| 5. सुविशाल | |

पाँच अनुत्तर विमान –

- | | |
|-------------------------------|------------|
| 1. विजय | 4. विजयन्त |
| 2. जयन्त | 5. अपराजित |
| 3. सर्वार्थसिद्ध ¹ | |

जैनदर्शन में सात नरक माने गए हैं –

- | | |
|----------------|--------------------------|
| 1. रत्नप्रभा | 5. शर्कराप्रभा |
| 2. बालुकाप्रभा | 6. पंकप्रभा |
| 3. धूमप्रभा | 7. तमःप्रभा ² |
| 4. महातमःप्रभा | |

जो पुण्यात्मा होते हैं वे ही देवगति में या देवलोक में जाकर सुख भोगते हैं। देवों के औदारिक शरीर न होकर वैक्रिय शरीर होता है। फलस्वरूप उनके शरीर में अस्थि, मांस, रक्त, धातु, मज्जा, मल, मूत्र, स्वेद नहीं होता है। उनको निद्रा नहीं आती है, किसी प्रकार का रोग नहीं होता तथा भूख-प्यास भी नहीं लगती। वहाँ सुन्दर देवियाँ होती हैं, जिनके साथ वे नाना प्रकार के भोग-विलास करते हैं। देव-देवियों की उत्पत्ति उपपात शय्या पर होती है। उपपात के कुछ समय बाद ही वे युवा हो जाते हैं, और तत्पश्चात् आजीवनपर्यन्त युवा ही बने रहते हैं। देवों की न्यूनतम आयु 10 हजार वर्ष की और

¹ (क) तत्त्वार्थसूत्र, 4/20

(ख) सोहम्मईसाण सर्णकुमार देवा य, प्रज्ञापना, पद 6

² तत्त्वार्थसूत्र, 3/1

अधिकतम 33 सागरोपम की होती है। आयु समाप्त होने के बाद इन्द्रादि को भी अन्य योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

इसके विपरीत पापात्मा व अन्यायपूर्ण कार्य करने वाले जीव मरकर नरकगति में उत्पन्न होते हैं। वहाँ नारक एक-दूसरे को मार-काटकर दुःख देते रहते हैं तथा परमाधार्मिक देव भी नारकों को असहनीय दुःख देते हैं। यहाँ जन्म लेने के बाद अपनी आयु पर्यन्त दुःख भोगना पड़ता है।¹

इस प्रकार जैन दर्शन आत्मवादी है, आत्मा को शाश्वत मानने पर पुनर्जन्म को मानना अनिवार्य है। जैनागमों में स्पष्ट रूप से उल्लेख आता है -

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है, यह विश्व की स्थिति है।² जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं। पुनर्जन्म कर्मसहित जीवों के ही होता है।³

आयुष्यकर्म के पुद्गल-परमाणु जीव में ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी-बड़ी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं, इसी के अनुसार जीव नये जन्मस्थान में उत्पन्न होते हैं।⁴

भगवान महावीर ने फरमाया है - क्रोध, मान, माया और लोभ ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं।⁵

विशेषावश्यकभाष्य में पुनर्जन्म को सिद्ध करते हुए बताया है - जिस प्रकार युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह प्राप्ति की अवस्था है, इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा है।⁶

वर्तमान के जो सुख-दुःख हैं, वे अन्य सुख-दुःखपूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। यदि पूर्वजन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियाँ नहीं मिलती।

1 मिलापचन्द्र कटरिया, कल्याण, वही, लेख - जैन धर्म में जीवों का परलोक, पृ. 482

2 आयारो, 12/6

3 भगवती, 2/110

4 ठण्णं, 9/40

5 दसवेआलियं, 8/39

6 विशेषावश्यकभाष्य गाथा

जीवों में व्याप्त विषमता भी किसी अदृश्य कारण की ओर संकेत करती हैं, यह अदृश्य कारण पूर्व-जन्मों में निष्पन्न कर्मों का परिपाक है। इस प्रकार जीवों के जीवनस्तर से भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख है कि -- पूर्वभव का स्मरण होने से नैसर्गिक जीवों में उनका वैर दृढ़तर हो जाता है, जिससे वे कुत्ते-गीदड़ की तरह एक-दूसरे का घात करने लगते हैं। पूर्वभव स्मरण ही पुनर्जन्म का प्रबल समर्थक है।¹

इस प्रकार कई तथ्यों से पुनर्जन्म व परलोक का अस्तित्व सिद्ध होता है।

विशेष्यावश्यकभाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि ने बताया है कि नारकों को प्रकृष्ट पाप फल के तथा देवों को उत्कृष्ट पुण्यफल के भोक्ता मानना चाहिये।²

जैनेत्तर दर्शन के परलोक व पुनर्जन्म सम्बन्धी चर्चा

भारतीय संस्कृति में मानव शरीर को एक सराय की एवं आत्मा को पथिक की उपमा दी गयी है। यह पंचतत्वों से बना शरीर तो क्षणभंगुर है, किन्तु आत्मा शाश्वत है। यह कभी नष्ट नहीं होती। आत्मा की अमरता सिद्ध करने पर यह निश्चित हो जाता है कि परलोक व पुनर्जन्म का अस्तित्व भी है।

हमारी दृष्टि में जन्म और मृत्यु प्रत्यक्ष है, जन्म भी एक घटना है और मृत्यु भी एक घटना है, पर मानव यह जानने के लिए सदियों-सदियों से प्रयत्नशील रहा है कि जन्म से पूर्व क्या और मृत्यु के पश्चात् क्या? इसका उत्तर प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने दिया -- जन्म के पहले भी जीवन होता है और मृत्यु के बाद भी जीवन होता है, यह वर्तमान जीवन तो मध्यवर्ती विराम है। इस सिद्धांत का विरोध करने वालों ने इस तथ्य को अस्वीकार किया, उनके अनुसार "न पूर्वजन्म होता है और न पुनर्जन्म होता है, केवल वर्तमान का जन्म ही होता है।" इस प्रकार दो धाराएँ बन गयीं। एक आत्मा की नित्यता को मानने वाली धारा और दूसरी आत्मा की नित्यता को न मानने वाली धारा।³ जिन दार्शनिकों ने आत्मा को स्वीकार नहीं किया, उन्होंने पुनर्जन्म को भी स्वीकार नहीं किया। पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएँ सामने आती हैं --

¹ सर्वार्थसिद्धि, पृ. 208

² गणधरवाद, वही, पाप-पुण्य चर्चा, पृ. 142

³ आचार्य महाप्रज्ञ, घट-घट दीप जले, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, 1984, पृ. 54

1. यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमें उसकी कुछ न कुछ तो स्मृतियाँ होती?
2. यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति-आगति हम क्यों नहीं देख पाते?

पहली शंका का हम अपने बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनाएँ हमें स्मरण नहीं आती तो इसका अर्थ यह नहीं कि हमारी शैशव-अवस्था हुई न हो? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएँ स्मरण नहीं होती, तो भी अपने बचपन से किसी को सन्देह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है तब पूर्वजन्म की युक्ति को कैसे अर्थहीन कह सकते हैं? पूर्वजन्म की भी स्मृति होती है विशिष्ट शक्ति के द्वारा, जिसे जातिस्मरणज्ञान कहा जाता है।

दूसरी शंका का समाधान है कि -- आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि वह अमूर्त है, दृष्टिगोचर नहीं होता है, तथा वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता।

नहीं दिखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे उसका अभाव थोड़े ही माना जा सकता? अन्धकार में कुछ नहीं दिखता, तब क्या यह मान लिया जाए कि यहाँ कुछ नहीं है। ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता।

अन्य दर्शनों में पुनर्जन्म को किस प्रकार मानते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

चार्वाक दर्शन में पुनर्जन्म

इस दर्शन के अनुसार आत्मा अमर नहीं है, शरीर के नाश के साथ ही आत्मा की स्थिति का भी अन्त हो जाता है। वर्तमान जीवन के अतिरिक्त कोई दूसरा जीवन नहीं है, पुनर्जन्म को मानना भ्रम है। यदि पुनर्जन्म होता तो, जैसे - हम वृद्धावस्था में अपनी बाल्यावस्था के अनुभवों को स्मरण करते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी अतीत जीवन के अनुभवों का स्मरण अवश्य होता। इससे प्रमाणित होता है कि आत्मा के पुनर्जन्म का तथ्य मिथ्या है। जिस प्रकार शरीर मृत्यु के उपरान्त भूतों में मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी भूतों में विलीन हो जाती है। कहा भी है "शरीर के भस्म होने पर आत्मा कहाँ से आवेगी।"

जब आत्मा अमर नहीं है तो स्वर्ग और नरक का विचार भी कल्पनामात्र है। उनके अनुसार यदि मानव मृत्यु के बाद स्वर्ग तथा नरक में जाता तो वह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के दुःख और रुदन से अवश्य लौट आता, परन्तु वह नहीं आता है, अतः स्वर्ग और नरक का कथन बकवास मात्र है।

चार्वाकदर्शन के अनुसार स्वर्ग-नरक इसी संसार में निहित हैं, इस विश्व में जो व्यक्ति सुखी है वह स्वर्ग में है और जो व्यक्ति दुःखी है वह नरक में है। 'सुखमेव स्वर्गम्' दुःखमेव नरकम्' अर्थात् सुख ही स्वर्ग है और दुःख ही नरक है।

इस लोक के अतिरिक्त चार्वाक दूसरे लोक की सत्ता का खण्डन करता है क्योंकि पारलौकिक जगत् के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है।¹

बौद्धदर्शन में पुनर्जन्म

अनात्मवादी दर्शन होते हुए भी बौद्धदर्शन ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समर्थन दिया है। वहाँ कर्मफल के रूप में परलोक की चर्चा की गयी है।

बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत बुद्ध को अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हुआ था। एक बार उनके पैर में काँटा चुभ जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा - "भिक्षुओं! इस जन्म से इकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति से एक पुरुष की हत्या हो गई थी, उसी कर्म के कारण मेरा पैर काँटे से बिंध गया है।" इस प्रकार बुद्ध ने अपने-अपने कर्म से प्रेरित प्राणियों को विविध योनियों में गमनागमन करते हुए प्रत्यक्ष देखा था। उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि अमुक प्राणी उसके अपने कर्मानुसार किस योनि में जन्मेगा।²

सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध ब्रह्मलोक या परलोक को न मानकर इहलोक को ही मानते थे। वे प्रत्यक्ष दुःख, उसके कारण और दुःख निवारक मार्ग का उपदेश करते थे परन्तु जैसे-जैसे उनके उपदेश धर्म और दर्शन के रूप में परिणत हुए, वैसे-वैसे आचार्यों को स्वर्ग, नरक, प्रेत आदि समस्त परोक्ष पदार्थों का भी विचार करना पड़ा और उन्हें बौद्ध धर्म में स्थान देना पड़ा।

1 "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः", उद्धृत 'प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 76

2 'इत एकनवते कल्पे शक्त्या में पुरुषो हतः।

तेन कर्मविपाकेन पादे, विद्धोऽरिम भिक्षवः॥ - षड्दर्शनसमुच्चय टीका

पालित्रिपिटक में बताया गया है – “कर्म से विपाक (कर्मफल) प्राप्त होता है, फिर विपाक से कर्म समुद्भूत होते हैं और कर्मों से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार चलता रहता है।”¹

“मज्झिम निकाय” में कहा गया है कि – कुशल (शुभ) कर्म सुगति का और अकुशल कर्म (अशुभ) दुर्गति का कारण होता है।²

परलोक के अस्तित्व को स्वीकारते हुए कर्मफल के भोग को एक कड़ी के रूप में मानते हैं।

जैसे कि “पापकर्मी इस लोक में और परलोक में जाकर भी संतप्त होता है।”³ “पुण्यशील मनुष्य का परलोक में पुण्य वैसे ही स्वागत करते हैं जैसे कि घर आए बन्धु का स्वागत होता है।”⁴

“हिंसा करने वाले को परलोक में भी सुख प्राप्त नहीं होता।”⁵

“बुरे भाव को रखकर यदि कोई भिक्षु मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह कोकालिक भिक्षु⁶ की भांति ‘पदमनरक’ में जाता है।” इसी प्रकार ‘बुद्ध की शरण में आने वाले को देवलोक में उत्पन्न होने वाला बताया गया है।”⁷

बौद्ध दर्शन में कर्म-फलन के रूप में परलोक की चर्चा की गई है। वह परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कर्मफल के भोग की एक कड़ी के रूप में मानता है। जैसे – कठिन से कठिन दान देने वाले, दुष्कर कार्य करने से मूर्ख लोग भिन्न होते हैं। सन्तों और मूर्खों की गति अलग-अलग होती है। मूर्ख नरक में जाते हैं और सन्त स्वर्गगामी होते हैं।⁸

बौद्ध अभिधम्म में सत्त्वों का विभाजन तीन भूमियों में किया गया है – यथा कामावचर, रुपावचर व अरुपावचर। उनमें नारक, तिर्यञ्च, प्रेत, असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि है, अर्थात् उनमें दुःख की प्रधानता है। मनुष्यों तथा चातुम्महाराजिक,

1 ‘कम्माविपाका वत्तन्ति, विपाको कम्म सम्भवो।

कम्मा पुनर्भवो होति, एवं लोको पवसवीति।। (पालित्रिपिटक), उद्धृत - कर्मविज्ञान, भाग 1, पृ. 64

2 मज्झिमनिकाय, 3/4/85

3 धम्मपद 4/11

4 धम्मपद 6/7

5 धम्मपद 1/22

6 धम्मपद, कोकालिक सुत्त, 6/1/10

7 धम्मपद समयसुत्त, 1/4/7

⁸ संयुक्त निकाय, मच्छयीसुत्त, 1/4/2

वावतिस, याम, तुसित, निम्मानरति, परिनिमित्तवसवति नाम के देव निकायों का समावेश काम-सुगति नाम की कामावचर भूमि में है। उनमें कामभोग की प्राप्ति होती है।

रुपावचर भूमि में उत्तरोत्तर सुख वाले सोलह देव निकायों का समावेश है, वे ये हैं—

प्रथम ध्यान भूमि में — 1. ब्रह्मपारिसज्ज 2. ब्रह्मपुरोहित 3. महाब्रह्म

द्वितीय ध्यान भूमि में — 4. परित्ताभ 5. अप्पमाणाम 6. आभस्सर

तृतीय ध्यान भूमि में — 7. परित्तसुभा 8. अप्पमाणसुभा 9. सुभकिण्हा

चतुर्थ ध्यान भूमि में — वेहप्फला 11. असज्जसत्ता

पाँच प्रकार के सुद्धावास — 12. अविहा 13. अतप्पा 14. सुदस्सा 15. सुदस्सी

16. अकनिट्ठा।

अरुपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि हैं —

1. आकासानञ्जायतन भूमि

2. विआणञ्जायतन भूमि

3. अकिञ्जायतन भूमि

4. नेवससानासञ्जायतन भूमि।

जातक में आठ नरक बताये हैं —

1. संजीव 2. कालसुत्त 3. संधात 4. जालरोव 5. धूमरोरुव 6. तपन
7. प्रतापन 8. अवीचि।¹

महावस्तु में प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किये हैं, इस प्रकार सब मिलकर 128 नरक हैं।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में परलोक के अन्तर्गत स्वर्ग एवं नरक की दो धाराएँ नैतिक दृष्टि से व्यवस्था के रूप में मानी गई हैं। वहाँ जाकर व्यक्ति अपने कर्मफलों को भोगता है तथा बौद्ध दर्शन में पूर्वजन्म की उपयोगी घटनाओं का महत्त्वपूर्ण उल्लेख आता है।

¹ दलसुखभाई मालवणिया, जगधरवाद, वही, पृ. 158

न्याय – वैशेषिक दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा :

नैयायिक और वैशेषिक दोनों आत्मा को नित्य मानते हैं, अतः पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं।

‘मिथ्याज्ञान से राग-द्वेष और मोह होता है, मोह से आसक्ति होती है, आसक्ति से कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। शरीर, वचन एवं मन के द्वारा मनुष्य कर्म करता है, जिसका फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है।’

जब तक धर्माधर्म प्रवृत्ति जन्य संस्कार बने रहेंगे, तब तक शुभाशुभ कर्मफल भोगने के लिए जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा और जीव नये-नये शरीर ग्रहण करता रहेगा। पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए दोनों दर्शनों के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं –

हँसते हुए नवजात शिशु को देखकर प्रतीत होता है कि वह हर्ष का अनुभव कर रहा है। इष्ट विषय की प्राप्ति होने पर हर्ष तथा अनिष्ट विषय की प्राप्ति से शोक होता है, बच्चे को उस अवस्था में यह ज्ञान नहीं होता है किन्तु पूर्वभव के संस्कार होने से विषयों की उपस्थिति होते ही वे संस्कार जागृत हो जाते हैं, तभी वह हर्ष या शोक को प्रकट करता है। संस्कारों के ज्ञान से पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

‘सिद्धिविनश्चय’ टीका में इसी प्रकार पुनर्जन्म की सिद्धि की गई है – “जिस प्रकार एक युवक का शरीर शिशु की उत्तरवर्ती अवस्था है, इसी प्रकार नवजात शिशु का शरीर भी पूर्वजन्म के पश्चात् होने वाली अवस्था है।” यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो पूर्वजन्म में अनुभूत विषय का स्मरण और तदनुसार प्रवृत्तियाँ नवजात शिशु में नहीं हो सकती, किन्तु प्रवृत्तियाँ होती हैं, इसलिए पुनर्जन्म को और उससे सम्बद्ध पूर्वजन्म को मानना अनिवार्य है।¹

वेद-उपनिषदों में पुनर्जन्म की अवधारणा

भारतीय चिन्तन ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है, जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना गया है। ऋग्वेद में जीवन के इहलौकिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। साथ ही साथ पराजीवन के भी संकेत मिलते हैं, जैसे कि मृतक के बारे में अपनाए गए रीति-रिवाजों में

1 (क) कर्मविज्ञान, आचार्य देवेन्द्रमुनि, भाग 1, पृ. 66
(ख) सिद्धिविनश्चय टीका, 4/14

यह मान्यता प्रचलित थी कि उसके साथ वस्त्र-आभूषण रखे जाते थे, जिससे उसे अगले जन्म में ऋद्धि मिले। ऋग्वेद में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में स्पष्ट चर्चा प्राप्त नहीं होती, किन्तु संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं, उदाहरण के लिए यह कथन है —

“तुम्हारा मन जो विवस्वान् के पुत्र यम के पास गया है, उसे हम लौटा लाते हैं। तुम इस संसार के निवास के लिए हो। तुम्हारा मन जो दूरस्थ जल के भीतर व वृक्ष लतादि में गया है, उसे हम लौटाते हैं।”¹

इस प्रकार प्रकृति की परिवर्तनशीलता और निरन्तरता को पुनर्जन्म की धारणा को पुष्ट बनाने में महत्वपूर्ण कारण माना है। ऋग्वेद में कई ऐसे कथन हैं — जैसे “जब वह अपने कर्तव्य कर्मों को समाप्त कर लेता है और वृद्ध हो जाता है तब इस संसार से विदा हो जाता है और यहाँ से विदा होते हुए एक बार फिर जन्म लेता है।”²

ऋग्वेद में पुनर्जन्म की धारणा बीज रूप में थी, जो विकसित होते हुए उपनिषदों में आकर भारतीय चिन्तन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुई।

ऋग्वेद के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों में पुनर्जन्म व परलोक का वर्णन मिलता है। पितरलोक में पुनर्जन्म होने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त पुण्यात्मा और पापात्मा दोनों ही परलोक में जन्मते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते हैं।³ पुनर्जन्म के सिद्धान्त को विकसित करने के लिए जितने भी सुझाव सम्भव हो सकते हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित हैं।

वेदों में ऋत एवं इष्टापूर्ति की अवधारणा मिलती है। ऋत नैतिक व्यवस्था का प्रतीक है, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म अपने अनुरूप उचित फल पैदा करता है, और कर्ता को उसका फल भोगना ही पड़ता है। तथा इष्टापूर्ति की धारणा में, मृत्यु के उपरान्त जीवन तथा उस जीवन में अपने मूल कर्मों के फलों की प्राप्ति की संकल्पना निहित है।

वैदिक मान्यतानुसार — इस लोक में जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मरकर स्वर्ग में यमलोक पहुँचते हैं। यह यमलोक प्रकाश-पुंज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगों को अन्न

1 ऋग्वेद, 10/85/17 - उद्धृत - पुनर्जन्म का सिद्धान्त, पृ. 18

2 ऋग्वेद, 4/27/1

3 शतपथ ब्राह्मण, 11/6/3/1

और सोम पर्याप्त मात्रा में मिलता है एवं उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।¹ कुछ विष्णु अथवा वरुणलोक में जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग है।² वरुणलोक में जाने वाले मनुष्य की सभी कमियाँ दूर हो जाती हैं। वहाँ रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण में अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं।

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने के बाद परलोक व पुनर्जन्म पर विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जहाँ पहले परलोक के अन्तर्गत एक लोक की ही धारणा थी, तदनन्तर स्वर्ग-नरक की धारणा विकसित हुई।

बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्यलोक से ऊपर ऊर्ध्व लोक के विषय में विचार किया गया है — 1. पितृलोक 2. गन्धर्वलोक 3. प्रजापतिलोक व 4. ब्रह्मलोक। इन लोकों में आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।³

योगदर्शन के व्यासभाष्य में बताया गया है कि —

- पाताल, जलधि तथा पर्वतों में असुर, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरस्, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड, विनायक आदि देवनिकाय निवास करते हैं।
- भूलोक के समस्त द्वीपों में पुण्यात्माओं का निवास है।
- सुमेरु पर्वत पर देवों की उद्यान भूमियाँ हैं, सुधर्मा नामक देव सभा है, सुदर्शन नाम की नगरी है और उसमें वैजयन्त प्रसाद है।
- अन्तरिक्षलोक के देवों में — ग्रह, नक्षत्र और तारों का निवास है।
- स्वर्गलोक में 6 देवनिकाय — 1. त्रिदश, 2. अग्निष्वाता, 3. याम्या, 4. तुषित, 5. अपरिनिर्मितवशवर्ती व 6. परिनिर्मितवशवर्ती।
- प्रजापतिलोक में पाँच देवनिकाय — 1. कुमुद, 2. ऋभु, 3. प्रतर्दन, 4. अंजनाभ, 5. प्रचिताभ।
- ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में — 1. ब्रह्म पुरोहित, 2. ब्रह्मकायिक, 3. ब्रह्ममहाकायिक, 4. अमर।
- ब्रह्म के द्वितीय तपोलोक में — 1. आभास्वर, 2. महाभास्वर, 3. सत्यमहाभास्वर

¹ ऋग्वेद, 9/113.7

² ऋग्वेद, 10/14/8-10/15/7

³ बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/33

- ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में – 1. अच्युत, 2. शुद्ध निवास, 3. सत्याम, 4. संज्ञासंज्ञी।¹

इन सब देवलोक में बसने वालों की आयु दीर्घ होते हुए भी परिमित होती है। इनको भी वहाँ से च्यवन कर नया जन्म धारण करना पड़ता है।

ऋग्वेदकाल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक-स्थान की कल्पना नहीं की थी, किन्तु उपनिषदों में यह कल्पना विद्यमान है। उपनिषदों के अनुसार नरकलोक अन्धकार से आवृत है, जिसमें आनन्द का नाम नहीं है। इस संसार में अविद्या के उपासक मरणोपरान्त नरक को प्राप्त होते हैं।

योगदर्शन व्यासभाष्य में नरकों के 7 नाम बताये हैं –

- | | | |
|------------|-------------|----------------|
| 1. महाकाल | 2. अम्बरीष | 3. कौरव |
| 4. महाकौरव | 5. कालसूत्र | 6. अन्धतामिस्र |
| 7. अवीचि। | | |

इन नरकों में जीवों की आयु लम्बी होती है, वहाँ उनको अपने किए हुए कर्मों के कटु फल मिलते हैं। वे वहाँ कष्ट भोगते रहते हैं।²

उपनिषदों में पुनर्जन्म को सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से बृहद् एवं छान्दोग्योपनिषद् का 'पंचाग्निविद्या' का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। राजा प्रवाहण श्वेतकेतु नामक ऋषिपुत्र के सामने पाँच प्रश्न रखता है –

1. शरीर से छूटकर आत्माएँ परलोक में एक-दूसरे से कैसे अलग होती हैं?
2. किस प्रकार आत्माएँ पुनः संसार में आती हैं?
3. यहाँ से जाने वाली सभी आत्माओं को रखने पर भी परलोक क्यों नहीं भरता?
4. मानव-ध्वनि से युक्त होकर पानी बोलने योग्य कब हो जाता है?
5. कौनसा मार्ग पितृलोक एवं देवलोक को जाता है?

इनमें से पुनर्जन्म की दृष्टि से तीसरा एवं चौथा प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इनके उत्तर में ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। परलोक इसलिए नहीं भरता है क्योंकि आत्माओं का आवागमन होता रहता है। पानी के मानव-ध्वनि से युक्त होने के प्रश्न में

¹ योगदर्शन, व्यासभाष्य, विभूतिपाद, 26, उद्धृत - गणधरवाद, पृ. 156

² गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 157

पंचाग्नि की चर्चा की गयी है और पुनर्जन्म के जैविक आधार को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "आत्मा अन्न रूप होकर पुरुषाग्नि में हवन की जाती है, जहाँ वह वीर्यरूप बनती है। इसे योषाग्नि में हवन किया जाता है और वहाँ वह मनुष्य रूप में विकसित होकर गर्भ से उत्पन्न होती है।"¹

ऋग्वेद में देवयान और पितृयान शब्दों का प्रयोग है, परन्तु इन मार्गों का वर्णन उपलब्ध नहीं है किन्तु उपनिषदों में दोनों मार्गों का विशद विवरण है। कौषीतकी उपनिषद में देवयान व पितृयान दोनों का वर्णन किया है। संक्षेप में ब्राह्मी भाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं, उसे देवयान कहते हैं, किन्तु जो कर्मवश चन्द्रलोक में जाकर पुनः लौट आते हैं, उस मार्ग का नाम पितृयान है। ये दोनों मार्ग कर्मानुसार हैं, देवयान मार्ग से जाने वाले पुनः नहीं लौटते और पितृयान से जाने वाले लौटते हैं।

छान्दोग्य-उपनिषद में उल्लेख है कि जिसका आचरण रमणीय है, वह मरकर शुभ-योनि में जन्म लेता है और जिसका आचरण दुष्ट होता है, वह कूकर, शूकर, चाण्डाल आदि अशुभ योनियों में जन्म लेता है।²

नचिकेता ने यमराज से पूछा कि, "मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व रहता है या नहीं? आप मुझे बतायें।" यमराज ने नचिकेता से कहा - "जो लोग परलोक में विश्वास नहीं करते वे अविवेकी और मूढ़ हैं। इस प्रकार के लोग बार-बार जन्म-मृत्यु के अधीन होते हैं।" उन्होंने बतलाया कि - आत्मा का जन्म और मृत्यु नहीं होता। वह अज, नित्य तथा शाश्वत है। शरीर के पतन होने के पूर्व जो ब्रह्म (आत्मा) को नहीं जान लेता, उसको पुनः शरीर धारण करके प्राणी के गर्भ में अथवा स्थावर जगत् में प्रवेश करना पड़ता है। अर्थात् जन्मान्तरवाद और परलोकवाद सत्य है।³

भगवद्गीता में पुनर्जन्म की अवधारणा

वैदिक धर्मशास्त्र का सार और मध्यमणिस्वरूप श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने पुनर्जन्म और परलोक का वर्णन किया है।

1 पुनर्जन्म का सिद्धान्त, डा. एस.आर. व्यास, पृ. 22

2 छान्दोग्योपनिषद, 5/10/7

3 शैलेष जी ब्रह्मचारी, कल्याण, वही, लेख - जन्मान्तर तथ्य, पृ. 295

जन्म लिये हुए व्यक्ति की मृत्यु तथा मृत व्यक्ति का जन्म निश्चित है। “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।”¹

देहाभिमानी जीव को इस देह में कुमार, युवा और वृद्धावस्था रूप स्थूल शरीर का विकार, आत्मा में अज्ञान से अनुभूत होता है, वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना, यह सूक्ष्म शरीर का विकार भी आत्मा में अज्ञान से ही अनुभूत होता है, किन्तु धीर पुरुष इस विकार से मोहित नहीं होते हैं।²

जैसे – मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।³

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा कि – हे अर्जुन! हम लोग बहुत से जन्म धारण कर चुके हैं।⁴

भगवद्गीता में ही परलोक को स्वीकार करते हुए बताया गया है कि “मृत्यु के समय मनुष्य जैसा चिन्तन करते हुए देह त्याग करता है, उसे तदनुसार ही परलोक प्राप्त होता है।”⁵ मृत्यु के समय सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण में जिसकी वृद्धि होगी, उसी के अनुसार यथाक्रम उत्तम ऊर्ध्वलोक में या कर्मासक्त मनुष्यलोक में अथवा पशु-पक्षी आदि की निम्न योनि में जन्म होता है।⁶

श्री कृष्ण का कथन है कि – मैं द्वेषकारी, क्रूर, नराधम, अशुभकर्मा लोगों को अनवरत जन्म-मृत्यु पथ में आसुरी अर्थात् व्याघ्र-सर्प आदि और कृमि-कीटादि योनियों में डालता हूँ।⁷

वहीं पुनर्जन्म को सिद्ध करते हुए बताया गया है कि “वैदिक क्रिया-परायण लोग यज्ञ द्वारा निष्पाप होकर स्वर्ग में जाते हैं। विपुल भोग के पश्चात् पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में पवित्र और धनवान या योगी के कुल में जन्म ग्रहण करते हैं।”⁸

1 गीता, अध्ययन 2, श्लोक 27

2 गीता, 20/13

3 “वासांसि जीर्णानि यथा विहाय”, गीता 2/22

4 बहुनि-मे व्यतीतानि जन्मानि गीता 4/5

5 गीता 8/6

6 “यदा सत्त्वे गीता 18/14-16

7 “त्वानहं द्विषतः गीता 13/19-20

8 त्रैविद्यां मां गीता 9/20-21

आत्मा की अमरता की धारणा पुनर्जन्म की धारणा को बल देती है, गीता में बताया गया है कि “यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है।” गीता एक अति प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें पुनर्जन्म की व्याख्या सुन्दर एवं प्रभावशाली ढंग से हुई है।

आत्मा का पुनर्जन्म क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में गीता में बताया गया है कि आत्मा का पुनर्जन्म मोक्ष की प्राप्ति के लिए होता है। मोक्ष को चरम लक्ष्य माना गया है। मोक्ष ऐसी अवस्था है जिसकी प्राप्ति आत्मा एक जीवन के कर्मों से ग्रहण नहीं कर सकती है। मोक्ष की प्राप्ति अनेक जन्मों के प्रयासों से सम्भव होती है। इसलिए जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक आत्मा को जन्म-जन्मान्तर में भटकना पड़ता है। जब आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तब आत्मा का पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है।

सांख्यदर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा

सांख्यदर्शन की यह मान्यता है कि स्थूलशरीर के द्वारा शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं, किन्तु स्थूलशरीर कर्मों के संस्कारों का अधिष्ठाता नहीं है, उसका अधिष्ठाता है सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर का निर्माण पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं, महत्त्व और अहंकार से होता है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है। प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ यह सूक्ष्म शरीर रहता है, जिसे आत्मा का लिंग भी कहते हैं। यही पुनर्जन्म का आधार है।

सांख्यकारिका में बताया गया है “लिंग शरीर बार-बार स्थूल शरीर को ग्रहण करता है व पूर्वगृहीत शरीरों को छोड़ता रहता है, इसी का नाम संसरण (संसार) है। मृत्यु होने पर सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता, किन्तु पुरुष (आत्मा) सूक्ष्म शरीर के आश्रय से पुराने स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जब तक उसका सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं हो जाता, तब तक उसका संसार में आवागमन होता रहता है।”

इस वाक्य से स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है।

लिंग शरीर के निमित्त से पुरुष का प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर जन्म-मरण का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है – जैसे रंगमंच पर एक ही

व्यक्ति कभी अजातशत्रु, कभी परशुराम और कभी राम के रूप में दर्शकों को दिखाई देता है, उसी प्रकार लिंग शरीर, विभिन्न शरीर ग्रहण करके मनुष्य, देव, तिर्यञ्च नारक आदि नाना रूपों में परिलक्षित होता है।¹ इससे सिद्ध होता है कि सांख्यदर्शन देवलोक व नरकलोक के अस्तित्व को मानता है।

योगदर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा

योगदर्शन के 'व्यासभाष्य' में पुनर्जन्म की सिद्धि करते हुए कहा गया है "नवजात शिशु को भी भयंकर पदार्थों को देखकर भय और त्रास उत्पन्न होता है। जबकि इस जन्म में तो उसके कोई संस्कार अभी तक नहीं पड़े हैं अतः पूर्वजन्म के कर्मरूप संस्कारों को मानना आवश्यक है। इससे पूर्वजन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।"²

पातञ्जल योगदर्शन में कहा गया है - "जीव जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। इन संस्कारों को कर्म-संस्कार कहा जाता है। संस्कारों में संयम करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। इस प्रकार पूर्वजन्म सिद्ध होने से पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध हो जाता है।"²

वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्जन्म की अवधारणा

पुनर्जन्म के प्रश्न की खोज वैज्ञानिकों ने भी की, जिसे परामनोविज्ञान कहा गया। मनोवैज्ञानिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिए पुनर्जन्म और पुनर्जन्म को जानने के लिए प्रयत्न किए।

परामनोवैज्ञानिकों की चार मान्यताएँ हैं -

1. विचारों का संप्रेषण - एक व्यक्ति अपने विचारों को, बिना किसी माध्यम के, दूसरों तक पहुंचा सकता है।
2. प्रत्यक्ष ज्ञान - एक व्यक्ति बिना किसी माध्यम के किसी वस्तु को साक्षात् जान लेता है।
3. पूर्वाभास - भविष्य में घटित होने वाली घटना का पहले ही आभास हो जाता है।

1 कर्मविज्ञान, देवेन्द्रमुनि, भाग 1, वही, पृ. 69-70

(क) संसरति निरुपभोगं भावैराधिवासितं लिङ्गम् सांख्यकारिका 40

(ख) पुरुषार्थ हेतुकमिदं, निमित्त नैमित्तिक प्रसंगेन।

प्रकृतेविभुत्व योगान्, नटवत् व्यवलिच्छते लिंगम् ॥ - सांख्यकारिका - 42

2 योगदर्शन व्यासभाष्य 2/9 : 4/10 - उद्धृत - कर्मविज्ञान, भाग 1, पृ. 71

4. अतीत का ज्ञान – जैसे भविष्य का ज्ञान होता है, वैसे ही अतीत का ज्ञान हो सकता है।

इन चार तथ्यों के आधार पर यह निश्चित है कि एक ऐसा तत्व है जो भौतिक नहीं है, पौद्गलिक नहीं है। वह आत्म तत्व है। आत्मा से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की समस्या सुलझ जाती है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सबसे सशक्त प्रमाण है – स्मृति। जन्म लेने वाले बच्चे को अपने पूर्व जन्म की स्मृति होती है, उसे पता चलता है कि इससे पहले भी वह था। इस स्मृति के आधार पर बहुत बड़े-बड़े अनुसंधान हुए हैं। डा. स्टीवन्सन आदि वैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की घटनाओं के अनेक तथ्य एकत्रित किये। पर यह प्रश्न होता है कि सबको पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं होती?

कान्चूंग ने स्मृति का विश्लेषण करते हुए कहा “जन्म से पूर्व बच्चे में पूर्वजन्म की स्मृति होती है किन्तु जन्म के समय इतनी भयंकर यातना से गुजरना पड़ता है कि उसकी सारी स्मृति नष्ट हो जाती है, विलुप्त हो जाती है।” अतः सबको स्मृति नहीं रहती। कुछ लोगों को अपवाद स्वरूप होती है।

दूसरा प्रमाण है प्लेंचेट का, इसके अन्तर्गत मृतात्माओं को आह्वान किया जाता है और उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है। इससे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों सिद्ध होते हैं।

तीसरा प्रमाण है माध्यम का – कुछ व्यक्ति मृत आत्माओं के अवतरण में सहज माध्यम होते हैं। उनके माध्यम से दूसरे व्यक्ति अपने सम्बन्धी मृत आत्माओं से बातचीत करते हैं।

चौथा प्रमाण है – सूक्ष्म-शरीर के फोटो का – वैज्ञानिक किरलियान दंपति ने एक विशेष प्रकार की फोटो पद्धति का आविष्कार किया, उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर के फोटो लिये गये। सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बने होते हैं। मनोविज्ञान इन्हें न्यूत्रिलोन कहते हैं। ये कण कोरे कणों के रूप में देखे नहीं जाते, जब दूसरे कणों के साथ संघर्ष होता है, तब ये कण पकड़ में आते हैं। (सूक्ष्म शरीर के द्वारा विचित्र प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं जिसे तैजस या कार्मण शरीर कहा जाता है।) सूक्ष्म शरीर मृत्यु के समय

निकलता है, वह कहीं ओर प्रवेश करता है। अतः कर्मण शरीर द्वारा अगले जन्म में प्रवेश की बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।¹

सर आलिवर लॉज, सर विलियम वारेट, रिचर्ड हडसन, मिसेज सिडफिक, वसर आर्थर कानन, ए.पी. सिनेट आदि परामनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रेतों से सम्पर्क स्थापित करके गम्भीर खोजें की हैं। ऐसा करके उन्होंने भारतीय धर्मों और दर्शनों द्वारा मान्य 'परलोकवाद' की सत्यता को परिपुष्ट किया है। प्रेतात्माओं को मानने पर देवों का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है।²

पाश्चात्य विचारकों ने देहान्तवाद को विकासवाद की तरह वास्तविक एवं वैज्ञानिक माना है। मृत्यु के अनन्तर जीव के अस्तित्व एवं अमरत्व की कल्पना — ग्रीक दार्शनिक पायथागोरस के विचारों में स्पष्ट झलकती है कि — साधुता का पालन करने पर जीव का जन्म, उच्चतर लोकों में होता है और दुष्कर्म का सेवन करने पर जीवात्माएँ पशु आदि योनियों में जाती हैं।

प्लेटो ने ग्रन्थ फीडो में, आत्मा की जीवन-यात्रा का वर्णन किया है, ये पुनर्जन्म को स्वतः सिद्ध मानते हैं। एम्पिडोक्स आदि का मन्तव्य था कि अगर पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है। पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म दोनों साथ-साथ चलते हैं, इस प्रकार युनानी दर्शन में पुनर्जन्म की आस्था के बीज मिलते हैं।

आधुनिक युग के दार्शनिक स्पिनोजा आदि दार्शनिकों का आत्मा की शाश्वतता में विश्वास था। कान्ट का आत्मा के लिए यह अभिप्राय मिलता है कि प्रत्येक आत्मा मूलतः शाश्वत है। लाइबनिट्ज ने कहा — प्रत्येक वस्तु अविनाशी है, उसके हृदय एवं अन्तरावर्तन का नाम मृत्यु एवं उसकी वृद्धि तथा विकास का नाम जीवन है।³

इस प्रकार स्फुट संकेत पुनर्जन्म एवं परलोक के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

1 (क) आ. महाप्रज्ञ, घट-घट दीप जले, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु, पृ. 55-57

(ख) कर्मविज्ञान, भाग 1, आ. देवेन्द्रमुनि, पृ. 101-114

2 कर्मविज्ञान भाग 1, वही, पृ. 101

3 जैनदर्शन में जीवतत्त्व, ज्ञानप्रभा, पृ. 380

आत्मा के नित्यता की सिद्धि एवं जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के द्रव्य अपेक्षा से नित्यत्व एवं पर्याय अपेक्षा से अनित्यत्व का प्रस्तुतीकरण

आत्मा अर्थात् जीव को नित्य माना जाए या अनित्य, इस संबंध में दार्शनिकों में मतभेद है। भूतवादी आत्मा को अनित्य मानते हैं, क्योंकि वे शरीर को ही आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार शरीर के नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है, परन्तु जो दार्शनिक भूतों एवं शरीर से आत्मा को अतिरिक्त मानते हैं, उनमें आत्मा के नित्यानित्यत्व के संबंध में विभिन्न मान्यताएँ हैं।

सांख्य दर्शन का कूटस्थनित्यवाद

सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार संभव नहीं है। प्रकृति को परिणामी मानता है, परन्तु आत्मा को अपरिणामी ही मानता है। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं प्रत्युत् प्रकृति के माने गए हैं। सुख—दुःख, ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करता है।

कर्ता न होने पर भी भोक्ता आत्मा को ही माना गया है, इस भोग के आधार पर आत्मा में परिणामित्व घटित हो जाने की संभावना से कुछ सांख्य विचारकों ने भोग को आत्मा का धर्म मानने से इन्कार कर दिया।

नैयायिक—वैशेषिकों का नित्यवाद

न्याय और वैशेषिक दार्शनिक द्रव्य और गुण को भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार सुख—दुःख, ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं, साथ ही वे इन गुणों को अनित्य मानते हैं। परन्तु उन ज्ञानादि गुणों की अनित्यता के कारण उन्हें आत्मा की अनित्यता स्वीकार नहीं है, उनकी दृष्टि में आत्मा नित्य है।

बौद्ध सम्मत अनित्यवाद

तथागत बुद्ध ने पुद्गल—जीव को एकान्त अनित्य माना है। प्रत्येक क्षण में विज्ञान आदि नये—नये चित्तक्षण उत्पन्न होते हैं और पुद्गल इन विज्ञान क्षणों से भिन्न नहीं है, इस प्रकार पुद्गल या जीव अनित्य है। द्रव्य रूप से नित्यत्व नहीं है, परन्तु बौद्ध भी सन्ततिनित्यता स्वीकार करते हैं। कार्य—कारण की परम्परा को सन्तति कहते हैं।

वेदान्त सम्मत परिणामी नित्यवाद

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को एकान्त नित्य माना गया है। जीव के संबंध में विचार भेद है। आचार्य शंकर ब्रह्म को सत्य और जीवात्मा को मिथ्या (माया) मानते हैं, वह अनादिकालीन अज्ञान के कारण अनादि है किन्तु अज्ञान का नाश होने पर ब्रह्ममैक्य का अनुभव करती हैं, उस समय जीव भाव नष्ट हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मायिक जीव ब्रह्म रूप से नित्य है और माया रूप से अनित्य है।

शंकराचार्य को छोड़कर प्रायः समस्त वेदान्ती ब्रह्म को विवर्त न मानकर परिणाम स्वीकार करते हैं, इस दृष्टि से जीव को परिणामी नित्य मानना चाहिए।

इस प्रकार कतिपय दार्शनिकों ने आत्मा को एकान्त नित्य माना है, कतिपय ने एकान्त अनित्य माना है। नित्य या अनित्य मानने वालों ने स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना की है। पर यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं, तब उनमें सर्वथा एकरूपता आ जायेगी, इससे लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था नहीं घट सकेगी, और एकान्त अनित्य मानते हैं तो एकरूपता का सर्वथा नाश हो जायेगा, भेद ही भेद शेष रहेगा। अतः जीव को एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य मानना दोषयुक्त है। अतः जैनदर्शन ने जीव (आत्मा) को नित्यानित्य माना है।¹

जैनदर्शन के अनुसार जीव की नित्यानित्यता

इस संसार में कोई भी वस्तु एकरूपता लिए हुए नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जैनदर्शन ने अनेकरूपता के कारणों पर गहराई से चिन्तन किया, तत्पश्चात् एक सिद्धान्त की स्थापना की, उसका नाम है – परिणामी नित्यत्ववाद।

इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य अथवा अनित्य नहीं है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य, इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन-शून्य नहीं होता और परिणमन ध्रुव शून्य नहीं होता, इसलिए वह अनित्य भी है। प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन तीनों धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय – ये दोनों परिणमन के आधार बनते हैं और ध्रौव्य उनका अन्वयीसूत्र है। वह उत्पाद और व्यय दोनों स्थिति में भी रहता है। ध्रौव्य,

1 (क) गणधरवाद (प्रस्तावना) पृ. 101

(ख) ज्ञानमुनि जी मा., हमारे समाधान, पृ. 68-71

उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आने देता। इस बिन्दु को पकड़ने वाले 'कूटस्थ नित्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, तथा अस्तित्व में होने वाले परिवर्तनों को पकड़ने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जैनदर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा में देखा है।

भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामी-नित्यत्व के आधार पर की। जब उनसे पूछा गया कि आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होंने उत्तर दिया, पुद्गल व आत्मा का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरूद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं।

जीव नित्य पदार्थ है पर वह कूटस्थ नित्य नहीं, परिणामी-नित्य है, अर्थात् जीव शाश्वत होने पर भी उसमें परिणमन-अवस्थान्तर होते रहते हैं। जैसे - स्वर्ण द्रव्य अवस्थित रहते हुए उसके भिन्न-भिन्न आभूषण होते हैं, उसी प्रकार जीव पदार्थ स्थित रहते हुए उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। द्रव्य जीव उत्पाद, व्यय, धौव्य युक्त होता है। जैसे - सुवर्ण कंकण की चूड़ियों को नष्ट कर जब सुवर्ण हार बनाते हैं तब हार की उत्पत्ति होती है, कंकण का व्यय-नाश होता है, और सुवर्ण, सुवर्ण के रूप में ही रहता है, उसी प्रकार जब जीव युवा होता है तब यौवन की उत्पत्ति होती है, बाल्यभाव का व्यय होता है और जीव-जीव रूप ही रहता है। इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को 'पर्याय' कहते हैं। जिस प्रकार जल कभी बर्फ और कभी वाष्प रूप होता है, उसी तरह एक ही मनुष्य बालक, युवक और वृद्ध होता है। ये आत्मा द्रव्य के अवस्थान्तर हैं।

जिस प्रकार स्पर्श गुण की अपेक्षा से एक ही पुद्गल कभी शीतल और कभी उष्ण होता है, ठीक उसी प्रकार एक ही मनुष्य कभी ज्ञानी और कभी मूर्ख, कभी दुःखी और कभी सुखी होता है, ये आत्मा के चेतनगुण की अवस्थाएँ हैं।¹

ज्ञान गुण के अनुसार भी आत्मा परिणामीनित्य है। जैसे कि आत्मा अपने उपयोग से घट का ज्ञान करता है, तब उसे पट का ज्ञान नहीं होता, घट चेतना का जिस समय नाश होता है, उस समय पट चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में जीव रूप सामान्य चेतना तो विद्यमान है।

1. घट-घट दीप जले, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 85

इसी प्रकार इस लोक के प्रत्यक्ष चेतन जीवों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध है। इस तथ्य को आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेष्यावश्यकभाष्य में इस प्रकार बताया "कोई जीव इस लोक में से मनुष्य रूप से मरकर देव होता है, तब उसे जीव का मनुष्य रूप इहलोक नष्ट हुआ और देवरूप परलोक उत्पन्न हुआ, किन्तु जीव-सामान्य तो अवस्थित ही है।"¹

मुक्त जीव के विषय में भी कहा जा सकता है कि वह संसारी आत्मा के रूप में नष्ट हुआ, मुक्त आत्मा के रूप में उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व धर्मों की अपेक्षा से जीव रूप में स्थित रहा। मुक्त जीव में भी उत्पाद, व्यय, घटित होता है, जैसे कि जीव प्रथम समय के सिद्ध रूप में नष्ट हुआ, द्वितीय समय के सिद्ध रूप में उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मों की अपेक्षा से अवस्थित है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव (आत्मा) द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।²

समीक्षा

प्रस्तुत अध्याय में मौर्यपुत्रजी की 'देवों के अस्तित्व सम्बन्धी शंका का, अकम्पितजी की नारक के अस्तित्व संबंधी शंका का तथा मेतार्य जी की 'परलोक के अस्तित्व संबंधी शंका का उल्लेख तथा भगवान महावीर द्वारा दिये गये समाधानों की चर्चा की गई है।

मौर्यपुत्र जी ने अपनी शंका की पुष्टि के लिए कई तर्क दिये, जैसे 1. देव सामान्य-जन को प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देते हैं? तथा 2. जो विमान आदि दिखाई देते हैं वे आग के गोले या स्वच्छ जल भी हो सकते हैं?

भगवान महावीर ने उनके संशय का निवारण करते हुए यह बतलाया कि- ज्योतिषी और व्यन्तर देव तो प्रत्यक्ष दिखते हैं, तथा वैमानिक देव भी तीर्थकर के कल्याणक या संभवशरण में आते हैं तथा ये विमान हैं, इनमें जो रहने वाले हैं वे ही देव हैं। इस प्रकार उनकी शंका का समाधान किया।

अकम्पितजी का नारकों के अस्तित्व के बारे में यह तर्क था कि चारों गतियों में मनुष्य, तिर्यञ्च, देवता प्रत्यक्ष है किन्तु नरक गति प्रत्यक्ष नहीं है, अतः कैसे माना जाये कि नारकों का अस्तित्व है? तब भगवान महावीर ने समाधान दिया कि भले ही नारक छद्मरथ जीवों को प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष

1 आ. भिक्षु, नवपदार्य, जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, 1961, पृ. 36

2 विशेष्यावश्यक भाष्य, गाथा 1843

से दिखाई देने वाली वस्तुओं का ही अस्तित्व होता है, यह सत्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इस प्रकार उन्होंने नारकों का अस्तित्व युक्तिपूर्वक सिद्ध किया।

इस प्रकार स्वर्ग—नरक की मान्यता गलत नहीं है। कर्मफल की मान्यता किसी न किसी रूप में प्रत्येक दर्शन ने स्वीकार की है। विज्ञान भी इस आधार पर शारीरिक, मानसिक उत्थान पतन की बात मानता है, यह तथ्य स्पष्ट है कि — दुष्ट कर्मों का प्रतिफल दुःख और सत्कर्मों की परिणति सुख के रूप में होनी चाहिए। स्वर्ग—नरक की मूल स्थापना कर्मफल की सुनिश्चितता प्रकट करने के लिए की गई है।

मेतार्य जी ने परलोक के अस्तित्व को नकारते हुए कई तर्क दिये — 1. चार्वाक दर्शन शरीर नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानता है, 2. एकात्मवादी सम्पूर्ण संसार में एक आत्मा ही मानते हैं, अतः उस एक आत्मा का संसरण संभव नहीं है, 3. देव और नारक प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते हैं, अतः परलोक नहीं है?

इस अध्याय में भगवान महावीर ने परलोक (पुनर्जन्म) के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण दिये, उनका विशद विवेचन किया है, जैसे कि जैनदर्शन आत्मा को अनेक, देहप्रमाण, व सक्रिय मानता है, तथा नित्यानित्य के रूप में स्वीकार करता है, जिससे परलोक का अस्तित्व सिद्ध होता है। परलोक का अस्तित्व मात्र जैनदर्शन ने ही मान्य नहीं किया, अपितु वैदिक दर्शन, बौद्ध सांख्य तथा न्याय—वैशेषिक दर्शन में भी स्वीकृत है। परलोक की सिद्धि पुनर्जन्म से संबंधित है।

वैदिक साहित्य में स्वर्ग—नरक का उल्लेख है, उपनिषदों में बताया है कि नरक लोक अन्धकार से आवृत्त है, उसमें आनन्द का नाम नहीं है।

बौद्ध दर्शन में, अभिधम्म आदि स्वर्ग, नरक, प्रेत संबंधी विचार मिलते हैं, पेतवत्थु में प्रेतों की रोचक कथाएँ दी हैं।

जैन दर्शन में जीव से संबंधित पुनर्जन्म, परलोक, पूर्वजन्म, भवान्तर, जन्मान्तर आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हैं। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने भी पुनर्जन्म के बारे में बहुत अन्वेषण किया है।

सर्वज्ञ (प्रत्यक्षज्ञानियों) द्वारा मान्य पुनर्जन्म के सिद्धान्त को दार्शनिकों व वैज्ञानिकों को भी स्वीकार करना पड़ रहा है। वर्तमान में पुनर्जन्म या परलोक को स्वीकार करना,

मानव जाति की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना समाज एवं राष्ट्र में नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर नहीं किया जा सकता। आत्मा का अस्तित्व शरीर त्याग के बाद भी बना रहेगा, यह सत्य जन्म-जन्मान्तर में संचित शुभ-अशुभकर्मों को साथ लेकर अगले जन्म में जाता है, इस सत्य तथ्य को जानकर व्यक्ति इस जन्म में आध्यात्मिक विकास के लिए पलभर भी प्रमाद न करके श्रेष्ठता की दिशा में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के पथ पर कदम बढ़ायेगा तथा कर्मों के बन्धन से आत्मा को मुक्त करने का चिन्तन करेगा।

इस प्रकार इस अध्याय में विशेषावश्यकभाष्य के गणधर में वर्णित देवों, नारकों व परलोक से संबंधित शंकाओं का श्री भगवान महावीर द्वारा दिये गए समाधान का जैन दर्शन तथा अन्य दर्शनों के संदर्भ में सम्यक् विवेचन किया गया है।

दशम अध्याय

दशम अध्याय विभिन्न निह्नवों और उसकी दार्शनिक स्थापनाओं की समीक्षा

निह्नव का स्वरूप

यह दृष्टिगत है कि किसी भी धर्म के संस्थापक एवं धर्म प्रवर्तक महापुरुष के निर्वाण / देहावसान के पश्चात् उनके संघ अथवा सम्प्रदाय में नेतृत्व के प्रश्न को लेकर बिखराव होना प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु कभी-कभी यह बिखराव ऐसे महापुरुषों के जीवनकाल में भी हो जाता है, जिसका मुख्य कारण वैचारिक मतभेद होता है। जैन आगमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि – वैचारिक मतभेद की प्रक्रिया भगवान महावीर के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी।¹

श्रमण महावीर के जीवनकाल में एवं उसके पश्चात् भी उनसे वैचारिक मतभेद रखने वाले व्यक्ति निह्नव कहलाए।

निह्नव – जिनका वर्तमान परम्परा के साथ मतभेद हुआ, किन्तु उन्होंने किसी अन्य मत को स्वीकार नहीं किया, जैन शासन में रहकर ही किसी एक विषय का अपलाप करने वाले निह्नव हैं।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में विचार भेद नहीं होता, वह आत्म-प्रधान होता है, किन्तु जहाँ संघ और सम्प्रदाय होता है, वहाँ सबका विकास एक समान नहीं होता। निह्नव वे साधु कहलाते हैं जिनका किसी एक विषय को लेकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा स्थापित सिद्धान्त में मतभेद हो गया था। ये निह्नव दो तरह के थे – एक वे जो यथार्थ सिद्धान्त को समझकर पुनः संघ में आ गये और दूसरे वे जो संघ से पृथक् हो गये हों, परन्तु जो अलग होकर भी अन्य धर्मों नहीं बने।² श्रमण भगवान महावीर के शासन में सात निह्नव हुए थे, उनमें दो भगवान महावीर के जीवनकाल में और पाँच निर्वाण के बाद हुए।³

जमालि – बहुरतवाद अर्थात् द्रव्य की निष्पत्ति में दीर्घकाल की मान्यता तथा क्रियमाण को कृत नहीं मानते, किन्तु वस्तु के निष्पन्न होने पर ही उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं,

¹ सुरेश सिसोदिया, जैनधर्म के सम्प्रदाय, आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, पृ. 47

² साध्वी राजीमति, पर्युषण साधना, आदर्श साहित्य संघ, पृ. 270-282

³ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 783-784

जबकि सिद्धान्त यह है कि जो क्रियमाण है वह कृत है, वस्तु का अस्तित्व प्रथम क्षण से ही प्रारम्भ हो जाता है।

तिष्यगुप्त – जीव प्रादेशिकवाद के प्रवर्तक हैं, जीवप्रादेशिक जीव के चरम प्रदेश को ही जीव मानते हैं, शेष प्रदेशों को नहीं। जैनदर्शन के अनुसार चेतन द्रव्य अखण्ड है, सर्वप्रदेश मिलकर ही जीव कहा जाता है।

आषाढभूति के शिष्य – अव्यक्तवाद के अनुसार किसी भी वस्तु के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, सब कुछ अव्यक्त है, अनिश्चित है। जैन सिद्धान्त के अनुसार श्रद्धा (सम्यक्दर्शन) महत्त्वपूर्ण है, हर बात में संशय करना उचित नहीं है।

अश्वमित्र – समुच्छेदिकवाद के प्रवर्तक। समुच्छेदकवादी प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश मानते हैं, वे एकान्त समुच्छेद का निरूपण करते हैं, जबकि निर्ग्रन्थ प्रवचन, सर्वनय सापेक्ष होता है। वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, वह द्रव्य से नित्य तथा पर्याय से अनित्य है।

गंग – द्विक्रियवाद। इस मत के अनुसार एक ही क्षण में दो क्रियाओं का अनुवेदन होता है, जैसे – सर्दी गर्मी। किन्तु जैन सिद्धान्त यह कहता है कि – समय सूक्ष्म है, अतः हम समय में विभाजन नहीं कर पाते, किन्तु एक समय में एक ही क्रिया होती है।

रोहगुप्त – त्रैराशिकवाद। इस वाद के अनुसार राशि तीन होती हैं – जीव, अजीव और नोजीव। जैनागमों में दो राशियाँ बतलाई हैं – जीव और अजीव।

गोष्ठामाहिल – अबद्धिकवाद अर्थात् कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उसके साथ एकीभूत नहीं होते। जबकि सिद्धान्तानुसार कर्म तथा जीव एकीभूत होते हैं, कुछ कर्म स्पर्श करते हैं, कुछ बन्ध जाते हैं।¹

इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर के जो सिद्धान्त हैं, उनके विपरीत इन श्रमणों के मन में शंकाएँ हुई, क्योंकि वे सिर्फ एक ही नय से उस बात को समझ रहे थे, तत्पश्चात् उन्होंने अपने मत स्थापित किये, जनता से भी उस मत पर श्रद्धा रखवाने का प्रयत्न किया। जिनवाणी में श्रद्धाशील स्थविरों ने उनके मतों का युक्तिपूर्वक निराकरण

(क) व्याख्याप्रज्ञप्ति, 9/33

(ख) औपपातिकसूत्र, 122, व्या. मधुकरमुनि जी

(ग) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 165-170

किया, उनके तर्कों के समाधान का विवेचन आचार्य जिनभद्रगणि ने "विशेषावश्यकभाष्य" में विस्तार से वर्णन किया है, जिसे निह्नववाद के नाम से जाना जाता है।

विभिन्न निह्नव और उनका काल

1. प्रथम निह्नव जमालि भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होने के 14 वर्ष बाद श्रावस्ती नगरी में हुए।
2. भगवान महावीर के कैवल्य प्राप्ति के 16 वर्ष बाद ऋषभपुर में तिष्यगुप्ताचार्य, जीवप्रादेशिकवाद मानने वाले निह्नव हुए।
3. भगवान महावीर के निर्वाण के 214 वर्ष बाद श्वेतविका नगरी में अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई, जिसके प्रवर्तक आचार्य आषाढभूति के शिष्य थे।
4. समुच्छेदवाद की उत्पत्ति भगवान महावीर के निर्वाण के 220 वर्ष बाद मिथिलापुरी में हुई, जिसके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे।
5. भगवान महावीर के निर्वाण के 228 वर्ष बाद उल्लूकातीर नगर में द्विक्रियावाद की उत्पत्ति हुई। इसके प्रवर्तक गंग थे।
6. त्रैराशिक मत का प्रवर्तन भगवान महावीर के निर्वाण के 544 वर्ष बाद अन्तरंजिका नगरी में हुआ, जिसके प्रवर्तक रोहगुप्त थे।
7. भगवान महावीर के निर्वाण के 584 वर्ष बाद दशपुर नगर में अबद्धिक मत प्रारम्भ हुआ, इसके प्रवर्तक गोष्ठामाहिल थे।¹

जमालि के बहुरतवाद नामक सिद्धान्त की स्थापना और उसकी समीक्षा

बहुरत – जब तक क्रिया पूरी न हो तब तक उसे निष्पन्न या कृत नहीं कहा जा सकता। यदि उसी समय उसे निष्पन्न कह दिया जाय तो शेष क्रिया व्यर्थ हो जाये, इसलिए क्रिया की निष्पत्ति अन्तिम समय में होती है। प्रत्येक क्रिया के लिए कई क्षणों की

¹ (क) आवश्यकभाष्य, गाथा 125-141
(ख) कल्याणविजयगणि, श्री पद्मवली पराग संग्रह, पृ. 68-76
(ग) स्थानांगसूत्र, 7/140-141
(घ) जैन धर्म के सम्प्रदाय, सुरेश शिसोदिय, वही, पृ. 47-54
(ङ) आचार्य देवेन्द्रमुनिजी, जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा
(च) साध्वी राजीमति, पर्युषण साधना, वही, पृ. 270-282
(छ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2304-2305

आवश्यकता होती है। कोई क्रिया एक क्षण में सम्भव नहीं है। क्रिया के लिए बहुत समयों को आवश्यक मानने से इस मत का नाम बहुरत है।

जमालि कुण्डपुर नगर में रहने वाले थे, माता का नाम सुदर्शना था, जो भगवान महावीर की बहन थी। ऐसा माना जाता है कि जमालि का विवाह भगवान महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के साथ हुआ। उन्होंने भगवान महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, तपस्या करने लगे, वे पारणों में अन्त-प्राप्त आहार का सेवन करते थे। एक बार उनका शरीर रोगाक्रान्त हो गया, पित्तज्वर से उनका शरीर जलने लगा। एक दिन वेदना से पीड़ित होते हुए शिष्य से बिस्तर बिछाने के लिए कहा – श्रमणों बिस्तर बिछाओ! कुछ देर बाद उन्होंने शिष्य से पूछा, “शिष्य! बिस्तर हो गया?” उसने बिछाते-बिछाते उत्तर दिया – “भन्ते! बिस्तर हो गया है।

जमालि सोने के लिए खड़ा हुआ, उसने जाकर देखा तो बिस्तर अभी बिछाया ही जा रहा था। यह सुनकर उनके मन में विचिकित्सा उत्पन्न हुई – भगवान् क्रियमाण को कृत कहते हैं, यह सिद्धान्त मिथ्या है, मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि बिछौना किया जा रहा है, उसे कृत कैसे माना जा सकता है? उन्होंने तात्कालिक घटना से प्राप्त अनुभव के आधार पर यह निश्चय किया – क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता है, जो सम्पन्न हो चुका है, उसे ही कृत कहा जाता है, कार्य की निष्पत्ति अन्तिम क्षण में ही होती है, पहले-दूसरे आदि क्षणों में नहीं।

इस प्रकार का मत निश्चय करके उन्होंने अपने शिष्यों को कहा कि, “भगवान महावीर ऐसा कहते हैं – जो चल्यमान है, वह चलित है, जो उदीर्यमाण है, वह उदीरित है और जो निर्जीर्यमाण है, वह निर्जिर्ण है।” किन्तु मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि यह सिद्धान्त मिथ्या है। यह प्रत्यक्ष घटना है कि बिछौना जब तक बिछाया जा रहा है वह बिछा हुआ नहीं होता है। जब बिछाने की क्रिया निष्पन्न हो जाती है तब वह बिछ जाता है तथा बिछ जाने पर और कुछ करना शेष नहीं रहता है। अतः कृतमान को कृत नहीं कहा जा सकता। किये जाते हुए को ‘कृतमान’ तथा किये जा चुके को ही ‘कृत’ मानना यथार्थ है। इसी प्रकार जब तक चल रहा है तब तक ‘चला हुआ’ नहीं है किन्तु अचलित है, यावत् जिसकी निर्जरा हो रही है वह निर्जीर्ण नहीं है किन्तु अनिर्जीर्ण है।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए गौतमस्वामी ने भगवतीसूत्र में श्रमण महावीर से प्रश्न किया, "जो चल रहा है, वह चला गया, जो उदीरा जा रहा है, वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा है, वह वेदा गया, जो गिर रहा है, वह गिर गया, क्या इस प्रकार कहा जा सकता है?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम! चलते हुए को चलित कहा जाता है, निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहा जाता है।"¹

आगमोक्त यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। जैसे जिस आदमी को एक कोस चलना है, उसके 10 कदम चलने पर भी निश्चय नय से कहा जा सकता है कि वह चल चुका, क्योंकि उसने दस कदम की गति पूरी कर ली। जबकि व्यवहारनय से 'चल चुका' तभी कहा जायेगा जब वह गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेगा। पर जमालि एकान्तदृष्टि से व्यवहारनय को लेकर भगवान महावीर के मत का खण्डन करते हैं, उसकी समीक्षा इस प्रकार है —

जमालि का कथन था कि क्रियमाण को कृत मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि क्रियमाण को कृत मान लिया जाय तो 'कृत को किया जा रहा है' यह अर्थ फलित होता है जो व्यवहार व व्याकरण दोनों दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है। जो वस्तु पहले से ही की जा चुकी है उसे पुनः करने की क्या जरूरत है। यदि कृत को भी करने की आवश्यकता पड़े तो फिर उस कार्य को तो सदा करते ही रहना होगा। उसकी कभी समाप्ति नहीं होगी।

क्रियमाण को कृत मानने पर समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हो जायेंगी, जैसे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी भिगोना, चाक घुमाना आदि क्रियाएँ व्यर्थ हैं, क्योंकि घट को तो क्रिया के प्रथम क्षण में ही बना हुआ मान लिया गया है।²

क्रियमाण को कृत मानने पर कृत (विद्यमान) को ही क्रिया का आश्रय मानना पड़ेगा, पर इसमें पूर्वापर विरोध होगा, क्योंकि जो पदार्थ नहीं है (अविद्यमान), उनको उत्पन्न करने के लिए क्रिया की जाती है, विद्यमान वस्तु को करने की क्रिया नहीं करनी पड़ती है।

¹ आचार्य देवेन्द्रमुनि, जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा

² सक्खं चिय संयारो न कज्जमाणो कउत्ति में जम्हा।

बेइ न जमालि सव्वं न, कज्जमाणं कयं तम्हा।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2308

भगवान महावीर का यह मत कि 'क्रिया के प्रारम्भिक क्षण में ही कार्य को उत्पन्न माना जा सकता है', मिथ्या है, क्योंकि घड़े बनाने का कार्य क्रिया समाप्ति के साथ ही देखा जाता है। जब क्रिया समाप्त होने लगती है, तभी वे दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कोई भी कार्य क्रिया के अन्तिम समय में ही कृत कहा जा सकता है।¹ क्रियमाण को कृत न मानकर कृत को ही कृत मानना चाहिए।

बहुरतवाद की समीक्षा

यदि यह माने कि – अकृत (अविद्यमान) वस्तु ही उत्पन्न होती है तब ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अकृत है, असत् है, वह गगन कुसुम के समान उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि असत् की उत्पत्ति मानते हैं तो गगनकुसुम भी उत्पन्न होने लगेंगे।²

जमालि का कथन है कि – क्रिया के प्रथम क्षण में वस्तु की उत्पत्ति मान लेने से नित्यक्रिया, क्रियापरिसमाप्ति, क्रियावैफल्य आदि दोष आ जाते हैं, किन्तु यह कथन सही नहीं है, क्योंकि ये दोष विद्यमान और अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति दोनों में आते हैं। कृतपक्ष में तो फिर भी पर्याय विशेष कारण की दृष्टि से कृत का करना संगत भी हो सकता जैसे – 'जगह करो' अर्थात् 'जगह को खाली करो।' यहाँ जगह पहले से विद्यमान है, उसी को 'भरी हुई' पर्याय से बदलकर 'खाली' पर्याय में लाने के लिए 'जगह करो' यह कहा जाता है। जो वस्तु यथार्थतः असत् है उसमें यह व्यवहार नहीं हो सकता। अकृतकार्य और खरविषाण दोनों में समानता है।³

यदि किसी कारण से असत् वस्तु उत्पन्न होती है, तो मिट्टी से गगनकुसुम उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि दोनों असत् है।

जमालि क्रियाकाल को दीर्घ मानता है, जैसे – कुम्भकार घट बनाना चाहता है, वह जिस समय से मिट्टी लाना, मसलना, पिण्ड करना, चाक पर चढ़ाना आदि कार्य करता है उस समय से लेकर घटनिष्पत्ति काल तक घट का क्रियाकाल है, किन्तु यह मान्यता

¹ कममिह न कज्जमाणं, सब्भावाओ चिरंतनघडो व्व।

अहव कयपि कीरउ, कीरउ चिच्चं न व समत्ती।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2310

² नारंभे च्चिय दीसइ न सिवादद्धाए दीसइ तदंते।

तो ँहि किरियाकाले, जुत्तं कज्जं तदंतम्मि।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2312

³ वेराण मयं नाकयमभावाओ, कीरए खपुपफं व।

अह व अकयपि कीरइ, कीरउ तो खरिविसाणंपि।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2313

अयुक्त है, क्योंकि क्रियाकाल और निष्पत्तिकाल एक हैं। प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् कार्य प्रारम्भ होता है, जो क्रिया जिस क्षण में प्रारम्भ होती है वह निश्चय नय से उसी क्षण में पूरी हो जाती है। घट अन्तिम समय में प्रारम्भ होता है और अन्तिम समय में ही समाप्त होता है, अतः घट की उत्पत्ति का जो क्रियाकाल दीर्घ ज्ञात होता है, वह भ्रम है। किसी एक क्रिया के लिए अनेक समयों की आवश्यकता नहीं है। जैसे – वस्त्र की सिलाई कर रहे हैं तो एक बार सुई धागा डालने पर उतना कार्य हो गया, पर यह नहीं कि पूरी सिलाई होने पर ही उसे कहा जाये कि अब कृत है। क्रिया के साथ कार्य होता है।¹

जमालि का पक्ष – प्रश्न होता है कि घट प्रथम या बीच के क्षणों में क्यों नहीं दिखाई देता है? यदि क्रिया के वर्तमान क्षण में घट को कृत नहीं माना जाता है, तो अतीत या अनागत क्रिया से वह कैसे उत्पन्न हो सकता है? उत्तरपक्ष – इस तर्क का समाधान यह है कि घट उत्पन्न करने की क्रिया अन्तिम क्षण में होती है, अतः वह उसी समय दिखाई देता है, उससे पहले क्षणों में घट की अन्य शिवक, स्थास, कोश, कुशुल आदि क्रियाएँ तथा कार्य होने से घटोत्पत्ति ज्ञात नहीं होती। पिण्ड आदि अवस्थाएँ घट से भिन्न हैं। अतीत-अनागत क्रियाएँ कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती हैं, क्योंकि वह असत् है। इसलिए वर्तमान क्रिया में ही कार्योत्पत्ति माननी पड़ेगी और उसी समय कार्य को कृत कहा जायेगा।²

पूर्वपक्ष – यदि क्रियमाण कृत नहीं है तो कृत किसे कहना? क्रिया बीतने पर तो उसे कृत (उत्पन्न किया हुआ) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय क्रिया ही नहीं है, यदि क्रिया के अभाव में कार्योत्पत्ति माने तो क्रिया की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, क्रिया के प्रारम्भ होने से पहले भी कार्य हो जायेगा, क्योंकि क्रिया का अभाव दोनों में समान है।

उत्तरपक्ष – यदि यह कहें कि क्रियमाण काल का कार्य नहीं रहता है, अतः उसे अकृत कहते हैं, तो यहाँ प्रश्न उठता है कि – कार्य, क्रिया से होता है या उसके बिना भी होता है? यदि क्रिया से होता है तो यह संभव नहीं कि क्रिया प्रथम समय से की जाये

¹ पइसमउधन्नाणं, परोप्पर विलक्खणाण सुबहुणं।

दोहो किरियाकालो जइ, दीसइ किं व्य कुंभस्स॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2315

² अंते च्चिय आरद्धो जइ दीसइ तम्मि वेव को दोसो।

अकयं व संपइ गए कह कीरउ कह व एस्सम्मि॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2317

और कार्य दूसरे समय में उत्पन्न हो? जैसे – कोई व्यक्ति अमूक समय में छेद करे और छेद दूसरे समय में होवे। यदि क्रिया के समाप्त होने पर कार्य उत्पन्न होता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि क्रिया कार्य की उत्पत्ति में अवरोधक है। ऐसी दशा में क्रिया कारण रूप नहीं रहेगी।

यदि क्रिया के बिना कार्य उत्पन्न होता है तो घड़े को चाहने वाला व्यक्ति, मिट्टी को भिगोना, पिण्ड बनाना, चाक पर रखना, आदि जो क्रिया करता है, वह व्यर्थ हो जायेगी तथा मोक्षार्थी को भी तप, संयमादि क्रियानुष्ठान नहीं करने पड़ेंगे, उन्हें बिना क्रिया के ही मोक्ष मिल जायेगा। अतः क्रियाकाल में ही कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिए, समाप्ति होने पर नहीं।

जमालि पुनः तर्क रखते हैं कि मिट्टी लाने से लेकर घड़े की उत्पत्ति तक का सम्पूर्ण काल घटोत्पत्तिकाल कहा जाता है, क्योंकि जनमत भी यही है – जब मिट्टी को चाक पर चढ़ाते हैं तब यही कहा जाता है कि घड़ा बन रहा है। इसलिए मेरा जो मत है कि दीर्घ क्रिया से कार्य होता है, वह सत्य है। तब इस तर्क का खण्डन इस प्रकार किया है –

उत्तरपक्ष – घट उत्पन्न होने से पहले के क्षणों में घटोत्पत्ति का व्यवहार इसलिए होता है कि लोग घट को प्राप्त करना चाहते हैं, अतः घट की प्राप्ति के अनुकूल जितने भी कार्य होते हैं, उन सबको घट कार्य मान लेते हैं। स्थूल दृष्टि से घट बनाना एक क्रिया समझी जाती है, किन्तु सूक्ष्म विचार से प्रतीत होता है कि कुम्भकार के घट बनाने के संकल्प से लेकर घट की अन्तिम निष्पत्ति तक अनेकानेक क्रियाएँ होती हैं और अनेकानेक कार्य होते हैं। स्थूल क्रियाएँ तो देखी जा सकती हैं किन्तु बीच-बीच में अनेक सूक्ष्मतर क्रियाएँ होती हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। अतः जिस समय जो क्रिया होती है, वह कार्य वहीं समाप्त हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेक से अन्तिम क्षण की क्रिया को ही घट की उत्पत्ति का जो कारण माना जाता है वह मात्र व्यवहार की अपेक्षा से है। यह निश्चित है कि क्रियमाण नियमित रूप से प्रति समय कृत होता है। केवल कार्य की पूर्णता पर वह अभिव्यक्त होता है, यह मात्र व्यवहार दृष्टि है।¹

¹ भैरोंदाब सेठिया, जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

आधा बिछा हुआ बिस्तर जितने प्रदेशों में बिछा हुआ है, उसकी अपेक्षा से 'बिछा हुआ' भी कहा जा सकता है। पर जमालि का मत है कि — पूरा बिस्तर बिना बिछे उसे 'बिछा हुआ' नहीं कहा जा सकता, यह कथन एकान्त व्यवहार नय को मानने से नयाभास है। नयाभास का अवलम्बन लेने से जमालि का मत मिथ्या है।¹

भगवतीसूत्र में जो कथन किया है, वह निश्चयनय के अनुसार — जैसे "चलेमाणे चलिए" — कोई आदमी दिल्ली से कलकत्ता चल पड़ा, तब वह जो पहला कदम उठायेगा वह भी कलकत्ता के लिए ही उठाएगा और अन्तिम कदम जितना कलकत्ता में पहुंचाएगा उतना ही पहला कदम भी पहुंचा रहा है। अर्थात् जब से पहला कदम उठाया, तभी से वह कलकत्ता पहुंचने लगा।

जैसे कि कोई पानी गर्म कर रहा है, वह पानी पहली डिग्री पर भाप नहीं बनेगा, बल्कि 100° डिग्री पर बनेगा। लेकिन पहली डिग्री पर भी पानी भाप बनने के करीब पहुंचने लगा क्योंकि सौ वीं डिग्री भी एक डिग्री है और पहली डिग्री भी एक डिग्री है। 99° से 100° तक जो यात्रा करनी पड़ी है वही यात्रा एक से 100° तक करनी पड़ी है। पर 99° डिग्री तक हम सोचते रहते हैं कि पानी अभी भाप नहीं बना।²

'चलेमाणे चलिए' का सिद्धान्त यह है कि — व्यक्ति मोक्ष गया नहीं है, लेकिन जाने की तैयारी कर रहा है तो समझो कि वह गया। प्रत्येक समय के कार्य को नहीं देखने से दीर्घ-क्रियाकालत्व की शंका होती है।

इस बात को एक अन्य दृष्टि से भी स्पष्ट किया जा सकता है कि जमालि की मान्यता थी कि क्रिया निष्पत्ति का काल अनेक समय का होता है, किन्तु यदि हम क्रिया के निष्पत्ति काल को अनेक समय में विभाजित करेंगे तो ऐसी स्थिति में क्रिया का निष्पत्तिकाल वर्तमान के अतिरिक्त भूत और भविष्य में भी मानना पड़ेगा, किन्तु भूत और भविष्य में क्रिया सम्भव होती नहीं, और वर्तमान तो मात्र एक समय का ही होता है, वस्तुतः (Present Continuous) का जो व्यवहार अंग्रेजी में होता है वह सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोधाभास से युक्त है, वस्तुतः वर्तमानकाल निरन्तर नहीं हो सकता। वर्तमान तो एक समय का ही होता है, अतः वर्तमान के प्रत्येक क्रियाकाल में ही कार्य की निष्पत्ति मानना

¹ जं जत्थ नभोदेसे, अव्युव्वइ जत्थ-जत्थ समयग्गिम्।

तं तत्थ तत्थमत्थुयमत्थुवं तं पि तं चेव।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 232।

² देवेन्द्रमुनि, भगवतीसूत्र, एक परिशीलन, पृ. 118

होगा। यदि कार्य की निष्पत्ति प्रथम समय में नहीं होगी, तो दूसरे समय में नहीं होगी। ऐसी स्थिति में यदि यह मानो कि अन्तिम समय में ही कार्य की निष्पत्ति हुई है तो पूर्व क्षणों की क्रिया निरर्थक हो जायेगी। ऐसी स्थिति में जमालि का यह सिद्धान्त तार्किक सबल नहीं हो सकता।

इस बहुरतवाद का खण्डन ढंक श्रावक ने प्रयोगात्मक रूप से किया।

जमालि की पत्नी साध्वी प्रियदर्शना भी बहुरतवाद को मानने लगी थी, एक बार श्रावस्ती नगरी में ढंक कुम्भकार (श्रावक) के यहाँ ठहरी। वह स्वाध्याय में लीन थी, तभी ढंक ने एक अंगारा उन पर फेंका, जिससे साध्वी जी की साड़ी (संघाटी) का एक कोना जल गया। साध्वी ने कहा – ढंक! तुमने मेरी संघाटी क्यों जलाई? ढंक ने कहा – संघाटी कहाँ जली, वह तो जल रही है, क्योंकि तुम्हारा सिद्धान्त यह है कि जितना भाग जल गया, उसे जला नहीं कहना, पूरा जलने के बाद जल गया है, ऐसा कहना है, इस तरह उन्हें क्रियमाण कृत का रहस्य समझाया।^{1 2}

सारांश

भगवान महावीर का सिद्धान्त क्रियमाण कृत है अर्थात् जो काम किया जा रहा है उतना तो सम्पन्न हो चुका है, जितना किया गया। पर जमालि के अनुसार जब कार्य पूर्ण रूप से निष्पन्न हो जाता है, तब उसे कृत कहा जाता है। उसका कथन है कि घड़े की उत्पत्ति उसके अन्तिम समय में होती है, किन्तु ऐसा नहीं है। घड़े का निर्माणकाल मिट्टी भिगोने, चाक पर चढ़ाने तथा अनेक आकृतियाँ होने पर प्रारम्भ हो जाता है। जमालि व्यवहार नय की एकान्त दृष्टि को लेकर भगवान महावीर के मत को मिथ्या समझने लगा था।

तिष्यगुप्त की चरमप्रदेशी जीव की अवधारणा और समीक्षा

चरमप्रदेशी जीव – तिष्यगुप्त 14 पूर्वधर आचार्य वसु के शिष्य थे। एक बार वे आत्मप्रवाद पूर्व का अध्ययन कर रहे थे, उसमें एक आलापक आया कि –

¹ दड्ढं न डड्ढमाणं जड्ढ विगएहणागए व का संका।

काले तयभावाओ, संघाडी कम्मि ते दड्ढ।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2327

² उज्जुसुयनयमयाओ, वीरजिणिद वयणाव लंबीणं।

जुज्जेज्ज उज्जमाणं, दड्ढं वोत्तुं न तुज्जपि।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2329

प्र. एगे भंते जीवेत्ति वत्तवं सिया?

उ. णो इणट्टे समट्टे।

प्र. एव दो, तिण्णि जाव दस, संखेज्जा, असंखेज्जा भंते। जीवपएसा जीवेत्ति वत्तवं सिया?

उ. णो इणट्टे समट्टे, एग पएसेणेत्ति जीवेण जीवेत्ति वत्तवं सिया।

प्र. से केणट्टेणं?

उ. जम्हा णं कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्ले जीव जीवेत्ति वत्तवं सिया, से तेणट्टेणं, इति।

इसका तात्पर्य यह है कि –

प्र. हे भगवन् ! क्या जीव का एक प्रदेश जीव है?

उ. यह अर्थ ठीक नहीं है।

प्र. हे भगवन्! क्या दो, तीन, दस संख्यात या असंख्यात जीवप्रदेश जीव हैं?

उ. नहीं, यह अर्थ सम्मत / समुचित नहीं है, जिसमें एक प्रदेश भी कम हो, उसे जीव नहीं कहा जा सकता।

प्र. ऐसा क्यों भगवन्?

उ. क्योंकि सम्पूर्ण लोकाकाश प्रदेशों के समान जो जीव है, उसे ही जीव कहा जा सकता है।

इसको पढ़कर तिष्यगुप्त ने विचार किया कि – एक, दो आदि प्रदेश जीव नहीं हैं, तथा एक प्रदेश हीन हो तब भी वह जीव नहीं है, अतः जो अन्तिम प्रदेश है, जिससे जीव पूर्ण होता है, वह प्रदेश ही जीव है, अन्य सर्व प्रदेश नहीं। उसे यह विपरीत धारणा सम्यक् समझा के अभाव में हुई।¹

¹ एगादेसओ पएसा नो जीवो न य पएसहीणोवि।

जं तो स जेण पुण्णो स एव जीवोऽत्तिमपएसो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2336

समीक्षा

तिष्यगुप्त का मत – यदि जीव के प्रथम प्रदेश में जीव नहीं मानते हैं तो अन्त प्रदेश में जीव कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि सभी प्रदेश समान हैं। अन्त्यप्रदेश भी प्रथम प्रदेशवत् ही है, दोनों में असमानता नहीं हो सकती।¹

तार्किक खण्डन – यदि यह माने कि अन्त्यप्रदेश असंख्यात प्रदेश राशि को पूर्ण करता है, वह पूरक होने के कारण जीव कहलाता है तब यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम से लेकर अन्तिम प्रदेश सभी पूरक हैं, किसी एक के बिना जीव अधुरा है। प्रत्येक प्रदेश को जीव मानने पर असंख्यात जीव हो जायेंगे।² अथवा प्रथमादि प्रदेशवत् अन्त्यप्रदेश में भी जीवत्व का अभाव होने पर जीव का सर्वथा अभाव हो जायेगा। जैसे – रेती के कण में तेल का अभाव है वैसे प्रत्येक प्रदेश में जीवत्व के अभाव मानने पर अन्त्यप्रदेश में जीवत्व कहाँ से आयेगा? जो वस्तु सभी अवयवों में व्याप्त नहीं रहती, वह सब के मिल जाने पर भी पैदा नहीं हो सकती।³

तिष्यगुप्त के अनुसार यदि यह कहा जाये कि सभी प्रदेशों के पूरक होने पर अन्तिम प्रदेश ही जीव है, दूसरे नहीं है तब यह तथ्य मनोकल्पना होगी। कल्पना से व्यक्ति कुछ भी सोच सकता है, यह भी कहा जा सकता है कि प्रथम प्रदेश ही जीव है, बाकी सब अजीव हैं या कुछ प्रदेश जीव है तथा कुछ अजीव हैं।

पूर्वपक्ष – यदि यह कहें कि शेष प्रदेशों में जीव आंशिक रूप से है किन्तु अन्तिम प्रदेश में पूर्ण रूप से रहता है। उत्तर पक्ष – यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा अन्त्यप्रदेश है, वैसे ही शेष प्रदेश है, दोनों में समानता है, जो हेतु अन्तिम प्रदेश में सम्पूर्ण जीवत्व का साधक है, उसी हेतु से दूसरे प्रदेशों में सम्पूर्ण जीवत्व सिद्ध किया जा सकता है।⁴

¹ गुरुणाभिहिओ जइ ते पढमपएसो न समओ जीवो।

तो तप्परिणामो च्चिय, जीवो कहमंति पएसो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2337

² अहवा स जीवो किह जाइमेत्ति, को वि विसेसहेऊ वे।

अह पुरणोत्ति बुद्धि, एक्केक्को पूरणो तरस।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2338

³ जं सच्चहा न वीसुं सच्चसु वि तं न रेणुतेल्लं व्व।

सेसेसु असंभुओ जीवो कहमंति पएसो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2340

⁴ अह देसओऽवसेसेसु तोवि किह सच्चहंतिमे जुत्तो।

अह तम्मि व जो हेऊ स एव सेसेसुवि समाणो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2341

पूर्वोक्त सूत्र का अर्थ यह नहीं कि प्रथमादि प्रदेश अजीव हैं और अन्तिम जीव है, क्योंकि वह अन्तिम प्रदेश भी एक है। श्रुत में भी इसका निषेध किया है – उल्लेख है “एगे भन्ते! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया? णो इण्हे समहे।” अतः यह सिद्ध है कि सभी प्रदेशों के मिलने पर ही जीव माना जाता है।

उदाहरण है कि – “जम्हाणं कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपएसतुल्ले जीवे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया” जैसे एक तार (तन्तु) वस्त्र नहीं कहलाता है, वैसे एक प्रदेश जीव नहीं कहलाता है। जैसे सम्पूर्ण समुदित तंतु वस्त्र कहलाता है वैसे ही जीव के सम्पूर्ण प्रदेश जीव कहलाता है।¹

नय सात है, उनमें से एवंभूत नय देश-प्रदेश को वस्तु से भिन्न नहीं मानता है, देश-प्रदेश की कल्पना से रहित सम्पूर्ण वस्तु ही एवंभूत का विषय है। एवंभूत नय को प्रमाण मानने से सम्पूर्ण जीव को जीव मानना होगा, किसी एक प्रदेश को नहीं।²

पूर्वपक्ष – कभी-कभी कहा जाता है कि गाँव जल गया, कपड़ा जल गया, इत्यादि स्थानों में एक देश में सम्पूर्ण वस्तु का उपचार किया जाता है। इसी प्रकार अन्तिम प्रदेश में भी समस्त जीव का व्यवहार हो सकता है, यह मान सकते हैं। उत्तरपक्ष – यह सत्य नहीं है, क्योंकि जब अन्तिम प्रदेश में जीवत्व का व्यवहार कर सकते हैं तब प्रथम प्रदेश में कर सकते हैं। यदि एक देश में ही सम्पूर्ण वस्तु का उपचार मानते हैं तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपचार कुछ न्यून प्रदेशों में हो सकता है, जैसे – कुछ अधुरे कपड़े में कपड़े का व्यवहार होता है, किन्तु एक तन्तु में कभी कपड़े का व्यवहार नहीं होता है, इसी प्रकार एक प्रदेश में भी जीव का व्यवहार नहीं हो सकता।³

तिष्यगुप्त ने सर्वज्ञवचनों को एक नय की दृष्टि से जानकर मिथ्या धारणा अपना ली, पर सर्वज्ञवचनों का कथन सर्वनयात्मक रूप जानना चाहिए। इस चरमप्रदेशी वाद का खण्डन मित्रश्री श्रावक ने प्रयोगात्मक रूप से किया।

¹ णणु एगोत्ति सिखिद्धो सोवि सुए जइ सुयं पमाणं ते।

सुत्ते सब्बपएसा भणिया, जीवो न चरिमोत्ति।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2343

² तंतु पडोवयारी न समत्तपडो य समुदिया ते उ।

सव्वे समत्तपडओ, सब्बपएसा तहा जीवो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2344

³ एवंभूयनयमयं देसपएसा न वत्थुणो भिन्वा।

तेणावत्थुत्ति मया कसिणं चिय वत्थुमिट्ठं से।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2345

तिष्यगुप्त अपनी मान्यता का प्रचार करते हुए आमलकल्या नगरी पहुँचे, वहाँ मित्रश्री नामक श्रमणोपासक रहता था। वह धर्मोपदेश सुनने गया। तिष्यगुप्त ने अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया, उसने जाना कि ये मिथ्या प्ररूपणा कर रहे हैं। एक दिन तिष्यगुप्त भिक्षा के लिए मित्रश्री के घर गये, तब मित्रश्री ने अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ रखे, उसमें से चावल का एक दाना, और वस्त्र के अन्तिम छोर का एक तार निकाल कर उन्हें दिया। तिष्यगुप्त ने कहा – श्रावक! तुम मेरा अपमान कर रहे हो। मित्रश्री ने कहा – महाराज! यह तो आपका ही मत है कि वस्तु का अन्तिम अवयव पूर्ण वस्तु का काम कर सकता है। यदि चावल का यह अन्तिम अंश भूख नहीं मिटा सकता है तो जीव के अत्यन्त सूक्ष्म एक प्रदेश में सारा जीव कैसे रह सकता है?¹ वस्त्र का अन्तिम तन्तु वस्त्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे शीत-निवारण कार्य नहीं होता। अगर बिना वस्त्र का कार्य किए भी अन्तिम तन्तु को वस्त्र कहा जाये तो घड़े आदि को भी वस्त्र मान सकते हैं। अन्त्य अवयवी ज्ञात नहीं होता है, अनुभव में नहीं आता है, तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार मित्रश्री ने उसे समझाया।²

सारांश

तिष्यगुप्त ने आत्मप्रदेशों में चरम आत्मप्रदेश को जीव माना, उसके अनुसार व्यवहार नय में कहा जाता है कि गाँव का थोड़ा सा भाग जलने पर यह कहते हैं कि गाँव जल गया, एक देश में सम्पूर्ण वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही जीव के चरम अर्थात् अन्तिम प्रदेश में भी यह मान सकते हैं। पर शास्त्रों में यह बताया है कि सभी प्रदेशों का एकीकरण ही जीव है, अन्तिम प्रदेश को जीव मानने पर तो प्रथम प्रदेश भी उसी प्रकार जीव कहा जावेगा। जैसे मात्र एक तन्तु को कपड़ा नहीं कहा जा सकता, वैसे ही चरम प्रदेश या प्रथमप्रदेश को जीव नहीं माना जाता। जिस हेतु से चरमप्रदेश में जीवत्व की सिद्धि की जाती है, वैसे ही प्रथमादि प्रदेशों में भी की जा सकती है। इस प्रकार तिष्यगुप्त एक नय के द्वारा सिद्धान्त को ग्रहण किया, जिससे वह मिथ्या प्ररूपणा हो गई।

¹ भक्ष्यण-पाण-वज्जण-दत्थंतावयवलाभिओ भणइ।

सावय! विधग्मियाऽम्हे कीसत्ति! तओ भणइ सइत्थे।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2349

² पच्चक्खओऽणुमाणा, आगमओ वा पसिद्धि अत्थारणं।

सव्वधमाणविसायईयं, मिच्छन्तमेवं भे।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2354

आषाढभूति का अव्यक्तवाद और उसकी समीक्षा

श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ चैत्य में आर्याषाढ नाम के आचार्य ठहरे हुए थे। उनके बहुत से शिष्यों ने अगाढ-योग नाम का उग्र तप शुरु किया। आयुष्य समाप्त हो जाने से उसी रात को हृदयशूल द्वारा उन का देहान्त हो गया। कालधर्म प्राप्त कर वे सौधर्म देवलोक के नलिनीगुल्म नाम के विमान में देव हुए। गच्छ में कोई भी उनकी मृत्यु को नहीं जान सका। उन्होंने अविधज्ञान द्वारा जाना कि इस अगाढ योग को पूर्ण कराने वाला कोई नहीं है, अतः साधुओं पर दया करके वे मृतदेह में प्रवेश करके वाचना देने लगे। जिस प्रकार आचार्य ने कहा वैसे-वैसे शिष्यगण करते रहे। उन्हें शास्त्र के अनुसार उद्देश्य, समुद्देश और अनुज्ञा के लिए आज्ञा दी। इस प्रकार दैवी प्रभाव से शिष्य समूह का कालविभंगादि विघ्नों से रक्षा करते हुए योग पूर्ण करवा दिया।

योग व तप पूर्ण होने पर आचार्य रूपी देव ने देवलोक जाते समय शिष्यों से क्षमा मांगते हुए कहा – आप मेरा अपराध क्षमा करें, क्योंकि मैंने असंयत, अविरत होते हुए भी संयती व व्रती से वन्दना करवाई। ऐसा कहकर वध्देव अपने स्थान पर चला गया।

तत्पश्चात् आचार्य के शरीर को बौसिरा दिया, पर वे साधु चिन्तन करने लगे कि हमने कई दिनों तक असंयती को वन्दना की, किन्तु हमें बोध नहीं हुआ। इस प्रकार कपट युक्त, कोई दूसरा साधु भी हो सकता है? संयत कौन और असंयत कौन? व्रती कौन, अव्रती कौन? यह ज्ञात नहीं होता इसलिए किसी भी साधु को वन्दना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अविरत को वन्दना करने पर दोष लगता है। इस प्रकार वे साधु अव्यक्त दृष्टि वाले हो गये, और उन्होंने परस्पर में वन्दना व्यवहार छोड़ दिया। इस प्रकार उनका यह दृष्टिकोण अव्यक्तवाद के नाम से जाना गया।¹

समीक्षा

इस तथ्य की शोध करने पर ज्ञात होता है कि यह अव्यक्तवाद हर वस्तु, व्यक्ति व पदार्थों में संदेह उत्पन्न करायेगा, क्योंकि कोई भी बात विश्वसनीय नहीं है। हम जीवित हैं या मृत, ऐसा भी संदेह हो सकता है। जब उस देव ने कहा कि – 'मैं देव हूँ' तो उस देव के प्रति भी संशय कर सकते हैं कि वह देव था या नहीं? यदि उसने स्वयं देव रूप

¹ को जाणइ किं साहु, देवो वा तो न वंदणिज्जेति।

होज्ज असंजयनमणं, होज्ज मुसावायममुगोत्ति।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2358

बताकर कहा था उन शिष्यों ने प्रत्यक्ष देखा, इसलिए संदेह नहीं होता। यह तथ्य यदि मान्य है तो उसी प्रकार 'मैं साधु हूँ' और उसमें साधु के सभी गुण विद्यमान हैं इसमें असाधु का संदेह कैसे हो सकता है?¹

यदि साधु-असाधु के प्रति शंका होती है तब जिन भगवान के वचनों में भी संदेह हो सकता है। क्योंकि जिनेश्वर भगवान ने कहा – सम्यक् आचरण वाले साधु कहलाते हैं, तो उन गुणों से युक्त साधु को वन्दना करनी चाहिए। जब यह जानते हैं कि प्रतिमा (मूर्ति) जिनेश्वर के गुणों से रहित है किन्तु परिणाम (भावों) की शुद्धि के लिए वन्दन करते हैं वैसे ही साधुओं को क्यों नहीं करते?²

यदि यह कहें कि देवाधिष्ठित असंयत यतिरूप धारी मुनि को वन्दन करने से असंयत के पाप की अनुमति होती है तब प्रतिमा को वन्दन करने से नहीं लगती है? और यदि अनुमति दोष लगता है तो फिर आहार-वस्त्र-शय्या आदि भी देवकृत है। इस प्रकार विचार कर उन्हें भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार संदेह रखने से सब कार्यों का उच्छेद हो जायेगा।³

यह भी हो सकता है कि कोई मुनि के वेश में मैथुन-सेवन करता हो या कोई गृहस्थ संयमी हो, ऐसे कपटी मुनि का संवास नहीं कर सकते, और ऐसे संयमी गृहस्थ को आशीर्वाद नहीं दे सकते हैं।⁴ किसी भी व्यक्ति को दीक्षा नहीं दे सकते हैं, क्योंकि यह ज्ञात नहीं है कि वह भव्य है अभव्य? चोर है या गुप्तचर? अव्यक्तवाद मान्यतानुसार किसी का उपदेश या शिक्षा भी ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि उसके वचन सत्य है या असत्य? कैसे ज्ञात हो पायेगा। सब पदार्थ संदेह के घेरे में आ जाने पर स्वर्ग-नरक, परलोक, मोक्ष किसी का अस्तित्व नहीं रहेगा।⁵

¹ तद्व्ययणाओ व मई नणु तद्व्ययण सुसाहुवित्तोत्ति।

आलयविहार समिओ, समणोऽयं वदणिज्जो त्ति॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा

² जह ता जिणंदि पडिमं, जिणगुण रहियं त्ति जाणमाणरि।

परिणामविसुद्धत्थं वंदह तह किं न साहुपि॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2365

³ असंजयजइरुवे पावाणुमई मई न पडिमाए।

नणु देवाणुमयाए पडिमाअपि हुज्ज सो दोसो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2367

⁴ जइणवि न सहवासो सेओ पमया- कुसीलसंकाए।

होज्ज मिहीवि जइत्ति य तस्सासीसा न दायव्वा॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2372

⁵ किं बहुणा सव्वं चिय, संदिद्धं जिणमयं जिणंदा य।

परलोग-सव्वग-मोक्खा, दिक्खाए किमत्थ आरंभो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2375

यदि जिनेश्वर भगवान पर तथा उनके वचनों पर आस्था है तो इन सब भ्रान्तियों को दूर करना होगा। जैसे कि उन साधुओं ने मुनिरूपी देव का वास्तविक रूप जान लिया, इसलिए उनको शंका हुई, यदि वह देव अपना वास्तविक रूप नहीं बताता तब कुछ भी पता नहीं चलता, अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से सबको वन्दनादि करनी चाहिए। जिनेश्वर वीतराग का कथन निश्चय और व्यवहारयुक्त है, इसमें से किसी एक को नहीं मानने पर मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। स्थविरों ने उन शिष्यों को समझाने का प्रयत्न किया पर वे नहीं समझे, तब राजा बलभद्र ने प्रयोगात्मक रूप से समझाया।

राजा बलभद्र ने जब यह विपरीत प्ररुपणा सुनी, तब उन्होंने आ. आषाढाचार्य के शिष्यों को सम्यक् पथ पर लाने का चिन्तन किया, राजा ने मुनियों को बुलवाया और सबको मरवा डालने की आज्ञा दी। साधुओं ने कहा — राजन्! हम लोग साधु हैं, हमारे प्राण क्यों लेते हो?

राजा ने कहा — कौन जानता है कि आप साधु हैं या चोर? मुनियों ने कहा — हमारे वेश, रहन-सहन और दूसरी बातों से आप जान सकते हैं कि हम साधु हैं। राजा ने कहा — यह आप लोगों का मत है कि किसी भी बात पर विश्वास मत करो, फिर में आपको साधु कैसे मानूँ?

यह सुनकर उन मुनियों का भ्रम दूर हुआ और वे पुनः वंदन व्यवहार करने लगे।

अश्वमित्र का समुच्छेदवाद और उसकी समीक्षा

समुच्छेदवादी एकान्त समुच्छेद का निरूपण करते हैं, वे प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश मानते हैं। अश्वमित्र ने इस मत की प्ररुपणा की।

कोण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद पूर्व में नैपुणिक नाम के अध्ययन को पढ़ रहा था। छिन्नछेदक नय का वर्णन चल रहा था — “पडुप्पन्नसमयनेरइया सव्वे वोच्छिज्जिसंति एवं जाव वेमाणियत्ति, एवं बीयाइसमएसुवि वत्तव्वं।”¹ प्रथम समय में उत्पन्न हुए नारकी के सभी जीव समाप्त हो जायेंगे, उसी प्रकार वैमानिक तक सभी समाप्त हो जायेंगे। इसी तरह द्वितीयादि क्षणों में भी नष्ट होंगे। इस कथन से उसे यह संदेह हुआ

¹ पुडुप्पन्न समयनेरइया वत्तव्वं। विशेषावश्यकभाष्य, पृ. 290

कि यदि उत्पन्न हुए जीव तत्समय में ही नष्ट हो जायेंगे तो फिर पुण्य—पाप का फल कैसे सम्भव होगा?¹

समीक्षा

प्रत्येक पदार्थ उत्पाद—व्यय व ध्रौव्य से युक्त है। किसी भी वस्तु का पूर्ण रूप से नाश नहीं होता। वस्तुओं का प्रतिक्षण विनाशीत्व क्षणक्षयवादी ऋजुसूत्र या पर्याय की अपेक्षा से कहा है। नारकादि जीवों में प्रतिक्षण अवस्था बदलते रहने पर भी जीव द्रव्य सतत बना रहता है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य तथा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य (क्षणिक) है। एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक मानने वाले पक्ष मिथ्या है।²

यदि आगम के अनुसार वस्तु का उच्छेद माने तो भी एकान्त क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि आगम में जीव को क्षणिक बताने के साथ—साथ नित्य भी बताया है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि — हे भगवन्! नारकी शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

हे गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। वह किस प्रकार है? तो भगवान ने बताया कि — द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत है। इसी प्रकार नारकी जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों है।³

जो पहले आगम वाक्य दिया है, उससे सर्वथा क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता। समय—परिवर्तन की अपेक्षा से प्रथम नारक तथा द्वितीय नारक आदि का कथन है पर दोनों समय में नारकी एक ही रहेगा। यदि पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाये तो 'प्रथम समय में उत्पन्न हुआ' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। यदि प्रत्येक समय में नव्य नारकी उत्पन्न हो तो वह सदा प्रथम सामयिक ही रहेगा। नारकी जीव के स्थिर रहने पर ही प्रथम द्वितीय या तृतीय समय वाला यह विशेषण जम सकता है।⁴

¹ उपायणंतरओ सव्वं चिय सव्वहा विणासित्ति।

गुरुवयणमेगन्नयमयमेयं, मिच्छं न सव्वमयं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2392

² न हि सव्वहा विणासो, अद्दपज्जायमेत्तनारम्मि।

सपरपज्जायणंत धम्मणो, वत्थुणो जुत्तो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2393

³ भगवतीसूत्र, शतक 24/4, सूत्र 35-36

⁴ को पद्म समयनारणणसे, वितिसमयनारणणाम।

न सुरो घडो अभावो व, होइ जइ सव्वहा नासो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2396

पूर्वपक्ष – पदार्थ को एकान्त क्षणिक मानते हुए यह मानें कि पदार्थ की सन्तान – परम्परा के कारण प्रथम समय, द्वितीय समय का बोध होता है फिर भी यह कथन अयुक्त है, क्योंकि जहाँ पदार्थ का सर्वथा विनाश है वहाँ सन्तान परम्परा और समानता कैसे हो सकती है? तथा सर्वथा नाश (निरन्वय नाश) होने पर क्षणों का व्यवहार भी नहीं हो सकता।¹

सन्तान परम्परा मानने पर कई प्रश्न उठते हैं कि सन्तान उन परिवर्तनशील क्षणिक पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो सन्तान भी पदार्थों के समान क्षणिक हुआ और यदि भिन्न है तो वह नित्य है या क्षणिक है? नित्य होने पर क्षणिकवाद नष्ट होता है और अनित्य मानने पर वह क्षण के ही समान है। अतः पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता।²

सर्वथा विनाश मानने पर एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से समान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि समानता वहीं होती है, जहाँ ध्रौव्य हो। पूर्वक्षण और उत्तरक्षण दोनों भिन्न हैं, जैसे घट और पट भिन्न हैं। यदि सर्वथा भिन्न पदार्थ में समानता होती तब संसार की समस्त वस्तुओं को भी उसके समान हो जाना चाहिए। यदि यह कहें कि संसार की समस्त वस्तुओं में देश-कालादि का अन्तर होना असमानता नहीं होती, किन्तु उत्तरक्षण तो पूर्वक्षण के साथ जुड़ा हुआ है, अतः समानता होती है।³

यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि सर्वथा नाश मानने पर पूर्व और उत्तरशब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता। कोई पदार्थ स्थिर है तभी हम उसमें पूर्व-पश्चात् शब्द प्रयुक्त कर सकते हैं।

क्षणिकवाद को मानने पर कई समस्याएँ आती हैं, सर्वप्रथम 'यह वस्तु क्षणिक है' ऐसा ज्ञान कब होता है? हम अपना चित्त किसी विषय पर एकाग्र रखते हैं, तब शास्त्र का ज्ञान कर सकते हैं। यदि हर क्षण चित्त नष्ट होता रहे तब नये-नये चित्त के द्वारा शास्त्रों का ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि जिस चित्त और इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का

¹ अहवा समाणुप्पत्ती, समाणसंताणओ मई होज्जा।

को सव्वहा विणासे, संताणो किं व सामणं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2397

² संताणिणो न भिण्णो जइ संताणो न नाम संताणो।

अह भिण्णो न खण्णिओ, खण्णिओ वा जइ न संताणो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2398

³ पुव्वाणुगमे समखा होज्ज, ना सा सव्वहा विणासम्मि।

अह सा न सव्वनासे तेण, समं वा नणु खणुप्फं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2399

ज्ञान किया, वह उसी समय नष्ट हो गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान का पूर्व-पूर्व ज्ञान के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होने से (तालमेल नहीं बैठने से) विचार विश्रुंखलित हो जायेगे।¹

दूसरा उदाहरण – शास्त्रज्ञान के लिए, पदज्ञान और अक्षरज्ञान आवश्यक है। अक्षर से उत्पन्न ज्ञान के सहयोग से पदज्ञान होता है। पदज्ञान से वाक्यों का ज्ञान होता है। प्रतिक्षण निरन्वयनाश (सर्वथानाश) मानने पर पदज्ञान या वाक्यज्ञान नहीं हो सकेगा। जिससे क्षणिकवाद को भी नहीं जान पायेंगे।²

प्रत्येक समय में वस्तु का नाश मान लेने से भोजन से तृप्ति नहीं होगी। जो मनुष्य भोजन कर रहा है, उसकी क्षुधा शान्त नहीं होगी, क्योंकि भोजन करने वाला तो नष्ट हो गया है। इसी प्रकार श्रम, ग्लानि, साधर्म्य, विपक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अध्ययन, ध्यान आदि कुछ नहीं हो पायेगा, क्योंकि इन सब में चित्त की स्थिरता आवश्यक है।³

यदि तृप्ति का कारण वासना को माने कि तृप्ति की वासना लेकर पूर्व-पूर्व क्षण से उत्तरोत्तर क्षण पैदा होता है और अन्त में उसी वासना के कारण तृप्ति अपनी क्रिया को पहुंच जाती है, क्षणिकपक्ष में ही तृप्ति हो सकती है, नित्य में नहीं, क्योंकि वह हमेशा एक सा रहता है।⁴

यह कथन सम्मत नहीं है क्योंकि तृप्ति आदि का कारण वासना नहीं हो सकती। वासना को मानने पर पुनः प्रश्न उपस्थित होगा कि वासना क्षणों से भिन्न है या अभिन्न? यदि पूर्वक्षणों से अभिन्न है तब वह उन क्षणों के साथ ही नष्ट हो जायेगी फिर तृप्ति का अभाव रहेगा और भिन्न है तब तृप्ति नहीं हो पायेगी। यदि वह उत्तरोत्तर क्षणों में अनुवृत्त होती है तो पूर्व-पूर्वक्षण का सर्वनाश सिद्ध नहीं होता।

क्षणिकवाद की मान्यतानुसार संयम ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि दीक्षा लेने वाला तो उसी क्षण मर जाता है। अतः उसको दीक्षित होने पर भी कोई लाभ नहीं मिलेगा।

¹ न उ पइसमयविणासे, जेणेक्केक्कक्करं चिय पयस्स।

संरवाइय समइयं, संखिज्जाइं पयं ताइं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2402

² संखिज्जं पयंवक्कं, तदत्थमहण परिणामओ होज्जा।

सव्वखणभंगानाणं, तदजुत्तं समयनद्धस्स।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2403

³ जेणचिय पइगासं भिन्ना, तिती तओ चिय विणासो।

तितीए तित्तस्स य एवं चिय, सव्वसंसिद्धी।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2406

⁴ पुब्बित्तसव्वनासे बुद्धी, तिती य किं निमित्ता तो।

अह सावि तेऽणुवत्तइ, सव्वविणासो कं जुत्तो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2407

यदि यह माने कि संयम मोक्ष प्राप्ति के लिए लिया जाता है, तो क्षणिकवाद में मोक्ष नाश स्वरूप है, वह स्वतः सिद्ध है, तब संयम लेने की आवश्यकता नहीं है। मोक्ष को नित्य मानने पर क्षणिकवाद खण्डित हो जायेगा।

क्षणिकवाद के अनुसार मोक्ष का तात्पर्य विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप स्कंध की सन्तान परम्परा का नाश करना, इन पंचस्कन्धों का समुच्छेद करने के लिए संयम/ग्रहण दीक्षा का विधान है पर यह विधान उन्हीं के अनुसार गलत है क्योंकि जो जीव दूरसे ही क्षण में सर्वथा नष्ट हो जाता है उसे सन्तान परम्परा के नाश करने का क्या प्रयोजन? तथा जो जीव सर्वथा अभाव स्वरूप होने वाला है उसे 'स्वसन्तान-परसन्तान' की चिन्ता से क्या प्रयोजन है?'

समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सर्व पदार्थों का अन्त में विनाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है। घट का नाश मुद्गर आदि नहीं कर सकते, प्रत्येक वस्तु का स्वभाव प्रतिक्षण नाश होना है, यदि प्रतिक्षण नाश नहीं होगा तो अन्त में भी नाश नहीं हो सकेगा।

यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि यदि पदार्थ का अन्तकाल में विनाश होता है तो सर्ववस्तु क्षणिक कैसे हो सकती है? वस्तु का नाश जैसे अन्त में दिखाई देता है, वैसे प्रथम या मध्यम में क्यों नहीं दिखाई देता? तथा जैन दर्शन में वस्तु का सर्वनाश नहीं मानते, अन्त में भी पर्यायान्तर होता है। घट कपालवस्था में भी मृतिकाद्रव्य रूप में रहता ही है, अगर सर्वनाश हो तो वह कपालरूप में भी न रहे, अभाव हो जाये। घटादि के लिए अन्त में विनाश की कल्पना कर सकते हैं किन्तु आकाश, काल, दिशा आदि पदार्थों का अन्त में भी नाश नहीं होता है, इन्हें किस प्रकार क्षणिक सिद्ध कर सकते हैं?'

नय दो प्रकार का है — द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय का मत है कि सभी वस्तुएँ नित्य स्वभाव वाली हैं तथा पर्यायार्थिक नय से समस्त वस्तुएँ उत्पाद-विनाश स्वभाव से युक्त हैं।³ इन दोनों में से जब हम किसी एक नय को मान लेते हैं तो मिथ्यात्व होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त पर्यायवान है। दोनों नयों के

¹ छिन्नेण अछिन्नेण व किं संतापेण सव्वनट्टस्स।

किं व अभविभूयस्स, स परसंताणचिंताए॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2410

² अंते व सव्वनासो पडिवण्णो केण जदुवलद्धीओ।

कप्पेसि खणविणारसं नणु पज्जायंतरं तंपि॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2413

³ जज्जायनयमयमिणं जं सव्वं पइसमयविगय संभवसहावं।

दव्वट्ठयस्सणिच्चं एणसमयं, एकयरमयं च मिच्छंतं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2415

मानने पर ही सुख-दुःख, बन्ध और मोक्ष आदि घटित होते हैं। किसी एक को छोड़ देने पर समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जाता है।¹

मात्र पर्यायार्थिक नय को मान लेने पर संसार में सुख-दुःखादि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि जीव तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगा। केवल द्रव्यार्थिक नय मानने से भी सुख-दुःखादि की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों को स्वीकार करना चाहिए।²

इस वाद का खण्डन प्रयोगात्मक रूप से खण्ड-रक्षक श्रावकों ने किया। एक बार अश्वमित्र कम्पिलपुर पहुँचा। वहाँ पर समुच्छेदवाद की प्ररूपणा करने लगा। शुल्कपाल पद पर नियुक्त खण्डरक्षक श्रावकों ने उन्हें निहनव जान कर मारना प्रारम्भ किया। भयभीत अश्वमित्र तथा उसके साथियों ने कहा - तुम लोग श्रावक हो, हम साधुओं को क्यों मारते हो? तब श्रावकों ने पुछा - तुम कहाँ जन्में? कहाँ पर दीक्षा ली? अश्वमित्र ने कहा - मैंने अमुक समय पर अमुक आचार्य के पास दीक्षा ली। श्रावकों ने कहा - वे तो उसी समय नष्ट हो गये, तुम साधु वेश में चोर हो। इस शिक्षा से अश्वमित्र ने अपना आग्रह छोड़ दिया।

सारांश

आगम के कथन को पूर्णरूप से समझ नहीं पाने के कारण अश्वमित्र ने यह निश्चय किया कि - सभी जीवों का उच्छेद हो जायेगा, तथा पुण्य-पाप आदि की व्यवस्था नहीं रहेगी। जबकि आगम का कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव नित्य है किन्तु पर्याय की अपेक्षा हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। क्षणिकवाद के अनुसार सब वस्तुओं का परिवर्तन क्षण-क्षण में होता है, पर वे एकान्त रूप से मानते हैं जिससे कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

आर्य गंग का द्विक्रिया उपयोगवाद और उसकी समीक्षा

द्वैक्रियवाद - द्वैक्रियवादी एक ही क्षण में एक साथ दो क्रियाओं का अनुवेदन मानते हैं। आर्य गंग इस मत के प्रवर्तक थे। एक बार आर्य गंग शरद ऋतु में आचार्य

¹ सुह-दुक्ख बंध मोक्खा, उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता।
एगयरपरिच्चाए, सव्वववहारवोच्छित्ति। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2417

² न सुहाइ पज्जपमए नासाओ सव्वहा मयस्सेव।
न य दव्वट्ठियपक्खे, निच्चत्तणओ वभरस्सेव। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2418

धनगुप्त को वन्दना करने निकले, मार्ग में उल्लुका नदी थी, वे नदी में उतरे, ऊपर सूरज तप रहा था, नीचे पानी की ठण्डक थी। उन्हें नदी पार करते समय सिर को सूर्य की गर्मी और पैरों में पानी की ठण्डक का अनुभव हो रहा था। उन्होंने सोचा – आगमों में बताया है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, दो का नहीं, किन्तु मुझे प्रत्यक्षतः एक साथ दो क्रियाओं का वेदन हो रहा है। गुरु को बात बतायी, उन्होंने समझाया किन्तु वे नहीं माने, तथा मिथ्यात्ववश द्विक्रियावाद की प्ररूपणा करने लगे।¹

समीक्षा

पूर्वपक्ष – द्विक्रियावाद के अनुसार एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव सम्भव है। जैसे कि पैरों में शीतलता तथा सिर पर गर्मी का अनुभव। उत्तरपक्ष—वीतराग जिनेश्वर का कथन है कि – एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव नहीं होता है, बल्कि क्रम से होता है। समय अत्यन्त सूक्ष्म होने से तथा चंचल व मन की शीघ्रगमिता से ऐसी भ्रान्ति होती है कि अनुभव एक साथ ही हो रहा है।

मन अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्धों से निर्मित है, अतः वह सूक्ष्म है तथा शीघ्र संचरण स्वभाव वाला होने के कारण आशुगामी है। पदार्थों का ज्ञान तभी होता है जब इन्द्रियों का मन के साथ सम्बन्ध होता है। स्पर्श—रस—गन्ध—वर्णादि द्रव्येन्द्रिय से जितने भाग तक मन का सम्बन्ध होता है, उस समय उतना ही ज्ञान होता है। इस कारण दूर और भिन्न देशों में रही हुई दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ और एक समय नहीं हो सकता।

सिर और पैर के द्वारा एक साथ होने वाले शीतोष्णता का अनुभव बताया है, वह नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों भिन्न—भिन्न देश में रहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति विन्ध्याचल और हिमालय के शिखरों को एक साथ नहीं छू सकता है, उसी प्रकार भिन्न देशों के क्रियाद्वयवाद असिद्ध है।²

जीव उपयोग लक्षण से युक्त है, वह जिस समय, जिस इन्द्रिय के द्वारा, जिस विषय के साथ संयुक्त होता, उस समय उसी का ज्ञान करता है। अर्थात् आत्मा एक समय में एक अर्थ में ही उपयोग लगता है। जैसे – कोई बालक मेघ के उपयोग में लगा

¹ सुहुमासुचरं चित्तं, इन्द्रियदेसेणं जेण जं कालं।

संवज्झइ तं तम्मत्तन्नाणहेउत्ति नो तेण॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2429

² उवलभए किरियाओ जुगवं दो दुरभिण्णदेसाओ।

पाय-सिरोगयसीउण्हवेयणाणु भवरुवाओ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2430

हुआ है तो उसी में तन्मय हो जाता है, वह दूसरी सब बातें भूल जाता है। इसलिए एक साथ एक समय दो क्रियाओं का अनुभव असिद्ध है। एक साथ अनेक अनुभव होने से सांकर्य दोष प्राप्त होता है। जिस समय उपयोगमय आत्मा जिस वस्तु के उपयोग में रहता है उस समय वह सर्व आत्म-प्रदेशों से रहता है, कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचता है जिससे वह दूसरी क्रिया का अनुभव कर सके।¹

दो क्रियाओं का एक साथ अनुभव भ्रान्ति के कारण होता है, जैसे -- 100 कोमल पत्ते एक-दूसरे पर रखें फिर उन्हें तेज भाले से एकदम छेदा जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक साथ छिद गए। यह निश्चित है कि पत्ते क्रम से ही छिदते हैं, किन्तु समय की शीघ्रता के कारण ऐसा अनुभव होता है।

इसी प्रकार आलातचक्र (जिसे लाठी के दोनों कोनों पर आग लगाकर घुमाने से बनाने वाला अग्निचक्र) घुमाने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अग्नि का एक चक्र है जिसके चारों ओर आग फैल रही है, वास्तव में ऐसा नहीं है। यह निश्चित है कि दो क्रियाओं का उपयोगकाल भिन्न-भिन्न है।

मन एक साथ दो इन्द्रियों या इन्द्रिय के देशों के साथ सम्बद्ध नहीं होता, किन्तु शीघ्रगामी होने से ऐसा भ्रम होता है कि वह सबके साथ सम्बद्ध है। जैसे -- पापड़ खाते समय उसके शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का अनुभव एक साथ होता है, वास्तव में सभी ज्ञानों के क्रमशः होने पर भी एक साथ मालूम पड़ता है। उसी प्रकार शीत और उष्ण का स्पर्श पैर और सिर में क्रमिक होने पर भी एक साथ अनुभव होता है।²

यदि एक साथ दो क्रियाओं का उपयोग होता है तो फिर अन्यमनस्क व्यक्ति को अपने सामने रही वस्तु का उपयोग क्यों नहीं होता? अथवा यदि दो वस्तु का उपयोग एक साथ होता है तो फिर दो क्रियाओं को ही क्यों मानते हैं? क्योंकि अबधिज्ञानी एक पदार्थ में अधिक से अधिक असंख्यात पर्याय और केवलज्ञानी अनन्त पर्याय को जानता है। इस प्रकार कई उपयोग होने लगेंगे।

¹ उवओगमओ जीवो, उववज्जइ जेण जम्मि जं काले।

सो तम्मओवओओ होइ, जहिंदोव ओगम्मि ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2431

² चित्तं पि नेंदियाइं समेइ, सम्मह य खिप्पचारित्ति।

समयं व सुवकसवकुल्लिदसणे सब्बोवलक्खित्ति ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2434

यदि यह मानें कि एक वस्तु में, एक समय में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि अनेक उपयोग होते हैं, अतः एक समय में कई उपयोग हो भी सकते हैं। किन्तु यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अवग्रहादि से वस्तु के अनेक पर्यायों को जाना जाता है। उपयोग उत्तरोत्तर अलग-अलग पर्यायों को भिन्न-भिन्न समय में ग्रहण करता है।¹

यदि एक साथ अनेक अर्थों को ग्रहण कर सकते हैं तो एक साथ शीत-उष्ण पदार्थ ग्रहण क्यों नहीं कर सकते? पर यहाँ एक अनेक अर्थों का ग्रहण सामान्य रूप से होता है। उपयोग दो प्रकार का है – सामान्य और विशेष। जैसे – यह लश्कर (सेना) की छावनी है, यह सामान्य उपयोग है और विशेषग्राही उपयोग अनेक उपयोग वाला कहलाता है। जैसे – यह हाथी है, यह घोड़ा है, यह रथ है इत्यादि।² इस प्रकार उपयोग और अर्थाग्रह भिन्न-भिन्न हैं, सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मुझे वेदना हो रही है किन्तु शीत-उष्ण का वेदन विशेष उपयोग से होता है और वह क्रम से होता है। सामान्य ज्ञान अवग्रह रूप है और विशेषज्ञान अवायरूप है, दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। वस्तु का पहले सामान्य ज्ञान होता है, फिर विशेष। इसी प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भी क्रम से होते हैं।³

जिस प्रकार सामान्य और विशेषज्ञान एक साथ नहीं हो सकते, उसी प्रकार बहुत से विशेषज्ञान भी एक साथ नहीं होते। एक विशेषज्ञान के बाद द्वितीय क्षण में दूसरा विशेषज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि विशेषज्ञान से पहले सामान्य ज्ञान का होना आवश्यक है। जैसे – यह घड़ा है, यह सामान्य ज्ञान अर्थात् अवग्रह हुआ, तत्पश्चात् 'यह धातु का बना हुआ है या मिट्टी का?' इस प्रकार संशय होने पर ईहा हुई, फिर अवाय में 'यह धातु का बना हुआ है' इस प्रकार निश्चय हुआ। यह धातु का है, उत्तर भेद की अपेक्षा से सामान्य ज्ञान हुआ। सामान्य को ग्रहण करने के बाद 'यह चांदी का है या ताम्बे का' इस प्रकार संशय होने पर ईहा हुई, फिर अवाय में निश्चित हो जाता है कि 'यह घड़ा ताम्बे

¹ सखिंदिओवलंभे जइ संचारो मणस्स दुल्लक्खो।

एगिदिओवओगंतरंभि, किह होउ सुल्लक्खो।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2435

² समयमणेगग्रहणे एगाणेमोवओगभेओ को।

सामण्यमेगजोगो, संधावागेवओगोव्व।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2440

³ उस्सिणेयं सीयेयं न विभागो नोवओगदुगमिट्ठं।

होज्ज समं दुगग्रहणं सामण्णं वेयणा मेत्ति।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2443

का है। समीक्षा करने पर यह सिद्ध हुआ कि दो क्रियाओं का ज्ञान भिन्न-भिन्न समय में होता है।¹

आर्य गंग को यह मिथ्या धारणा हुई कि एक साथ दो क्रियाओं का वेदन होता है, गुरु ने कई युक्तियों से समझाया किन्तु वे समझे नहीं और अपने मत की प्ररूपणा करने लगे। एक बार राजगृह नगर में महातपस्तीरप्रभव नामक झरने के किनारे मणिनाग नामक यज्ञ के चैत्य में रुके। सभा में द्वैक्रियवाद का निरूपण किया, तब क्रुद्ध मणिनाग ने कहा - 'अरे दुष्ट! तुम जिन भगवान के कथन को मिथ्या सिद्ध कर रहे हो, इस झूठे उपदेश को छोड़ दो, नहीं तो मार डालूंगा। तब आर्य गंग ने मिथ्या धारणा छोड़ दी।

रोहगुप्त का त्रैराशिकवाद और उसकी समीक्षा

त्रैराशिक मत का अर्थ है -- जीव, अजीव और नोजीव। इस प्रकार की तीन राशियों का सदभाव मानना।

एक बार रोहगुप्त किसी अन्य ग्राम से अतिरंजिका नगरी के भूतगृह नामक चैत्य में ठहरे हुए अपने गुरु श्रीगुप्त को वन्दना करने जा रहा था। मार्ग में पोट्टिशाल नामक परिव्राजक मिला, जो स्वयं को भूलोक का एकमात्र विद्वान समझता था तथा जम्बूद्वीप में मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता एतदर्थ जम्बू वृक्ष की शाखा रखता था। रोहगुप्त ने उसके साथ वाद करने की चुनौती दी। आचार्य को ज्ञात होने पर उन्होंने परिव्राजक को पराजित करने के लिए उसको जो 7 विद्याएँ आती थीं, उसी के प्रत्युत्तर में आचार्य ने 7 विद्याएँ सिखाई --

वृश्चिक विद्या	—	मायूरी
सर्प विद्या	—	नाकुली
मूषक विद्या	—	बिडाली
मृगी विद्या	—	व्याघ्री
वराही विद्या	—	सिही
काक विद्या	—	उलूकी
पोतकी विद्या	—	उलावकी

¹ जं च विसेसब्बाणं सामन्नब्बाण पुव्वयमवरस।
तो सामण्य विसेसब्बाणाइं वेगसमयम्मि।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2445

इन विद्याओं के अतिरिक्त उन्होंने उसे एक अभिमंत्रित रजोहरण भी दिया जिससे कि पराजित नहीं होना पड़े।

राजा बलश्री के समक्ष वाद प्रारम्भ हुआ। परिव्राजक ने अपने पक्ष की स्थापना करते हुए कहा -- राशि दो हैं -- जीव राशि और अजीव राशि।

रोहगुप्त ने तीन राशियों की स्थापना करते हुए कहा कि -- परिव्राजक का कथन मिथ्या है। विश्व में प्रत्यक्षतः तीन राशियाँ उपलब्ध हैं। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि जीव हैं, घट-पट आदि अजीव हैं तथा छिपकली की कटी पूँछ नोजीव है। इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा रोहगुप्त ने परिव्राजक को निरुत्तर कर दिया। षोडशाल परिव्राजक को पराजित कर रोहगुप्त गुरु के समीप आया और सारा हाल सुनाया, गुरु ने कहा -- तुम जीत गये, यह ठीक है किन्तु यह हमारा सिद्धान्त (जिनप्रज्ञप्त) नहीं है, जिन मत में जीव और अजीव दो ही राशियाँ हैं।¹ रोहगुप्त नोजीव को तीसरी राशि मानने लगा, उसका कथन था कि -- नोजीव अर्थात् जीव का एक देश, न कि जीव का अभाव। छिपकली की कटी हुई पूँछ को जीव नहीं कहा जा सकता, और न ही अजीव कहा जा सकता क्योंकि उसमें हलन-चलन होती है, बल्कि वह तो शरीर का खण्डविशेष है तथा विलक्षण है।

शास्त्रों में कहा गया है -- "अजीवा दुविहा पण्णता, तंजहा रुवि अजीवा य अरुवी अजीवा य। रुवि अजीवा चउव्विहा पण्णता, तंजहा -- खंधा, देसा, पएसा, परमाणु, पोगला। अरुवि अजीवा दसविहा पण्णता, तंजहा -- धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकाएस्सदेसे, धम्मत्थिकायस्सपएसे एवम धम्मत्थिकाएवि, आगासत्थिकाएवि अद्धासमए।"

अजीव दो प्रकार के हैं -- रूपी अजीव और अरूपी अजीव। रूपी अजीव चार प्रकार के हैं -- स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। अरूपी अजीव 10 प्रकार के हैं -- धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश और धर्मास्तिकाय का प्रदेश। इसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के 3-3 भेद मिलकर 9, तथा 10 अद्धासमय।

इस सूत्रांश से सिद्ध होता है कि जब धर्मास्तिकाय के अखण्ड होने पर भी स्थविरों ने स्कन्ध, देश, प्रदेश के रूप में खण्ड की कल्पना कर ली है तो छिन्न अवयव को नोजीव क्यों नहीं कहा जा सकता?

¹ जं देसजिसेहपरो, नोसहो जीवदव्वदेसा य।

गिहकोइलाइपुच्छं, विलक्खणं तेण नो जीवा।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2460

अनुयोगद्वार में नयविचार में बताया गया है कि – समभिरुद्ध नय, शब्दनय को कहता है कि “जह कम्मधारण भणसि तो एवं भणाहि – जीवे य से पएसे य से, से पएसे नोजीवे।” अर्थात् जीव रूप जो प्रदेश है उसके स्वप्रदेश नोजीव हैं। जैसे – घट का एक देश नो घट है, वैसे ही जीव का एक देश नो जीव है, यह सिद्ध हो रहा है। जीव और अजीव की सिद्धि के साथ नोजीव भी आगम से सिद्ध है।¹

समीक्षा

प्रमाण चार प्रकार के माने गये हैं – प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और आगम। आगम अर्थात् आप्त पुरुषों का वचन, जिसमें कोई बाधा नहीं है। जिस आगम वचन से नोजीव की सिद्धि के लिए उद्धरण दिये हैं, उन्हें आगमों में निम्नानुसार कहा गया है –

1. स्थानांग सूत्र – “दुवे रासी पण्णता, तंजहा जीवा चेव अजीवा य” दो राशि कही है – जीव राशि और अजीव राशि।²
2. अनुयोग द्वार – कइविहा णंभंते। दव्वा पण्णता?

गोयमा! दुविहा पण्णता, तंजहा जीवदव्वा य अजीवदव्वा। अर्थात् हे भगवन्त! द्रव्य कितने प्रकार के हैं?

हे गौतम! द्रव्य दो प्रकार के हैं – जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया है कि – जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।³

इस प्रकार किसी भी आगम में नोजीव की प्ररुपणा नहीं की है। जो धर्मास्तिकाय आदि के देश कहे हैं वे देश उनसे भिन्न नहीं हैं, विवक्षामात्र से भिन्न कहे गए हैं। इसी तरह पूँछ भी छिपकली से अभिन्न ही है, क्योंकि वह उसी के साथ लगी हुई है।

शरीर के छिन्न अवयव में रहे हुए जीव प्रदेशों के साथ शरीर में रहे जीव-प्रदेशों का कमलनाल-तन्तुवत् सम्बन्ध बना रहता है। अतः वह नोजीव नहीं हो सकता। यह बात भगवतीसूत्र में बताई गई है –

¹ अनुयोगद्वारसूत्र, प्रमाणद्वार

² स्थानांगसूत्र, द्वितीय स्थान

³ उत्तराध्ययनसूत्र, 36/2

हे भगवन्! कछुआ, कछुए के अवयव, मनुष्य, मनुष्य के अवयव, गोह, गोह के अवयव, गाय, गाय के अवयव, महिष, महिष के अवयव — इनके दो तीन या असंख्यात टुकड़े हो जाने पर क्या बीच में जीव प्रदेश रहते हैं?

हाँ, रहते हैं।

हे भगवन्! क्या कोई पुरुष उन जीव प्रदेशों को अपने हाथ से छूकर या किसी तरह पीड़ा पहुँचा सकता है?

नहीं, यह बात सम्भव नहीं है। वहाँ शस्त्र की गति नहीं होती।¹

इन वाक्यों से जीव और उनके कटे हुए भाग के बीच में जीव प्रदेशों का होना सिद्ध होता है, किन्तु कर्मण शरीर के सूक्ष्म और आत्मप्रदेश अमूर्त होने से वे किसी को दिखाई नहीं देते।

यदि यह शंका करें कि खंडित अवयव में स्फुरणादि से जीव के प्रदेशों का स्पष्ट आभास होता है, वैसे अन्तराल गति में जीव का आभास क्यों नहीं होता? इसका समाधान है कि — जैसे दीपक का प्रकाश आकाश (अन्तराल) में नहीं दिखाई देता, वह प्रकाश दीवाल या घटपटादि पदार्थों का संयोग पाकर दिखाई देता है, वैसे ही जीव-प्रदेश भी अन्तराल में नहीं दिखते हैं, वे भाषा, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओं से ज्ञात होते हैं।² सामान्य प्राणी तीन वस्तु नहीं देख पाता — 1. सिद्धों को, 2. निगोद के जीवों को तथा 3. कर्मणकाय योग वाले जीव को। अन्तरालवर्ती जीव प्रदेशों को कोई भी शस्त्रादि से बाधा नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि आत्मा अमूर्त द्रव्य, अकृत और विकार रहित तथा विनाश के कारणों से रहित है और आकाशवत् अखण्ड है, इसके टुकड़े नहीं होते हैं, अतः नोजीव नहीं होता।³

यदि शस्त्र छेदन से जीव-प्रदेशों का खण्ड-खण्ड रूप से नाश मान लिया जाये तो फिर अनुक्रम से धीरे-धीरे जीव के सर्वप्रदेशों का नाश हो जायेगा। जो वस्तु खण्डशः नष्ट होती है, उसका घट-पटादि की तरह सर्वनाश भी होता है। जबकि जैन दर्शन में

¹ भगवतीसूत्र

² गज्झा मुत्तिगयाओ, नागासे जह पईवररसीओ।

तह जीवलक्खणाइं, देहे न तदंतरालम्मि॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2465

³ देहरहियं न गिण्हइं, निरतिसओ नातिसुहुमदेहं व।

न य से होइ विबाहा, जीवरस भवन्तराल्लेव॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2466

विद्यमान जीव का पूर्णरूप से विनाश और अविद्यमान जीव का सर्वथा उत्पाद नहीं माना जाता है। जैसे कि -

जीवा णं भन्ते! किं वढ्ढन्ति, हायन्ति, अवड्डिया।

गोयमा? णो वढ्ढन्ति, नो हायेति, अवड्डिया।।

हे भगवन्! जीव बढ़ते हैं, घटते हैं या एक समान स्थिर हैं?

भगवान ने कहा - हे गौतम! जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, वे हमेशा स्थिर रहते हैं।¹

जीव का सर्वनाश मान लेने से मोक्ष का अभाव, दीक्षा की निष्फलता, संसार की शून्यता और कृतनाश आदि कई दोष प्राप्त हो जायेंगे। अतः जीव का खंडशः नाश मानना युक्त नहीं है। छिपकली की जो पूँछ है वह औदारिक शरीर की है, उस शरीर का नाश होता है, पर जीव का नाश नहीं होता।²

यदि यह प्रश्न करें कि जैसे पुद्गल में संघात और भेद होता है, वैसे ही जीव में भी संघात और भेद हो सकता है। जैसे - एक पुद्गल स्कन्ध में दूसरे स्कन्ध के परमाणु आकर मिलते हैं और उससे अलग होकर दूसरी जगह चले जाते हैं, वैसे ही जीव में भी दूसरे जीव के प्रदेश आकर मिलते रहेंगे और उस जीव के अलग होते रहेंगे। इस प्रकार मानने से जीवों का सर्वनाश नहीं होगा। एक तरफ से खण्डशः नाश होता रहेगा, दूसरी ओर से प्रदेशों का संघात होता रहेगा।

यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गल का तो स्वभाव ही मिलने-बिखरने का है। पुद्गल = पुरण-गलन इन दो शब्दों का मेल है। पुद्गल में संघातक और विघातक - ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता, और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं कर पाते। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जाकर मिलने की शक्ति नहीं है।

¹ भगवतीसूत्र

² नासे य सख्खनासे, जीवनासे य जिणमयच्चाओ।

ततो य अभिमुक्खो, दिक्खावेफल्लदोसा य।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2468

यदि जीव प्रदेशों में संघात और भेद मानें तो सर्व जीवों का परस्पर में सांकर्य हो जायेगा और एक जीव के बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को भोगना पड़ेगा, इस प्रकार कृत नाश और अकृत का अभ्यागम होने से सुख-दुःखादि की व्यवस्था टूट जायेगी।

यदि यह कहें कि जैसे धर्मास्तिकाय से अभिन्न प्रदेश भी “नोधर्मास्तिकाय” कहा जाता है, उसी प्रकार जीव प्रदेश जीव से अलग न होने पर भी ‘नोजीव’ कहा जा सकता है? यह कथन कई प्रश्न उपरिथत करता है। यदि प्रत्येक प्रदेश को ‘नोजीव’ कहा जाये तो जीव के असंख्यात प्रदेश हैं, वे सब नोजीव हो जायेंगे, जिससे जीव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।¹ इसी प्रकार अजीव भी नोजीव हो जाएगा, क्योंकि धर्मास्तिकाय आदि द्वयणुक और घटादि में अजीव के प्रदेश हैं, अजीव का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार दो ही राशियाँ रह जायेंगी। — 1. नोजीव और 2. नोजीव। तीन राशियाँ सिद्ध नहीं होंगी।²

छिपकली के कटे अवयव में हो रही हलन-चलन की क्रिया को सजीव मानें तो युक्त है, किन्तु यदि उसे नोजीव मानते हैं तो घड़े आदि को अजीव है उसके एक टुकड़े को नोजीव कहना पड़ेगा। इस तरह चार राशियाँ होंगी। — 1. जीव, 2. अजीव, 3. नोजीव तथा 4. नोजीव। जबकि छिपकली की कटी हुई पूँछ जीव है क्योंकि उसमें स्फुरणादि जीव के लक्षण पाये जाते हैं।³

अनुयोग द्वार में जो नोजीव का कथन है, वह समभिरुद्ध नय की अपेक्षा से है। समभिरुद्ध नय विशेष्य और विशेषण को अभिन्न मानता है। अतः वह जीव से भिन्न प्रदेश को ‘नोजीव’ नहीं कहता, बल्कि जीव से अभिन्न प्रदेश को ही ‘नोजीव’ शब्द से व्यवहार करता है। जैसे नीलकमल, यह कर्मधारेय समास के समान है जो देश और देशी को अलग नहीं मानता है। अतः सिद्ध हुआ कि नोजीव राशि जीव राशि से अभिन्न है, उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यदि नैगमनय की तरह तत्पुरुष समास होता तो भेद हो सकता था।

¹ अह अविमुक्कोवि तओ नोजीवो तो पइप्पएसं।

जीवम्मि असंखेज्जा नो जीवा नत्थि जीवो ते॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2470

² एवमजीवावि पइप्पएसभेएण नो अजीवत्ति।

नत्थि अजीवा केई कयरे ते तिन्नि रासित्ति॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2471

³ एवंपि रासिओ ते न तिन्नि चत्तारि संपसज्जंति।

जीवा तहा अजीवा नो जीवा नो अजीवा य॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2473

यदि जीव से भिन्न प्रदेशों को नो जीव रूप में माना भी जाय तो यह मान्यता एक नय की है और वह एकान्तवाद होने से मिथ्या है, जबकि सर्वनयात्मक वचन ही जिनमत है।¹

इस त्रैराशिकवाद का खण्डन प्रयोगात्मक रूप से आचार्य श्रीगुप्त ने किया। जब उन्हें लगा कि रोहगुप्त अपने मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करेगा, अतः उससे पहले ही जनता को सही ज्ञान बता दिया जाये। उन्होंने राजसभा में 6 महिने तक शिष्य के साथ वाद-विवाद किया। अन्त में उसका निग्रह इस प्रकार किया। कृत्रिकापण अर्थात् जहाँ तीन लोक में जितनी वस्तुएँ हैं, धातु, जीव या मूल से बने हुए जितने पदार्थ हैं वे सब उपलब्ध रहें, यदि उस दुकान से नोजीव नाम की कोई वस्तु मिल जायेगी तो तीन राशियाँ मान लेंगे। और नहीं मिली तो संसार में उसका अभाव मान लेंगे।²

राजा रोहगुप्त और आचार्य श्रीगुप्त आदि सभी कृत्रिकापण में गये। उस रोहगुप्त ने एक वस्तु को चार तरह से मांग की -

पृथ्वी लाओ, तब देव ने मिट्टी का ढेला लाकर दे दिया, क्योंकि पूरी पृथ्वी लाना तो असम्भव है। ढेले में पृथ्वित्व जाति है, तथा स्त्रीलिंग है इसलिए वक्ता का अभिप्राय समझकर ढेला ला दिया। रोहगुप्त ने कहा - अपृथ्वी लाओ तब देव ने जल लाकर दे दिया।

तत्पश्चात् नो पृथ्वी लाओ, कहने पर देव ने ढेले का टुकड़ा लाकर दे दिया। क्योंकि जब ढेले में पृथ्वित्व का व्यवहार हो सकता है, तो उसके एक देश में नो शब्द का प्रयोग करके उसे नोपृथ्वी मान लिया गया।

रोहगुप्त ने कहा - नोपृथ्वी लाओ, तब देव ने ढेला और जल दोनों लाकर दे दिये। 'नो' शब्द के दो अर्थ हैं - सर्वनिषेध और देशनिषेध। प्रथम पक्ष में दो निषेधों के मिलने से 'नोअपृथ्वी' का अर्थ का पृथ्वी हो गया, इसलिए ढेला दिया, देश निषेध पक्ष में अपृथ्वी का अर्थ जलादि का एक देश ही नोपृथ्वी कहा जायेगा, अतः देव ने जल ला दिया।

¹ तं जइ सव्वनयमयं जिणमयमिच्छसि पत्वज्ज दो रासी।

पयविप्पडिवत्तीएऽवि मिच्छतं किं नु रासीसु।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2480

² सिरिगुत्तेणं छलुगो छम्मास विकड्ढिऊणवाए जिओ।

आहरण कुत्तिआवण, चोयालयएल पुच्छणं।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2489

इस प्रकार उसने 144 प्रश्न किये – 6 मूल पदार्थ – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायो द्रव्य के 9 – भूमि, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

गुण के 17 – रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, महत्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

कर्म 5 – उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन।

सामान्य 3 – सत्ता सामान्य, सामान्य विशेष, विशेष।

इन 36 प्रश्नों को प्रकृति से, अकारात्मक से, नोकारात्मक और उभयनिषेध से पूछें, जैसे – प्रकृति से पृथ्वी, आकार से अपृथ्वी, नोकार से नोपृथ्वी और उभय-निषेध से नोअपृथ्वी। इस प्रकार 36 भेद को चार बार पूछने पर 144 प्रश्न हुए।

पृथ्वी मांगने पर मिट्टी का ढेला, अपृथ्वी से जलादि नो पृथ्वी से ढेला का एक टुकड़ा, नो अपृथ्वी से पुनः जल दिया, किन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि मूलतः दो ही प्रकार के पदार्थ हैं, क्योंकि देव व्यवहार नय से सावयव वस्तु का पृथ्वी, अपृथ्वी और नोपृथ्वी इन तीन प्रकार से देता है किन्तु निश्चय नय से तो पृथ्वी और अपृथ्वी ये दो ही दे सकता है।

जब रोहगुप्त ने जीव मांगा तो देव शुक-सारिकादि ले आया। अजीव मांगने पर पत्थर का टुकड़ा लाया, नोजीव मांगने पर फिर पत्थर तथा नोअजीव मांगने पर शुक-सारिका आदि लाया। इस प्रकार जीव के बारे में पृच्छा करने पर दो ही पदार्थ उपलब्ध हुए – जीव और अजीव। जीव के टुकड़े नहीं होते क्योंकि वह निरवयव है। इस प्रकार रोहगुप्त पराजित हुआ।¹

गोष्ठामाहिल का अबद्धिकवाद और उसकी समीक्षा

अबद्धिक मत का अर्थ है – कर्म आत्मा के साथ बद्ध नहीं होते, सिर्फ स्पर्श करते हैं।

गोष्ठामाहिल अबद्धिक मत का प्रवर्तक था। दशपुर नगर में यह प्रारम्भ हुआ। दशपुर नगर में आर्यरक्षित ब्राह्मणपुत्र थे, उन्होंने वेदों – पुराणों का अध्ययन किया।

¹ विशेषावश्यकभाष्य, पृ. 318-322

तत्पश्चात् वे घर पर आये। वहाँ माता से प्रेरित होकर जैन आचार्य तोसलिपुत्र से भागवती दीक्षा ग्रहण कर दृष्टिवाद का अध्ययन प्रारम्भ किया और तदन्तर आर्य वज्र के पास 9 पूर्वों का अध्ययन सम्पन्न कर 10वें पूर्व के 24 यविक ग्रहण किये।

ऐसे महान आचार्य के तीन प्रमुख शिष्य हुए – 1. दुर्बलिकापुष्यमित्र, 2. फल्गुरक्षित एवं 3. गोष्ठामाहिल। उन्होंने अन्तिम समय में दुर्बलिकापुष्यमित्र को योग्य जानकर गण का भार सौंपा। गोष्ठामाहिल की अनुपस्थिति में यह कार्य हुआ। जब उसे ज्ञात हुआ कि आचार्य पद दुर्बलिकापुष्यमित्र को मिला तो वह अलग स्थान पर रुका और प्रवचन में भी नहीं आया, क्योंकि वह आचार्य पद पाने का इच्छुक था। दुर्बलिकापुष्यमित्र जो प्रवचन करते थे वह प्रवचन गोष्ठामाहिल मुनि विन्ध्य के द्वारा सुनता था।

एक बार आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र आठवें कर्मप्रवाद पूर्व का अर्थ विवेचन कर रहे थे। उसमें एक प्रश्न यह था कि जीव के साथ कर्मों का बंध किस प्रकार होता है? उसके समाधान में उन्होंने कहा कि कर्म का बंध तीन प्रकार से होता है –

1. स्पृष्ट – कुछ कर्म जीव प्रदेशों के साथ स्पर्श मात्र करते हैं और कालान्तर में स्थिति का परिपाक होने पर (पूर्ण होने पर) उनसे अलग हो जाते हैं। जैसे – सूखी दीवाल पर फेंकी गई रेत दीवाल का स्पर्श मात्र कर नीचे गिर जाती है, वैसे ही कर्म कषायरहित आत्मा से बंधते हैं और दूसरे समय में उदय में आकर अल्पकाल में जीव-प्रदेश से छूट जाते हैं।
2. स्पृष्टबद्ध – कुछ कर्म जीव-प्रदेशों का स्पर्श कर बद्ध होते हैं और वे भी कालान्तर में अलग हो जाते हैं। जैसे गीली दीवाल पर फेंकी गई रेत, कुछ चिपक जाती है और कुछ नीचे गिर जाती है, वैसे ही कर्मपुद्गल जीव प्रदेशों के साथ स्पृष्ट (संयोग) होते हैं, और बद्ध अर्थात् एकमेक हो जाते हैं किन्तु एक काल बाद छूट जाते हैं।
3. बद्ध-स्पृष्ट निकाचित – कुछ कर्म गाढ़ अध्यवसाय वाले होने से जीव प्रदेशों के साथ गाढ़ रूप में बंध को प्राप्त करते हैं। इसमें अपवर्तनादिकरण का प्रयोग नहीं होता है। जैसे गीली दीवाल पर लगाया गया हाथ का चित्र।¹

¹ कम्मपवायपुव्वे बद्धं पुच्छं निकाइयं कम्मं।

जीवपएसेहिं समं, सूईकलावोवमाणाओ।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2513

इन तीनों प्रकार के बंध को सूचिकलाप की उपमा देकर और स्पष्ट किया जाता है -

जो कर्म धागे में लपेटी हुई सूईयों के समान होते हैं, उन्हें "बद्ध" कहते हैं। जो कर्म लोहे की पत्ती से लपेटी हुई सूईयों के समान हैं, वे कर्म "बद्ध स्पृष्ट" कहलाते हैं। सूईयों को आग में तपाकर हथौड़े से पीटने पर उनसे बने हुए पिण्ड की तरह जो कर्म होते हैं, उन्हें "बद्ध स्पृष्ट अथवा निकाचित" कहा जाता है।

निकाचित और अनिकाचित में यह अन्तर है कि निकाचित कर्मों में अपवर्तनादि 8 करण नहीं होते हैं, और अनिकाचित कर्मों में होते हैं। 8 करण इस प्रकार हैं -

- | | |
|-------------|--------------|
| 1. अपवर्तना | 2. उद्वर्तना |
| 3. संक्रमण | 4. क्षपण |
| 5. उदीरणा | 6. उपश्रावणा |
| 7. निधत्त | 8. निकाचना |

कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् या आग्नि-लौह-पिण्ड के समान सम्बन्ध होता है। यह विवेचन विन्ध्य मुनि से गोष्ठामाहिल ने सुना तो विचार किया कि यह सिद्धान्त गलत है, क्योंकि इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर तो मोक्ष का अभाव हो जायेगा, अतः जीव और कर्म का सम्बन्ध सर्प-कंचुकीवत् स्पृष्ट मानना चाहिए। जैसे - कंचुकी सर्प को स्पर्श करती हुई उसके साथ रहती है, उसी तरह कर्म भी रहते हैं। सर्प जिस तरह कंचुकी छोड़ देता है, उसी तरह कर्म भी छूट जायेंगे, और मोक्ष भी मिल जायेगा।¹

समीक्षा

आचार्य ने इस शंका की समीक्षा की तथा समाधान किया कि कर्म और जीव का सम्बन्ध सर्प-कंचुकीवत् मानने पर कई दोष उपस्थित होते हैं।

जैसे कि कर्म जीव के प्रत्येक प्रदेश को स्पर्श करता है या शरीर की त्वचा का ही स्पर्श करता है। यदि कर्म जीव के प्रत्येक प्रदेश को स्पर्श करता है तो कर्मों को जीव में

¹ पुट्टे जहा अबद्धो, कंचुङ्गं कंचुओ समन्नेइ।
एवं पुट्टबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2517

सर्वव्यापक मानना पड़ेगा। आकाश की तरह कर्म जीव के हर एक प्रदेश में व्याप्त होने से सर्वगत हो जायेंगे। इस प्रकार सर्वप्रदेशों के साथ कर्म का स्पर्श मानने पर सर्प-कंचुकवत् सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा।¹

यदि कर्म शरीर की त्वचा को ही स्पर्श करता है तो एकभव से दूसरे भव जाते हुए जीव के साथ कर्म नहीं रहेंगे। शरीर के मैल की तरह वे भी शरीर से छूट जायेंगे। कर्म के अभाव में सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा और संसार का नाश हो जायेगा। यदि कर्मों के अभाव में भी संसार को मानें तो व्रत-तपस्यादि के द्वारा की जाने वाली कर्मों की निर्जरा व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि संसार तो कर्मरहित होने पर भी रहेगा, तो सिद्धों को भी संसार में आना पड़ेगा।²

यदि कर्मों का सम्बन्ध कंचुकी की तरह शरीर से बाहर ही माना जाये तो फिर शरीर के भीतर जो शूलादिजन्य वेदना होती है, वह वेदना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वेदना का कारण वहाँ नहीं है। बिना किसी कारण भी अन्तर्वेदना होने लगे तो सिद्धों को भी होनी चाहिए।³

यदि यह मानें कि बाह्य त्वचा को स्पर्श करने के बाद अन्तर्वेदना होती है, जैसे — लकड़ी का आघात पहले बाहर लगता है फिर भीतर वेदना होती है। पर यह कथन अयुक्त है क्योंकि बाह्य त्वचा और आन्तरिक भाग दोनों भिन्न-भिन्न हैं। लकड़ी आदि आघात के बिना भी अन्तर्वेदना होती है। बाहर चोट नहीं लगने पर भी अन्दर पीड़ा देखी जाती है, उस अन्तर्वेदना का कारण कर्म है। कर्म यदि अपनी जगह के अतिरिक्त दूसरे देश में भी सुख-दुःखादि उत्पन्न करने लगे तो देवदत्त के कर्मों से यज्ञदत्त को पीड़ा पहुंचने लगेगी।

कर्म संचरणशील है, वे शरीर के भीतर और बाहर संचरण करते रहते हैं, जैसे — देवदत्त के कर्म उसी के शरीर के भीतर-बाहर संचरण करते हैं न कि अन्य व्यक्ति के शरीरगत कर्म अन्य के शरीर में संचरण करते हैं।

¹ किं कंचुओ व्व कम्मं पइप्पाएसमह जीवपज्जंते।

पइदेसं सव्वजयं, तदंतरालाणवत्थाओ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2522

² एवं सव्वविमुक्खो निक्कारणउ व्व सव्वसंसारो।

भवमुक्काणं च पुणो संसरणमओ अणासासो॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2524

³ देहन्तो जा वियणा कम्माभावम्मि किं निमित्ता सा।

निक्कारणा वा जइ तो सिद्धोऽवि, व वेयणारहिओ॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2525

कर्मों को यदि संचरणशील मानते हैं तो सर्प-कंचुकी सम्बन्ध गलत होता है, क्योंकि कंचुकीवत् कर्मों को मानने पर तो वे शरीर के बाहर ही रहेंगे। दूसरी समस्या यह होगी कि वेदना क्रम से होगी, जबकि दण्डादि के प्रहार होने पर अन्दर और बाहर एक साथ वेदना देखी जाती है, अतः यह सिद्धान्त मिथ्या है। कर्मों का शरीर में संचरण मान लेने पर एक से दूसरे भव में अनुगमन नहीं होगा, क्योंकि जो शरीर की क्रियाएँ हैं – उच्छ्वास, निश्वास वे भवान्तर गमन नहीं करते, वैसे ही कर्म भी नहीं करेंगे।¹

गोष्ठामाहिल ने आगम का संदर्भ देकर कहा कि – भगवतीसूत्र में बताया है कि – “चलेमाणे चलिए।” इसका तात्पर्य यही हुआ कि कर्म संचरणशील हैं।

इस तर्क का समाधान गुरु ने इस प्रकार दिया – इस पाठ का आशय यह नहीं कि कर्म चलते हैं। बल्कि उसका तात्पर्य यह है कि जो कर्मपुद्गल भोग या निर्जरा के द्वारा जीव से अलग हो गया है, वह फिर कर्म नहीं रहता, क्योंकि उसमें सुख-दुःख देने की शक्ति नहीं रहती, उस समय उन्हें अकर्म कहा जायेगा। आगे सूत्र में बताया है – “नेरइये जाव वेमाणिए जीवाउ चलियं कम्म निज्जरइ”। अर्थात् नारकी से लेकर वैमानिक तक के जीवों से कर्म चलित हो जाता है, वह निर्जीर्ण ही है और वह अकर्म हो जाता है।²

इस प्रकार कर्मों को संचरणशील मानने से कई दोष उपस्थित होते हैं। कर्मों को शरीर के मध्य स्थित मानने पर कोई समस्या नहीं रहती। कर्मों का बन्धन मिथ्यात्वादि हेतु के कारण होता है। मिथ्यात्वादि जीव के बाह्य और मध्य दोनों प्रदेशों में रहते हैं, तो कर्म भी सब जगह होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध क्षीर-नीरवत् या अग्नि-लौहपिण्डवत् तादात्म्य सम्बन्ध है।

जीव और कर्म का तादात्म्य सम्बन्ध मान लेने पर पुनः वही प्रश्न उठता है कि मोक्ष किस प्रकार होगा? जैसे – सोने और मैल को दूर करने के लिए औषधियों के प्रयोग करते हैं, जिससे स्वर्ण निखर जाता है, वैसे ही ज्ञान और क्रिया के द्वारा कर्म भी जीव से अलग किये जा सकते हैं। मिथ्यात्व आदि से जीव के साथ कर्मों का बन्ध होता है, तो

¹ अहं तं संचरइ मई न बहिं तो कंचुगो च्च निच्चत्थं।

जं च जुगवं पि वियणा, सच्चम्मि वि दीसए देहे।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2528

² जं भवंतरमन्नेइ य सरीरसंचाराओ तहनिलो च्च।

चलियं निज्जरियं विय, भणियकम्मं च जं समए।। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2529

सम्यक्त्वादि से कर्म दूर होते हैं। आत्मा से कर्मों का नाश होना स्वाभाविक है।¹ गोष्ठामाहिल ने प्रत्याख्यान विषयक शंका रखी थी, जिसका आचार्य दुर्बलिकापुष्य मित्र ने कई युक्तियों से समाधान किया। किन्तु गोष्ठामाहिल अपने मत के प्रति आग्रह करता रहा और यह हठ किया कि – जैसा मैं कहता हूँ, तीर्थकरों ने वैसा ही उपदेश दिया है। विवाद बढ़ जाने पर स्थविरों ने भद्रिका देवी को आह्वान किया, और उसे कहा – महाविदेह क्षेत्र में जाकर तीर्थकर से पूछो कि क्या दुर्बलिकापुष्य मित्र तथा संघ की बात सच्ची है या गोष्ठामाहिल की?

देवी महाविदेह क्षेत्र में गयी और भगवान से पूछ कर बताया कि – गोष्ठामाहिल की बात सही नहीं है और यह सातवाँ निहनव है। यह सुनकर गोष्ठामाहिल ने देवी की असमर्थता बताते हुए कहा कि – यह देवी कम ऋद्धि वाली है, महाविदेह क्षेत्र में जाने की ताकत इसमें नहीं है। इस प्रकार उसने अपना हठ नहीं छोड़ा।

इन सातों निहनवों की प्ररुपणा सिद्धान्त विरुद्ध थी, जैन आचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य में इन निहनवों की अवधारणा की गहन तार्किक समीक्षा जनमानस को एक सम्यक् दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की।

¹ अविभागत्थस्स वि से, विमोयणं कंचणोयलाणं व।
नाण-किरियाहिं कीरई, मिच्छताइहिं च आयाणं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 253।

एकादश अध्याय

एकादशम अध्याय उपसंहार

जैनधर्म दर्शन के क्षेत्र में प्रमाणभूत साहित्य के रूप में आगम एवं आगमिक व्याख्याओं का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। विशेषावश्यकभाष्य आगमिक व्याख्या साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आगमिक व्याख्या साहित्य में आगम रूपक लिखी गई निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इसमें भी विशेषावश्यकभाष्य का महत्त्व इसी दृष्टि से सर्वोपरि है कि जहाँ व्याख्या साहित्य के भाष्य साहित्य का वर्ण्य विषय मुख्यरूप से जैनधर्म का आचार पक्ष रहा है, वहाँ विशेषावश्यकभाष्य मुख्य रूप से दार्शनिक समस्याओं का प्रस्तुतिकरण कर उनके निराकरण का प्रयत्न करता है। विशेषावश्यकभाष्य मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह भाष्य आवश्यकसूत्र के सामायिक नामक अध्ययन पर रचित है किन्तु मूलतः यह जैन ज्ञान—मीमांसा को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है।

इसके प्रथम विभाग में पंचज्ञानों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है, वहीं इसके दूसरे भाग में गणधरवाद और निहनववाद के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व, आत्मा की नित्यता, पुनर्जन्म, कर्म—सिद्धान्त, बन्धन—मोक्ष, स्वर्ग—नरक और पुण्य—पाप आदि विषयों के दार्शनिक पक्ष को गम्भीरता से विश्लेषित किया गया है।

प्रस्तुत गवेषणा में मैंने जो विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद एवं निहनववाद का चयन किया, उसका कारण यह था कि इन दोनों के माध्यम से जैन दर्शन की दार्शनिक समस्याओं पर अधिक गहराई से विचार किया गया है। इसमें पंचविध ज्ञान पर तो पूर्व में भी अनेक शोध कार्य हुए, परन्तु गणधरवाद व निहनववाद पर अभी तक कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर मैंने प्रस्तुत विषय का चयन किया।

प्रस्तुत अध्ययन में मैंने यह देखा कि आत्मा का अस्तित्व, बाह्यार्थ का अस्तित्व, कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, पुण्य—पाप, बन्धन—मुक्ति ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिन पर दार्शनिक दृष्टि से गम्भीर चिन्तन हुआ नहीं, किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी उनकी प्रासंगिकता पर विचार—विमर्श आवश्यक है। यही कारण है कि मैंने अपने विवेचन में जहाँ

एक ओर इनके दार्शनिक और तार्किक पक्ष को छुआ है वहीं दूसरी ओर इन सिद्धान्तों की आवश्यकता और प्रासंगिकता पर भी विचार किया है।

प्रस्तुत शोध में दार्शनिक दृष्टि से मूल ग्रन्थ में जो समस्याएँ प्रस्तुत की गई, और उनके जो समाधान सुझाए गए, उनकी चर्चा तो यथास्थान की ही गई है, साथ ही प्रासंगिकता पर भी विचार किया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से विशेषावश्यकभाष्य में गणधर गौतम के माध्यम से जो आत्मा के अस्तित्व की समस्या प्रस्तुत की गई, तथा महावीर के मुख से जो समाधान प्रस्तुत करवाये गये, वे तार्किक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं, क्योंकि परवर्ती काल में भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए भारतीय चिन्तकों में "शंकराचार्य" ने (आठवीं सदी) और पाश्चात्य चिन्तकों में "रेने देकार्त" (सोलहवीं सदी) ने भी उन्हीं तर्कों का आश्रय लेकर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। यह तो सत्य है कि आत्मा के स्वरूप में दार्शनिकों में चाहे मतभेद हो, किन्तु आत्मा के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। समस्त धर्म और दर्शन की नींव आत्मा की अवधारणा पर टिकी हुई है, यही नहीं कर्म-सिद्धान्त, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि की अवधारणाओं का मूल आधार आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति है।

विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्श्रद्धा के निम्न 6 विषयों को प्रस्तुत किया है -

1. आत्मा है
2. आत्मा नित्य है
3. आत्मा कर्ता है
4. आत्मा कर्म-फल का भोक्ता है
5. बन्धन से मुक्ति सम्भव है (मोक्ष)।
6. बन्धन से मुक्ति का उपाय है (मोक्ष मार्ग)।

उपरोक्त छह तथ्यों पर अस्तित्ववादी दृष्टिकोण टिका है, यही समस्त धर्म और साधना पद्धतियों का आधारभूत है। यदि यह आधार समाप्त कर दिया जाये तो कोई भी धर्म एवं साधनामार्ग खड़ा नहीं रह सकेगा। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विशेषावश्यकभाष्य में जो दार्शनिक समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं व जिनका समाधान किया गया है वे धार्मिक आस्था के लिए नींव के पत्थर के समान हैं। यदि आत्मा के अस्तित्व

को ही नकार दिया जाय तो, पुण्य—पाप, बन्धन—मोक्ष कर्म और उसका प्रतिफल और प्रतिफल के रूप में पुनर्जन्म की अवधारणाएँ स्वतः ही समाप्त हो जायेगी। अतः आत्मा का अस्तित्व एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है जिसके सहारे समस्त दार्शनिक और धार्मिक चिन्तन अवस्थित है। यही कारण है कि विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में और इस शोध प्रबन्ध में मैंने सर्वप्रथम इसी समस्या से सम्बन्धित विवेचन को प्रस्तुत किया है।

हम देखते हैं कि आत्मा के अस्तित्व को नकारने से धार्मिक आस्था की नींव डगमगा जाती है। धार्मिक आस्था के डगमगाने से नैतिक आस्था भी समाप्त हो जाती है और जब नैतिक आस्था समाप्त हो जाती है तब उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की जीवनदृष्टि इहलोकवादी एवं भौतिकवादी बन जाती है। वह अपने स्वार्थों की सिद्धि को ही महत्त्व देता है। जब स्वार्थों की सिद्धि ही जीवन का केन्द्रीय तत्त्व बन जाती है तब उसके परिणामस्वरूप समाज में शोषण की प्रवृत्ति विकसित होती है, तथा साथ ही हिंसा, अत्याचार, परपीड़न, आदि पापप्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं और पारस्परिक संघर्ष या वर्ग संघर्ष जन्म लेता है। वर्तमान में जो भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्राबल्य, हिंसा और शोषण का नग्न ताण्डव देखा जाता है उसका मूल में आत्मा के प्रति अनास्था का भाव ही है।

आत्मा के अनस्तित्व का दूसरा परिणाम यह भी होता है कि आत्मीयभाव भी समाप्त हो जाता है, और आत्मीय भाव के समाप्त हो जाने से लोकहित तथा अनुकम्पा की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि स्वार्थी व्यक्तियों को आत्महन्ता माना जाता है। आत्मा की समतुल्यता नहीं मानने के कारण छोटे—बड़े का भेदभाव भी उत्पन्न होता है और अहंकार की वृत्ति विकसित होती है।

जहाँ आत्मतुल्यता की भावना समाप्त होती है, वहीं विजिगुप्सा और घृणा का जन्म होता है, और इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में एक ऐसा दुश्चक्र प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण व्यक्ति और समाज की सुख और शान्ति छिन जाती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि आत्म—अस्तित्व की अवधारणा से “मैं” और “मेरेपन” के भाव का जन्म होता है जो स्वार्थवृत्ति को जन्म देता है किन्तु आत्मा के अस्तित्व को मानने का अर्थ यह नहीं कि मैं अपनी ही सत्ता को स्वीकार करूँ, बल्कि मैं अपने ही समान दूसरे प्राणियों की सत्ता को स्वीकार करूँ। और आत्मतुल्यता की इस अवधारणा के आधार पर ही समाज में समता, स्वतंत्रता और न्याय—नैतिकता की स्थापना हो सकती है, अतः आत्मा के अस्तित्व

को स्वीकृति का न केवल दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से महत्त्व है अपितु नैतिकता और सामाजिक शान्ति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत गवेषणा में मैंने आत्म-अस्तित्व की अवधारणा के बाद कर्म-सिद्धान्त की अवधारणा की चर्चा की है। विशेषावश्यकभाष्य में कर्म-सिद्धान्त की स्थापना के लिए द्वितीय गणधर अग्निभूति के माध्यम से प्रतिपक्ष के रूप में प्रश्न उठाये हैं, जिनका समाधान श्रमण महावीर के मुख से कराया गया, वस्तुतः चाहे एक बार हम आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार लें किन्तु यदि कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं, तो भी शुभाशुभ कर्मों या पुण्य-पाप के प्रतिफलों के प्रति आस्था का विकास करना सम्भव नहीं है। कर्म सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जो मनुष्य में यह विश्वास जगाता है कि शुभ कर्मों का परिणाम शुभ और अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ होता है। मनुष्य को अशुभ से निवृत्त करने में तथा शुभ में प्रवृत्त करने में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान करता है। एक अन्य दृष्टि से कहें तो कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति की दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है और उसे सदप्रवृत्तियों पर प्रेरित करता है। मात्र यही नहीं कर्म-सिद्धान्त पुनर्जन्म की अवधारणा का संपोषक है, चाहे इसाई या इस्लाम धर्मों में पुनर्जन्म की अवधारणा को सीधे रूप में स्वीकार न किया हो किन्तु कर्म-सिद्धान्त के आधार पर इतना अवश्य स्वीकार किया कि व्यक्ति को इस जीवन के शुभाशुभ का परिणाम ईश्वरीय न्याय के पश्चात् जन्नत (स्वर्ग) और दोजख (नरक) में मिलता है, वस्तुतः कर्म-सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसको सभी धर्म-दर्शनों ने स्वीकार किया है, क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से धर्म का उद्देश्य जन-सामान्य को सदप्रवृत्त की ओर प्रेरित करना है और दुष्प्रवृत्तियों से बचाना है। वस्तुतः यदि हम कर्म-सिद्धान्त की अवधारणा को स्वीकार न करें तो मनुष्यों को दुष्प्रवृत्तियों से विमुख करना कठिन होगा। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि कर्मसिद्धान्त स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय उपस्थित करता है जो स्वस्थ नैतिकता का विरोधी है। उसमें नैतिक आचरण अन्तस्प्रेरणा पर आधारित न होकर भय और प्रलोभन के बाह्य तथ्यों पर आधारित होता है, ऐसा नैतिक कार्य वस्तुतः नैतिक नहीं माना जा सकता है। नैतिकता के लिए कॉण्ट ने "कर्तव्य के लिए कर्तव्य का सिद्धान्त" गीता ने "अनासक्त कर्म" का सिद्धान्त दिया, वह भी खण्डित होता है किन्तु हम देखते हैं कि चाहे गीता का दर्शन हो या कॉण्ट का सिद्धान्त हो, वे भी कहीं न कहीं कर्मफल की व्यवस्था से इन्कार नहीं करते हैं। दूसरे चाहे ये दृष्टिकोण किसी सीमा तक सत्य भी हो किन्तु जन-सामान्य को

सदप्रवृत्तियों में प्रेरित करने और असदप्रवृत्तियों से विमुख करने का इस सिद्धान्त का जो महत्त्वपूर्ण अवदान है, इसे भूलाया नहीं जा सकता।

आज भी विश्व के अधिकांश व्यक्ति जो दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं और सदप्रवृत्तियाँ करते हैं वे कहीं न कहीं कर्मफल व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही ऐसा करते हैं। पुलिस का भय व्यक्ति को दुष्प्रवृत्तियों से दूर करने में जितना सार्थक नहीं होता उतना सार्थक कर्म-सिद्धान्त होता है, अतः कर्म-सिद्धान्त की प्रासंगिकता को आज भी नकार पाने में समर्थ नहीं हुए। एक उपयोगितावादी दर्शन के रूप में आज भी इसका महत्त्व बना हुआ है।

आत्मा के अस्तित्व और कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ जो जुड़ा हुआ प्रश्न है, वह आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का प्रश्न है। विशेषावश्यकभाष्य में इस समस्या को गणधर वायुभूति के मुख से प्रस्तुत कराया गया और महावीर के द्वारा उसके समाधान को निर्देशित किया गया। सामान्यतया भारतीय दर्शनों, धर्मों में यह सिखाया जाता है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। आत्मा और शरीर को एकान्त रूप से भिन्न मानने पर न तो कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या सम्भव है और न धार्मिक साधना सम्भव है। कर्म और साधना शरीर के माध्यम से होती है। प्रायः सभी धर्म-दर्शनों में शरीर को साधना का माध्यम "शरीर माध्यम खलुधर्यसाधनम्" माना गया है। जैन परम्परा में भी शरीर को नाव और आत्मा को नाविक कहा गया है, अतः इन दोनों के बीच यदि कोई सम्बन्ध नहीं हो तो साधना कैसे संभव होगी? इसी प्रकार व्यक्ति की जो भी शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ हैं, वे शरीर के माध्यम से की जाती हैं। यदि हम शरीर और आत्मा को एकान्त रूप से भिन्न मान लेंगे, किसी भी प्रकार सम्बन्ध स्वीकार नहीं करेंगे तो फिर आत्मा को शरीर के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म का उत्तरदायी नहीं माना जा सकेगा और इस प्रकार आत्मा और शरीर के बीच के सम्बन्ध की अस्वीकृति कर्म-सिद्धान्त की जड़ को खोखली कर देगी। जैन दर्शन भी यह मानता है कि आत्मा, शरीर के माध्यम से अपनी योग-प्रवृत्ति अर्थात् दैहिक वाचिक और मानसिक कर्म करता है। अतः बन्धन और मुक्ति का सारा आधार भी आत्मा और शरीर के बीच एक सह-सम्बन्ध है।

किन्तु इसके विरोध में यह तर्क खड़ा किया जाता है कि यदि हम आत्मा और शरीर के मध्य सहसम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो फिर शरीर से मुक्ति का प्रयत्न क्यों किया

जाता है? देहासक्ति होने की बात क्यों की जाती है? भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म का विवेक क्यों सिखाया जाता है। वस्तुतः ये सभी बातें मूलतः इसलिए सिखाई जाती हैं कि हमारी देहासक्ति टूटें, क्योंकि सभी शुभाशुभ प्रवृत्तियों के मूल में कहीं न कहीं देहासक्ति रही हुई है। धर्मों में जो तप-साधना की बात कही जाती है, वह भी देहासक्ति की विघटन के लिए ही है। क्योंकि जब तक देहासक्ति बनी रहेगी, तब तक दैहिक प्रवृत्तियों के माध्यम से बन्धन की प्रक्रिया चलती रहेगी। जब तक बन्धन प्रक्रिया चलती रहेगी तब तक मुक्ति सम्भव नहीं होगी। इसलिए एक ओर देहासक्ति को समाप्त करने के लिए जहाँ आत्मा और शरीर के भेद को समझना आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर बन्धन-मुक्ति और कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या के लिए एक क्रिया-प्रतिक्रिया की अवधारणा को मानना भी आवश्यक है।

जैन दर्शन का कथन है कि जब तक संसार में साधकदशा में हैं तब तक हमें यह मानना होगा कि दैहिक प्रवृत्तियों का प्रभाव चेतना पर, चेतना का प्रभाव हमारी दैहिक प्रवृत्तियों पर पड़ता है। आधुनिक युग में 'रेने देकार्त' नाम के पाश्चात्य दार्शनिक ने आत्मा और शरीर के मध्य "अन्तक्रियावाद" स्वीकार किया। चाहे कालान्तर में इस सिद्धान्त का खण्डन करके 'स्पिनोजा' ने देह और आत्मा के 'समानान्तरवाद' का सिद्धान्त और 'लाइबनिट्ज' ने 'पूर्वस्थापित सामन्जस्य' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, फिर भी आधुनिक मनोविज्ञान देह और चेतना के मध्य 'अन्तः क्रियावाद' के सिद्धान्त का समर्थन करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दैहिक परिवर्तनों का प्रभाव हमारी चेतना पर और चैतसिक भावों का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। व्यक्ति की चेतना जब क्रोध, काम आदि के आवेगों से युक्त होती है तब उसके शरीर के रसायन आदि में स्पष्ट रूप से परिवर्तन देखा जाता है। इसी प्रकार रोगावस्था में जब शारीरिक रक्त-रसायनों में परिवर्तित होता है तब भी व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन आता है। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि व्यवहार जगत् में आत्मा और शरीर के बीच सह-सम्बन्ध है किन्तु आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से हमें इस आदर्श को स्वीकार करना होगा कि देहासक्ति को तोड़ने के लिए इनके पारस्परिक भेद को माने बिना मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

व्यवहार के स्तर पर शरीर और आत्मा के सहसम्बन्ध अर्थात् अभेद और सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों की भिन्नता या भेद को मानना आवश्यक है। यही कारण है कि विशेषावश्यकभाष्य में इनके भेदाभेद पर बल दिया गया है। वह यह मानता है कि व्यावहारिक स्तर पर दोनों में अभेद है और पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में भेद है। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि एक ओर भगवान महावीर ने तज्जीवतच्छरीवाद का खण्डन किया तो दूसरी ओर कर्म-सिद्धान्त के माध्यम से दैहिक-वाचिक-मानसिक योगों को आस्रव और बन्ध का हेतु भी माना। इस प्रकार शरीर और आत्मा के मध्य में भेद और अभेद का सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया। व्यावहारिक स्तर पर दोनों के मध्य सम्बन्ध माने बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता, क्योंकि समस्त नैतिक उत्तरदायित्व कर्म फल व्यवस्था इसी सहसम्बन्ध के आधार पर स्थित है, किन्तु दूसरी ओर देहासक्ति को तोड़ने के लिए, राग-द्वेष के प्रहाण के लिए इनमें विभेद मानने की आवश्यकता है, जो विशेषावश्यकभाष्यकार ने प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अगली समस्या भूतार्थ या बाह्यार्थ के अस्तित्व को लेकर के है। हम देखते हैं कि दर्शन के क्षेत्र में प्राचीनकाल से आज तक दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित रही। एक विचारधारा वह है जो चेतना, मनस को प्रमुखता देती है और यह मानती है कि समस्त दृश्य जगत् केवल चेतन सत्ता या मन का विकार है, फिर चाहे वह औपनिषदिक, वैदान्त दर्शन हो या बौद्धों का विज्ञानवाद अथवा आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का प्रत्ययवाद हो। किन्तु दूसरी ओर प्राचीनकाल से ही ऐसे दर्शनों का भी अस्तित्व रहा है जो चेतन सत्ता के साथ-साथ दृश्य जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते रहे। दूसरे शब्दों में वे बाह्य जगत् को एक वास्तविक सत् के रूप में देखते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन, जैनदर्शन और किसी सीमा तक बौद्ध परम्परा के वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्यार्थों की सत्ता को स्वीकार करके चलते रहे। प्रस्तुत गवेषणा में हम यह देखते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य ने चतुर्थ गणधर व्यक्त के माध्यम से इस समस्या को उठाया। व्यक्त यह शंका लेकर उपस्थित होते हैं कि बाह्यार्थ की भूतों का अस्तित्व नहीं, इसके समाधान के रूप में भगवान महावीर स्थापित करते हैं कि बाह्यार्थ की सत्ता है। चाहे तार्किक आधार पर भूतों का या अदृश्य जगत् का कितना ही अपलाप करने का प्रयत्न किया जाये, व्यवहार जगत् में उसे स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में दृश्य जगत् को अस्वीकार करने का अर्थ होगा सम्पूर्ण जागतिक व्यवस्था का अपलाप करना। दृश्य जगत् का अपलाप करने पर समस्त भौतिक विज्ञानों का भी अपलाप हो जायेगा और उनके अपलाप से मानवीय ज्ञान की एक विपुल सम्पदा से हम वंचित हो जायेंगे। यह जगत् केवल चेतना का विकार है, स्वप्नवत् है, माया है। यदि ऐसा मानेंगे तो फिर संसार का सारा व्यवहार कैसे चलेगा? बाह्यार्थों के अस्तित्व को नकारने का मतलब विश्व की सत्ता को नकारना है। समस्त वैज्ञानिक और भौतिक परिदृश्य को नकारना है। आज विश्व की जो समस्त गतिविधियाँ हैं, क्या केवल उनको एक स्वप्न कहकर उनसे विमुख हुआ जा सकता है? उनकी तथ्यात्मक वास्तविक सत्ता को नकारने का अर्थ है, आनुभविक सत्य से विमुख होना, जो हमारे आनुभविक सत्य है, उनको हम कैसे नकार सकते हैं। विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी अवधारणाएँ कहीं न कहीं यथार्थ से विमुख करती हैं। दृश्य जगत् की सत्यता को नकारना न तो व्यावहारिक दृष्टि से उचित है और न ही वैज्ञानिक आधार पर सम्भव है। यह सत्य है कि विज्ञान भी विश्व के समस्त तत्त्वों को ऊर्जा के रूपान्तरण है, यह मानना, चाहे वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य भी हो किन्तु ऊर्जा की सत्यता मानने का एक अर्थ यह भी है कि उसके विकारों को उसकी विभिन्न अवस्थाओं का सत्य स्वीकार करना। हम ऊर्जा को सत्य माने किन्तु ऊर्जा के जो विभिन्न रूपान्तरण हैं, उन्हें भी सत्य मानना होगा। यह तो माना जा सकता है, बाह्यार्थ जगत् ऊर्जा के रूपान्तरण का ही नाम है किन्तु यह रूपान्तरण उतना ही सत्य है जितनी सत्य स्वयं ऊर्जा है। भारतीय प्रत्ययवादी विज्ञानवादी चिन्तन में जो यह कहा जाता है कि "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" उस अवधारणा में ब्रह्म की सत्यता को स्वीकारते हैं किन्तु बाह्यार्थ को मिथ्या कहकर उनका अपलाप कर देते हैं जबकि हमें मानना यह चाहिए कि जितना सत्य ब्रह्म है उतना ही सत्य ब्रह्म का रूपान्तरण है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने आत्मा की सत्यता को स्वीकार करते हुए बाह्यार्थों की सत्ता को स्वीकार किया है। यही बात व्यावहारिक दृष्टि से उचित है।

इसी अध्याय में दृश्य जगत् या बाह्यार्थ की स्थापना करने के साथ-साथ बौद्ध दर्शन में परवर्तीकाल में विकसित विज्ञानवाद और शून्यवाद की समीक्षा भी की गई है। वस्तुतः जहाँ विज्ञानवाद बाह्यार्थ और दृश्य जगत् के अस्तित्व का निषेध करता है और उसे स्वप्नवत् मानता है किन्तु इसके साथ ही एक चित्त धारा के रूप में ज्ञाता मनस् की सत्ता को स्वीकार करता है जिसे वह विज्ञान कहता है, किन्तु शून्यवाद बाह्यार्थ के साथ-साथ

ज्ञाता मनस् के अस्तित्व को भी नकारता है। सामान्य तथा शून्यवाद की प्रतिस्थापना यह है कि चित्त और बाह्यार्थ दोनों ही सापेक्षिक और सोपाधिक हैं, उनकी निरपेक्ष सत्ता नहीं है। दूसरे शब्दों में वह दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व का निषेधक है। चाहे हम दृश्य जगत् की वस्तुओं को हमारी अनुभूति के स्तर पर सापेक्ष और निःस्वभाव मान ही लें किन्तु सत्ता के स्तर पर यह सिद्धान्त समीचिन प्रतीत नहीं होता, यही कारण है कि जैन दर्शन में ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकारते हुए भी ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता को भी स्वीकार किया था। जैन दर्शन की यह अवधारणा वस्तुतः व्यावहारिक स्तर पर सत्य सिद्ध होती है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता सापेक्ष होता है किन्तु ज्ञाता और ज्ञेय, ज्ञान सापेक्ष नहीं है। उनकी निरपेक्ष सत्ता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार करते हुए भी ज्ञेय के रूप में दृश्य जगत् और ज्ञाता के रूप में चित्त की (आत्मा) स्वतंत्र सत्ता स्थापित की गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने छठे अध्याय में विशेषावश्यकभाष्य के आधार पर स्वभाववाद की समीक्षा की। प्राचीनकाल में कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि परलोक, इहलोक के सादृश्य होता है, भवान्तर में मनुष्य नरकर मनुष्य ही होता है। इस सिद्धान्त का समर्थन स्वभाववाद के आधार पर इस प्रकार किया जाता था कि आम की गुठली से आम ही उत्पन्न होता है। पंचम गणधर सुधर्मा इसी सिद्धान्त के समर्थक थे। वे भगवान महवीर के समक्ष इसी समस्या को लेकर उपस्थित हुए थे। इसके समाधान के रूप में विशेषावश्यकभाष्य में जो तर्क उपस्थित किये, उनमें से प्रमुख तर्क यह था कि यदि हम इहलोक—परलोक में सादृश्य स्वीकार करेंगे तो कर्म—सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं रहेगी। व्यावहारिक स्तर पर यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि जगत् में जो परिणमन या परिवर्तन होता है उसमें वस्तु स्वभाव का महत्त्वपूर्ण अवदान होता है। किसी भी वस्तु तत्त्व के स्वस्वभाव की उपेक्षा संभव नहीं, किन्तु यदि हम जगत् के सम्पूर्ण घटनाक्रम के पीछे स्वभाव को ही आधार मानेंगे तो फिर वस्तुओं में होने वाले अथवा व्यक्तियों में होने वाले विकार को नहीं समझाया जा सकेगा। स्वभाव वस्तु का निज गुण है किन्तु पर के निमित्त से उसमें विभाव भी होता है, यदि वस्तु में वैभाविक परिवर्तन स्वीकार नहीं किये जायेंगे तो बन्धन—मुक्ति, पुण्य—पाप आदि की अवधारणाएँ निरर्थक हो जायेंगी।

वस्तुतः बन्धन विभाव है और मुक्ति का अर्थ है विभाव से स्वभाव में आना। स्वभाव वस्तु का सहभावी धर्म है किन्तु विभाव उत्पन्न होता है, वह कृतक है, अतः उसका निराकरण सम्भव भी है और इष्ट भी है। संसार में सभी घटनाएँ वस्तु के स्वभाव के कारण ही नहीं, उनमें विभाव का भी महत्त्वपूर्ण अवदान होता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने स्वभाव के साथ-साथ विभाग को भी स्थान दिया है। जिस प्रकार व्यावहारिक स्तर पर स्वस्थता शरीर का निज धर्म है फिर भी विकृतियाँ या बीमारियाँ आती ही हैं, उनके कारण भी बाह्य होते हैं। बीमारी के लक्षणों का निराकरण कर स्वस्थ होना, यह शरीर का स्वाभाविक धर्म है। उसी प्रकार आत्मा में बाह्य निमित्तों के कारण वैभाविक परिणति होती है, उसको समाप्त कर स्वभाव में लौटना, यही साधना का सार माना जाता है। प्रस्तुत अध्ययन स्वभाव और विभाव के सम्बन्ध में सही समझ प्रदान करता है और यही उसकी उपादेयता है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के सप्तम अध्याय में मैंने बन्धन और मुक्ति की समस्या के संदर्भ में विचार-विमर्श किया। छठे गणधर मण्डिकपुत्र तथा ग्यारहवें गणधर प्रभाव भगवान महावीर के समक्ष यह समस्या लेकर उपस्थित होते हैं कि — क्या बन्धन और मुक्ति की अवधारणा यथार्थ है? क्या जीव बन्धन में आता है और क्या उस बन्धन से मुक्त होता है? साथ ही इस अध्याय में बन्धन के हेतु आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

यह एक वास्तविक तथ्य है कि प्रत्येक प्राणी में मुक्ति की आकांक्षा रही है, वह बन्धन से स्वतंत्र होना चाहता है, व्यावहारिक स्तर पर भी हमारी जो ज्ञान या अनुभव के संदर्भ में सीमाएँ हैं, उनका हम अतिक्रमण चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति का आकांक्षी है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह अपने ज्ञान-दर्शन, सुख और शक्ति को कहीं न कहीं सीमित रूप में ही पाता है। हमारी सीमितता ही हमारा बन्धन है। बन्धन क्षमता का अभाव नहीं अपितु उसके प्रकरण का बाधक तत्त्व है। क्षमताएँ हमारे भीतर हैं किन्तु वे अभिव्यक्त नहीं, आवरित हैं। कर्म के आवरण के कारण हमारी क्षमताएँ, योग्यता में परिणत नहीं हो पा रही हैं, इस आवरण को समाप्त करना, यही साधना का सार है। बीज में वृक्ष बनने की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ उपस्थित है किन्तु जब तक वह आवरण (छिलके) को तोड़ता नहीं है तब तक वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाता। बन्धन को स्वीकार करने का अर्थ है चेतना के उपर रहे

आवरणों को स्वीकार करना। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर हमें यह मानना होगा कि मात्र बन्धन की स्वीकृति से व्यक्ति के पुरुषार्थ का अनावरण सम्भव नहीं है। बन्धन एक यथार्थता है और मुक्ति एक सम्भावना है। यथार्थ को स्वीकार करके निष्क्रिय नहीं होना है अपितु पुरुषार्थ या प्रयत्नपूर्वक आदर्श का अनावरण करना है। बन्धन और मुक्ति की इस अवधारणा में पुरुषार्थ का सम्यक्स्थान रहा हुआ है। बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचारणा वस्तुतः व्यक्ति के पुरुषार्थ का ही सन्देश देती है। वस्तुतः बन्धन के लिए भी स्वयं ही उत्तरदायी है और मुक्ति भी स्वयं ही प्राप्त कर सकता है, किसी कवि ने ठीक ही कहा है –

स्वयं बंधे हैं, स्वयं खुलेंगे,

सखे! न बीच में बोल।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में व्यक्ति को अपने दायित्व बोध के साथ पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है, और यही बन्धन और मुक्ति के चिन्तन की उपादेयता है।

एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो बन्धन का अर्थ स्व की सीमा का संकुचन है, वह एक प्रकार की स्वार्थपरता का ही एक रूप है। बन्धन का कारण राग है। राग व्यक्ति को जहाँ कुछ से जोड़ता है वहीं दूसरे से तोड़ता भी है। रागात्मकता के कारण मेरे और पराये की भावना उत्पन्न होती है। "अयं निज परो वेति गणनालघुचेतसाम्" और इस प्रकार राग का तत्त्व व्यापक सामाजिक और मानवीय दृष्टि में बाधक है। आज विश्व में जो भी तनाव और संघर्ष हैं, उनके मूल में मेरे और पराये का भाव ही है। 'मेरी जाति', 'मेरा धर्म', 'मेरा राष्ट्र' ये सब कहीं न कहीं व्यक्ति को संकुचित बनाते हैं। 'मैं' और 'मेरा' ये दो ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण परिवार, समाज और राष्ट्र में तनाव उत्पन्न होते हैं। मुक्ति या निर्वाण का बहुत ही सरल तात्पर्य है कि व्यक्ति इच्छा और आकांक्षाजन्य तनावों से मुक्त हो। कषाय और तृष्णा से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो मुक्ति की वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से सार्थकता सिद्ध होती है। मुक्ति का एक अर्थ स्व के संकुचित घेरे से उपर उठना है। इस प्रकार मुक्ति एक व्यापक दृष्टि का परिचायक है। मुक्ति का सम्बन्ध केवल पारलौकिक जीवन से ही नहीं बल्कि वर्तमान जीवन से भी है। मुक्ति की अवधारणा वस्तुतः व्यक्ति और समाज के

जीवन में एक सामंजस्य, समरसता और अविकलता को जन्म देती है, अतः बन्धन और मुक्ति की इस अवधारणा की समसामयिक जीवन में भी उपादेयता रही हुई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का अष्टम अध्याय पुण्य-पाप की अवधारणा से सम्बन्धित है। नवम गणधर अचलभ्राता भगवान महावीर के समक्ष इसी जिज्ञासा को लेकर उपस्थित हुए थे कि क्या पुण्य और पाप की कोई सत्ता है? जैन कर्मसिद्धान्त यह मान कर चलता है कि व्यक्ति की दैहिक वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ कर्म के आस्रव के कारण हैं। यदि ये प्रवृत्तियाँ योगमूलक या परमार्थ के निमित्त होती हैं तो वे पुण्य का आस्रव करती हैं। यदि वे दूसरों के अहित के लिए होती हैं तो पाप का आस्रव करती हैं। दूसरों के हित का सम्बन्ध पुण्य से है और अहित का सम्बन्ध पाप से है — “परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्” पुण्य।

पुनः शुभ प्रवृत्तियों से जो बन्ध होता है वह पुण्य बन्ध के रूप में जाना जाता है और उसका विपाक भी पुण्य कहलाता है, जबकि पापकारी प्रवृत्तियों से पाप का ही बन्ध होता है और उसका विपाक भी व्यक्ति के अमंगल का हेतु होता है। पुण्य और पाप की यह अवधारणा अत्यन्त सरल शब्दों में कहे तो इस सुक्ति पर टिकी हुई है — “भला कर भला होगा, बुरा कर बुरा होगा।” जहाँ तक पुण्य-पाप की इन अवधारणाओं में सामाजिक परिप्रेक्ष में विचार करने का प्रश्न है तो यह व्यक्ति को लोक-मंगल के लिए प्रेरित करने का सन्देश देती है। परोपकार या लोकमंगलकारी प्रयत्न आज भी हमारे सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। पुण्य प्रत्येक व्यक्ति को स्वार्थमय संकुचित दृष्टि से ऊपर उठाकर उसे समस्त कार्यों के हित के लिए प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है। पुण्य और पाप की इस अवधारणा में जो यह माना गया कि पाप प्रवृत्तियाँ एक ओर दूसरों के अमंगल का कारण बनती हैं वहीं वे अपने विपाक के रूप में व्यक्ति का ही अमंगल करती हैं, जबकि शुभ प्रवृत्तियाँ हमें परोपकार और लोकमंगल के लिए प्रेरित करती हैं और उसके विपाक के रूप में उसका अपना जीवन भी मंगलमय बनता है। संक्षेप में परपीडन की प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर लोकमंगल के लिए प्रयत्न व पुरुषार्थ करना, पुण्य-पाप की अवधारणा की मूलभूत प्रेरणा है। सामाजिक लोककल्याण या परोपकार की वृत्ति ही आज विश्व में शान्ति और सौहार्द की स्थापना कर सकती है। इस प्रकार पुण्य और पाप की यह अवधारणा

कहीं न कहीं व्यक्ति को स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठाकर परार्थ के हित प्रेरित करती है और यही इस प्रवृत्ति की सामाजिक सार्थकता है और उपादेयता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का नवम अध्याय परलोक के अस्तित्व और पुनर्जन्म की अवधारणा से सम्बन्धित है। गणधर मैतार्य, की मूलभूत अवधारणा यह थी कि परलोक का अस्तित्व नहीं है। वे आत्मा की अनित्यता के आधार पर पुनर्जन्म की अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करते थे। परलोक की अवधारणा के लिए सर्वप्रथम आत्मा की नित्यता को स्वीकार करना आवश्यक है। उसे स्वीकार किये बिना पुनर्जन्म की अवधारणा नहीं बन पाती है। पुनर्जन्म के लिए परलोक को मानना भी आवश्यक है, चूंकि पुण्य और पाप की यह अवधारणा मान कर चलती है कि परोपकारजन्य प्रवृत्ति का परिणाम सुखद और परपीडनजन्य प्रवृत्ति का परिणाम दुखद होता है। क्रमशः इन सुखद-दुखद परिणामों के भोग के लिए स्वर्ग-नरक की अवधारणाएँ अस्तित्व में आईं। गणधर मौर्यपुत्र स्वर्ग के अस्तित्व को तथा गणधर अकम्पित जी नरक के अस्तित्व को नकारते थे। इस प्रकार इन तीनों गणधरों की मूलभूत जिज्ञासा परलोक और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ही थी, इसी कारण मैंने प्रस्तुत गवेषणा में इन तीनों समस्याओं को परलोक से अस्तित्व की समस्या में अन्तर्भूत मानकर इन पर एक ही साथ विचार किया।

पुनर्जन्म, परलोक तथा स्वर्ग और नरक की इन अवधारणाओं की व्यक्ति और समाज के लिए क्या प्रासंगिकता है, यह विचारणीय प्रश्न है। पुनर्जन्म की अवधारणा, कर्म-सिद्धान्त और पुण्य-पाप की अवधारणा के आधार पर है। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ ही कर्म-सिद्धान्त और पाप-पुण्य की अवधारणा चरमरा जाती है। अतः धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से यदि कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास करना है तो यह मानकर चलना होगा कि पुनर्जन्म होता है। विश्व के धर्म और दर्शनों में यहूदी, इसाई और ईस्लाम धर्म सामान्य अर्थ में पुनर्जन्म को अस्वीकार करते हैं किन्तु वे भी इतना तो अवश्य मानते हैं कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का फल स्वर्ग और नरक के माध्यम से मिलता है।

अतः उनमें भी इस शरीर के छोड़ने के बाद यह तो माना ही गया है कि यदि व्यक्ति ने शुभ कर्मों का संचय किया है तो व्यक्ति को स्वर्ग में और यदि अशुभ कर्मों का संचय किया है तो सदैव के लिए नरक में भेज दिया जायेगा। इस प्रकार सभी धर्म-दर्शन किसी न किसी रूप में परलोक, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना को लेकर चलते हैं।

फिर भी इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ भारतीय धर्म और दर्शन पुनर्जन्म की अवधारणा के आधार पर यह मानते हैं कि व्यक्ति को बार—बार अपने सुधार के लिए अवसर प्रदान किये जाते हैं, वहाँ यहूदी, इसाई और ईस्लाम केवल इस मानव जीवन को ही अपने भविष्य के निर्माण का एकमात्र अवसर मानते हैं, उसके बाद व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार नरक या स्वर्ग में भेज दिया जाता है। इस एक अन्तर को छोड़कर शेष समस्त धर्मदर्शन में पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, नरक की अवधारणाएँ उपस्थित हैं। इस अवधारणा की मूलभूत उपादेयता यह है कि यह व्यक्ति को अशुभ से निवृत्ति और शुभ से प्रवृत्ति की प्रेरणा देती है। चाहे स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय, जैसा कि हमने पूर्व में लिखा — नैतिक दृष्टि से अनुचित ही क्यों न हो, उसकी व्यावहारिक सार्थकता से हम इन्कार नहीं कर सकते। यदि स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय मनुष्य को सदप्रवृत्ति से प्रेरित और दुष्प्रवृत्तियों से विमुख करता है तो उसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्रशासन के क्षेत्र में पुलिस और न्यायपालिकाएँ किसी सीमा तक व्यक्ति की अपराधवृत्तियाँ को अंकुश लगाते हैं, उसी प्रकार पुनर्जन्म, परलोक और स्वर्ग—नरक की अवधारणाएँ भी व्यक्ति की आपराधिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाती हैं। इस प्रकार उनकी सामाजिक दृष्टि से उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। यदि कोई अवधारणा हमारे किसी व्यवहार को नियंत्रित करती है या कुछ करने के लिए प्रेरित करती है तो उसकी महत्ता व मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का दसम अध्याय विभिन्न निह्नवों की दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा से सम्बन्धित है। जैन परम्परा में निह्नव उन्हें कहा जाता है जो जैन संघ की आचार—व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी जैन दर्शन की दार्शनिक अवधारणाओं से किसी अर्थ में मतभेद रखते हैं। जैन संघ में महावीर के जीवनकाल से लेकर उनके निर्वाण के 584 वर्ष की अवधि के मध्य 7 निह्नव हुए थे, इन निह्नवों में जमालि ने बहुरतवाद की, तिष्यगुप्त ने चरमप्रदेशी जीववाद की, आषाढभूति ने अव्यक्तवाद की, अश्वमित्र ने समुच्छेदवाद की, आर्य गंग ने द्विक्रियावाद की, गोष्ठामाहिल ने अबद्धिकवाद की और रोहगुप्त ने त्रैराशिकवाद की स्थापना की।

जैन संघ में निह्नवों की इस अवधारणा से एक बात बहुत स्पष्ट होती रही कि जैन दर्शन सदैव ही गतिशील रहा है, उसमें नये—नये चिन्तन उभरते रहे, इसलिए

पाश्चात्य चिन्तकों के द्वारा सामान्यतया भारतीय दर्शन और विशेषरूप से जैन दर्शन में यथास्थितिवाद का आरोप लगाया, वह खण्डित हो जाता है व निरस्त हो जाता है। इन निह्नवों के मुख्य रूप से दो वर्ग किये गये। प्रथम वर्ग जैसे जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल, अपनी दार्शनिक स्थापनाओं पर अपने जीवनपर्यन्त स्थित रहे, किन्तु शेष जैसे कि तिष्यगुप्त, आषाढ के शिष्य, अश्वमित्र, गंग जिन्होंने अपनी दार्शनिक मान्यता की असंगति को समझा और जैन दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं को पुनः अपना लिया। निह्नवों का जैन संघ में आविर्भाव इस बात का सूचक है कि उस युग में दार्शनिक चिन्तन की स्वतंत्रता रही हुई थी। अब जहाँ तक इन निह्नवों की दार्शनिक स्थापनाओं की समीक्षा का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि जमालि ने जिस बहुमतवाद की स्थापना की थी वह व्यावहारिक आधार पर तो यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण विसंगति यह है कि वह वर्तमान को व्यापक मान लेता है, जबकि वर्तमान मात्र एक क्षणिक ही होता है, जन साधारण में उसका सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सत्य प्रतीत हो सकता है किन्तु जब उसे तार्किक कसौटी पर कसा जाता है तो उसकी असंगति स्पष्ट हो जाती है। जो क्रिया वर्तमान क्षण में अकृत हो तो वह किसी भी क्षण कृत नहीं हो सकती, इसीलिए भगवान महावीर ने क्रियमाण को कृत माना है।

इसी प्रकार तिष्यगुप्त की चरम प्रदेशी जीववाद की अवधारणा भी दार्शनिक दृष्टि से समुचित प्रतीत नहीं होती, वस्तु का अस्तित्व अपनी समग्रता में होता है। वस्तु के सम्यक् स्वरूप को समझने के लिए विश्लेषणात्मक दृष्टि की अपेक्षा संश्लेषणात्मक समग्र दृष्टि आवश्यक होती है। तिष्यगुप्त की अवधारणा केवल विश्लेषणात्मक दृष्टि को लेकर चल रही थी, जबकि महावीर विश्लेषणात्मकता के साथ संश्लेषण व समग्रता को भी वस्तु स्वरूप के निर्णय के संदर्भ में आवश्यक मानते हैं।

आषाढभूति के शिष्यों का अव्यक्तवाद वस्तुतः भगवान महावीर के युग के अज्ञानवाद का ही एक रूप था। किन्तु इससे फलित सन्देहवाद व्यक्ति को किसी भी सिद्धान्त और मान्यता पर स्थित नहीं होने देता। सन्देहवादी जीवन दृष्टि व्यवहार के क्षेत्र में भी सफल नहीं हो पाती। गीता का यह कथन कि "संशयात्मक विनश्यति"। इस सिद्धान्त की असंगति को स्पष्ट कर देता है। यह सर्वत्र अविश्वास की भावना को उत्पन्न करता है, जिससे पारस्परिक विश्वास भी भंग हो जाता है। यही कारण था कि जैनाचार्यों

ने इस मान्यता को अनुचित माना और अन्ततोगत्वा आषाढभूमि का शिष्य समुदाय भी इस सन्देहवादी जीवन दृष्टि से विमुख होकर सन्मार्ग पर लौट आया।

अश्वमित्र का समुच्छेदक वाद वस्तुतः बौद्ध क्षणिकवाद का ही एक रूपान्तरण था। बौद्ध परम्परा में भी अश्वमित्र को क्षणिकवाद का तार्किक प्रस्तोता माना जाता है। यह अभी शोध का विषय हो सकता है कि समुच्छेदवादी अश्वमित्र मूलतः बौद्ध थे या इसी नाम के जैन परम्परा के कोई आचार्य रहे। क्षणिकवाद या क्षणभंगवाद की समीक्षा जैनाचार्यों ने की। जैन आचार्य भी पर्यायों की प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश को स्वीकारते हैं, उसके साथ वे यह भी मानते हैं कि वस्तु का द्रव्य पक्ष इन परिवर्तनों के मध्य भी अपरिवर्तित रहता है। पर्याय की अपेक्षा से अश्वमित्र का समुच्छेदवाद समुचित हो, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से उसे समुचित नहीं माना जा सकता। जैनदर्शन द्रव्य और पर्याय दोनों को दृष्टि में रखकर अपनी दार्शनिक अवधारणा को प्रस्तुत करता है, जबकि अश्वमित्र मात्र पर्याय दृष्टि को रखकर अपनी बात कह रहा था।

पंचम निह्नव आर्य गंग की यह मान्यता थी कि व्यक्ति एक ही समय दो भिन्न-भिन्न अनुभूतियों का अनुभव कर सकता है, किन्तु यह बात भी व्यावहारिक स्तर पर ही सत्य प्रतीत हो सकती है, जो लोग समय की सूक्ष्मता से अपरिचित हैं वे ही ऐसी बात कर सकते हैं। प्रति समय एक ही अनुभूति सम्भव है, जिस प्रकार स्थित चित्रों को तीव्र गति से प्रेषित करने पर हमें सिनेमा की परदे पर एक गतिशीलता का भ्रम होता है, उसी प्रकार एक समय में दो अनुभूतियों का भ्रम होता है, किन्तु यथार्थ में एक समय में एक ही अनुभूति सम्भव है। विशेषावश्यकभाष्य में कोमल पत्तों के छेदन की क्रिया के माध्यम से इस बात को समझाया गया है। 10 या 20 पत्तों को लेकर जब हम सूई में छेद करते हैं तो छेद क्रमशः एक पत्ते के बाद ही दूसरे का होता है किन्तु व्यवहार में ऐसा लगता है कि हमने सभी पत्तों को एक साथ छेद लिया। उसी प्रकार विभिन्न अनुभूतियाँ कम अनुभूत क्रम से होती हैं किन्तु उनमें अन्तराल के अभाव के कारण ऐसा भ्रम हो जाता है कि एक ही साथ दो अनुभूतियों का अनुभव सम्भव है। वस्तुतः यह भ्रान्ति है सत्य नहीं। इसलिए जैन दार्शनिक ने आर्य गंग के द्विक्रिया उपयोगवाद को स्वीकार नहीं किया।

छठे निह्नव रोहगुप्त की यह मान्यता थी कि संसार में जीव और अजीव ऐसी दो राशि न होकर जीव-अजीव और नोजीव ऐसी तीन राशियाँ हैं। जैन दर्शन ने नोकषाय,

नोइन्द्रिय, नोकर्म आदि की अवधारणाएँ कही हुई हैं। सामान्यतया इसी आधार पर रोहगुप्त ने नोजीव की कल्पना की होगी। उसकी मान्यता यह थी कि शरीर न तो जीव कहा जा सकता है और न अजीव, अतः वह नोजीव है। जैन दार्शनिकों ने उसे नोकर्म कहा भी है, किन्तु इस अवधारणा की तार्किक असंगति यह है कि मूल में तो राशियाँ दो ही हो सकती हैं, जिसमें दोनों मूल राशियों का समन्वय देखा जा सकता है, उसे स्वतंत्र राशि या वर्ग नहीं माना जा सकता। इसलिए जैन दार्शनिक ने रोहगुप्त के त्रैराशिकवाद को अस्वीकार किया।

सप्तम निहनव गोष्ठामाहिल अबद्धिकवाद का प्रस्तोता था, उसकी मान्यता यह थी कि जीव और कर्मपुद्गल दो स्वतंत्र तत्त्व हैं, वे एक-दूसरे में अनुस्यूत नहीं हो सकते हैं। अतः कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों का मात्र स्पर्श करते हैं, उससे बद्ध नहीं होते। दो स्वतंत्र द्रव्य होने के कारण उनका परस्पर संस्पर्श हो सकता है किन्तु एक-दूसरे में अनुस्यूत नहीं हो सकते। गोष्ठामाहिल का यह अबद्धिकवाद निश्चयदृष्टि से कुन्दकुन्द आदि जैनाचार्यों को मान्य रहा है, किन्तु एकान्त निश्चयनय का आधार लेने के कारण अनेकान्त दृष्टि का विरोधी हो जाता है। दूसरे, यदि हम अबद्धिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त और आत्मा के बन्धन मुक्ति की अवधारणाएँ तार्किक आधार पर चरमरा जाती हैं। जो कि जैन धर्म-दर्शन का प्राण मानी जाती हैं। व्यावहारिक स्तर पर हम देखते हैं कि जब चांदी और स्वर्ण इन दो धातुओं को पिघलाकर मिलाया जाता है तो वे एक-दूसरे में अनुस्यूत प्रतीत होती हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि स्वर्ण परमाणु में स्वर्ण परमाणु रहते हैं और चाँदी के परमाणु में चाँदी के।

नैश्चयिक आधार पर इन दोनों को एक-दूसरे से एक दूसरे में अनुस्यूत नहीं माना जा सकता। किन्तु हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि उनकी मिश्रित रूप में प्रतीति नहीं होती। अतः जैन दार्शनिकों ने गोष्ठामाहिल के ऐकान्तिक अबद्धिकवाद को अस्वीकार किया।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य में इन निहनवों की अवधारणा की गहन तार्किक समीक्षा जनमानस को एक सम्यक् दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की। चाहे वे समस्याएँ एक संतुलित दृष्टि के आधार पर उनका सम्यक् समाधान प्रस्तुत करता है, यही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। वस्तुतः आगमिक व्याख्या साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का जो

महत्त्व है, वह इसी कारण है, उसमें हमें स्वपक्ष और परपक्ष की अवधारणाओं का गहन विश्लेषण और संतुलित समीक्षा उपलब्ध होती है। दार्शनिक विश्लेषण और समीक्षा की दृष्टि से सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' के पश्चात् यदि कोई गम्भीर ग्रन्थ हमें कोई उपलब्ध है तो वह विशेषावश्यकभाष्य है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने इसी ग्रन्थ को आधारभूत मानकर इसमें प्रस्तुत गणधरों की जिज्ञासा और निहनवों की मान्यता का सम्यक् अनुशीलन करने का प्रयत्न किया। हम अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल या असफल हुए हैं, यह निर्णय करना विद्वद्जनों का कार्य है। किन्तु मैं इतना अवश्य कह सकती हूँ कि मैंने अपनी पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी से इन मन्तव्यों के प्रस्तुतिकरण और समीक्षा का प्रयत्न किया है।

परिशिष्ट

गणधरों का परिचय

1. इन्द्रभूति गौतम

मध्यम पावा के समवशरण में ग्यारह विद्वानों ने श्रमण भगवान महावीर के पास जाकर अपनी शंकाओं का समाधान पाकर के दीक्षा ली थी। ये विद्वान भगवान महावीर के प्रथम शिष्य कहलाए। ये अपनी असाधारण विद्वता, अनुशासन कुशलता तथा आचारदक्षता के कारण भगवान के गणधर बने।

गणधर भगवान के गण के स्तम्भ होते हैं। तीर्थकरों की अर्थरूप वाणी को सूत्ररूप में ग्रथित करने वाले कुशल शब्दशिल्पी होते हैं। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। यह शोध प्रबंध गणधरों की शंकाओं व श्रमण भगवान महावीर द्वारा दिये गए समाधानों से संबंधित होने से यह समुचित ही होगा कि हम प्रारंभ में ही इन ग्यारह गणधरों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रथम व प्रधान शिष्य थे। उनकी जन्मभूमि मगध की राजधानी राजगृह के पास गोबरगाँव थी¹ जो आज नालन्दा का एक विभाग माना जाता है। इन्द्रभूति गौतम का जन्म ईसा से 607 वर्ष पूर्व हुआ। आपके पिता का नाम वसुभूति गौतम और माता का नाम पृथ्वी था।²

गौतम का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ करते हुए जैनाचार्यों ने लिखा है कि बुद्धि के द्वारा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है, वह गौतम है।³

इन्द्रभूति गौतम का व्यक्तित्व विराट् व प्रभावशाली था, दूर-दूर तक उनकी विद्वता की धाक थी। वे गुरु की सेवा में रहकर ऋग्, यजु, साम एवं अथर्व इन चारों वेदों, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष - इन छहों वेदांगों और मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण - इन चारों उपांगों का - इस प्रकार कुल मिलाकर सम्पूर्ण 14 विद्याओं का सम्यकरूपेण अध्ययन किया।

¹ मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता - आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 643

² आवश्यक निर्युक्ति गाथा 647-48

³ आचार्य हस्तिमल जी सा., जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2, पृ. 7

उनके समीप 500 छात्र अध्ययन के लिए रहते थे। उनके व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर सोमिलार्य ने महायज्ञ का नेतृत्व उनके हाथों में सौंपा था। 50 वर्ष की आयु में श्रमण भगवान महावीर के सान्निध्य में गये। वहाँ उनके मन में ही शंका का प्रकटीकरण हुआ, तब वे आश्चर्यचकित हो गये, उनका गर्व विगलित होने लगा। भगवान महावीर की अतिशय युक्त अमोघवाणी के प्रभाव से अन्तर में अनिवचनीय दिव्य ज्ञानालोक का अनुभव किया।

उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक त्रिपदी के रूप में समस्त विश्व के त्रिकालवर्ती संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान की कुंजी प्राप्त कर वेद-वेदांग के पारंगत विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि के अन्तर में रुंधे हुए ज्ञान के समस्त स्रोत अजस्ररूपेण फूट पड़े, और ज्ञान का अथाह सागर हृदय में हिलोरें लेने लगा। उनके हृदय की समस्त कुंठाएँ, रिक्तताएँ, शंकाएँ, अनिश्चितताएँ एवं सभी प्रकार की कमियाँ क्षण भर में ही दूर हो गईं। जिससे वे समग्र श्रुत-ज्ञान सागर के विशिष्ट वेत्ता बन गये। उन्होंने सर्वप्रथम 14 पूर्वों की रचना की। तत्पश्चात् अंगशास्त्रों की रचना की।

इन्द्रभूति गौतम ने 50 वर्ष की उम्र में संयम स्वीकार किया, 30 वर्ष तक छद्मस्थ रहे और 12 वर्ष जीवनमुक्त केवली के रूप में। गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके 92 वर्ष की उम्र में निर्वाण को प्राप्त हुए।

इन्द्रभूति गौतम के लिए कहा जाता है कि -

“अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये।

विषादः केवलायाभूत् चित्रं श्री गौतम प्रभोः॥”

संसार के प्राणियों के लिए अहंकार, राग और विषाद नितान्त अनर्थकारी हैं, पर बड़े आश्चर्य की बात है गौतमस्वामी के लिए तो ये तीनों महान लाभकारी सिद्ध हुए। अहंकार उन्हें शास्त्रार्थ हेतु भगवान महावीर के पास लाया और उनकी बोधप्राप्ति में सहायक बना। राग के कारण उनके हृदय में गुरुभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वे गुरुभक्ति के प्रतीक माने जाने लगे। भगवान महावीर के निर्वाण से उनके अन्तर में हुआ विषाद भी केवलज्ञान उपलब्धि में निमित्त बना।

2. अग्निभूति जी

अग्निभूति इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। आपका जन्म गोब्बर ग्राम में हुआ, माता का नाम पृथ्वी और पिता का नाम वसुभूति था। अग्निभूति भी वेद वेदांगों के ज्ञाता थे। 46 वर्ष की अवस्था में प्रभु महावीर के पास संयम स्वीकार किया, उससे पहले इन्द्रभूति गौतम के समान इनके मन में कर्म के अस्तित्व के प्रति सन्देह था। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे, तत्पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया। 16 वर्ष तक केवली अवस्था में विचरण कर भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर 74 वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

3. वायुभूति जी

ये इन्द्रभूति के लघु भ्राता थे। इनका जन्म भी मगध राज्य के गोबरग्राम में हुआ। पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था। इन्द्रभूति और अग्निभूति श्रमण भगवान महावीर के समीप अपना पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु गये किन्तु वहाँ जाकर प्रभु की तेजस्विता व आभा को देखकर पूर्ण रूप से समर्पित हो गये। तब वायुभूति जी अपने शिष्यों के साथ प्रभु के पास गये, और मन में 'जीव और शरीर विषयक' शंका का समाधान प्राप्त कर वे चरणों में दीक्षित हो गये। 42 वर्ष की अवस्था में गृहवास को त्यागा। 10 वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे, 18 वर्ष केवली अवस्था में रहे, 70 वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के साथ निर्वाण को प्राप्त किया।

4. व्यक्त जी

ये कोल्लागसन्नवेश के निवासी थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। व्यक्त जी वेदों के ज्ञाता होने पर भी उनके मन में शंका थी कि 'भूतों का अस्तित्व है या नहीं'। प्रभु महावीर ने शंका का समाधान किया। उन्होंने उसी समय 50 वर्ष की अवस्था में अपने 500 शिष्यों के साथ श्रमण धर्म स्वीकार किया। 12 वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और 18 वर्ष केवली पर्याय में रहकर 80 वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

5. सुधर्मा जी

गणधर सुधर्मा कोल्लागसंनिवेश के निवासी अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता धम्मिल और माता भदिला थी। 500 छात्र इनके पास अध्ययन करते थे। 50 वर्ष की अवस्था में प्रभु महावीर के पास शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ली। 42 वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था में रहे। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद 12 वर्ष व्यतीत होने पर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे।

श्रमण भगवान महावीर के सभी गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे, अतः अन्यान्य गणधरों ने अपने-अपने निर्वाण के समय अपने-अपने गण सुधर्मा को समर्पित कर दिये। वर्तमान में भी श्रमण परम्परा सुधर्मा गणधर के नेतृत्व की है।

महावीर निर्वाण के 20 वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी ने 100 वर्ष की अवस्था में मासिक अनशनपूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

6. मण्डिक जी

मण्डिक मौर्यसंनिवेश में रहने वाले वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजयादेवी था। सुधर्मा स्वामी के न आने पर मण्डिक जी भी प्रभु महावीर के समीप पहुंचे। 'बन्ध और मोक्ष' के प्रति जो शंका थी, उसका समाधान पाकर 350 छात्रों के साथ 53 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली। 67 वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त किया और 83 वर्ष की अवस्था में गुणशीलक चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

7. मौर्यपुत्र जी

मौर्यपुत्र जी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजयादेवी था। मौर्य-संनिवेश के निवासी थे। आप भी प्रभु महावीर के समीप गये तथा 'देवों के अस्तित्व' विषयक शंका का समाधान पाकर 350 छात्रों के साथ 53 वर्ष की अवस्था में संयम स्वीकार किया। 79 वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त किया और भगवान महावीर के अन्तिम वर्ष में 83 वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन पूर्वक राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

नोट – भगवान महावीर के छोटे गणधर मण्डिक और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में दो तथ्य मिलते हैं – कतिपय विद्वान जैसे कि – आचार्य हेमचन्द्र, जिनदासगणि महत्तर का मानना है कि दोनों सहोदर भाई थे, पिता अलग हैं माता एक ही है। समवायांगसूत्र में इन दोनों की आयु का संदर्भ देते हुए बताया कि – दीक्षा लेते समय मण्डिक जी की उम्र 53 वर्ष की और मौर्यपुत्र की 65 वर्ष की थी, तब फिर दोनों भाइयों में यह कैसे सम्भव है? अतः स्पष्ट है कि दोनों सहोदर भाई नहीं थे।

8. अकम्पित जी

अकम्पित जी मिथिला नगरी के निवासी थे, वे गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता देव और माता जयन्ति थीं। 300 छात्रों के साथ 48 वर्ष की अवस्था में प्रभु महावीर के समीप दीक्षा ली। पूर्व में इनको नारकी के अस्तित्व के विषय में शंका थी, समाधान पाकर प्रभु चरणों में समर्पित हो गये। 57 वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान महावीर के अन्तिम वर्ष में 78 वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

9. अचलभ्राता जी

नवम गणधर अचलभ्राता जी कोशला ग्राम के निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता वसु और माता नन्दा थी। अपने से पूर्व इन्द्रभूति-अग्निभूति आदि 8 वेदज्ञ विद्वानों को श्रमण भगवान महावीर के समवशरण से पुनः आते न देखकर अचलभ्राता जी भी गये। उन्होंने भी मन में रही 'पुण्य-पाप के अस्तित्व' में रही शंका का समाधान पाया, तदन्तर अपने 300 शिष्यों के साथ 46 वर्ष की अवस्था में संयम स्वीकार किया। 12 वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और 14 वर्ष केवली अवस्था में विचरण कर 72 वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

10. मैतार्य जी

मैतार्य जी वत्सदेशान्तर्गत तुंगिक संन्निवेश के निवासी कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम दन्त तथा माता का नाम वरुणदेवी था। वे जब प्रभु महावीर के समीप गये, उनके अन्तर्मन में रही 'परलोक के अस्तित्व' विषयक शंका का समाधान पाकर प्रभु चरणों में 300 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। मैतार्य जी ने 36 वर्ष की

अवस्था में दीक्षा ग्रहण की, 10 वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और 16 वर्ष तक केवली अवस्था में। भगवान महावीर के निर्वाण के चार वर्ष पूर्व 62 वर्ष की अवस्था में राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निर्वाण गति प्राप्त की।

11. प्रभास जी

प्रभास जी राजगृह नगर के निवासी कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। 16 वर्ष की अवस्था में ही आप वेदज्ञ हो गए थे, फिर भी मन में निर्वाण के विषय में शंका थी, श्रमण भगवान महावीर के समीप जाने से शंका का समाधान हुआ, तदनन्तर उन्होंने 300 शिष्यों के साथ श्रमण धर्म स्वीकार किया। 8 वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे और 16 वर्ष केवली अवस्था में रहे।

भगवान महावीर के सर्वज्ञ जीवन के 25वें वर्ष में राजगृह में मासिक अनशनपूर्वक 40 वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अनुत्तरौपपातिक दशासूत्रम्	आचार्य आत्माराम, आत्मज्ञान श्रमण, शिव प्रकाशन, लुधियाना, सं. 2003
अनुयोगद्वारसूत्र	युवाचार्य मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1987
अन्तगड्दसाओ	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर
आचारांगसूत्र	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1989
आचारांग भाष्य	आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ
आचारांग निर्युक्ति	(भद्रबाहु) सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, 1935
आचारांग सूत्र विवेचन	(आत्माराम जी)
आवश्यक चूर्ण	जिनदासगणि, धारणीवाई, जामनगर
आवश्यक निर्युक्ति	भद्रबाहु, आगमोदय समिति, मुम्बई 1993
इसिभासियाइं सुत्ताइं	महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती, जयपुर 1988
उत्तराध्ययनसूत्र	मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1984
उत्तरज्झयणाणि	आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ
उत्तराध्ययनसूत्र	आचार्य आत्माराम जी, लुधियाना, 1988
उपासकदशांग सूत्र	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980
औपपातिक सूत्र	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982
कल्पसूत्र	आचार्य देवेन्द्रमुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
कल्पसूत्र	(अमरमुनि) पद्म प्रकाशन, दिल्ली, 1995
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	पं. महेन्द्रकुमार काव्यतीर्थ, दि. जैन स्वा. मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वी. 2505
कषाय पाहुड़	पं. फूलचन्द्र, साहित्य विभाग, मथुरा
गोम्मटसार	ए.एन. उपाध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1980
जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति	मधुकर मुनि जी, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1989

जीवाजीवाभिगम	मधुकर मुनि जी, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1989
ठाणं	आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1976
स्थानांगसूत्र	श्री आत्माराम जी मा., लुधियाना, 1975
स्थानांगसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981
तत्त्वार्थसूत्र (उमारवाति)	पं. सुखलाल जी संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1976
तत्त्वार्थराजवार्तिक	गणधरलाल जैन, भा. जैन सिद्धान्त प्रकाशन, 1915
तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन)	उपाध्याय केवलमुनि, श्री जैन दिवाकर साहित्य पीठ, इन्दौर, 1987
तत्त्वार्थसार	पं. पन्नालाल, गणेशप्रसादवर्णी, ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1970
दशवैकालिक	युवा. मधुकरमुनि मा., आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1985
दव्वाणुणुओगो	मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल', आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1994
धम्मकहाणुओगो	मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल', आगम अनुयोग ट्रस्ट अहमदाबाद, 1983
नियमसार	पं. बलभद्र जैन, कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
नन्दी सूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982
निशिथसूत्रम्	प्रका. भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, 1982
निशीथसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1991
प्रवचनसारोद्धार	श्री नेमिचन्द्र साराभाई, नवाब, पालीताणा।
व्याकरणसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1983
प्ररमात्म प्रकाश	पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगार, वि. 1972
पंचाध्यायी	अनु. सोमनाथ अमथालाल शाह, कलोल
प्रवचनसार	श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, 1964
पंचास्तिकाय	पं. मनोहरलाल, अगास, 1986

प्रज्ञापना सूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1984
भगवतीसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1984
राजप्रश्नीयसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1984
विशेषावश्यकभाष्य	श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमा. भद्रंकर प्रकाशन, 2053
सूत्रकृतांग	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1980
सूयगड़ो	आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1984
सूत्रकृतांग विवेचन	हेमचन्द्रजी मा., आत्म ज्ञान पीठ, मानसा, सं. 1979
समयसार	श्री परमेश्ठीदास 'न्यायतीर्थ', दिगम्बर जैन स्वाध्याय ट्रस्ट, सोनगढ़, वि. 2498
ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर, 1981
आचार्य आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ	जी पाथर्डी बोर्ड, अहमदनगर।
अध्यात्मविद्या	आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 1994
आत्ममीमांसा	दलसुखभाई मालवणिया, जैन संस्कृति मण्डल, बनारस, 1953
आत्मवाद	मुनि फूलचन्द 'श्रमण' आ. आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, 1965
आगम और त्रिपिटक अनुशीलन	एक मुनि नगराज, विमलकुमार जैन, कलकत्ता
कर्मविज्ञान – भाग 1-9	आचार्य देवेन्द्रमुनि, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
कर्ममीमांसा	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, मुनि हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 1981
कर्मग्रन्थ	सुखलाल जी सिंघवी, श्री वर्द्धमान रथा. जैन धार्मिक शिक्षा समिति, बड़ौत,
कर्मसिद्धान्त	जिनेन्द्रवर्णी, श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला, पानीपत, 1994
कर्म का सिद्धान्त	हीराभाई ठक्कर, कुसुम प्रकाशन, पालड़ी, अहमदाबाद, 1994
कर्म! तेरी गति न्यारी	अरुणविजय जी, श्री आत्मानन्द जैन सभा, जयपुर, सं. 1991
कोषीतकी उपनिषद	प्रका. संस्कृति संस्थान, बरेली।

गणधरवाद	आचार्य जिनभद्रगणिकृत, अनु. दलसुख भाई, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
घट-घट दीप जले	आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, 1984
जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा	आचार्य देवेन्द्रमुनि,
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग - 1, 2, 3	सं. दलसुख मालवणिया, डा. मोहनलाल मेहता पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1966
जैन साहित्य का इतिहास भाग 1	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सं. 2502
जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2	आ. हस्तिमल जी मा., जैन इतिहास समिति, जयपुर, सं. 1974
जैन सिद्धान्त : बोल संग्रह	भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर
जैन दर्शन और आत्मविचार	
जैन दृष्टि ए कर्म	मोतीचन्द गिरधारीलाल कापड़िया, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, 1987
जैन दर्शन मनन और मीमांसा	आ. महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, 1995
जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन	डा. सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982
जैन धर्म के सम्प्रदाय	डा. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1994
जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास	डा. रविन्द्रनाथ मिश्र, पार्श्वनाथ शोध पीठ, वाराणसी, 1993
जैन-बौद्ध शिक्षण पद्धति	डा. नत्थुलाल गुप्त, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 1985
जैनदर्शन एक विश्लेषण	आ. देवेन्द्रमुनि जी, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1997
जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त : एक अध्ययन	डा. मनोरमा जैन, श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला, पानीपत, 1975
जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान	डा. रतनलाल जैन, बी. जैन पब्लिशर्स प्रा.लि., नई दिल्ली 1996
जैन धर्म : एक अनुशीलन	राजेन्द्रमुनि, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1996
जैनतत्त्व प्रकाश	आ. अमोलकऋषि, अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, 1995

जैन धर्म का सरल परिचय	बलभद्र जैन, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, 1996
जैन धर्म	मुनि सुशीलकुमार, अ.भा.श्वे.स्वा.जैन कान्फ्रेंस भवन, नई दिल्ली, 1958
तत्त्वज्ञान स्मारिका	पु. अभयसागर जी मा., श्री वर्द्धमान जैन पेढी, पालीताणा, वि.सं. 2038
तर्क संग्रह	
तट दो प्रवाह एक	आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ
तैत्तेरीय उपनिषद्	सं. श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1978
नवपदारथ	आ. भिक्षु, जैन श्वेता. तेरापंथ महासभा, कलकत्ता, 1961
न्याय कुसुमांजली	डा. श्री नारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1997
नवतत्त्व प्रकरणः सार्थ	पं. हीरालाल जी दुगड़, प्र. श्री आदिनाथ जैन श्वे. संघ, बंगलोर, सं. 2042
प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, 1988
पर्युषण साधना	साध्वी राजीमति, आदर्श साहित्य प्रकाशन, चुरु, सन् 2000
पाश्चात्य दर्शन	डा. वात्स्यायन, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, 1984
पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन	डा. रामनाथ वर्मा, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, 1984
पुनर्जन्म का सिद्धान्त	डा. एस.आर. व्यास, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 1990
पुण्य-पाप तत्त्व	कन्हैयालाल जी लोढा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
बन्ध शतक	श्री उदयप्रभसूरि, भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा, वि. 2026
ब्रह्मविन्दु उपनिषद्	संघा. श्री रामशर्मा 'आचार्य' प्रका. संस्कृत संस्थान, बरेली, सं. 1978
बृहदारण्यक् उपनिषद्	सं. श्री राम शर्मा, प्र. गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2012
ब्रह्मसूत्र	गुरुदत्त, प्र. शाश्वत संस्कृति परिषद्, नई दिल्ली, 1982

बोधिचर्यावतार	सं. परमानन्दसिंह, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1993
बौद्ध धर्म दर्शन	आ. नरेन्द्र देव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1994
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 1954
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1987
भारतीय दर्शन	आ. बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, सं. 1966
भारतीय दार्शनिक निबन्ध	डा. डी.डी. बन्दिष्टे, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1991
भारतीय दर्शन के प्रमुख वाद	मुनि राकेश कुमार, आदर्श साहित्य संघ, चुरू, 1988
भारतीय दर्शनों में आत्मा	पं. गिरिधर शर्मा, किशोरविद्यानिकेतन, भदौनी, 1980
भारतीय दर्शन	डा. राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1969
भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन	डा. अशोक कुमार लाड़, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल - 3, 1973
भगवान महावीर : एक अनुशीलन	आचार्य देवेन्द्रमुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, सं. 1974
भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार	आचार्य शिवमुनि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2001
भगवती सूत्र : एक परिशीलन	आ. देवेन्द्रमुनि, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, 1988
मनुस्मृति	अम्बादास दोशी, पण्डित रामदास शास्त्री गुरुदेव प्रकाशन, पुणे।
महावीर देशना	आ. नरेन्द्र विजय, 'गुरु देवेन्द्र साहित्य प्रकाशन समिति' जोधपुर, 1990
मूलसूत्र : एक परिशीलन	आ. देवेन्द्रमुनि, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
मिला प्रकाश : खिला बसन्त	आ. विजय जयंत सेनसूरि, श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन, अहमदाबाद, वि.सं. 2056
योग दर्शन	
वात्स्यायनभाष्य	

स्याद्वाद और सप्तभंगी नय	डा. भिखारीराम यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
स्याद्वादमंजरी	डा. जगदीशचन्द्र जैन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1979
स्याद्वाद सिद्धान्त एक अनुशीलन	आचार्य आनन्दब्रह्मि, श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर, 1978
सिद्धिविनश्चय टीका	
सांख्य कारिका	डा. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली - 6, 1969
श्वेताश्वतर उपनिषद	संवा. श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1978
शास्त्रवार्ता समुच्चय	श्री बदरीलाल शुक्ल, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, वि. 2036
षडदर्शन समुच्चय	डा. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1994

पत्रिकाएँ

कल्याण (मासिक पत्रिका)	परलोक और पुनर्जन्म विशेषांक, वर्ष 43, गीता प्रेस, गोरखपुर
जिनवाणी	जैनागम विशेषांक, वर्ष 59, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
जिनवाणी	कर्मसिद्धान्त विशेषांक, वर्ष 41, जयपुर
जैनभारती	जैन विश्वभारती, लाड़नूँ

